UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186749

UNIVERSAL
LIBRARY

730—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. H330 B57B Accession No. H2816

nor

भटनागर, कौलकाप्रसाद,
भारतीय अर्थशास्त्र 1956

book should be returned on or before the date last marked below

भारतीय अर्थशास्त्र

लेखकः
कालका प्रसाद भटनागर एम० ए०, एल-एल० बी०
उप-कुलपति, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
तथा
सुरेश चन्द्र गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०
अर्थशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर।

सरस्वती सदन,
मसूरी

प्रकाशक
सरस्वती सदन,
मसूरी

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९५६
मूल्य आठ रुपये

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली

प्रारम्भिक शब्द

श्री आचार्य कालकाप्रसाद जी भटनागर और श्री डाक्टर सुरेशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित इस ग्रन्थ को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष और गर्व है। दोनों लेखक अर्थशास्त्र विषय के प्रकाण्ड पण्डित हैं और शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त ऊँचा स्थान रखते हैं। यह पुस्तक जहाँ बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है, वहाँ साथ ही सर्वसाधारण पाठकों के लिए भी इसका बहुत उपयोग है। भारतीय अर्थशास्त्र पर इतनी प्रामाणिक और आधुनिकतम सामग्री से युक्त अन्य कोई पुस्तक अभी तक हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुई है। इस ग्रन्थ की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं—

(१) इसकी भाषा बहुत सरल है। यद्यपि इसका विषय बहुत गम्भीर है, पर उसे बोल-चाल की इस ढंग की भाषा में लिखा गया है, कि विद्यार्थी उसे समझने में जरा भी कठिनाई अनुभव नहीं करेंगे। हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी के शब्द भी दे दिये गए हैं।

(२) भारत की आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिए सरकार द्वारा जो पंचवर्षीय आयोजनाएँ बनाई गई हैं, उन पर इस ग्रन्थ में बहुत विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इस विषय को नवीन पाठ्य-क्रम में बहुत महत्त्व दिया गया है, अतः इस पर विशद रूप से प्रकाश डालना विद्यार्थियों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

(३) इस पुस्तक में भारत की आर्थिक दशा के नवीनतम आँकड़े दिये गए हैं, जिसके कारण पुस्तक का उपयोग बहुत बढ़ गया है।

हमें विश्वास है कि हिन्दी जगत् में इस पुस्तक का यथोचित आदर होगा और यूनिवर्सिटियों के अध्यापक व विद्यार्थी इसे बहुत उपयोगी पाएँगे।

—सरस्वती सदन, मसूरी

भूमिका

राष्ट्रीय सरकार द्वारा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा घोषित करने के पश्चात् विश्व-विद्यालयों ने भी हिन्दी माध्यम को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप विभिन्न विषयों पर हिन्दी में पुस्तकों के लिखने की आवश्यकता बढ़ी। अर्थशास्त्र व भारतीय अर्थ-शास्त्र पर भी गत वर्षों में विद्वानों ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। परन्तु अधिकांश पुस्तकें, भाषा क्लिष्ट होने तथा अधिक विस्तृत होने के कारण सामान्य विद्यार्थियों के उपयुक्त न बन सकी। अतः उक्त कमियों को दूर करने के लिए इस 'भारतीय अर्थशास्त्र' की रचना की गई है।

'भारतीय अर्थशास्त्र' में देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का स्पष्ट चित्रण किया गया है। पुस्तक में इस बात का पूरा प्रयास करते हुए कि पाठ्यक्रम का कोई भी अंश छूट न जाय, भारत के प्राकृतिक साधनों से लेकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना तक सभी आर्थिक समस्याओं का विवेचन किया गया है। पुस्तक की खास विशेषता यह है कि इसमें भूदान यज्ञ आन्दोलन, सामुदायिक योजना, राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड, राष्ट्रीय आय, खेतिहर मज़दूर, उद्योग व उनकी समस्याएँ, द्वितीय पंच-वर्षीय योजना तथा भारत सरकार की आर्थिक नीति आदि विषयों का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है। पुस्तक के तैयार करने में अनेक सरकारी प्रकाशनों एवं प्रामाणिक ग्रन्थों की सहायता ली गई है और प्रत्येक आर्थिक समस्या को नवीनतम तथ्यों और आँकड़ों की सहायता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक में सर्वत्र आम बातचीत की भाषा का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक विशेषतया विश्वविद्यालयों की बी० ए० की कक्षाओं के पाठ्य-क्रम के अनुसार लिखी गई है। इसके अतिरिक्त सामान्य पाठकों के लिए, जो भारत की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करना चाहें, लाभप्रद होगी। आशा है कि विद्वान् प्राध्यापकगण भी प्रस्तुत 'भारतीय अर्थशास्त्र' को विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त पाएँगे और उन्हें इसका अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे।

कानपुर
१ सितम्बर, १९५६

कालकाप्रसाद भटनागर
सुरेशचन्द्र गुप्त

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय १ : भारतीय अर्थशास्त्र का विषय व क्षेत्र १

विषय-प्रवेश
भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा
क्षेत्र
अध्ययन की उपयोगिता

अध्याय २ : भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधन ५

आर्थिक महत्व
भारत की भौगोलिक स्थिति
क्षेत्रफल
भौगोलिक विभाजन

भूमि—भूक्षरण—भूक्षरण के भेद—कारण—भूक्षरण रोकने के उपाय—पंचवर्षीय योजना—केन्द्रीय भूमि उपयोग तथा संरक्षण परिषदों के कार्य—द्वितीय योजना में भूक्षरण रोकने की योजनाएँ।

भूमि का वितरण

वन—वनों के प्रकार—वनों की उपयोगिता—प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभ—वन उत्पत्ति—वन-नीति—वनों का विनाश—सरकार और वन-महोत्सव—प्रथम पंचवर्षीय योजना में वन—सरकार के कर्तव्य—खनिज पदार्थ—खनिज नीति।

शक्ति के साधन—जल-विद्युत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में जल-विद्युत का विकास—प्रमुख जल-विद्युत केन्द्र।

अध्याय ३ : जन-संख्या ४७

महत्व—जन-संख्या में वृद्धि—घनत्व—ग्राम तथा नगरों में जन-संख्या का वितरण—स्त्री-पुरुष अनुपात—पेशेवार जनसंख्या का वितरण—जाति के अनुसार वितरण—विभिन्न आयु समूह—जन्म और मृत्यु-दर—भारतीय जनसंख्या की समस्या—जन-वृद्धि रोकने के उपाय—औद्योगीकरण—प्रवासन—संतति-निग्रह के कृत्रिम उपाय।

अध्याय ४ : सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ ६५

आर्थिक महत्व

जाति प्रथा —आर्थिक प्रभाव—गुण-दोष— जाति-प्रथा का पतन।

संयुक्त परिवार प्रणाली—लाभ-हानियाँ।

उत्तराधिकार के नियम—आर्थिक प्रभाव—लाभ दोष।

ग्राम पंचायतें—ग्राम सभा—ग्राम पंचायत—पंचायती अदालत।

धार्मिक भावनाएँ।

अध्याय ५ : राष्ट्रीय आय ७७

परिभाषा—राष्ट्रीय आय का महत्व—आय आंकने की रीति—आय-कर रीति—परिगणना रीति—आयकर तथा परिगणना रीति का सम्मिश्रण।

भारत की राष्ट्रीय आय।

भारत की राष्ट्रीय आय समिति।

समिति व राष्ट्राय आय यूनिट द्वारा अनुमानित आय—स्वतन्त्रता के पश्चात।

राष्ट्रीय आय के साधन।

अध्याय ६ : १९वीं शताब्दी में भारतीय अर्थ-व्यवस्था ८६

प्राचीन इतिहास—कृषि अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति—कृषि का व्यापारीकरण—भूमिकर बन्दोबस्त—खेतों का छोटा व दूर-दूर विभक्त होना—भूमि का कृषकों से महाजन के पास जाना—नवीन अर्थ-व्यवस्था का उद्योगों पर प्रभाव—भारतीय उद्योगों के पतन के कारण—आर्थिक संरक्षण का अन्त—प्रतिकूल पाश्चात्य प्रभाव—इंगलैंड तथा भारत में ब्रिटिश नीति—भारत में बड़े उद्योगों का विकास—उपसंहार।

अध्याय ७ : भारत में अकाल ९५

अकाल की ऐतिहासिक समीक्षा—१९४३ का भीषण दुर्भिक्ष—अकाल के कारण—वर्षा का न होना—अत्यधिक वर्षा व बाढ़—टिड्डी दल, कीटाणु तथा रोग—जंगलों का काटना—कम उपज—यातायात के साधनों का अभाव—आर्थिक कारण—निर्धनता—ऋण ग्रस्तता—भूमिकर प्रथा—अन्य सहायक उद्योग-धन्धों का प्रभाव—कुटीर उद्योगों का पतन—अकाल के आर्थिक प्रभाव—अकाल निवारण के उपाय—कृषि में सुधार—वनों की सुरक्षा—कुटीर उद्योगों का पुनर्संगठन-उद्योगों का विकास—यातायात के साधनों का विकास—प्रवासन—अकाल निवारण नीति।

अध्याय ८ : भारतीय कृषि और उसकी समस्यायें १०५

कृषि का आर्थिक महत्व—कृषि की विशेषतायें—जनसंख्या का भार—खाद्यान्न की प्रमुखता—प्राचीन व दोषपूर्ण कृषि-पद्धति—अनिश्चित निर्वाह—दोषपूर्ण संगठन—अलाभकारी अर्थ-व्यवस्था—भारत में कृषि योग्य भूमि—अपर्याप्त उत्पादन—कम उत्पत्ति के कारण—उत्पत्ति बढ़ाने के उपाय—भारत की मुख्य फसलें—चावल उत्पादन की जापानी विधि।

अध्याय ९ : खेत की इकाई ११५

परिभाषा—आर्थिक जोत—आर्थिक जोत के प्रकार—भारत में कृषि की इकाई—खेतों के अन्तर्विभाजन व बिखरे होने के कारण—इसका प्रभाव—लाभ—हानियाँ—दोष दूर करने के उपाय—जोतों की चकबन्दी—व्यक्तिगत-सहकारी समितियों द्वारा—कानून द्वारा—चकबन्दी की प्रगति—पंजाब—उत्तरप्रदेश—दिल्ली—बम्बई—मध्यप्रदेश—भूमि का राष्ट्रीयकरण—सामूहिक कृषि—निगम द्वारा संचालित कृषि—सहकारी कृषि—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि।

अध्याय १० : भारत में सिंचाई १३३

सिंचाई का महत्व—भारत में सिंचित क्षेत्र—सिंचाई के साधन—कुआँ-नलकूप—तालाब—नहरें—सिंचाई की दर—उत्तरप्रदेश में सिंचाई की दर—सिंचाई संगठन—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई—द्वितीय योजना में सिंचाई—उत्तर प्रदेश—मध्यभारत—विन्ध्यप्रदेश—कठिनाइयाँ।

अध्याय ११ : कृषि विपणन १४६

विपणन का महत्व—अच्छे बाजार के गुण—अच्छे विपणन की आवश्यकता—विपणन की वर्तमान पद्धतियाँ—वर्तमान प्रणाली के दोष—सुधार के प्रयत्न—नियंत्रित मंडियां—उपज का प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण—माप-विधि तथा बाटों में सुधार—मूल्य परिवर्तन की सूचना—उत्तम व सुरक्षित गोदाम—पदार्थों की कोटि का नियंत्रण—सहकारी विपणन—नवीन विपणन संगठन।

अध्याय १२ : भूमि व्यवस्था व भूमि-सुधार १६२

भूमि-व्यवस्था—भू-स्वामित्व — जमींदारी—महालवारी—रैयतवारी—जमींदारी उन्मूलन—पक्षीय और विपक्षीय तर्क—कानूनी व्यवस्था—जमींदारी

उन्मूलन की योजना—मुआवजे का वितरण—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषक सम्बन्धी सुधार—उपसंहार।

अध्याय १३ : भूदान यज्ञ १७८

भूदान यज्ञ का उद्देश्य—सर्वोदय समाज की मुख्य बातें—हिंसा या अहिंसा का मार्ग—भूदान यज्ञ का आरम्भ व प्रगति—भूमि-वितरण।

अध्याय १४ : राज्य और कृषि १८७

कृषि-नीति का विकास—शाही कृषि आयोग—योजना आयोग—कृषि-विभाग के कार्य—कृषि शिक्षा—जनता कालेज—कृषि अनुसंधान—कृषि सम्बन्धी सूचना—प्रदर्शन—फसल प्रतियोगिता—पुरस्कार—प्रवेश शुल्क—कृषि सम्बन्धी आंकड़े।

अध्याय १५ : कृषि नियोजन व सुधार १९७

कृषि नियोजन का महत्व—भारतीय कृषि नियोजन की विशेषतायें—कृषकों का सहयोग—पंचवर्षीय योजना में प्रगति—कृषि सुधार—कृषि मजदूर—उत्तम बीज—खाद—कम्पोस्ट खाद—विष्टाखाद—रासायनिक खाद—हरी खाद—फसल की कीड़ों और संक्रामक रोगों से रक्षा—औजार—कृषि का यन्त्रीकरण—ऊसर भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाना—पशुपालन—पशु उत्पत्ति—सांड पालना—गोसदन—बेकार पशुओं का पृथकीकरण—पशु-रोगों पर नियंत्रण व चिकित्सा—कृषि संगठन—कृषि अनुसंधान।

अध्याय १६ : भारत में सामुदायिक योजनाएँ व राष्ट्रीय प्रसार कार्य २१६

सामुदायिक योजनाओं का विकास—योजना का क्षेत्र व कार्यक्रम—सामुदायिक योजनाओं का संचालन—वित्तीय व्यवस्था—योजनाओं के अन्तर्गत किए जानेवाले कार्य—यातायात—शिक्षा—स्वास्थ्य—सहायक धन्धे—भवन निर्माण—प्रशिक्षण—सामाजिक कल्याण—राष्ट्रीय प्रसार सेवा—भौतिक परिणाम—प्रशिक्षण कार्य—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास योजना।

अध्याय १७ : सहकारिता २३१

महत्व-परिभाषा—भारत में सहकारिता का विकास—मेकलेगन समिति—वर्तमान प्रवृत्ति—वित्तीय रूपरेखा—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता की प्रगति—द्वितीय योजना में उत्तर प्रदेश में सहकारिता की विकास योजना—

सहकारी प्रशिक्षण—सहकारी संगठन—सहकारी आन्दोलन के दोष—सुधार के उपाय।

अध्याय १८ : सहकारिता (क्रमशः) २४६

सहकारी समितियों का वर्गीकरण—कृषि सहकारी समितियाँ—प्राथमिक साख-समितियाँ—गैर साख-समितियाँ—बहु उद्देशीय सहकारी समितियाँ—गुण व दोष—गैर-कृषि सहकारिता—गैर-कृषि साख समितियाँ—गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ—सहकारी उपभोक्ता भण्डार—ट्रिपलीकेन स्टोर—विकास के सुझाव—भूमि-बन्धक बैंक—प्रकार—कार्य-पद्धति—विकास—गौण समितियाँ—सहकारी संघ—प्रकार—केन्द्रीय बैंक—प्रान्तीय या सर्वोपरि बैंक।

अध्याय १९ : कुटीर व लघु स्तरीय उद्योग २६५

उद्योगों का वर्गीकरण—आर्थिक महत्व—वर्तमान प्रमुख कुटीर उद्योग—कठिनाइयाँ—सुधार के उपाय—कुटीर उद्योग व राजकीय नीति—प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कुटीर उद्योगों का विकास—प्रगति—केन्द्रीय योजनाएँ—अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड—कर्घा बोर्ड—दस्तकारी बोर्ड—केन्द्रीय सिल्क बोर्ड—लघु स्तरीय उद्योग—फोर्ड फाउन्डेशन और कुटीर-उद्योग—अन्तर्राष्ट्रीय दल के सुझाव—राज्यों की योजनाएँ— सरकार द्वारा वित्तीय सहायता—कर्वे समिति की रिपोर्ट—द्वितीय योजना में कुटीर उद्योग।

अध्याय २० : वृहत् उद्योगों का विकास २८६

प्राचीन इतिहास—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति—१९५१ का उद्योग अधिनियम—१९५३ का उद्योग (संशोधन) अधिनियम—प्रथम पंचवर्षीय योजना में उद्योगों की प्रगति—वर्तमान स्थिति—१९५६ की औद्योगिक नीति—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग।

अध्याय २१ : भारतीय बृहत् उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग— ३००

आर्थिक महत्व—उद्योग का संक्षिप्त इतिहास—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सूती वस्त्र उद्योग—कर्वे-कानूनगो समिति के सुझाव—भारत की १९५६ की सूती वस्त्र नीति—नीति की आलोचना—नीति के गुण—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वस्त्र उद्योग।

जूट उद्योग—

महत्व—जूट उद्योग का विकास—द्वितीय महायुद्ध व उसके उपरान्त—विभाजन का प्रभाव—वर्तमान स्थिति—प्रथम पंचवर्षीय योजना में जूट उद्योग—उद्योग की समस्याएँ—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जूट उद्योग।

चीनी उद्योग—

महत्व—उद्योग का विकास—विभाजन के उपरान्त—उद्योग की समस्याएँ—प्रथम पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग—वर्तमान स्थिति—द्वितीय योजना में चीनी उद्योग।

कोयला उद्योग—

वर्तमान स्थिति—उत्पादन—कोष—कोयले का व्यापार—सरकारी नीति—अभिनवीकरण—पंचवर्षीय योजनाओं में कोयला उद्योग।

अध्याय २२ : औद्योगिक श्रम ३२४

महत्व—भारतीय श्रम के लक्षण—भर्ती के तरीके—श्रम की कार्य-क्षमता—श्रमिकों की अकुशलता के कारण—श्रम विधान—श्रम अधिनियमों का विवरण—फैक्टरी एक्ट १८८१—फैक्टरी एक्ट १८९१—फैक्टरी एक्ट १९११—१९२२, १९३४ व १९४८ के फैक्टरी अधिनियम—खान अधिनियम—१९५१ का खान अधिनियम।

उद्यान श्रम सम्बन्धी अधिनियम—१९५१ का उद्यान श्रम अधिनियम—यातायात श्रम सम्बन्धी अधिनियम—अन्य श्रम विधान—दूकानों तथा व्यापारिक संस्थाओं सम्बन्धी अधिनियम—१९३६ का वेतन भुगतान अधिनियम—श्रमिकों की क्षति पूर्ति का अधिनियम—न्यूनतम वेतन अधिनियम—न्यायपूर्ण वेतन अधिनियम।

श्रम हितकारी कार्य—

राज्य सरकारों द्वारा श्रम हितकारी कार्य—बम्बई—उत्तर प्रदेश—अन्य राज्य—मिल-मालिकों द्वारा श्रम हितकारी कार्य—श्रम-संघ द्वारा श्रम-हितकारी कार्य।

सामाजिक बीमा—

श्रमिक राजकीय बीमा योजना—योजना से लाभ—बीमारी के लिए नकद लाभ—प्रसूति लाभ—अंगभंग होने का लाभ—आश्रितों की सहायता—योजना की समीक्षा।

श्रमिकों के गृह—

घरों की दशा—कमी व गंदगी के दुष्प रिणाम—अच्छे श्रमिक घर बनाने

के प्रयास–मिल मालिक––सरकार–प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में ।

श्रमिक संघ आन्दोलन—

श्रमिक संघों के कार्य—भारतीय श्रमिक संघों का इतिहास––१९२६ का श्रम संघ अधिनियम––१९४७ का संशोधित श्रम संघ अधिनियम––भारतीय श्रम संघ आन्दोलन की कठिनाइयाँ—श्रम संघ आन्दोलन का भविष्य ।

खेतिहर श्रमिक—

उपसमिति की रिपोर्ट—खेतिहर श्रमिकों की दशा सुधारने के सुझाव ।

अध्याय २३ : भारतीय यातायात ३६१

भूमिका–यातायात के साधन

रेलें—रेलों से लाभ—आर्थिक लाभ–कृषि–दुर्भिक्ष—उद्योग—व्यापार—सामाजिक लाभ––राजनैतिक लाभ––रेलों से हानियाँ––रेलों का विकास––द्वितीय युद्ध का प्रभाव—विभाजन के बाद—रेलों का पुनर्निवास—रेलों का वर्गीकरण—रेलों की वित्तीय व्यवस्था––रेलवे बजट—रेलों की दरें—प्रथम व द्वितीय योजना में रेलों की प्रगति ।

अध्याय २४ : भारतीय यातायात (क्रमशः) ३७६

सड़क यातायात––सड़कों का महत्व—सड़कों का विकास—सड़क कांग्रेस—नागपुर योजना—प्रथम योजना में सड़कों का विकास—द्वितीय योजना में सड़कें—सड़क यातायात के आर्थिक लाभ—मोटर यातायात—रेल-सड़क स्पर्धा व सामंजस्य—सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—पक्षीय तथा विपक्षीय विवाद—सड़क यातायात निगम अधिनियम—द्वितीय योजना में मोटर यातायात ।

अध्याय २५ : भारतीय यातायात (क्रमशः) ३९२

जल यातायात—

आर्थिक महत्व—आन्तरिक जल यातायात—औटो पौपर के सुझाव—प्रथम योजना ।

समुद्रीय यातायात—

युद्धोत्तर पुनर्निर्माण नीति उपसमिति के सुझाव—प्रथम योजना में जहाजरानी की प्रगति ।

हवाई यातायात—

आर्थिक महत्व—विकास—राज्याध्यक्ष समिति की रिपोर्ट—हवाई याता-

नियम--भारतीय हवाई मार्ग निगम—अन्तर्राष्ट्रीय निगम—प्रथम योजना में हवाई यातायात की प्रगति—द्वितीय योजना में हवाई यातायात ।

अध्याय २६ आर्थिक नियोजन ४०८

प्राक्कथन—प्रथम पंचवर्षीय योजना—व्यय का प्रतिरूप—व्यय का वितरण—वित्तीय आधार—योजना की प्रगति–प्रथम योजना के लक्ष्य तथा प्रगति–योजना पर व्यय—विदेशी सहायता ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—

संक्षिप्त विवरण—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य—सार्वजनिक क्षेत्र में निर्धारित व्यय—सरकारी क्षेत्र में केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा व्यय—पूँजी का आयोजन—निजी क्षेत्र—योजना में मूल उद्योग—कृषि उत्पादन—समाज सेवाएँ—राष्ट्रीय आय—रोजगार—योजना का अर्थ—प्रबन्ध—वित्तीय साधन—प्रथम और द्वितीय योजना में अन्तर—योजना की सफलता के लिए जन-सहयोग ।

परिशिष्ट १ ४२६

प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक प्रगति ।

परिशिष्ट २ ४२७

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उत्पादन व विकास के लक्ष्य ।

परिशिष्ट ३ ४३०

राज्य सरकारों द्वारा द्वितीय योजना पर व्यय ।

भारतीय अर्थशास्त्र

अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का विषय व क्षेत्र
(SUBJECT & SCOPE OF INDIAN ECONOMICS)

विषय प्रवेश

'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द की व्याख्या बड़ी विवादग्रस्त है। इस विषय में मुख्य प्रश्न यह है कि "क्या भारतीय अर्थशास्त्र अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय है ?" इस प्रश्न पर भी अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्र एक सैद्धान्तिक विषय है। यह एक विज्ञान है, जो मनुष्य के उन व्यवहारों का अध्ययन करता है जो उसकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिये विभिन्न उपयोग वाले साधनों से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय व सर्वकालीन है, अर्थात् संसार के प्रत्येक देश में हर समय ये सिद्धान्त समान रूप से लागू होते हैं। अतएव अर्थशास्त्र भारतीय, अंग्रेजी, अमेरिकन, व जर्मन नहीं हो सकता। अस्तु, कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार भारतीय अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय नहीं है और पृथक् रूप से इसका अध्ययन नहीं करना चाहिये।

इसके विपरीत अर्थशास्त्रियों का एक अन्य वर्ग है जो प्रादेशिक अर्थशास्त्र को एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय मानता है। इस मत को 'ऐतिहासिक मत' (Historical School of Economics) कहते हैं जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन जर्मनी के अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट ने किया था। उसके अनुसार अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय व सर्वकालीन नहीं हैं। प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था, भौगोलिक परिस्थिति, प्राकृतिक साधन, सामाजिक संगठन, संस्कृति, जनसंख्या आदि का वहाँ के आर्थिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उक्त सभी बातें हर देश में समान नहीं होतीं। अतः विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और जो नीति एक देश में आर्थिक दृष्टिकोण से हितकारी है, वही दूसरे देश में घातक भी सिद्ध हो सकती है। उदाहरणतया १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार की मुक्त-द्वार व्यापार नीति (Free Trade Policy) इंगलैंड के लिए तो हितकारी थी किन्तु भारतीय उद्योगों के लिए घातक सिद्ध हुई थी। अतः यह कहना गलत है कि

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय व सर्वकालीन हैं। वास्तव में ये सिद्धान्त समान परिस्थितियों में समान रूप से लागू होते हैं और क्योंकि सब देशों की परिस्थितियाँ समान नहीं हैं, इसलिए आर्थिक सिद्धान्त भी समान रूप से लागू नहीं होते और प्रत्येक देश की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए वहाँ की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र भी एक स्वतन्त्र विषय ही माना जा सकता है।

भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा

'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द की कई प्रकार के भ्रमात्मक रूपों में व्याख्या की जा सकती है। इसका एक अर्थ तो प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय विचारकों तथा शासकों के आर्थिक विचारों और आर्थिक पद्धतियों के इतिहास का अध्ययन हो सकता है। अर्थात् 'भारतीय अर्थशास्त्र' का 'भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास। (History of Indian Economics thought) के रूप में अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु भारत में इस क्षेत्र में अभी पूर्णरूपेण अनुसन्धान नहीं किये गये क्योंकि यह अत्यन्त कठिन है। ऐतिहासिक आर्थिक सामग्री भी बहुत ही अल्प मात्रा में उपलब्ध है, यद्यपि कुछ प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में—जैसे बृहस्पति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति एवं नीति-ग्रन्थ आदि में—भारतीय आर्थिक विचारों की भरमार है, किन्तु ये विचार एक विशेष काल से ही सम्बन्धित हैं जिनमें इतने अधिक समय का अन्तर है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के क्रमबद्ध विकास का पता लगाना असम्भव है। अतः भारतीय अर्थशास्त्र में प्राचीन आर्थिक इतिहास से कुछ सम्बन्ध नहीं है, बल्कि वर्तमान आर्थिक समस्याओं व उनके हल करने के उपायों का ही भारतीय अर्थशास्त्र में अध्ययन करना है।

दूसरा भ्रमपूर्ण अर्थ यह लगाया जा सकता है कि भारतीय अर्थशास्त्र बिलकुल नवीन व मौलिक आर्थिक सिद्धान्तों का शास्त्र है, जो एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित और पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों द्वारा पोषित अर्थशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। स्वर्गीय रानाडे ने सर्वप्रथम यह आवाज उठाई थी कि पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त भारत की विभिन्न परिस्थितियों में उसी रूप में लागू नहीं किये जा सकते। उनका यह कथन तो शत-प्रतिशत सही था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि रानाडे अर्थशास्त्र के कुछ नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे। सच तो यह है कि भारतीय तथ्यो पर आधारित 'भारतीय अर्थशास्त्र' को कोई नवीन विज्ञान बनाना उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार कि भारतीय गणित, भारतीय भौतिक शास्त्र आदि का बनाना असम्भव है।

'भारतीय अर्थशास्त्र' का एक अन्य अर्थ यह भी लगाया जाता है कि इसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक जीवन के समुचित उदाहरणों पर आधारित अध्ययन किया जाता है, किन्तु यह भी गलत है।

अतएव 'भारतीय अर्थशास्त्र' की वास्तविक परिभाषा तो भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं तथा उनको हल करने के उपायों का अध्ययन है। वास्तव में

न्यायमूर्त्ति स्वर्गीय रानाडे ने भारत में सर्वप्रथम सन् १८९२ में डेकन कालेज पूना में 'भारतीय राजनीतिक अर्थशास्त्र' पर भाषण देते हुए 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द का उचित प्रयोग किया था और इसके आधुनिक अर्थ पर प्रकाश डाला था जो सार्वजनिक व सर्वमान्य है। उन्होंने आर्थिक सिद्धान्तों को बिना विचारे प्रत्येक देश पर समान रूप से लागू करने के विरुद्ध आवाज उठाई थी। और भारत की वर्तमान स्थिति तथा यहाँ की विशेष आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने की अपील के साथ यह भी कहा कि सरकार को भारत की आर्थिक समृद्धि के अनुकूल ही नीति बनानी चाहिये, चाहे वह विदेशी हितों के विरुद्ध ही क्यों न हो। अतः भारतीय अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य, देश में कालान्तर से नवीन परिस्थितियों के कारण उत्पादित नवीन समस्याओं का सुलझाना ही है, जिससे राष्ट्र की अधिकतम आर्थिक उन्नति हो सके। भारतीय अर्थशास्त्र की संक्षेप में सही परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, "भारतीय अर्थशास्त्र भारत की आर्थिक समस्याओं, उनके कारण, तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उनके हल करने के उपायों का अध्ययन है।"

क्षेत्र (Scope)

'भारतीय अर्थशास्त्र' की उक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके अन्तर्गत भारत की वर्तमान तथा भविष्य में सम्भावित आर्थिक स्थिति का वर्णनात्मक, आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत की आर्थिक समस्याओं को हल करने के प्रयत्नों का, विशेषतया आर्थिक योजनाओं की सफलता का अध्ययन करना है। इस प्रकार भारत की वर्तमान भौगोलिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति, प्राकृतिक साधन, कृषि और उसकी विभिन्न समस्याएँ व उनका हल, व्यापार, उद्योग-धन्धे, वाणिज्य, विनिमय, मुद्रा, साख आदि सभी समस्याओं पर विचार करना है। इसके अतिरिक्त विभिन्न आन्दोलनों का अध्ययन जैसे, श्रमिक और सहकारी आन्दोलन, भू-राजस्व पद्धति, यातायात के साधन, वित्त-व्यवस्था एवं राजस्व आदि का भी अध्ययन करना है। संक्षेप में, भारतीय अर्थशास्त्र में भारत व भारतीयों के आर्थिक जीवन की प्रत्येक समस्या का अध्ययन करना है। इसका क्षेत्र काल और समय की सीमाओं में सीमित नही है और इसमें भूतकालीन आर्थिक स्थिति व वर्तमान आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के अतिरिक्त भविष्य में होने वाली सम्भावित प्रगति का भी विवेचन किया जाता है। अतः भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही गहन और व्यापक है।

अध्ययन की उपयोगिता

भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, व व्यावहारिक दृष्टिकोण से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। सदियों की परतन्त्रता के पश्चात् भारत राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सका है, परन्तु आर्थिक परतन्त्रता अभी बनी ही हुई है। जब तक आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक राजनैतिक स्वतन्त्रता का सच्चा सुख भारतीयों को नहीं मिल सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त

करने के लिए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन अति आवश्यक है, क्योंकि अपनी सही आर्थिक स्थिति का ज्ञान होने पर प्रत्येक व्यक्ति उसे सुधारने का प्रयत्न करने लगेगा। अतः भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन एक प्रकार से पथप्रदर्शक का कार्य करता है और पाठकों को आर्थिक स्वतन्त्रता के संग्राम में पूर्ण सहयोग देने को प्रोत्साहित करता है। इसके अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति को उसकी निर्धनता का कारण, राष्ट्रीय जीवनस्तर को ऊँचा उठाने के साधन तथा देश की आर्थिक उन्नति करने में अपना स्वयं का भाग आदि ज्ञात हो जाता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से भी भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके अध्ययन से शासकों व नीति निर्माताओं को सही व उचित आर्थिक नीति बनाने में, जिससे देशवासियों का आर्थिक जीवन उन्नत हो सके और भारत की आर्थिक समस्याओं का शीघ्रातिशीघ्र हल हो सके, बहुत सहायता मिलती है। देश की आर्थिक स्थिति पर शासन की वित्त-व्यवस्था, कर-नीति, मुद्रा एवं विनिमय सम्बन्धी नीति आदि का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक भारतीय को भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से बहुत लाभ हो सकता है, उदाहरणतः कृषकों को कृषि-समस्या व उनके हल के उपायों का अध्ययन बहुत लाभकारी हो सकता है। भारतीय उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन उद्योगपतियों के लिये बहुत उपयोगी है। व्यापारी वर्ग देश के व्यापार, वाणिज्य आदि की समस्याओं के अध्ययन से लाभ उठा सकता है, मजदूर नेता औद्योगिक परिस्थितियों व मजदूरों की समस्याओं से परिचित होकर अधिक योग्यता एवं सफलता से अपना कार्य कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किये बिना देश की आर्थिक उन्नति के लिए किसी भी प्रकार की आर्थिक योजना का निर्माण करना पूर्णतया असम्भव है। अतः भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति व देश की निर्धनता को दूर करने के लिये भाररीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत उपयोगी व आवश्यक है।

अध्याय २

भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधन

(GEOGRAPHICAL ENVIRONMENTS AND NATURAL RESOURCES)

आर्थिक महत्त्व

मानव-समाज के आर्थिक जीवन को सुखी बनाने में प्रकृति का सदा भारी हाथ रहा है। मनुष्य स्वयं ही अपनी भौगोलिक परिस्थितियों की उपज है। प्रत्येक देश का आर्थिक उत्थान व पतन एव वहाँ के निवासियों का आर्थिक जीवन उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों के समुचित उपयोग पर निर्भर होता है। इन्ही साधनों पर मनुष्य अपना श्रम और पूँजी लगाकर ऐसी वस्तुओ को उत्पन्न करता है जिनसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। देश की जलवायु, धरातल की बनावट, वर्षा, भूमि, खनिज-सम्पत्ति, वनस्पति आदि वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालती है। नदियाँ, यातायात के साधन, वन, समुद्र-तट एवं अन्य शक्ति के साधन अपना अलग ही एक विशेष आर्थिक महत्व रखते हैं।

आज का युग विज्ञान का युग है और यह सही है कि वैज्ञानिकों ने अपनी आविष्कारक बुद्धि से एक सीमा तक प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है और वातावरण को अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाने में भी सफल हुए हैं। मानव ने आज क्या नहीं कर लिया है ? उसने दुर्गम पर्वतों को काटकर सुरक्षित रास्ते बना लिये, अथाह समुद्र पर अपनी पताका फहरा दी, विद्युत् द्वारा एवं अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से सारे वातावरण को अपने अनुकूल बना लिया है। परन्तु सत्य तो यह है कि चाहे मानव कितने ही और नवीन आविष्कार क्यों न कर ले, वह स्थानीय प्राकृतिक साधनों की अवहेलना नहीं कर सकता और सदा ही उसे किसी-न-किसी सीमा तक प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर रहना ही पड़ेगा।

अतः यह तो स्पष्ट ही है कि देश की भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक साधनों का वहाँ के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः भारतीय आर्थिक जीवन पर भी प्राकृतिक प्रभावों की प्रधानता रही है, एवं कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धे, राजस्व आदि सभी बातों पर यहाँ के प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ा है। अस्तु, भारतवर्ष की आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के पूर्व यहाँ की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भारत की भौगोलिक स्थिति (Location)

भारतीय गणतंत्र राज्य एशिया महाद्वीप का एक महान् देश और विस्तृत भूखंड है। यह विशाल देश भूमध्य रेखा के उत्तर में, दक्षिण से उत्तर तक (काश्मीर सहित) ८° से ३७° अक्षांश और ६६·२° से ९७° देशान्तर तक फैला हुआ है। कर्क रेखा इस भू-भाग को लगभग दो बराबर भागों में विभाजित करती हुई, इसके मध्य से जाती है। देश की भौगोलिक स्थिति बहुत ही अनुकूल है। यह पूर्वी गोलार्द्ध के ठीक केन्द्र में स्थित है तथा एक ओर बर्मा, चीन, हिन्देशिया, जापान तथा दूसरी ओर यूरोप और मध्य-पूर्वी देशों के साथ बहुत सरलता से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। सारांश यह है कि भारत को प्रकृति ने ही एक महान् देश बनने में पूर्ण योग दिया है।

क्षेत्रफल (Area)

विभाजन से पूर्व समस्त भारत का क्षेत्रफल १५ लाख ८१ हज़ार वर्ग मील था। आज भारतीय संघ का क्षेत्रफल लगभग १२,६९,६४० वर्ग मील है। शेष ३,११,३६० वर्ग मील का क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया। उत्तर से दक्षिण तक भारत की लम्बाई लगभग २००० मील है तथा पश्चिम से पूर्व तक १७०० मील है। देश का समुद्र-तट ४१०० मील लम्बा है, किन्तु इसके भली भाँति कटे-फटे न होने के कारण इससे पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सकता। भारत का क्षेत्र अब भी ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल से १२ गुना अधिक है। यूरोप के अनेकों देश जैसे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आयरलैंड, बेल्जियम, हालैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन आदि भारत में समा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारत एक ऐसा देश है जहाँ अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ मिलती हैं। विभिन्न भागों में भिन्न प्रकार की जलवायु, वर्षा, तापमान, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि पाई जाती हैं। यहाँ के कुछ भागो में वर्षा नहीं के बराबर ही होती है, जैसे थार रेगिस्तान (Thar Desert) में केवल ४" प्रतिवर्ष वर्षा होती है, जब कि चेरापूँजी में ४२५" वर्षा प्रतिवर्ष होती है। देश के कुछ भागों में जलवायु बहुत ठंडा तथा कुछ में बहुत गर्म है। काश्मीर में कम-से-कम तापमान ४९° फा० हो जाता है जब कि राजस्थान के कुछ भागों में अधिकतम ताप-१२०° फा० तक रहता है। परन्तु इन नाना प्रकार की विभिन्नताओं का हानिकारक होने के बजाय भारत की आर्थिक प्रगति में विशेष योग रहा है।

भौगोलिक विभाजन (Geographical Division)

भौगोलिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष साधारणतया तीन प्राकृतिक भागों में विभाजित है। ये तीनों भाग अपनी-अपनी प्राकृतिक विभिन्नता के कारण जीवन के रहन-सहन, उद्यम, आचार-विचार तथा वेश-भूषा इत्यादि में एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं।

(१) **उत्तरीय हिमालय पहाड़ी प्रदेश** (Himalayas) :—यह विशाल पर्वत-माला उत्तर मे पामीर से आरम्भ होती है। दार्जिलिंग से काश्मीर के पश्चिमी भाग तक हिमालय पर्वत-श्रेणी लगभग १५०० मील लम्बी और १५० से ३०० मील तक

चौड़ी है। हिमालय की ऊँची पर्वतश्रेणियाँ देश की सुरक्षा का मुख्य साधन रही हैं। इनका आर्थिक जीवन पर भी कई प्रकार से विशेष प्रभाव पड़ता है। ये पर्वत श्रेणियाँ जल-वृष्टि में सहायक होती हैं। इनमें से देश की कितनी ही मुख्य नदियां निकलती हैं जिनसे लाखों एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। इसके अतिरिक्त यह उत्तर से प्रवाहित होनेवाली ठंडी और शुष्क वायु से हमारी रक्षा करती है और इनके अमुल्य सघन वन और चरागाह भी विशेष आर्थिक महत्व रखते हैं एवं विद्युत् शक्ति की उत्पत्ति के लिए अति उपयुक्त हैं। हिमालय ने न केवल भारत के आर्थिक विकास में ही सहायता दी है वरन् यहाँ के सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन पर भी विशेष प्रभाव डाला है।

(२) **गंगा का मैदान** (Gangetic Plains):—यह विशाल मैदान संसार के सबसे उपजाऊ समतल मैदानों में से है। यह हिमालय के दक्षिण में, पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी से पश्चिम में पाकिस्तानी सीमा तक फैला हुआ है जिसकी लम्बाई लगभग १५०० मील और चौड़ाई १५० से २०० मील तक है। इसमें उत्तरी राजस्थान, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और आसाम का कुछ भाग सम्मिलित है। इसका पश्चिमी भाग मरुप्रदेश है, किन्तु पूर्वी भाग उर्वरा भूमि के कारण अधिक उपजाऊ है, जिससे यह प्रदेश देश की कृषि का मुख्य केन्द्र बन गया है और अन्न भी यहाँ पर्याप्त मात्रामें उत्पन्न होता। नदियों के कारण यह मैदान भारत का एक गौरवपूर्ण भाग है।

(३) **दक्षिणी पठार** (Deccan Plateau):—यह त्रिभुजाकार पठार खुली घाटियों का प्रदेश है जो कि अपने तीनों ओर पहाड़ियों से आच्छादित है। उत्तर में विन्ध्याचल, सतपुरा और अजन्ता की पर्वत-श्रेणियाँ हैं जिनकी ऊँचाई लगभग १५०० से ४००० फुट तक है। पठार के पूर्व और पश्चिम में क्रमशः पूर्वीय और पश्चिमी घाट हैं, जो विन्ध्याचल पर्वत से आरम्भ होकर देश के दक्षिण तक दोनों ओर चले गये हैं। पश्चिमी घाट बम्बई प्रदेश से होकर जाते हैं, जिनकी औसत ऊँचाई ३००० फुट है, पर कहीं-कहीं ३००० से ९००० फुट तक ऊँची है। पूर्वी घाट मद्रास प्रदेश से होकर जाते हैं और यह १५०० फीट उँचे हैं। इस प्रदेश का धरातल बड़ा ऊबड़-खाबड़ है अतः इससे प्रवाहित होनेवाली नदियाँ जैसे नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा और कावेरी ग्रीष्म-ऋतु में सूखकर केवल तालाब के समान हो जाती हैं और उनमें केवल वर्षा-काल में ही जल रहता है। ये नदियाँ न तो सिंचाई के उपयुक्त हैं और न वे एक महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग का साधन ही बन सकती हैं। परन्तु दक्षिण के पठार में नर्मदा और ताप्ती की घाटियों में बहुत बड़े और उपजाऊ मैदान हैं, जिनमें उपजाऊ मिट्टी के कारण अधिक पैदावार होती है। भारतवर्ष के आर्थिक विकास में इस प्रदेश ने भी अच्छा योग दिया है।

भूमि (Soil)

प्रत्येक देश का आर्थिक विकास वहाँ की भूमि की बनावट पर निर्भर है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है, और कृषि में भूमि का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में अनेक प्रकार की मिट्टी पायी जाती है जिनके गुण और अवगुण भारत की कृषि-उत्पादन की सीमा और दिशा निर्धारित करते हैं। यहाँ पर मुख्यतः

चार प्रकार की मिट्टी पाई जाती है:—

(१) **दुमट** (Alluvial soil):—इसको गंगवार, दुमट और दोमट आदि नामों से भी पुकारते हैं। भारत में यह सबसे अधिक उपजाऊ मिट्टी है। यह प्रायः गंगा के मैदान और दक्षिण के दोनों तटों पर पायी जाती हैं। इस मिट्टी वाले प्रदेश का क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील है। यह मिट्टी मुलायम और गहरी है। बोरिंग करने से यह १६०० फीट नीचे तक पायी गयी है। यह नमी को अधिक समय तक धारण कर सकती है। नदियों ने इस मिट्टी को बार-बार धोकर अधिक उपजाऊ बना दिया है। उत्तरी क्षेत्र की इस मिट्टी में नत्रजन (Nitrogen) तो कम किन्तु पोटाश (Potash) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस मिट्टी की प्रति एकड़ भूमि में कृषि-उत्पादन अधिक होता है इसलिये यहाँ की भूमि अधिक प्राणियों का पालन कर सकती है और इसी कारण से पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब आदि प्रदेशों में जनसंख्या का घनत्व अधिक है।

(२) **लाल मिट्टी** (Red soil or Crystalline soil)—यह अधिकांशतः मद्रास, मैसूर, दक्षिणी-पूर्वी बम्बई प्रदेश, पूर्वी हैदराबाद, पूर्वी मध्यप्रदेश, छोटा नागपुर, उड़ीसा और दक्षिणी बंगाल में पायी जाती है। लोहे के मिले होने से इस मिट्टी का रंग लाल होता है। यह मध्यमश्रेणी की उपजाऊ होती है। इसमें नत्रजन (Nitrogen) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) बहुत कम होती है। यह ज्वार, बाजरा, तिलहन, कपास, मूंगफली आदि की पैदावार के लिये अधिक उपयुक्त है।

(३) **काली मिट्टी** (Black Cotton Soil or Deccan Trap soil):—यह मिट्टी प्रायः सारे दक्षिणी पठार के लगभग दो लाख वर्ग मील में फैली हुई है। बम्बई राज्य के अधिकांश भाग, बरार, पश्चिमी मध्य प्रदेश और हैदराबाद में यह मिट्टी पायी जाती है। धातुओं के अधिक होने के कारण इस मिट्टी का रंग काला हो गया है। इस मिट्टी में नत्रजन (Nitrogen) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric acid) कम तथा पोटाश (Potash) और चूने (Lime) की मात्रा अधिक होती है। पहाड़ों के ढालों पर यह मिट्टी पतली होती है, इसलिये नदियों की घाटियों की मिट्टी के समान उर्वरा नहीं होती। इस मिट्टी पर कृषि करने में सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वर्षाकाल में यह खूब लिबीलिबी हो जाती है और शुष्क हो जाने पर इतनी कठोर हो जाती है कि गर्मियों में भी इसकी नमी कम नहीं हो पाती। इस मिट्टी में विशेषकर कपास और ज्वार की फ़सल अच्छी तरह होती है।

(४) **लैटराइट मिट्टी** (Laterite soil):—यह मिट्टी अधिकांश में मध्यभारत, पूर्वी और पश्चिमी घाटों के पास पायी जाती है। पहाड़ियों की मिट्टी कम उपजाऊ तथा घाटों की अधिक उपजाऊ होती है। यह कहवा, चाय, रबर आदि के लिए अधिक उपयुक्त है। इसमें फास्फोरिक एसिड, पोटाश और चूना तो कम और वनस्पति का अंश अधिक होता है। इसलिए औसतन यह मिट्टी कम उर्वरा होती है।

भूमि क्षरण (Soil Erosion)

आज प्रत्येक भारतीय यह समझने लगा है कि भारत की सबसे बड़ी तथा

कठिन आर्थिक समस्या 'भूमि कटाव' की है। यद्यपि अभी तक इस समस्या का उचित प्रकार से अध्ययन नहीं किया गया और न यही जानने का प्रयत्न किया गया कि भूमि-कटाव के कारण देश को प्रतिवर्ष कितनी हानि होती है। परन्तु यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि इसी कटाव के कारण प्रतिवर्ष हमारे देश की उपज एवं खेती योग्य भूमि का क्षेत्रफल दिनोंदिन कम होता जा रहा है। जब पानी अधिक वेग से बहता है तो अपने साथ भूमि के ऊपरी मुलायम कणों को बहाकर ले जाता है जिससे कुछ समय में भूमि की उर्वरा-शक्ति नष्ट होकर बंजर भूमि बन जाती है। हमारे देश की हज़ारों एकड़ भूमि कटाव के कारण बेकार हो गई है। पंजाब के होशियारपुर ज़िले में ऐसे १०४ खेत हैं जिन्हें 'चो' (Cho) कहते हैं जिनमें जिले कि १४,००,००० एकड़ उपजाऊ भूमि में से ४०,००० एकड़ भूमि का विनाश हो चुका है। यमुना नदी ने बुन्देलखंड में हजारों एकड़ भूमि को काट दिया है। चम्बल ने भी धौलपुर और ग्वालियर में भूमि में बड़े-बड़े गड्ढे बना दिये हैं। दक्षिणी भारत में भी इसी प्रकार से बहुत-सी भूमि बेकार हो गई है। वास्तव में भारत में कटाव के कारण हुई हानि की मात्रा का अनुमान लगाना कठिन है। परन्तु योजना-कमीशन ने अनुमान लगाया है कि ८० में से प्रत्येक १ साधारण ढलाव पर १" प्रतिवर्ष वर्षा से १ एकड़ भूमि पर १·६ से ४·३ टन मिट्टी की हानि होती है।

भू-क्षरण के भेद (Forms of Soil Erosion) :—भारतवर्ष में भूमि कटाव भी कई प्रकार का होता है—

(१) तलक्षरण (Sheet Frosion) :—समतल भूमि (Flat Lands) की ऊपरी मिट्टी पानी द्वारा बह जाने और नीचे की मिट्टी समान किन्तु बेकार हो जाने को 'शीट' कटाव कहते हैं। यह उस भूमि पर भी होता है जिस पर खेती नहीं की जाती है और जो बिना पेड़ों की रक्षा के होती है, क्योंकि इसकी ऊपर की मिट्टी भी पानी के बहाव के साथ बिना रोक के बह जाती है। इस प्रकार के कटाव से भारत में सबसे अधिक हानि प्रतिवर्ष होती है।

(२) अन्तःक्षरण—(Gully Erosion) :—कुछ स्थानों पर नदी और नालों के किनारे की भूमि में पानी के तीव्र वेग से दूर-दूर तक गहरे-गहरे गड्ढे गड्ढे तथा रास्ते बन जाते हैं जो कि सारी भूमि को ऊबड़-खाबड़ करके काट देते हैं और बड़े-बड़े कछार बन जाते हैं। इस प्रकार के कटाव को कछारदार कटाव कहते हैं।

(३) वायु क्षरण (Wind Erosion) :—इस प्रकार का कटाव प्रायः देश के सूखे भागों में होता है, जैसे राजस्थान और पूर्वी पंजाब जहाँ पर बड़े वेग से वायु चलती है जो अपने साथ भूमि की ऊपरी सतह के मुलायम कणों को उड़ा ले जाती है।

भू-क्षरण के कारण (Causes of Soil Erosion) :—भूमिक्षरण के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं :—

(१) वनों का काटना (Deforestation) :—मिट्टी की सुरक्षा और

पानी की पूर्ति के लिए वन एक उपयोगी साधन हैं। वनों के वृक्ष वर्षाकाल में वर्षा के प्रहार को सह लेते हैं। वृक्षों की जड़ों और घास से भी जल-प्रवाह में रुकावट पड़ती है, जिससे भूमिक्षरण शीघ्र नहीं हो पाता। परन्तु भारतवर्ष में तो लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए समय-समय पर वनों को नष्ट कर डाला। लकड़ी और ईंधन के लिए वनों का विनाश होता रहा। इससे भी अधिक विनाश नहरों और रेल-मार्गों के निर्माण से हुआ।

(२) **वनस्पति को नष्ट करना** (Destruction of Vegetation)—वनस्पति को नष्ट करने से भी भूमिक्षरण शीघ्र होने लगता है, क्योंकि ऐसा करने से भूमि पूर्ववत् नहीं रहती तथा उत्पादन शक्ति कम होती जाती है। मध्यप्रदेश, उड़ीसा तथा आसाम की आदिवासी जातियां (Tribal people) एक निश्चित स्थान पर कृषि नहीं करती। ये लोग प्रायः एक स्थान के उजड़ जाने पर दूसरे स्थान पर खेती करने लगते हैं। आसाम में 'झुमिङ्ग क्रिया' (Jhuming Method) प्रचलित है जिसके अनुसार जंगल का एक भाग चुन लिया जाता है और इसको जलाकर खेती के लिए साफ कर लिया जाता है। भारत के कई राज्यों में वनों को नष्ट करके खेती आरम्भ की गई जैसा कि निम्न तालिका से विदित होता है :—

सं०	राज्य	प्रतिशत वन नष्ट करके खेती प्रारम्भ की गई
१	बम्बई	८८·५
२	मद्रास	८७·५
३	मध्य प्रदेश	८७.६
४	उत्तर प्रदेश	६५·६
५	पंजाब	९०·४

(३) **पशुओं द्वारा अनियंत्रित चराई** (Free grazing) :—सरकार की खुली चराई की नीति के कारण सभी वनों को क्षति पहुँची है। पशुओं द्वारा बेहद चराई तथा चरी हुई खुली भूमि पर पशुओं के चलने से मिट्टी ढीली हो जाती है और उसका क्षरण होने लगता है। श्री के० एम० मुन्शी के मतानुसार "भेड़-बकरियों को प्रश्रय देने का अर्थ ही भूमिक्षरण और महा विनाश है।"

(४) **एक ही भूमि पर लगातार खेती करना** (Continuous Cultivation) :—भारत में खेती की जाने वाली भूमि का सैकड़ों वर्षों से बिना रोक-टोक के बराबर उपयोग होता रहा है और उसकी उत्पादन-शक्ति की रक्षा के लिए खाद इत्यादि या तो डाली नहीं जाती या अपर्याप्त होती है। इससे देश के बड़े-बड़े भाग भूमिक्षरण के संकट में आ गये हैं।

भूमिक्षरण को रोकने के उपाय (Remedies of Soil Erosion)

भूमिक्षरण एक गम्भीर समस्या है। इससे देश के बड़े-बड़े क्षेत्र मरुस्थल होते जा रहे हैं। इसलिये इनको रोकने तथा भूमि की उर्वरा शक्ति की पुनर्प्राप्ति की प्राकृ-

तिक शक्तियों के विरुद्ध तथा मानवीय कार्यों के विरुद्ध घोर युद्ध आरम्भ करना चाहिये। सैद्धान्तिक रूप से इसके लिये चार उपाय हैं:—वृक्षारोपण, प्रवाहित जल की गति को रोकना, भूमि की जोत द्वारा बहती हुई मिट्टी को बाँधकर रखना और जल की मात्रा और विस्तार को कम करना। इसलिए भूमिक्षरण को रोकने के लिए निम्न उपायों को शीघ्र अपनाना चाहिये—

(१) वृक्ष लगाना (Afforestation)

(२) वनों की चराई को पूर्णतया रोकना।

(३) प्रवाहित जल को रोकने के लिए पहाड़ी भूमि पर समानान्तर खेती करना तथा मैदानों में आड़ी जुताई करना।

(४) ढालू स्थानों पर पानी जमा करने के लिये छोटे-छोटे तालाबों का निर्माण आवश्यक है तथा नदी की बाढ़ का पानी संचित करने के लिए जलाशयों का निर्माण करना चाहिये।

परन्तु इन उपायों को कार्यान्वित करने के लिए एक विशेष संस्था द्वारा उचित अनुसन्धान एवं निरीक्षण तथा पर्याप्त वित्त का होना आवश्यक है। सारी भूमि का विस्तारपूर्वक जाँच व पैमाइश करने में काफी व्यय भी करना पड़ेगा।

भूमिक्षरण और प्रथम पचवर्षीय योजना

योजना कमीशन ने भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में भूमिक्षरण की समस्या को प्राथमिकता दी है और इसे भविष्य में रोकने पर और भूमि संरक्षण पर विशेष रूप से जोर दिया है। कमीशन ने यह सुझाव दिया है कि एक केन्द्रीय भूमि उपयोग तथा संरक्षण संघ (Central Land Utilisation and Soil Conservation Organisation) की स्थापना की जाय और राज्यों में इसी प्रकार की परिषदें बनाई जायँ।

केन्द्रीय भूमि उपयोग तथा संरक्षण संघ के कार्य

(१) विमानों की सहायता से भूमिक्षरण समस्या का निश्चित रूपरेखा, भूमि-क्षरण के प्रकार का पता लगाना तथा उसके द्वारा क्षति का अनुमान लगाना।

(२) भूमिक्षरण को रोकने और भूमि-संरक्षण के लिए नीति निर्धारित करना, जो सभी प्रदेशों में लागू की जा सके।

(३) भूमि-संरक्षण सम्बन्धी कानून बनाने में राज्यों को सलाह देना।

(४) नदी घाटी योजना क्षेत्रों में भूमि-संरक्षण की समस्या को हल करने में राजस्थानी रेगिस्तान के प्रसार को रोकने और अनुसन्धान तथा प्रदर्शन आयोजित करने के लिए राज्यों की सहायता से ऐसी योजना बनाना जिसे लागू करने के लिए सभी राज्य सहमत हों।

(५) देहरादून की वन-अनुसन्धानशाला (Forest Research Institute) के भूमि-संरक्षण अनुसन्धान विभाग (Soil Conservation Research Branch) तथा जोधपुर के मरु-अनुसन्धान केन्द्र (Desert Research Station) का चलाना।

(६) भूमि-संरक्षण-कार्य को संगठित करना और प्रचारकों को शिक्षा देने की व्यवस्था करना।

राज्यों की भूमि उपयोग तथा संरक्षण परिषदों के कार्य

(१) भूमिक्षरण समस्या की जाँच-पड़ताल करना।

(२) राज्यों में भूमिक्षरण रोकने और भूमि संरक्षण की योजनाएँ बनाना।

(३) भूमि के उपयोग के तरीकों में सुधार करना और संरक्षण कार्यों के लिए उपयुक्त कानून बनाना।

(४) बाँध निर्माण और मेंड़ बाँधने की योजनाओं पर कार्य करना।

(५) कर्मचारियों के शिक्षण, प्रदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रचार के लिए कार्यक्रम बनाना।

(६) भूमि संरक्षण संघों के कार्यों का निरीक्षण करना और उन पर नियन्त्रण रखना।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने भूमि-संरक्षण योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए २ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की थी। इसी धन में से राज्यों को कुछ धन वितरित करना था।

पिछले कुछ वर्षों में भूमि क्षरण को रोकने एवं भूमि संरक्षण के लिए कुछ सक्रिय कार्य किया गया है। बम्बई में स्थान-स्थान पर बाँध बाँधकर (Countour Building) और टेक लगाकर (Terracing) इस कार्य को किया जा रहा है। पंजाब में बन लगाये गए हैं (Afforestation) तथा पहाड़ी नालियों में बाँध इत्यादि बाँधे गये हैं। उत्तर प्रदेश में नालों तथा खड्डों से परिपूरित भूमि को खेती योग्य बनाकर खेती करके भूमि का संरक्षण किया जा रहा है। बाँध बाँधने, टेक लगाने और कटी-फटी भूमि को समतल बनाने के लिए ट्रेक्टर्स और बड़ी-बड़ी मशीनों आदि से कार्य लिया जा रहा है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भूमिक्षरण को रोकने की योजनाएँ

भूक्षरण से गम्भीर रूप में ग्रस्त क्षेत्रों तथा जल व आँधी से होनेवाले भूक्षरण के क्षेत्रों में सुधार करने के लिए एक योजना का निर्माण किया गया है जिसमें कृषि भूमि, रेगिस्तान, समुद्रतटीय, रेतीले पठार, पर्वतीय प्रदेशों, नदियों के खार तथा पड़ती भूमि की भूक्षरण समस्याएँ आदि भी शामिल हैं। इन क्षेत्रों में जाँच की जायेगी। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए अनुसन्धान, प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण का प्रबन्ध भी होगा। रेगिस्तान, खारों, काली मिट्टी, पहाड़ियों तथा नदी घाटी योजनाओं की समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न जलवायु के क्षेत्रों में अनुसन्धान केन्द्र खोले जा चुके हैं तथा कुछ और अन्यत्र स्थानों में खोले जायेंगे।

भूमि संरक्षण बोर्ड द्वारा स्थापित इन अनुसंधान केन्द्रों में इस व्यापक कार्य के लिए ४००० से अधिक असिस्टेन्टों व २०० अफसरों को प्रशिक्षण दिया जायगा। इसके साथ ही प्रदर्शन योजनाएँ भी आरम्भ होंगी जिनमें कृषकों को विभिन्न क्षेत्रों

में भूमि उपयोग करने की विधियाँ बताई जायेंगी। इस कार्य के लिए योजना में २·५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की जा रही है। इसके अतिरिक्त कच्छ की खाड़ी से राजस्थान तक लगभग १२०० वर्ग मील लम्बे क्षेत्र में बन लगाये जायेंगे।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण पंजाब से आसाम तक हिमालय की निचली पहाड़ियों के ढालू क्षेत्र में, नीलगिरि, पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों में तथा अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में वनों का विनाश किया गया है और चरागाह समाप्त हो गये हैं जिससे बहाव में मिट्टी नीचे बह जाती है तथा बहुत-सी उपयोगी भूमि दब जाती है और भूमि में भारी कटाव हो जाता है तथा चट्टानें खिसककर नीचे गिर जाती हैं। इन सबको रोकने के लिये २·५ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया है तथा ६ लाख एकड़ क्षेत्र में खारो की समस्या को हल करने के लिये ३ करोड़ रुपया व्यय किया जायेगा। इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भूमिक्षरण को रोकने की अनेक योजनाओं के लिये व व्यापक रूप में वन लगाने के लिये लगभग ३० करोड़ रुपया निर्धारित किया गया है।

परन्तु हमारे देश में सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि भूमिक्षरण की समस्या की गम्भीरता का न तो किसानों को ही कुछ ज्ञान है न आम जनता को और न ही हमारे नेताओं को जो कि सब प्रकार के नीतियाँ और कानून बनाया करते हैं। हमारे किसान इस भारी संकट की ओर से बिलकुल उदासीन से हैं। वे कभी भूमि-संरक्षण के लाभों को सोचते तक नहीं है। इस सम्बन्ध में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निश्चित रूप से कुछ प्रगति हुई है। परन्तु इस समस्या को हल करने के लिये बहुत कम धनराशि निर्धारित की गई है। इसलिये सर्वप्रथम तो भूमि संरक्षण की किसी भी योजना को सफलता से कार्यान्वित करने के लिये हमें जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना पड़ेगा। यही सुझाव भारत के वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने सन् १९५३ में भूमि संरक्षण समिति (Soil Conservation Society) के प्रथम वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में दिया था। उन्होंने कहा कि भारत में भूमि-संरक्षण का कार्य सफलता पूर्वक करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है -

(१) सर्वप्रथम तो किसान को यह विश्वास दिलाना है कि वास्तव में उसे भूमि संरक्षण की आवश्यकता है।

(२) किसानों को यह बताना है कि भूमि-संरक्षण की योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने में उनका कितना भाग होगा और उन्हें क्या करना होगा।

(३) जो कार्य भूमि-संरक्षण-योजनाओं के अन्तर्गत किये जाते हैं उनकी विशेषताएँ किसानों को समझाना।

इन कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिये भारत सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों के सहयोग की बहुत आवश्यकता है। भूमि-संरक्षण के सम्बन्ध में भारत अमेरिकन प्रयोगों से बहुत कुछ सीख सकता है और इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं:—

(१) अमेरिका की भाँति भूमि संरक्षण किसानों की प्रेरणा से किया जाना चाहिये और उन्हें इस कार्य में विशेष रुचि लेनी चाहिये।

(२) ऐसे कार्य के लिए कानून होना आवश्यक है और कार्य आरम्भ करने से पहले उपयुक्त कानूनी व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

(३) इस कार्य के लिये केवल भूमिक्षरण पर ही नहीं बल्कि भूमिसंरक्षण और उसकी उत्पादन शक्ति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है—

भूमि का वितरण (Distribution of Land)

भारत में सन् १९५३-५४ में कुल क्षेत्रफल के केवल ३२.८ प्रतिशत भाग पर कृषि हुई थी। हमारे देश में इस वर्ष* भूमि का विभाजन निम्न प्रकार से था:—

वर्गीकरण	क्षेत्रफल (लाख एकड़)	खेती योग्य क्षेत्रफल का प्रतिशत
१. कुल क्षेत्रफल (Total Area)	८११०	.....
२. कृषि योग्य भूमि (Area for Land Utilization)	६१४०	१००·०
३. भूमि जिस पर कृषि नहीं होती (Uncultivated Area)	२४७०	४०·२
(a) वन (Forests)	९३०	१५·१
(b) कृषि के लिए अप्राप्य (Not available for Cultivation)	९६०	१५·७
(c) परती भूमि (Fallow land)	५८०	९·४
४. भूमि जिस पर खेती होती है (Actually Sown Area)	२६६०	४३.३
५. भूमि जिस पर एक बार से अधिक खेती हो चुकी है (Total Cropped Area sown more than once)	३२००	५२·१
६. भूमि जिस पर खाद्य फसलें बोई जाती हैं (Area Sown with Food Crops)	२३५०	३८·२
७. भूमि जिस पर व्यावसायिक फसलें बोई जाती हैं (Area Sown with Nonfood Crops)	३१०	५·१
८. सींची जाने वाली भूमि (Total Irrigated area)	४९०	७·९

*सन् १९५४-५५।

उक्त तालिका से विदित होता है कि भारत में वनों की ६३० लाख एकड़ भूमि एवं बस्तीवाली भूमि को छोड़कर, जो ८०० लाख एकड़ से अधिक नहीं है, ७४० लाख एकड़ ऐसी भूमि बच रहती है जिसको कृषि के योग्य बनाया जा सकता है। उक्त विवरण में जो भूमि कृषि के लिए अप्राप्य मानी है वह भ्रमोत्पादक-सी विदित होती है। प्रो० बाउले और राबर्टसन (Prof. Bowely and Robertson) ने भी इस आशय की सिफ़ारिश की थी कि यह भ्रमोत्पादक भूमि का भेद मिटा देना चाहिये और वैज्ञानिक मशीनों द्वारा तथा अन्य उपायों द्वारा इस भूमि को कृषि योग्य बनाने की चेष्टा करनी चाहिये।

वन (Forests)

प्राकृतिक एवं धार्मिक महत्त्व :—प्रत्येक देश में वनों का बड़ा भारी महत्त्व है। वे राष्ट्र की एक अमूल्य प्राकृतिक निधि होते हैं। देश के जलवायु का वनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। देश की प्राकृतिक भौगोलिक स्थिति, भूमि की बनावट, जनसंख्या का घनत्व आदि सभी बातों का वनों के क्षेत्रफल पर प्रभाव पड़ता है। उधर वनों का जलवायु पर भी असर पड़ता है। भारत की जलवायु, वर्षा, अन्न की उपज बहुत-कुछ वनों की रक्षा पर निर्भर करती है। वे भूमि की क्षरण होने से भी रक्षा करते हैं। प्राचीन काल से ही भारत में वनों का बड़ा महत्त्व रहा है। एक समय था जब वनों को राष्ट्रीय गौरव की चीज समझा जाता था और उनका बड़ा धार्मिक महत्त्व था। हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में अनेक बार वनों की गाथा गई गई है। अथर्व वेद में तो वनों को 'संसार के समस्त सुखों का स्रोत' कहा गया है। भगवद्गीता में लिखा है कि "वन हम सब लोगों को जीवन प्रदान करते हैं इसलिए वृक्षों की सदा रक्षा करनी चाहिए।" अग्नि पुराण में भी यह शिक्षा दी है कि "यदि तुम स्वयं एवं अपने परिवार को सुखी और सम्पन्न देखना चाहते हो तो फल-फूलदार वृक्षों को कभी मत काटो।" मत्स्य पुराण में तो इससे भी आगे बढ़कर वनों की महत्ता बताते हुए लिखा है कि "दस कुओं के बराबर एक तालाब है, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है और दस पुत्रों के समान एक वृक्ष है।" इस प्रकार पुत्रों से भी अधिक वनों की रक्षा करना भारतीयों का परम धर्म बताया गया है। इसीलिए भारत के प्राचीन सम्राटों ने सदा वृक्षों की रक्षा की और अधिक वृक्ष लगाये थे। परन्तु खेद है कि सभ्यता और विज्ञान के विकास के साथ-साथ मानव ने स्वार्थवश होकर वनों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया जिससे कि आज भारत के समक्ष नाना प्रकार की समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं।

वनों का धार्मिक ही नहीं वरन् इससे भी अधिक आर्थिक महत्त्व है। राष्ट्र के आर्थिक विकास में वनों का भारी हाथ रहता है। फिर सरकार को भी वनों से प्रतिवर्ष पर्याप्त आय होती है। नीचे की तालिका में भारत को वनों से हुई आय और लाभ का ब्योरा दिया है :—

वनों से आय (१९४८–४९)

(लाख रुपयों में)

विभिन्न मदों से आय	आसाम	बिहार	बम्बई	मद्रास	पश्चिमी बंगाल
१. लकड़ी	४१·९४	३३·२९	२८८·६५	११५·३७	५५·१४
२. छोटे वनों से प्राप्त (Minor Forest produce)	१७·१९	८·४५	१६·३२	२४·०६	१·२२
३. वन की दर (Forest Stamps)	—	०·०१	—	—	—
४. चरवाही (Grazing)	०·३५	०·०७	४·२३	५·०४	०·३३
५. निजी वनों से आय (Revenue from private forests)	१·९७	—	१·००	—	०·१७
६. अन्य आय (Miscellaneous)	३·९१	१·२६	१३·०६	१३·१०	५·३७
७. वापिस दिया हुआ धन (Refunds)	१·९३	०·१३	१४·८३	०·४२	०·१८
८. कुल आय (Total Revenue)	६३·४३	४२·९५	३०८·४३	१५७·१५	६२·०५

उक्त आय से प्राप्त हुए धन में से प्रत्येक राज्य को विविध मदों पर व्यय करने के पश्चात् जो वास्तविक आय बची (Net revenue), वह नीचे की तालिका में दी गई है :—

भारतीय वनों के आय-व्यय का ब्योरा (१९४८–४९)

राज्य (State)	आय	व्यय	(लाख रु० में) लाभ
१. आसाम	६३·४३	३४·०६	२९·३७
२. बिहार	४२·९५	३१·०४	११·९१
३. बम्बई	३०८·४३	१०९·८२	१९८·६१
४. मध्य प्रदेश	१६८·४६	७३·०९	९५·३७
५. मद्रास	१५७·१५	७८·६६	७८·४९
६. उड़ीसा	२१·९०	१२·२२	९·६८
७. पंजाब	६२·१०	४९·६१	१२·४९
८. उत्तर प्रदेश	२५०·१६	८४·४८	१६५·६८
९. पश्चिमी बंगाल	६२·०५	४०·८८	२१·१७
१०. योग (Total)	११३६·६३	५१३·८६	६२२·७७
११. समस्त भारतवर्ष	१६२५·१८	७५१·९७	८७३·२१

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि वन भारतवर्ष में धार्मिक, प्राकृतिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से एक अमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं और हर प्रकार से इनकी रक्षा करना अनिवार्य है, अन्यथा विविध प्रकार के संकट उत्पन्न होने का भय बना रहेगा।

भारत में वन का क्षेत्रफल:—भारत के वनों का अनुमानित क्षेत्रफल २,४२,१०४ वर्ग मील है, जो कि समस्त देश के क्षेत्रफल का केवल १९·०७ प्रतिशत है। उक्त वनों में से १८२५३९ वर्ग मील सरकारी वन है, १३६९ वर्ग मील विभिन्न संस्थाओं द्वारा व्यवस्थित वन हैं, और ५८१९६ वर्ग मील निजी सम्पत्ति है।

भिन्न-भिन्न राज्यों के सारे क्षेत्रफल का वनों से आच्छादित भाग का क्षेत्रफल नीचे की तालिका में दिया गया है।

राज्य	प्रतिशत क्षेत्रफल (वन)
मद्रास	१२·३
बम्बई	१४·१
पश्चिमी बंगाल	९·३
उत्तर प्रदेश	५·८
बिहार	२·८
उड़ीसा	६·५
मध्य प्रदेश	१९·७
आसाम	३८·०
कुर्ग	३२·७

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि वनों का वितरण सभी राज्यों में समान नहीं है। कुछ राज्य, दिल्ली के समान, ऐसे हैं जहाँ वनों का सर्वथा अभाव-सा ही है। जब कि त्रिपुरा जैसे दूसरे राज्य भी हैं, जहाँ लगभग ८५·८ प्रतिशत भूमि में वन हैं। परन्तु अधिकांश राज्यों में वनों का क्षेत्रफल वहाँ की जनता की आवश्यकतानुसार कम ही है।

वनों के प्रकार (Kinds of Forests)

साधारणतया भारतीय वनों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जाता है :—

(१) **सूखे वन** (Arid Forests)—यह कम वर्षा वाले स्थानों पर पाये जाते हैं, जहाँ २०" वार्षिक वर्षा से भी कम होती है, जैसे राजस्थान का अधिकांश भाग तथा दक्षिणी पंजाब आदि में। यहाँ मुख्यतः बबूल और कीकड़ के ही वृक्ष होते हैं।

(२) **पतझड़ी वन** (Deciduous Forests) :—ये वन उपहिमालय क्षेत्र के बड़े-बड़े भागों में तथा दक्षिण के पठार के कुछ भागों में फैले हुए हैं। इनको मानसूनी वन भी कहते हैं। इन वनों में ग्रीष्म काल के आरम्भ में पतझड़ हो जाता है। सागौन तथा साल के वृक्ष अधिकतर इन्हीं वनों में होते हैं, इसीलिए यह भारत के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वनों में से हैं।

(३) **सदाबहार वन** (Evergreen Forests) :—इस प्रकार के वन अधिक वर्षा वाले स्थान, जैसे पूर्व हिमालय प्रदेश तथा पश्चिमी घाट, पर पाये जातेहैं। यहाँ पर खूब वनस्पति होती हैं, और बाँस तथा बेंत के लम्बे-लम्बे वृक्ष भी होते हैं।

(४) **पहाड़ी वन** (Mountain Forests) :—ये वन हिमालय के पूर्वी पर्वतीय प्रदेश और आसाम में पाये जाते हैं। इनमें विशेषकर ओक, मेग्नोलिया, लारेल, देवदार, पाइन, बलूत आदि के वृक्ष बहुत होते है।

वनों की उपयोगिता (Utility of Forests)

वनों की आर्थिक उपयोगिता को प्रायः दो भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) प्रत्यक्ष लाभ (Direct Utility)

(२) परोक्ष लाभ (Indirect Utility)

प्रत्यक्ष लाभ :—

(१) वनों से इमारती तथा घरों और अन्य औद्योगिक कार्यों में जलाने की लकड़ी प्राप्त होती है।

(२) कागज़, दियासलाई, लाख, वार्निश आदि उद्योगों के लिए कच्चे माल प्राप्त होते हैं।

(३) नाना प्रकार की वनस्पति तथा फल-फूल मिलते है, जो औषधियों के काम में आते हैं।

(४) अन्य मूल्यवान् पदार्थ जैसे चमड़ा कमाने के लिए छाल, गोंद, रंग आदि भी पर्याप्त मात्रा में मिलते है।

(५) वन पशुओं के लिए चारा और गोचर भूमि प्रदान करते है, तथा पक्षियों और पशुओं को निवासस्थान देते है।

(६) अनेक प्रकार की पत्तियाँ, जिन्हें खाद के काम में लाया जाता है, पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

(७) इसके अतिरिक्त वन देश के नैसर्गिक सौन्दर्य को बढाने में सहायक होते हैं।

परोक्ष लाभ :—

(१) वनों के कारण वर्षा अधिक और निश्चित होती है।

(२) वृक्षों की पत्तियाँ भूमि के नीचे से पानी लेती हैं, जिससे हवा में नमी बनी रहती है, जिसके कारण तापक्रम कम होकर वर्षा अधिक होती है।

(३) जड़ें बरसात में पर्याप्त मात्रा में पानी सोख लेती है, जिससे भूमि में नमी रहती है और पृथ्वी के नीचे बहने वाले स्रोतों में वर्ष भर जल मिल जाता है।

(४) वनों के कारण वर्षा का पानी तीव्र गति से नहीं बह पाता, इससे भूमि-क्षरण नहीं हो पाता।

(५) घने वनों से तीव्र हवाएं रुक जाती हैं और निकटवर्ती स्थानों पर अधिक गर्म या ठंडी हवा का प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) वन बाढ़ों के विरुद्ध प्राकृतिक बीमा हैं, और ये बाढ़ रोकने में सहायक होते हैं।

(७) इसके अतिरिक्त अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि वनों से राज्य की आय बहुत बढ़ जाती है।

वन उत्पत्ति (Forest Products)

वन उत्पादनों को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है :—

मुख्य उपज (Major Products) और गौण उपज (Minor Products)।

मुख्य उपज में मुख्यतः इमारती लकड़ी तथा घरों में जलाने वाली लकड़ी है, जो प्रायः २९० और ३७५ लाख घनफुट क्रमशः प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है। इमारती लकड़ी में सिलवरफर, साल, देवदारु, महोगनी, शीशम, नीला चीड़, चीड़, सागोन, बबूल आदि प्रमुख हैं। यह लकड़ी इमारतों, रेल के डिब्बों के निर्माण, स्लीपरों के लिए, मोटर बसों की बाडी (Body) बनाने में, फर्नीचर तथा कृषि के औज़ार आदि बनाने के काम में आती है।

गौण उत्पादनों में बाँस, बेंत, पत्ती, फल, घास, तेल, लाख, राल, गोंद, चमड़ा पकाने की छाल, रेशे, रंगने का सामान, लीसा (Resins), रबड़, मसाले, जड़ी-बूटियाँ आदि हैं। ये सारी वस्तुएँ विभिन्न उद्योगों में काम आती हैं। कागज़-उद्योग विभिन्न प्रकार की घासों का उपयोग करता है और अनुमानतः इस उद्योग में ३५००० टन बाँस की लुगदी तथा २५००० टन सवाई घास के गूदे का उपयोग किया जाता है। लाख-उद्योग में तो भारत को एकाधिकार ही प्राप्त है। लाख मध्यभारत, उड़ीसा, बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, हैदराबाद तथा आसाम में पर्याप्त मात्रा में पैदा होती है। हाल ही में वनों की गौण उत्पत्ति ने अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है, जैसे सन्दल का तेल इत्र इत्यादि बनाने में बहुत काम आता है। परन्तु भारत में इतनी विशाल वन सम्पत्ति का अभी केवल एक छोटा भाग ही आर्थिक उपयोग में लाया जा सका है।

वन-नीति (Forest Administration)

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में ब्रिटिश सरकार ने वनों के महत्त्व को अनुभव किया और तभी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय वन विभागों की स्थापना की गई। वन विभाग प्रत्येक प्रान्त में वनों की देखभाल करता है। भारत में सर्वप्रथम वन-नीति की घोषणा सन् १८९४ में की गई थी और प्रबन्ध की दृष्टि से वनों को तीन भागों में बाँटा गया था—

(१) **सुरक्षित वन** (Reserved Forests) :—ये वन सरकारी सम्पत्ति हैं, और सरकार इन पर बड़ा कठोर नियन्त्रण रखती है। इन वनों में पशु चराने की आज्ञा नहीं दी जाती।

(२) **रक्षित वन** (Protected Forests) भी सरकारी सम्पत्ति हैं परन्तु जनता को इनका उपभोग करने की अधिक छूट रहती है। पशु चराने की आज्ञा कुछ शुल्क लेने के बाद दे दी जाती है।

(३) **वर्गरहित वन** (Unclassed Forests) :—इनमें सरकार का कम-से-कम नियन्त्रण रहता है। इनमें लकड़ी काटने व पशुओं के चराने पर कोई

रोक-टोक नहीं है, पर कुछ शुल्क वन-विभाग को अवश्य देना होता है।

परन्तु यह वर्गीकरण तो दोषपूर्ण है। आर्थिक दृष्टिकोण से वनों को निम्न-लिखित भागों में विभाजित करना चाहिये—

(१) ऐसे वन जिनको भौगोलिक, जलवायु और कृषि की दृष्टि से सुरक्षित रखना आवश्यक है।

(२) इमारती लकड़ी तथा ईंधन देने वाले वन।

(३) वे वन जिनमें गौण उत्पादन होता है।

(४) चारे वाले वन जो पशुओं के लिए उपयोगी होते हैं।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी। विदेशी शासन-काल में जंगलों के विस्तार और उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया और वन विभाग का कार्य एक बंधे ढर्रे के अनुसार चलता रहा। भारत के स्वतन्त्र होने पर स्थिति बदली और वनों के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार वन की सुरक्षा और उनके विकास पर विशेष ध्यान दे रही है। १३ मई, सन् १९५२ को एक नई राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा की गई जिसके अनुसार भारत के कुल क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग वनों से आच्छादित करने का निश्चय किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानों में जहाँ वन कम हैं वन लगाने की व्यवस्था भी की है।

वनों का विनाश

उपरोक्त विवरण से यह तो भलीभाँति स्पष्ट है कि वनों का देश के आर्थिक विकास में एक विशेष महत्व रहा है। परन्तु खेद का विषय तो यह है कि इतना जानते हुए भी भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद से ही जन-संख्या में वृद्धि, पशुओं की वृद्धि, कृषि-विस्तार, रेलों का बनना, टिम्बर आदि लकड़ी की अधिक माँग आदि कारणों से वनों का विनाश आरम्भ हो गया था। परन्तु तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के लार्ड डलहौज़ी जैसे दूरदर्शी अफ़सर ने सन् १८५५ में वनों की रक्षा के हेतु एक नीति बनाई पर वह भी वनों की रक्षा न कर सकी। इसके पश्चात् प्रथम महायुद्ध में (१९१४–१९१८) मैसोपोटामियाँ में लड़ने वाली ब्रिटिश फौजों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारतीय वनों पर ही निर्भर रहना पड़ा था और इस प्रकार वनों के विनाश का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। यह अध्याय द्वितीय महायुद्ध में और भी बढ़ गया। इस प्रकार से हमारी वन-सम्पत्ति को भारी क्षति पहुँचती रही है। इस निर्दयता से भारतीय वनों के विनाश के कारण विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। भारतीय जलवायु काफी गर्म हो गया है। लकड़ी उद्योग लगभग समाप्ति पर ही है। वनों के कटने से भूमिक्षरण, बाढ़, अधिक वर्षा, फल, टिम्बर, लकड़ी आदि की मात्रा में कमी आदि समस्याओं का प्रतिदिन उदय होता जा रहा है। सबसे बड़ी समस्या आज सरकार के सामने राजस्थानी रेगिस्तान को बढ़ने से रोकना है, जो कि बड़ी तीव्र गति से पंजाब, दिल्ली और उत्तर प्रदेश की ओर बढ़ता आ रहा है।

सूखे प्रदेशों में जहाँ वृक्षारोपण कठिनता से होता है, यह समस्या और भी गहन है। ऐसी परिस्थिति में वन विभाग के अफसर, जनता और सरकार सबको मिलकर इस संकट का सामना करना है और समस्या को हल करना है।

सरकार और वन महोत्सव

इसी समस्या को हल करने के लिए श्री के० एम० मुन्शी ने, जो अब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल हैं, 'वन महोत्सव' या 'अधिक वृक्ष लगाओ' आन्दोलन सन् १९४८-४९ में आरम्भ किया था। आज 'वन महोत्सव' भारत में प्रतिवर्ष जुलाई में बड़ी धूम-धाम से राष्ट्रीय पर्व की भाँति मनाया जाता है। सन् १९४८-४९ में ७,५८, ३१०, १९४९-५० में ७,८३,६६४ और १९५०-५१ में लगभग २ करोड़, १९५१-१९५२ में ७०,००,००० वृक्षों का समस्त भारत में वृक्षारोपण हुआ। सन् १९५०-५१ में विभिन्न राज्यों में निम्नलिखित संख्या में वृक्ष लगाये गए :—

राज्य—	वृक्ष (लाख)
मद्रास	४० ,,
मैसूर और बम्बई	२५ ,,
बिहार और उत्तर प्रदेश	१५ ,,
उड़ीसा और प० बंगाल	१० ,,

किन्तु दुःख का विषय है कि जो वृक्ष इतनी धूमधाम से देश-भर में लगाये गये, उनमें से आधे भी आज जीवित नहीं हैं और वे जड़ पकड़ने से पहले ही समाप्त हो गये। इनकी तनिक भी देख-भाल नहीं की गई। मनुष्यों ने इस आन्दोलन के ध्येय को समझने का प्रयत्न नहीं किया। अतः वृक्षारोपण करने के साथ-साथ देख-भाल करने का प्रबन्ध करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

वन और पंचवर्षीय योजना

योजना कमीशन ने भी प्रथम पंचवर्षीय योजना में वनों की सुरक्षा पर विशेष जोर दिया है और निम्न बातों के प्रस्ताव रखे हैं :—

(१) बड़ी-बड़ी रियासतों के विलय तथा जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् जो वन-क्षेत्र सरकार को मिले हैं वहाँ कठोर नियन्त्रण किया जाय।

(२) युद्ध के लिए काटे गये वनों को फिर से लगाया जाय।

(३) जिन स्थानों पर अधिक भूमिक्षरण हुआ हो, वहाँ वृक्षारोपण होना चाहिए।

(४) वन-क्षेत्रों में यातायात के साधनों का विकास किया जाय। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में योजना कमीशन ने १९५१ से १९५६ तक वनों के विकास पर ११.६९ करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की थी।

उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा राजस्थान के रेगिस्तान को बढ़ने से रोकने के हेतु रेगिस्तान की बाहरी सीमा पर आगरा और मथुरा के चारों ओर बड़े पैमाने पर एक वृक्षपंक्ति (Green Belt) बनाई जा रही है।

सरकार के कर्तव्य

(१) 'वन महोत्सव' को सफल बनाने के लिए सरकार को सर्वप्रथम अशिक्षित लोगों को रेडियो, प्रेस और भाषण द्वारा शिक्षित करना होगा और वृक्षों के प्रति उनके हृदय में आदर उत्पन्न करना होगा। जनता को वनों की महानता को समझाना होगा, पं० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि "If Forestry is to be a success, it is necessary to have a forest minded nation."

(२) सरकार को ऐसे मनुष्यों की जो वृक्ष लगाने के इच्छुक है हर प्रकार से सहायता करनी चाहिये।

(३) अमेरिका की भाँति कृषि-विभाग और वन-विभाग का संगठन परम आवश्यक है।

(४) वन-विभागों में पर्याप्त संख्या में कर्मचारी नियुक्त करने चाहिये।

(५) वन-विभाग के कर्मचारियों को, जो वनों की रक्षा के हेतु कठिन जीवन व्यतीत करते हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार के खतरों का सामना करते हैं, पर्याप्त तनख्वाह देनी चाहिये, जिससे वे अच्छा रहन-सहन रख सकें और वन-विभाग का कार्य कुशलता से करने में समर्थ हो सकें।

जनता के कर्तव्य

सरकार के साथ-साथ जनता को भी वनों की महत्ता समझनी चाहिये और उनकी रक्षा के लिये निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये।

(१) श्री के० एम० मुन्शी के अनुसार "Trees mean water; water means bread; and bread is life." इसलिये भारतीय जनता को विशेषकर शिक्षित समाज को आधुनिक कनाडा की भाँति जहाँ 'Men of Trees' की पूजा की जाती है, वृक्षों का आदर और उनकी पूजा करना सीखना चाहिये। इन्हीं वृक्षों पर देश का भविष्य, आगे आने वाली सन्तान का सुख आदि निर्भर है। अतः इस ओर जनता को सरकार की हर प्रकार से सहायता करनी चाहिए और जहाँ पर भी आवश्यकता हो वहाँ पर वृक्ष लगाकर उनका पोषण करना चाहिये। इस प्रकार देश की जनता देश को समृद्धशाली बनाने में सहायक हो सकेगी। यदि भारत में वृक्षारोपण आन्दोलन सफल नहीं होता तो भारी कठिनाइयों और नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा तथा सरकार की बहुत-सी योजनाएँ विशेषकर दामोदर घाटी योजना जैसी तो पूर्णतया असफल हो जावेंगी।

यह वास्तव में संतोषजनक चिह्न है कि वनों की सुरक्षा की ओर न केवल भारत का वरन् संसार के समस्त देशों का ध्यान आकर्षित हो गया है। सब देशों को मिलकर बढ़ते हुये रेगिस्तानों को, जो कि उपजाऊ भूमि पर बढ़कर आये दिन नई समस्याएँ उत्पन्न कर रहे हैं, रोकने की योजना बनाना एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य होगा। इस कार्य में संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) को सक्रिय भाग लेना चाहिये।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार वृक्षारोपण पर भाषण देते हुये कहा था "The official who originated the idea of tree planting did not do it for fancy, nor was it meant for moneyed men. It began with them so that others would copy them and thus add to the wealth and rainfall of India." अतः भारतवासियों को वृक्षों की महत्ता समझकर और वृक्षारोपण करके शीघ्र ही आर्थिक स्वराज्य प्राप्त कर लेना चाहिये।

खनिज पदार्थ (Minerals)

प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन में खनिज पदार्थों का भारी महत्त्व है। उद्योग-धन्धे, कल-कारखानों, यातायात, व्यापार तथा जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर व आन्तिरक, राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाओं का देश की खनिज सम्पत्ति से गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन काल से ही लोहा, ताँबा आदि धातुएँ आर्थिक सभ्यता के विकास की आधार शिला रही हैं। वर्तमान युग में भी जो कि मशीनों द्वारा बड़े पैमाने की उत्पत्ति का युग है, लोहा, कोयला, तांबा, सोना, चांदी, पैट्रोल इत्यादि बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जिन पर संसार का आर्थिक विकास निर्भर है। पाश्चात्य देशों की औद्योगिक उन्नति का मुख्य कारण ही वहाँ खनिज पदार्थों का उचित मात्रा व स्थानों में प्राप्त होना ही रहा है।

भारतवर्ष खनिज पदार्थों की दृष्टि से सम्पन्न देश माना जाता है। यहाँ अनेक प्रकार की धातुएँ पाई जाती है। पाकिस्तान इस दृष्टि से अत्यन्त निर्धन देश है। परन्तु भारत में कुछ ही पदार्थ ऐसे हैं जो यहाँ की आवश्यकता के लिए पर्याप्त हैं, जैसे कोयला और लोहा। कुछ पदार्थ जैसे टिटेनियम, थोरियम तथा अभ्रक आदि बहुत अधिक मात्रा में पाए जाते है। परन्तु कुछ धातुएं जैसे तांबा, टीन, सीसा, जस्ता, निकिल, गन्धक, पैट्रोल, बॉक्साइड आदि आवश्यकता से भी कम मात्रा में पाये जाते हैं। नीचे की तालिका में भारत में संसार के खनिज पदार्थों की उत्पत्ति का प्रतिशत भाग दिखाया गया है।

खनिज पदार्थ	प्रतिशत
१. कोयला	१०
२. लोहा	१८
३. अभ्रक	४८
४. मेंगनीज	१५
५. तांबा	०·४
६. सोना	०·६
७. मिट्टी का तेल	१·०
८. नमक	०·६

सन् १९४७ में देश के विभाजन का खनिज सम्पत्ति पर काफी प्रभाव पड़ा, और कुछ मूल्यवान् खनिजों के साधन पाकिस्तान में चले गये। विभाजन के पश्चात् भारत में विभिन्न खनिजों की प्राप्त मात्रा नीचे की तालिका में दी गई है :—

खनिज सम्पत्ति पर विभाजन का प्रभाव*

खनिज	भारतवर्ष (टन)	पाकिस्तान (टन)
कोयला	२५०,७९८,०२ टन	१९८,४७६
लोहा	१४,२१७ ०१ ,,	——
मैगनीज	७६६,३४१ ,,	——
मेंगनेसाइट	२३०,५२ ,,	——
तांबा	२८,८०,७६ ,,	——
क्रोमाइट	५१,९४ ,,	२१,८९२
माइका	१,०८८,३४ (हण्डरवेट)	——
पेट्रोलियम	६५९,६८९,५१ गैलन	२११,१३४,२० गैलन

भारत में निम्नलिखित मुख्य खनिज पदार्थ पाये जाते हैं।

१—लोहा (Iron)
२—कोयला (Coal)
३—तांबा (Copper)
४—मैंगनीज (Manganese)
५—सोना (Gold)
६—चाँदी (Silver)
७—सीसा (Lead)
८—अभ्रक (Mica)
९—क्रोमाइट (Chromite)
१०—तेल (Petroleum)
११—जिपसम (Gypsum)
१२—फुलर्स अर्थ (Fuller' Earth)
१३—बाक्साइट (Bauxite)
१४—हीरा (Diamond)
१५—फेल्सपार (Felspar)
१६—नमक (Salt)
१७—अस्बैस्टस (Asbestos)
१८—मेगनेसाइट (Magnesite)
१९—नीलाथोथा (Salt Petre)
२०—ग्रैफाइट (Graphite)

उक्त पदार्थों में से कुछ का वर्णन नीचे दिया गया है।

लोहा—लोहे के सम्बन्ध में भारतवर्ष बहुत ही भाग्यशाली है क्योंकि संसार भर में सबसे अधिक ऊँचे दर्जे का लोहा (High grade) और निम्न कोटि का लोहा (low grade) यहाँ की खानों में भरा है। सबसे अधिक लोहा बिहार, उड़ीसा और मैसूर राज्यों में प्राप्त होता है। मैसूर में ४०००० से ६०००० टन तक प्रतिवर्ष लोहा निकाला जाता है। भारतवर्ष में कच्चे लोहे की उत्पत्ति इस प्रकार है।[1]

वर्ष	हजार टन
१९४९	२८०९
१९५०	२९६५
१९५१	३६५७

* Commerce Annual Number 1947.

1. India Year Book 1955. P. 216

इस लोहे का कुछ भाग विदेशों को प्रतिवर्ष निर्यात किया जाता रहा है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट है।*

वर्ष	टन, लोहा निर्यात किया गया
१९४९-५०	४३००
१९५०-५१	८४५१३
१९५१-५२	२८०१०२
१९५२-५३	८११५७१

भारत में लगभग ५००७०·२९ लाख टन से कुछ अधिक मात्रा में कच्चे लोहे के भण्डार होने का अनुमान लगाया जाता है जो कि भारतीय उद्योग की आवश्यकताओं को १००० वर्ष तक पूरा करने के लिए पर्याप्त होगा—किन्तु देश का औसत उत्पादन लगभग ३,०००,०० टन लोहा प्रतिवर्ष है जो कि अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

अभ्रक (Mica)—देश की सुरक्षा के दृष्टिकोण से अभ्रक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है। भारत में संसार की उत्पत्ति का लगभग ७५ तिशत भाग अभ्रक का प्राप्त होता है। अभ्रक मुख्यत: बिहार, राजस्थान (अजमेर-मारवाड़ को मिलाकर) और मद्रास में पाया जाता है। गत वर्षों में देश के कुछ और भागों में अभ्रक प्राप्त होने की सूचना मिली है। बिहार के गया और मुंगेर के ज़िलों में अभ्रक की ६० से ८० मील तक के लगभग लम्बी और १२ से १६ मील तक चौड़ी पट्टी पाई जाती है, जहाँ "रूबी अभ्रक" पाया जाता है जिसकी संसार-भर में बहुत माँग है। राजस्थान में भी भारत का लगभग २५ प्रतिशत अभ्रक अजमेर मारवाड़, किशनगढ़, उदयपुर और जयपुर आदि स्थानों में पाया जाता है। दक्षिण में आन्ध्र राज्य के नीलौर जिले में भी अभ्रक की एक लगभग ४० मील तक लम्बी और ५ से १० मील तक चौड़ी पट्टी है जिसमें अधिकतर हरएक किस्म का अभ्रक पाया जाता है। इस प्रकार भारत को एक प्रकार से एकाधिकार सा ही प्राप्त है। अभ्रक का अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात किया जाता है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है*—

वर्ष	निर्यात की हुई मात्रा (हजार क्वार्टरवेट में)	मूल्य (लाख रु० में)
१९४८-४९	२४०·२	५९३·७
४९-५०	२९७·७	६८४·५
५०-५१	३८३·४	९५८·५
५१-५२	४०७·७	१३२०·९
५२-५३	२८३·८	८९९·५

\# Indian Year Book 1955. Page 216

* Ibid 216

किन्तु सन् १९५५ के प्रारम्भ से ही अभ्रक के उद्योग को विषम संकट का सामना करना पड़ रहा है, और विदेशों में प्रतिस्पर्धा बढ़ने से मूल्य में भी कमी हो गई है। मार्च १९५४ में अभ्रक का औसतन निर्यात-मूल्य २०३ रु० प्रति हंडरवेट था जो कम होकर मार्च १९५५ में केवल १३८ रु० प्रति हंडरवेट ही रह गया। यद्यपि कुल निर्यात में तो वृद्धि हुई है क्योंकि १९५३-५४ में कुल २५४६८२ हंडरवेट व १९५४-५५ में ३५६६०५ हंडरवेट अभ्रक निर्यात किया गया था, किन्तु निर्यात मूल्य में काफी कमी हो गई। १९५३-५४ में कुल ७९९,००,००० रु० का अभ्रक निर्यात हुआ था जब कि १९५४-५५ में केवल ६,५९,००,००० रु० का ही रह गया। अतः ऐसी परिस्थितियों में निर्यात-व्यापार को सुदृढ़ आधार पर संगठित करने व अभ्रक की आन्तरिक खपत को बढ़ाने की अति आवश्यकता है। क्योंकि इस समय यह खपत कुल उत्पादन की ५ प्रतिशत भी नहीं है।

मेंगनीज़ (Manganese)—यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पदार्थ है जो कड़ा इस्पात बनाने में, रासायनिक बिजली तैयार करने में, शीशे के उद्योग आदि में उपयोग किया जाता है। संसार के समस्त उत्पादन का लगभग ३० प्रतिशत भाग भारत में मिलता है और विश्व में भारत का द्वितीय स्थान है। मेंगनीज़ बम्बई के उत्तरीय कनाड़ा और पंचमहाल, आन्ध्र के विशाखापत्तनम, मैसूर में सेंदुर, शिमोगा, चितलद्रुग और टुमकुर में तथा मध्यप्रदेश के बालाघाट, मांदरा, छिंदवाड़ा और नागपुर जिलों में विशेषकर पाया जाता है। मेंगनीज़ के उत्पत्ति और उपयोग का ब्यौरा नीचे की तालिका में दिया है।*

वर्ष	उत्पत्ति की मात्रा Production (टन)	देशीय खपत Domestic Consumption (टन)	निर्यात Exports (टन)
१९४९	६४५,८२५	७९,२६४	६१३,९०७
१९५०	८८२,९२९	६९,३२५	८०८,२२१
१९५१	१२८३,९२९	८८,८६७	९५२,०००
१९५२-५३	(अनवगत)	(अनवगत)	१,३६४,९३१

कोरियन युद्ध के समय में भारत में मेंगनीज का निर्यात मूल्य १७५ रुपया टन तक हो गया था। सन् १९५२ में भी यह १५५ रुपया प्रति टन तक रहा परन्तु अप्रैल सन् १९५३ तक यह काफी गिरकर केवल ११३ रुपया टन ही रह गया। भारत में लगभग ७०० से ८०० लाख टन तक निम्न श्रेणी की मेंगनीज के होने का अनुमान लगाया जाता है जिसमें ४२ प्रतिशत से कुछ कम अच्छा मेंगनीज होता है परन्तु भारत में मेंगनीज की समस्त उत्पत्ति का केवल १० प्रतिशत भाग लोहे के कारखानों में काम आता है और शेष ९० प्रतिशत विदेशों को निर्यात होता है। निकट भविष्य में ही लौह-उद्योग के विकास के साथ-साथ

* Indian Year Book 1955, p. 217

देश में अधिक मेंगनीज के खपने की सम्भावना है, और यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् १९५७-५८ तक भारत में इसकी खपत लगभग १००००० टन तक हो जावेगी।

ऐसे महत्त्वपूर्ण खनिज के सम्बन्ध में यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत के मेंगनीज क्षेत्रों के संरक्षण की पूर्ण व्यवस्था की जाय। निम्न श्रेणी के मेंगनीज के सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान होना चाहिए और इसके पूर्ण खनन की रीति का भी पता लगाना चाहिए।

सोना (Gold)

भारत में विश्व की उत्पत्ति का केवल ३० प्रतिशत सोना उत्पन्न होता है। इसका ९९ प्रतिशत भाग मैसूर में कोलार की खानों से निकाला जाता है। शेष मद्रास में अनन्तपुर तथा बम्बई की धाड़बाड़ की खानों से प्राप्त होता है। परन्तु अब यह खानें समाप्त हो गई हैं। कुछ सोना पंजाब, उड़ीसा और बिहार में भी निकाला जाता है।

क्रोमाइट (Chromite)

क्रोमाइट एक महत्वपूर्ण पदार्थ है परन्तु प्रकृति ने भारत में इसका बहुत थोड़ा भण्डार प्रदान किया है। यह युद्धकाल में कठोर सामग्रियों में प्रयोग किया जाता है। ईंटों तथा क्रोमाइट रसायन के बनाने के काम में आता है। मुख्यतः यह बिहार के सिंहभूमि, मैसूर के हसन, बम्बई के रत्नागिरि और सावन्तबाड़ी, आन्ध्र के कृष्णा, मद्रास के सेलम और उड़ीसा के क्योंझर जिलों में पाया जाता है। यद्यपि क्रोमाइट के भंडार के विषय में सही आंकड़ों का पता नहीं लग सका है किन्तु फिर भी इसके भण्डार के विषय में जो अनुमान लगाया जाता है वह इस प्रकार है :—

राज्य	भण्डार (टन)
मद्रास	२००,०००
उड़ीसा	२००,०००
बम्बई	६७,०००
मैसूर	१३५,०००

स्वतन्त्रता के पूर्व क्रोमाइट अनियन्त्रित रूप में निर्यात किया जाता था, परन्तु सन् १९४८ में भारतीय सरकार ने इसके निर्यात पर नियन्त्रण लगा दिया, और निर्यात की सीमा १०,००० टन प्रतिवर्ष निश्चित कर दी। निम्नलिखित तालिका में क्रोमाइट की उत्पत्ति एवं निर्यात की मात्रा दिखाई गई है :—

वर्ष	उत्पत्ति की मात्रा (टन)	निर्यात की मात्रा (टन)
१९४९	१९·४१६	७·३८२
१९५०	१६·७२९	३·८६४
१९५१	१५·८०२	८·८३८

फिर भी भारत में क्रोमाइट की खानों का विस्तारपूर्वक अवलोकन की शीघ्र आवश्यकता है।

मेगनेसाइट (Magnasite)

यह धातु मेगनेसियम साल्ट, धात्विक मेग्नेशियम और ईंटों के बनाने के काम में आती है। यह मुख्यतः मद्रास, मैसूर, उत्तर प्रदेश, बम्बई, राजस्थान और बिहार राज्यों में पाया जाता है। सेलम, हसन और मैसूर इसके प्रमुख केन्द्र हैं। सेलम में केवल १०० फुट की गहराई के अन्तर्गत ६ करोड़ टन और अल्मोड़ा में २ करोड़ टन मेग्नेसाइट भंडार का अनुमान लगाया जाता है। इसकी उत्पत्ति और निर्यात के आँकड़े नीचे दिये गए हैं :—

वर्ष	उत्पत्ति[1]		निर्यात[2]	
	मात्रा (टन)	मूल्य (रु०)	मात्रा (टन)	मूल्य (रु०)
१९४९	९०,५६४	१,५५०,०००	३७,०९९	२,४८०,०००
१९५०	५२,८५९	१,०९०,०००	१६,४६५	२,४४०,०००
१९५१	११७,०७१	१,७८०,०००	४६,४०९	४,३९०,०००

बाक्साइट (Bauxite)

यह धातु मुख्यतः अलूमीनियम के उद्योग में, चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में, अच्छा सीमेण्ट तथा रासायनिक द्रव्य का निर्माण करने में और मिट्टी का तेल साफ करने में प्रयोग किया जाता है। यह मध्यप्रदेश के बालाघाट और कटनी जिलों में अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त छोटा नागपुर, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत, मैसूर, बम्बई और काश्मीर राज्यों में भी पाया जाता है। भारत की आवश्यकता से बहुत कम मात्रा में मिलता है, और इसी कारण से पिछले ५ वर्षों में औसतन १०,००० टन बाक्साइट का प्रतिवर्ष आयात हुआ है। अभी तक बाक्साइट के भंडार के सही आंकड़े नही मिल पाये हैं। लेकिन फिर भी भारत में लगभग २५ करोड़ टन का कोष है, जिसमें लगभग ३·५ करोड़ टन उच्चश्रेणी के बाक्साइट के कोष के होने का अनुमान लगाया जाता है।

गन्धक (Sulphur)

गन्धक एक महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ है जो मुख्यतः बारुद और तेजाब बनाने के काम आता है। भारत में देशी गन्धक के बड़े क्षेत्रों का अभी पता नहीं लग सका है। यद्यपि गत वर्षों में उत्तरी भारत के पहाड़ी प्रदेशों में छोटी मात्रा में देशी गन्धक के क्षेत्रों का पता लगा है। भारत में पायराइट (Pyrites) के कोष अधिक विस्तृत है और काश्मीर, शिमला, अजमेर, बिहार, बम्बई और मैसूर राज्यों में पाये जाते हैं। आसाम और मध्य भारत में कोयले के साथ २ थोड़ा गन्धक भी प्राप्त होता है। परन्तु गन्धक का उत्पादन भारत में बहुत कम अथवा नहीं के

1. Indian Year Book 1955 p. 218.
2. "Indian Economics" By Dr. S. G. Tiwari. p. 25

बराबर होता है। इसीलिये प्रतिवर्ष लगभग ३५००० टन गन्धक आयात किया जाता है और ऐसा अनुमान है कि सन् १९५५ तक गन्धक की माँग २ लाख १५ हजार टन तक हो जायेगी। ऐसी परिस्थितियों में यह बहुत आवश्यक है कि गन्धक और इससे सम्बन्धित धातुओं के प्राप्त होने वाले क्षेत्रों की विस्तृत जाँच की जाय, एवं Fire Research Institute को आसाम और रीवाँ में विशेष अनुसंधान करना चाहिए और यह खोज करनी चाहिए कि कोयले से गन्धक किस प्रकार तैयार किया जा सकता है।

जिप्सम (Gypsum)

यह मुख्यतः राजस्थान में जोधपुर, बीकानेर, और जैसलमेर तथा मद्रास के त्रिचनापल्ली जिलों में पाया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ४०० लाख टन राजस्थान, और १० लाख टन आंध्र के नीलौर जिले में जिप्सम के भण्डार हैं। छोटी-सी मात्रा के भण्डार उत्तर-प्रदेश के टिहरी-गढ़वाल, हिमाचल प्रदेश और पश्चिमी भारत के कुछ भागों में होने का अनुमान है, परन्तु इनका अभी तक कुछ पता नहीं लगा है। जिप्सम का उत्पादन सन् १९४९ में १३९,९४४ टन, १९५० में २०६,३६६ टन, और १९५१ में २०३, ६०२ टन हुआ था। आजकल भारत में लगभग ९४,००० टन सीमेण्ट बनाने में और २००० से ३००० टन जिप्सम की प्लास्टर आफ़ पेरिस के बनाने में प्रतिवर्ष खपत हो जाती है। सिन्दरी की खाद फेक्टरी में ही लगभग ६०० हजार टन जिप्सम प्रतिवर्ष की आवश्यकता होगी। योजना कमीशन के अनुसार जिप्सम की माँग सन् १९५१-५२ में १२७,००० टन से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ८७०,००० टन हो जावेगी। ऐसी दशा में भारत में जिप्सम के उत्पादन को बढ़ाने का शीघ्र प्रयत्न करना आवश्यक है।

नमक (Salt)

मनुष्य के जीवन के लिए नमक अनिवार्य आवश्यकता है। भारत में नमक उत्पन्न करने के निम्नलिखित साधन हैं :—

अ—समुद्र के जल से (Marine Salt Works)—इसके मुख्य केन्द्र इस प्रकार हैं :—

१—मद्रास—नानपाड़ा पैनूग्रुदरू, मद्रास, कुड्डलौर, आदिरामपत्तनम और तूतीकोरन।
२—बम्बई—धर्सना, भयंदर, भान्डूप, उरन और मिथापुर।
३—सौराष्ट्र और कच्छ—भावनगर, जाफराबाद, जामनगर, लखनपुर, पोरबन्दर, भराई और कांडला।
४—उड़ीसा—पुरी, हूमा, गोखुरकुदा, सुमादी (गंजाम)।
५—पश्चिमी बंगाल—मिदनापुर।
६—त्रावनकोर कोचीन—समुद्र तट पर।

ब—नमक की खान (Salt mines)

१—हिमाचल प्रदेश—मंडी।

स—नमक की झील (Inland sources) :—

१—राजस्थान—सांभर, डिडवाना, और पंचभद्रा।

२—बम्बई तथा सौराष्ट्र—खरागोड़ा और कूदा।

भारत में १२२ नमक के कारखाने हैं जिनकी समस्त उत्पादन शक्ति ७६०·३ लाख मन प्रतिवर्ष है। इनमें से ६ कारखाने जिनकी उत्पादन शक्ति २०० लाख मन प्रतिवर्ष है, सरकारी कारखाने हैं। पंचवर्षीय योजना के पूर्व भारत में नमक के अन्तर्गत कुल ५५ हजार एकड़ भूमि थी जो कि अब ८२,००० एकड़ है, जिसमें ८४ प्रतिशत केन्द्रीय और राज्य सरकारों की है जिसे वे लीज़ पर उठाती हैं। सरकारी कारखाने भारत के कुल नमक उत्पादन का $\frac{1}{3}$ भाग पैदा करते हैं। सन् १९५१-५२ में नमक की उत्पत्ति इस प्रकार हुई थी।*

राज्य	नमक की मात्रा (टन)
सौराष्ट्र	७७६,०००
मद्रास	७३६,०००
बम्बई	६४४,०००
उड़ीसा	४०,०००
मण्डी	५,०००
पश्चिमी बंगाल	२,०००
बिना लाइसेंस के कारखानों द्वारा	१,०००००
कुल योग	२७९७,००० टन

सन् १९३९ तक भारत को बहुत बड़ी मात्रा में नमक विदेशों से मँगाना पड़ता था परन्तु सन् १९४७ के पश्चात् न केवल आयात ही समाप्त हो गया है वरन् आज भारत विश्व में नमक के निर्यात करने वाले देशों में प्रधान स्थान रखता है जो नीचे की तालिका से स्पष्ट होता है :—

वर्ष	निर्यात की मात्रा (टन)	मूल्य (रु०)
१९५०-५१	१,८६२	१५०,०००
१९५१-५२	८६,६३२	३,९४०,०००
१९५२-५३	२२२,६१७	६,०१०,०००

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत राजस्थान और खरागोड़ा में स्थित सरकारी कारखानों के विकास के लिए सन् १९५१ से ५६ तक ५० लाख रु० व्यय करने की व्यवस्था की है, तथा मण्डी की नमक की खानों के विकास के लिए जिससे वहाँ सन् १९५५-५६ के पश्चात् ६६,००० टन नमक की उत्पत्ति का अनुमान लगाया जाता है, जिस पर १,०००,००,००) रु० व्यय किया जायगा।

खनिज नीति (Minerals Policy)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि खनिज पदार्थों का देश के प्राकृतिक साधनों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इनके विकास की ओर अभी

* Indian Year Book 1955 p. 217

तक न तो सरकार द्वारा और न व्यक्तिगत ही कोई सक्रिय कार्य किया गया है। हमें अभी अपने खनिज पदार्थों के कोषों का पूर्ण ज्ञान भी नहीं है और इसीलिए इनका पूर्ण रूप से उपयोग नहीं हो पाया है। वैज्ञानिकों के अनुसार खनिजों का बहुत-सा भार पृथ्वी के नीचे छिपा हुआ है जिसकी अभी तक खोज नहीं हो सकी। खनिज सम्बन्धी अनेकों कार्यों के लिए भारत सरकार ने बहुत सी संस्थाओं की स्थापना करके जैसे भारतीय भूगर्भ निरीक्षण विभाग (Geological Survey of India), भारतीय खान विभाग (Indian Bureau of Mines), राष्ट्रीय ईंधन अन्वेषण संस्था (National Fuel Research Institute), राष्ट्रीय धातु प्रयोगशाला (National Metallurgical Laboratory), और केन्द्रीय शीशा और सिरेमिक अन्वेषण संस्था (Central Glass & Ceramic Institute), एक सक्रिय कार्य किया है।

सन् १९४८ में भारतीय खानों में कुशलतापूर्वक कार्य कराने के हेतु केन्द्रीय सरकार ने एक खान और खनिज व्यवस्था तथा विकास विधान (Mines & Mineral Regulation & Development Act) बनाया जिसके अनुसार अणु शक्ति वाले (Atomic Energy) तथा दुर्लभ खनिज जैसे थोरियम, यूरेनियम, इटैनियम, जिप्सम, जस्ता, ताँबा आदि के लाइसेन्स (Licences) तथा ठेके (Leases) देने में केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक है।

योजना कमीशन के अनुसार एक ऐसी खनिज नीति की घोषणा की जानी चाहिये जिसका मुख्य ध्येय खानों का संरक्षण तथा उनका व्यवस्थित आर्थिक उपयोग हो। ऐसी नीति में निम्नलिखित बातों का होना परमावश्यक है :—

१—खनिज भण्डारों का ठीक-ठीक अनुमान लगाना (Appraisal of Reserves)।

२—खानों को उचित रूप से और कुशलतापूर्वक खोदने की कला (Proper Conduct of Mining Operations)।

३—खानों को ठेके पर देना और उनके विकास को नियंत्रित करना (Leasing of Mines & Regulation of Mineral Development)।

४—खनिज उद्योग के आँकड़े एकत्रित करना (Collection of Statistical Data of Mineral Industry)।

५—खनिज व्यापार (Mineral Trade)।

६—अनुसंधान (Research)।

उपरोक्त कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए योजना कमीशन ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १०,६०,९०० रु० व्यय करने की व्यवस्था की थी जिसमें से योजना के प्रथम तीन वर्षों में केवल १९६०००० रु० ही दो संस्थाओं, भूगर्भ निरीक्षण विभाग (Geological Survey of India) व भारतीय खान विभाग (Indian Bureau of Mines) द्वारा व्यय किया जा सका है, क्योंकि इन दोनों विभागों के पास उपयुक्त औज़ारों की कमी थी और उपयुक्त व प्रशिक्षित कर्मचारियों

की नियुक्ति में भी विलम्ब हो गया था। १९५३–५४ व ५४–५५ में खनिज उद्योगों के विकास में अच्छा कार्य हुआ है।

शक्ति के साधन (Source of power)

आधुनिक युग में विश्व का औद्योगिक विकास बहुत कुछ शक्ति के साधनों पर निर्भर है। अतः किसी भी देश के शक्ति के साधन वहाँ के प्राकृतिक साधनों का मुख्य अंग होते हैं और इनके अभाव में कोई भी देश आर्थिक एवं औद्योगिक विकास नहीं कर सकता। देश के शक्ति-साधनों में मानव, पशु, ईधन, वायु, अल्कोहल, कोयला, पेट्रोलियम और जल मुख्य हैं।

वायु (Wind) :—यद्यपि योरुप के नीदरलैण्ड आदि देशों में वायु के द्वारा बहुत सी शक्ति उत्पन्न की जाती है जो अधिकांशतः हवाई चक्कियों को चलाने में सहायक होती हैं। परन्तु भारत में अभी वायु की शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता है।

मानव (Man Power):—प्राचीन काल से मानव-शक्ति विश्व का विकास करने में प्रमुख रही है। यद्यपि यह सही है कि विज्ञान के विकास के साथ मानवीय शक्ति का महत्व भी कम होता रहा है और आज उन्नतिशील राष्ट्रों में इस शक्ति का महत्व बहुत घट गया है परन्तु अविकसित देशों के लिए अब भी इसका महत्व उतना ही है और औद्योगिक राष्ट्रों में भी इस शक्ति का सर्वथा परित्याग तो असम्भव ही सा है। भारत में मानव-शक्ति का संख्यात्मक अभाव नहीं है वरन् गुणात्मक अभाव है। मानव-शक्ति का विस्तृत वर्णन जनसंख्या वाले अध्याय में किया गया है।

पशु (Animal Power):—प्राचीन काल से ही शक्ति के साधनों में पशुओं का महत्व रहा है। कृषि और यातायात में भारतीय पशुओं का बहुत प्रयोग किया जाता है और घी-दूध आदि की पूर्ति करके ये मानवीय शक्ति को बढ़ाकर राष्ट्रीय आय बढ़ाने में विशेष योग देते है। गत वर्ष सन् (१९५३–५६) में भारत में पशुओं की गणना इस प्रकार थी:—

पशु	संख्या
गाय-बैल	१४·५ करोड़
भैस	५·० करोड़
भेड़	३·८ करोड़
बकरी	५·० करोड़
घोड़े और खच्चर	३०·२४ लाख
सूअर	४१·७ लाख

भारतीय पशुओं की विशेषता यह है कि इनकी संख्या अन्य देशों के पशुओं से बहुत अधिक है परन्तु कार्यक्षमता बहुत कम है।

ईंधन (Fuel):—लकड़ी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति का साधन है और अतीत में इसका बहुत उपयोग भी किया जा चुका है। इसका परिणाम यह हुआ कि

वनों का विनाश हो गया है जैसा कि भारतीय वनों के वर्णन में स्पष्ट किया जा चुका है और अब भविष्य में भी लकड़ी की स्थिति में शक्ति के साधन के दृष्टिकोण से कोई सुधार होने की आशा नहीं है।

अल्कोहल (Alcohol)—शक्कर या चीनी के उद्योग में सीरे का उत्पादन उपोत्पत्ति (By Product) के रूप में होता है। सन् १९५१ में ५८ लाख तथा सन् ५२ में प्रथम ५ माह में ३५·७ लाख गैलन अल्कोहल का उत्पादन हुआ था। भारत में १८० लाख गैलन सीरा प्रतिवर्ष उत्पादन किया जा सकता है और ऐसा अनुमान है कि भविष्य में चीनी उद्योग के विकास होने पर अधिक मात्रा में अल्कोहल तैयार किया जा सकेगा। परन्तु आज अल्कोहल का औद्योगिक ईंधन के रूप में कुछ भी महत्व नहीं है।

इस प्रकार भारत में अब केवल कोयला, पेट्रोलियम और जल-विद्युत के ही साधन रह जाते हैं जिनसे प्रतिवर्ष पर्याप्त मात्रा में शक्ति का उत्पादन होता है। इनका विस्तृत वर्णन नीचे दिया जाता है।

कोयला (Coal):—कोयला भारत में यांत्रिक शक्ति का मुख्य साधन है। सन १९३७ की कोयला समिति ने यह अनुमान लगाया था कि भारत की खानों में लगभग ६००० करोड़ टन कोयला है। परन्तु इसका $\frac{४}{५}$ भाग इतनी गहराई पर स्थित है कि सरलता से नहीं निकाला जा सकता। इसके पश्चात् सन १९४९ में भारत की परिशोध कोयला संरक्षण समिति ने (Metallurgical Coal Conservation Committee) यह अनुमान लगाया कि भारत में कोकिंग कोयले का भण्डार इस प्रकार है:—

१—उत्तम कोक (Selected Grade):—३२९०·६ लाख टन

२—वर्ग एक (Grade I Quality) ३९५०·७ लाख टन

३—वर्ग दो (Grade II Quality) ४९०·१ लाख टन

कोयला-उत्पादन में विश्व में भारत का ८ वां स्थान है। सन् १९४९ में यहाँ कोयले का उत्पादन कुल ३ करोड १० लाख टन था जो कि ब्रिटेन का केवल $\frac{१}{६५}$ और अमेरिका का $\frac{१}{२०}$ भाग था। मात्रा में ही नहीं वरन गुण में भी भारतीय कोयला अन्य देशों के कोयले से निकृष्ट है। भारत की मुख्य खानें बिहार और पश्चिमी बंगाल के रानीगंज और गिरडीह (Giridih) क्षेत्रों में स्थित हैं जहाँ से भारत के समस्त कोयले की उत्पत्ति का ८२ प्रतिशत भाग उत्पन्न किया जाता है। कोयले की खानें मध्य प्रदेश, उड़ीसा, हैदराबाद, विन्ध्य प्रदेश, आसाम और राजस्थान आदि राज्यों में भी स्थित हैं। सन् १९५२ में भारत में ३ करोड़ ६० लाख टन कोयला निकाला गया था। कोयले की उत्पत्ति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है—

वर्ष	कोयले की उत्पत्ति (लाख टन)
१९४६	२९०·२७
१९४७	३०० ०७
१९४८	३९०·८२
१९४९	३१०·४४
१९५०	३२०·३१
१९५१	३४०·४३
१९५२	३६०·२३

इतनी अधिक मात्रा में कोयला निकालने के कारण यह आशंका की जाती है कि अच्छे कोयले का भंडार १० वर्ष में और वर्ग २ के कोयले का भंडार आगामी २५ वर्ष में समाप्त हो जावेगा।

कोयले की खानों के अवलोकन से यह ज्ञात हुआ है कि खानों को खोदने की शैली इतनी दोषपूर्ण है कि बहुत सा कोयला नष्ट हो जाता है। भारतीय खानों में मशीन से बहुत कम काम लिया जाता है। सन् १९५१ के मध्य में भारत की ११८ खानों में केवल ३७४ मशीनें कोयला काटने वाली थीं और १९ मशीन लादने वाली थीं जिनमें २ बेकार थीं। अतः यह आवश्यक है कि हम अपने कोयले का इस प्रकार उपयोग करें कि वह अधिक समय तक चल सके। कोयले के सीमित भण्डार के विषय में भारतीय सरकार भी सतर्क है। सन १९५२ के "कोयले की खान का संरक्षण तथा सुरक्षा विधान" (Coal Mines Conservation and Safety Act) लागू किया गया जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

१—कोयले की खानों की रक्षा और उनके संरक्षण के सम्बन्ध में उचित कार्यवाही करना।

२—कोयला बोर्ड को कोयला उद्योग सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने का अधिकार देना।

३—कोयला और कोक पर उत्पादन कर (Exise Duty) लगाना।

४—कोयले के उद्योग को नियन्त्रित करने के लिए नियम बनाना।

योजना कमीशन ने भी कोयले के कम खर्च करने के हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये हैं:—

१—**कोयला बोर्ड** (Coal Board) की स्थापना की जाय जो कोयला सम्बन्धी सभी समस्याओं की जाँच करें।

२—कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कोयला निकालने के कार्य को पूर्ण-रूपेण बन्द कर देना चाहिए।

३—कोक के स्थान पर दूसरे कोयलों का यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए।
४—कोयले से कोक बनाने की क्रिया को और अधिक न बढ़ाया जाये।
५—कोयले को रखने, मिलाने, तथा धोने के कार्य को अनिवार्य रूप से और नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाना चाहिये।

इस प्रकार यदि कोयले की खानों की खुदाई तथा कोयले का उपयोग व्यवस्थित ढंग से किया जावे तो निःसन्देह देश का कोयला ८० वर्ष तक चल सकता है।

पैट्रोलियम (Petrolleum)—पैट्रोलियम की दृष्टि से भारत की स्थिति कोयले से भी अधिक गिरी हुई है। भारत में निजी आवश्यकता का केवल ५% पैट्रोलियम उत्पन्न होता है और शेष लगभग ३० करोड़ गैलन विदेशों से प्रतिवर्ष आयात करना पड़ता है। यहाँ पर ६८० लाख गैलन के लगभग पेट्रोल निकाला जाता है जो विश्व के कुल पेट्रोल का केवल ०·१५ प्रतिशत है। विभाजन के पश्चात् हिमालय का पश्चिमी भाग पाकिस्तान में चला गया और भारत में केवल उसका पूर्वी भाग आसाम में बचा है जिसमें ३ महत्त्वपूर्ण पेट्रोल के क्षेत्र हैं—डिगबोई, बप्पापुग और हंसापुंग। पेट्रोल की कमी के कारण भारत सरकार ने आसाम में कुछ नई खानों का पता लगाने का प्रयत्न किया था परन्तु असफल रही। कृत्रिम पेट्रोल (Snythetic Petrol) बनाने की एक योजना भी भारत सरकार के सामने है परन्तु अधिक व्यय होने के कारण इस पर कोई अमल नहीं किया गया।

जल विद्युत (Hydro-Electric Power)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में शक्ति के साधनों की स्थिति अधिक सन्तोषजनक नहीं है। कोयला, पेट्रोल, लकड़ी आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। मनुष्य और पशु में संख्या तो पर्याप्त है पर क्षमता का अभाव है। परन्तु इन साधनों के अभाव की पूर्ति जल-शक्ति से पर्याप्त मात्रा में हो जाती है। भारत में जल-शक्ति के विकास की बहुत अधिक सम्भावना है विशेषकर उन क्षेत्रों में जो कोयले की खानों से दूर हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से जल-शक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है और अन्य शक्तियों से उत्तम है क्योंकि जल-शक्ति कभी समाप्त नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह बहुत सस्ती भी है और २५० से ३०० मील तक की दूरी तक सरलता एवं मितव्ययता से पहुँचाई जा सकती है। कृषि और उद्योग के विकास में आधुनिक युग में जल-शक्ति का बड़ा प्रमुख स्थान है।

विद्युत उत्पादन (Electricity Production)

यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में ४ करोड़ किलोवाट विद्युत प्रतिवर्ष उत्पन्न करने के योग्य साधन हैं। सन् १९५२ के अन्त में भारत में २०,४१,७०० किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने के साधन थे। विद्युत उत्पन्न करने के साधन भारत में इस शताब्दी के प्रारम्भ से निम्नलिखित प्रकार से बढ़े हैं।

वर्ष	विद्युत उत्पादन करने की शक्ति (हजार कि० वा०)
१९००	१·१०
१९०५	११·८०
१९१०	३१·३५
१९१५	५७·२९
१९२०	१३०·०१
१९२५	३२७·१५
१९३०	५९८·१४
१९३५	९००·४०
१९४०	१२०८·४२
१९४५	१३१९·३२
१९५०	१७१२·५२
१९५२	२०४१·७०

पहली जनवरी सन् १९५२ को जलविद्युत उत्पन्न करने की शक्ति का राज्य-वार ब्यौरा नीचे दिया जाता है।

राज्य State	विद्युत केन्द्रों की संख्या No. of Stations	उत्पादन शक्ति Installed Capacity (हजार) (कि. वा.)
आसाम	९	३·३४
बिहार	१९	४६·९९
बम्बई	१२१	४४१·१३
मद्रास	२४	१८·९०९
मध्यप्रदेश	३२	५२·१४
उड़ीसा	१७	४·८५
पंजाब	२६	६३·९२
उत्तर प्रदेश	५०	१९९·८९
पश्चिमी बंगाल	३१	५४६·१७
काश्मीर	४	६·४८
हैदराबाद	८	२६·२३
मध्य-भारत	२६	१६·३६
पटियाला राज्य-संघ	१०	६·८९
राजस्थान	३०	२७·९२
सौराष्ट्र	२३	२२·४०
त्रिवांकुर-कोचीन	३	३३·१९
मैसूर	३	१०७·२०
देहली	४	४२·५९
अन्य राज्य	२१	८·२८

सन् १९५० में भारत में कुल विद्युत् केन्द्र ४७८ थे जिनमें २०१ सरकारी, १९ म्यूनिस्पल बोर्डों के तथा २५८ व्यक्तिगत कम्पनियों के थे। इन केन्द्रों की संख्या जनवरी सन् १९५३ में (रेल और सैनिक केन्द्रों के अतिरिक्त) बढ़कर ६१० हो गई थी।

विद्युत उपभोग (Electricity Consumption)

भारत में इस पर भी विद्युत का प्रतिव्यक्ति वार्षिक उपभोग अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम होता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

देश	प्रतिव्यक्ति विद्युत का उपभोग (Kwt. Hrs)
कनाडा	३५१८
नार्वे	३०९९
स्वीडेन	२०००
स्विट्जरलेण्ड	१९४४
अमेरिका	१४७०
इंग्लैंड	९८६
भारत	९·२

इस समय देश में उत्पन्न की जाने वाली विद्युत का ५६ प्रतिशत भाग तथा विद्युत उत्पन्न करने की कुल शक्ति (Installed Capacity) का ५९ प्रतिशत भाग केवल ६ बड़े शहरों, जैसे— बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास और देहली में ही व्यय हो जाता है। भारत में जल-विद्युत शक्ति के उपभोग का ब्यौरा निम्नलिखित है—(Analysis of Electric power Consumption)

	१९५१ (प्रतिशत)	१९५२ (प्रतिशत)
१. भारतीय उद्योग	६४·०	६४·४
२. घरेलू उपभोग	१२·२	१२·०
३. ट्रामवेज और रेलें	६·९	६·४
४. व्यापारिक रोशनी	६·९	६·९
५. वाटरवर्क्स और नाली	४·५	४·६
६. सिंचाई और कृषि	४·१	४·३
७. मार्ग-रोशनी	१·४	१·४

प्रथम पंचवर्षीय योजना में विद्युत-शक्ति का विकास

योजना कमीशन ने भारत के आर्थिक विकास में जल-शक्ति के महत्व को ध्यान में रखते हुए इसके विकास के हेतु भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रमुख स्थान दिया है। योजना के अन्तर्गत लगभग १०० विद्युत केन्द्रों को विकसित करने की व्यवस्था की गई है जिनकी लागत लगभग ७८२·५ करोड़ रुपये होगी जिसमें से ५११·८ करोड़ रुपये प्रथम ५ वर्षों में व्यय किया जावेगा। इन केन्द्रों पर सन् १९५४–५५ में १०७ करोड रुपये और सन १९५५–५६ में ७८ करोड रुपये व्यय

होगा। प्रथम योजना के अन्त में भारत की विद्युत-उत्पादन शक्ति में लगभग १००७००० कि. वा. वृद्धि हो जावेगी और केन्द्रों के कार्य-समाप्ति पर लगभग १०९६००० कि. वा. से वृद्धि हो जावेगी और अनुमानतः सन् १९५६-५७ में उत्पादित शक्ति का उपभोग इस प्रकार होगा।

उद्योग	८६ करोड़ कि. वा.
घरेलू रोशनी और शक्ति	८६ करोड़ कि. वा.
व्यापारिक रोशनी और शक्ति	४३ ,, ,,
सिंचाई	३३·२ ,, ,,
अन्य साधन	७५·२ ,, ,,

भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में पंचवर्षीय योजना के अन्तगत विद्युत केन्द्रों पर किये जाने वाले व्यय और उनके विकास का ब्यौरा निम्नलिखित है—

राज्य	कुल व्यय (करोड़ रु०)	योजना के अन्तर्गत निश्चित व्यय (करोड़ रु०)	उत्पादन शक्ति (हजार कि. वा.)
आसाम	·८५	·८३	७
बिहार	११·२०	७·०९	११
बम्बई	१४·१२	१०·४३	८४
मध्य प्रदेश	१३·८९	६·००	७३
मद्रास	७७·७३	५०·२४	३०७
उड़ीसा	८·७४	३·९१	८
उत्तर प्रदेश	२९·३०	१४·१०	१२४
पंजाब	·५९	·३८	
पश्चिमी बंगाल	१·३३	·७६	४
मैसूर	२०·२७	१२·६८	१२०
त्रिवांकुर कोचीन	१७·७०	१०·३५	८१
काश्मीर	१·८६	१·५५	७

नाँगल, दामोदर और हीराकुंड केन्द्रों के अतिरिक्त निम्नलिखित केन्द्रों की जाँच-पड़ताल जारी है और उनकी योजनाओं पर कार्य हो रहा है—

कोसी (नेपाल और बिहार), टिकर पारा और निराज (उड़ीसा), नर्मदा, ताप्ती और साबरमती (बम्बई तथा मध्य प्रदेश), इन्द्रावती, बस्तर, सोन, रिहाँद, और नैयर (उत्तर प्रदेश), चम्बल (राजस्थान, और मध्य भारत), दिहाँग, मानस और बरौली (आसाम) इन सारे केन्द्रों की उत्पादल शक्ति लगभग १ करोड़ कि. वा. विद्युत होंगी। इनमें से अधिकतर केन्द्र लगभग १० वर्ष में पूर्ण होंगे।

भारत के प्रमुख जल-विद्युत केन्द्र—

उत्तर प्रदेश—उत्तर-प्रदेश में जल-विद्युत का उत्पादन २०वीं शताब्दी के

आरम्भ में शुरू हुआ। परन्तु सन् १९२८ तक व्यक्तिगत कम्पनियों के द्वारा ही संचालित किया जाता रहा जिनकी संख्या सन् १९५० में ४४ थी। उत्तर प्रदेशीय सरकार की १५ वर्षीय योजना के अन्तर्गत सन् १९६१ के अन्त में लगभग २,८०,२५० कि० वा० शक्ति अधिक उत्पन्न होने लगेगी। केवल रिहान्द बाँध की उत्पादन शक्ति २,४०,००० कि० वा० होने का अनुमान है। इस वर्ष सरकार ने पथरी और खातिमा विद्युत केन्द्र, हरदुआगंज के थर्मल केन्द्र के विकास एवं निबकारोरी, सोहावल गुरसायगंज, गोरखपुर और मऊ आदि स्थानों पर नये थर्मल केन्द्र बनाने के हेतु एक निश्चित धन-राशि व्यय करने की व्यवस्था की है। इनके कार्यान्वित होने पर ६९६०० कि० वा० अधिक विद्युत सरकारी कारखानों द्वारा उत्पन्न होगी। उत्तर प्रदेश में जल-विद्युत का विकास निम्नलिखित तालिकाओं से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

(अ) कारखाने जो पूर्ण हो गये हैं	उत्पादन शक्ति (कि० वा०)
१. मुहम्मद पुर (जल)	९३००
२. बागेश्वर (जल)	५०
३. रामपुर (थरमल)	१०००
४. सोहावल (थरमल)	२०००
५. हरदुआगंज (थरमल)	१००००
६. गोरखपुर (डीजिल)	३०९०
७. शाहजहाँपुर (डीज़िल)	१८००
८. मऊ (थरमल)	१६००
९. गोरखपुर (थरमल)	३१२५
१०. मऊ (डीज़िल)	६००
११. देवरिया (डीज़िल)	६००
१२. निबकारोरी (डीज़िल)	२७५०
१३. गुरसायगंज (डीज़िल)	१२५०

(ब) कारखाने जिन पर कार्य हो रहा है	अनुमानित उत्पादन शक्ति (कि० वा०)
१. पथरी (जल)	२०,४००
२. खातिमा (जल)	४१,४००
३. मऊ (थरमल)	१५,०००
४. गोरखपुर (थरमल)	१५,०००
५. सोहावल विस्तृत (थरमल)	१५,०००
६. मैनपुरी (थरमल)	१५,०००
७. अन्य (डीज़िल)	३,५००

जल-विद्युत के विकास का ब्यौरा

वर्ष Year	शहरों की संख्या जिनमें बिजली है Town Served	रेडियो और टेली-फोन की लाइन (मील) Transmission Lines	बिजली के ट्यूब-वेल संख्या Tube Wells Electrified	उत्पादन शक्ति (कि० वा०) Power installed
१९४६	४५७	४७९३	१८४७	४३,२००
१९५४	४६८	८८८५	३५१९	७८,४९९
१९५६ अनुमानित	६२३	१०९६१	५०६१	१,६२,४००

रिहान्द बाँध (Rehand Dam)—यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण योजना है जिस पर आजकल कार्य चल रहा है। इसके अन्तर्गत मिर्जापुर जिले में पिपरी में जो मिर्जापुर से लगभग १०० मील दूर है, सोन नदी की सहायक नदी रिहान्द पर एक विशाल बाँध बनाकर अगाध जल-राशि को नियन्त्रित करके २,४०,००० कि० वा० विद्युत-शक्ति उत्पादन की क्षमता का एक विद्युत-गृह निर्माण हो रहा है। योजना में लगभग २९ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है।

उत्तर प्रदेश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों की बिजली की आवश्यकता पूरी करने के लिए निम्नलिखित ३ जल-विद्युत योजनाओं पर कार्य होगा जिनसे लगभग २ लाख कि० वा० विद्युत उत्पन्न हो सकेगी। इन योजनाओं पर १२५ करोड़ रुपया व्यय किया जायेगा।

१. जमुना योजना	१ लाख कि० वा० विद्युत
२. रामगंगा योजना	५० हजार कि० वा० विद्युत
३. शारदा योजना	४५ हजार कि० वा० विद्युत

उक्त योजनाओं के अतिरिक्त माताटिला बाँध पर एक प्रारम्भिक विद्युत योजना के कार्यान्वित होने की सम्भावना है।

बम्बई—

भारत के सबसे बड़े जल-विद्युत कारखाने टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड ने स्थापित किये हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. टाटा जल-विद्युत सप्लाई कं० लि० जो सन् १९१५ में आरम्भ हुई थी।

२. आन्ध्र घाटी शक्ति सप्लाई कं० लि० जो सन् १९२२ में आरम्भ हुई थी।

३. टाटा शक्ति सप्लाई कं० लि० जो सन् १९२७ में आरम्भ हुई थी।

उक्त तीनों कम्पनियाँ लगभग २,८५,००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न करती हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई में निम्नलिखित योजनाओं पर कार्य हो रहा है—

१. **कोयाना घाटी योजना** (Koyana Project)—इस योजना का निर्माण कार्य १६ जनवरी सन् १९५४ को आरम्भ हुआ था। योजना के अन्तर्गत जलभावदी में वैध नदी पर २०४ फुट उँचा बाँध बनाया जायेगा जो लगभग

२,४०,००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण योजना में लगभग ३३ करोड़ रु० व्यय होगा।

२. काली नदी योजना (Kali Nadi Project)—यह लगभग ३२५००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न करेगी। आरम्भ में पूसा में केवल १ केन्द्र ५००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न करेगा।

३. भाटंगर जल विद्युत योजना, भंडारदारा—रन्धा जल विद्युत योजना, नर्बदा नदी योजना, ताप्ती योजना, राधानगरी बहुउद्देशीय योजना, चोला स्टीम केन्द्र आदि अन्य योजनाएँ हैं जो समाप्त होने पर पर्याप्त मात्रा में विद्युत उत्पन्न करेंगी।

मद्रास—मद्रास का भारत के विद्युत उत्पादन में बम्बई के पश्चात् द्वितीय स्थान है। यहाँ की प्रमुख जल विद्युत योजनाएँ इस प्रकार हैं—

पापानासम योजनाएँ—मद्रास सरकार ने इसका निर्माण सन् १९३८ में प्रारम्भ किया था और प्रथम चरण (Stage) के केन्द्र ने जुलाई, सन् १९४४ में विद्युत उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया था। यह योजना टिनैवैली ज़िले में पापानासम फौल्स पर स्थित है। इसके द्वारा टूटीकोरिन, कौलपट्टी, मदुरा आदि जिलों को विद्युत दी जाती है। और यह मदुरा के पायकरा जल-विद्युत योजना से सम्बन्धित है।

पायकारा योजना (Pykara Scheme)—यह योजना पायकारा नदी पर मदुराई में स्थित है। इसके पूर्ण होने पर लगभग ४०००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न होगी—इस योजना का निर्माण सन् १९२९ के अन्त में प्रारम्भ हुआ था और इसका प्रथम चरण (Stage) सन् १९३६ में पूर्ण हो गया था। इसके द्वारा कोयम्बटूर, त्रिपुर रोड, उद्मलपत, सेम्वत्ती और मदुराई तथा पायकारा से कालीकट एवं कैनैनौर तक विद्युत दी जाती है। पायकारा योजना की तृतीय स्थल मे जिसके अन्तर्गत पायकारा नदी पर एक दूसरा बाँध बनाकर पायकारा में १३००० कि० वा० विद्युत अलग-अलग उत्पन्न करने वाले दो केन्द्रों के निर्माण पर कार्य हो रहा है। यह योजना न केवल मैतूर और पापानासम केन्द्रों की मौसमी तथा संकटकालीन कमियों को ही पूरी नहीं करेगी, बल्कि मद्रास के दक्षिणी जिलों के बड़े-बड़े उद्योगों और कृषि की विकास योजनाओं द्वारा विद्युत की माँग को पूरा करेगी। इससे २,१२,००० कि० वा० विद्युत मिलेगी और इसकी कुल लागत लगभग ३ करोड़ ६० लाख रु० होगी।

मैटूर योजना (Mettur Dam Scheme)—यह बाँध विश्व के सबसे बड़े बाँधों में से है जो १७६ फुट ऊँचा है और जिसमें लगभग ९३५०० मिलियन क्युबिक फुट जल एकत्रित किया जाता है। यह जलाशय मुख्यतः सिंचाई के लिये ही था, परन्तु अब जल-विद्युत बनाने के काम में भी आता है। इस योजना के अन्तर्गत ३ भिन्न-भिन्न विद्युत-केन्द्रों का निर्माण जिनकी उत्पादन शक्ति १०००० किलोवाट प्रति होने को थी, सन् १९३५ के अन्त में प्रारम्भ होकर जून १९३७ में समाप्त हो

गया था। यहाँ से उत्तर में सिंगारपत से दक्षिण में इरोड तक के १०० मील के फासले में, उत्तर के वैलोर, तिरुवलामलाई, विलूपुरम और दक्षिण में त्रिचनापल्ली, तन्जोर आदि के जिलों में विद्युत दी जाती है। इरौड में मैट्टुर प्रणाली का पाइकारा जल-विद्युत योजना से संबंध हो जाता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मद्रास और आन्ध्र राज्यों में निम्नलिखित जल-विद्युत विकास कार्यों पर ५८,२४ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की थी और जिनके पूरे होने पर लगभग २ लाख कि० वा० विद्युत अधिक उत्पन्न होगी।

१. मचकुण्ड, मोयर, नैलोर और मदुराई ४ नये पावरगृहों (Power houses) का निर्माण करना।

२. पायकारा, पापानासम, मद्रास, विजयवाड़ा, और विशाखा पट्टम में स्थित गृहों (Power houses) का विस्तार करना

३. १६५० मील लम्बी नई विद्युत लाइनों का निर्माण करना।

पश्चिमी बंगाल

दामोदर घाटी योजना (Damodar Valley Project)--यह दामोदर नदी की समस्त घाटी का बहुमुखी विकास करने की योजना है जो पश्चिमी बंगाल और बिहार दोनों ही राज्यों की आवश्यकता को पूरा करेगी। सम्पूर्ण योजना में ७ बहुमुखी बाँधों का दो चरणों (Stages) में निर्माण करने की व्यवस्था की गई थी। योजना के प्रथम चरण (Stage) के अन्तर्गत ४ बाँधों का जो तिलैया, मैथौन, पंचट और कोनार बाँध हैं, जो क्रमशः १६५२, १६५४, १६५५ और १६५३ में पूर्ण होने थे और जिनके साथ-साथ १५०० मील लम्बी नहर और बम्बों का भी निर्माण हुआ है अब कार्य कर रहे हैं। बोखारो के थर्मल पावर स्टेशन ने भी इस योजना के प्रथम चरण के अन्तर्गत कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। यह अनुमान लगाया जाता है कि पहली Stage के बाद ही इस योजना के द्वारा १० लाख एकड़ अधिक भूमि की सिंचाई, १२६००० कि० वा० विद्युत का उत्पादन और बाढ़ों पर नियंत्रण हो सकेगा। सन् १६५१ की मूल्य स्तर (Price Level) के अनुसार योजना के प्रथम चरण की लागत लगभग ७५ करोड़ रु० होगी। योजना को कार्यान्वित करने के लिए तथा तत्सम्बन्धी कार्य संगठित करने के हेतु एक दामोदर घाटी कारपोरेशन स्थापित किया गया है जिसमें संबन्धित क्षेत्रों की सरकारों का प्रतिनिधित्व है।

मोर बाँध योजना (More Project)--पश्चिमी बंगाल की युद्ध के पश्चात् की विकास योजनाओं में इसका प्रमुख स्थान है। जुलाई सन् १६५१ में मयूराक्षी नहर के उद्घाटन से इस योजना को कार्यान्वित किया गया था। इस योजना की लागत लगभग १५॥ करोड़ रु० है। यह योजना पूरी हो चुकी है और जुलाई १६५५ से पश्चिमी बंगाल की धान उगाने वाली लगभग ६ लाख एकड़ भूमि को खरीफ़ की फ़सल में व १,२०,००० एकड़ रबी की फसल में सींचना प्रारम्भ हो गया है। इसके अतिरिक्त लगभग २५,००० एकड़ भूमि बिहार के सन्थाल परगना में सींची जाने लगी है। इस योजना के द्वारा लगभग ६००० कि०

वा० विद्युत उत्पन्न की जायेगी जो बंगाल व बिहार के सामुदायिक विकास खण्डों को दी जायेगी।

कोसी योजना (Kosi Project)—यह बिहार की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। यह योजना सिंचाई, शक्ति, जल-मार्ग, बाढ़-नियंत्रण, मिट्टी के कटाव-नियन्त्रण दलदल भूमि को साफ़ करके मलेरिया नियन्त्रण, मछली पकड़ना और मनोरंजन की सुविधा की दृष्टि से एक बहुमुखी योजना बनेगी। इस योजना के द्वारा नेपाल में छत्तरखण्ड के आरपार ७५० फीट ऊँचा बाँध बनाया जावेगा। इस बाँध के द्वारा १,१०,००,००० एकड़ फ़ीट पानी संगृहीत किया जा सकेगा जो कि ७९ वर्ग मील भूमि को ढकेगा।

इस योजना के अन्तर्गत दो बाँध बनाए जावेंगे—(१) कोसी के आरपार नेपाल में बनाया जावेगा जिसके दोनों किनारों से नहरें निकालकर नेपाल की लगभग १०,००,००० एकड़ भूमि की सिंचाई करेगा तथा (२) दूसरा बाँध कोसी नदी के आरपार नेपाल और बिहार की सीमा पर बनाया जावेगा जिसमें दोनों ओर ३ नहरें निकलेंगी जिससे बिहार की २०,००,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इस योजना के द्वारा लगभग १८,००,००० कि० वा० विद्युत का उत्पादन होगा। इसके शक्तिगृहों और दामोदर घाटी के गृहों को मिलाकर एक जाल-सा बनाने की योजना है। यह लगभग १० वर्ष में पूरी हो पावेगी और इस योजना की लागत ९० करोड़ रु० होने का अनुमान है।

उड़ीसा

हीराकुण्ड योजना बांध योजना (Hira Kud Dam Project)—

उड़ीसा सरकार ने महानदी घाटी के बहुमुखी विकास की एक योजना तैयार की है जिस पर भारतीय सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय जलशक्ति, सिंचाई और जल-यातायात कमीशन के द्वारा कार्य हो रहा है। इस योजना के अन्तर्गत ३ बड़े-बड़े बाँध (Dam) बनाए जावेंगे—

(१) हीराकुण्ड बाँध योजना, (२) तिकरपारा बाँध योजना और (३) नारज बाँध योजना, जिनमें अलग-अलग नहरें और शक्तिगृहों का निर्माण किया जावेगा।

इन बाँधो के बनने से सिंचाई, विद्युत, नौका संचालन, बाढ़ नियंत्रण की सुविधाओं के साथ-साथ मलेरिया के प्रकोप को रोकने, मत्स्य व्यापार को बढ़ाने, भूमि क्षरण को रोकने और मनोरंजन की बहुमूल्य सुविधाएँ भी प्रदान की जाएँगी। इस योजना के द्वारा लगभग १०९४९५३ एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। जिससे ३।। लाख टन अन्न की वृद्धि होगी और लगभग ३५०००० कि० वा० विद्युत शक्ति उत्पन्न की जायेगी। सम्पूर्ण योजना पर लगभग ९० करोड़ रु० व्यय होंगे जिसमें से प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ६१ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इस समय योजना पर कार्य हो रहा है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि सन् १९५६ में इसके अन्तर्गत सिंचाई का कार्य आरम्भ हो जावेगा।

मचकुण्ड योजना (Mach Kund Scheme)—मचकुण्ड जल-विद्युत योजना पर उड़ीसा और आन्ध्र राज्यों की सरकारों द्वारा सम्मिलित कार्य हो रहा है। इस योजना की कुल लागत ६३१·६ लाख रु० होगी जिसमें से, ७०:३० के अनुपात में आन्ध्र और उड़ीसा सरकार व्यय करेंगी और इसी अनुपात में योजना के द्वारा उत्पादित विद्युत का उपभोग करेंगी। इस योजना के अन्तर्गत मचकुण्ड नदी पर एक बाँध बनाया जावेगा जो १३४ फीट ऊँचा होगा और जलपुत में दुदमा फौल्स से लगभग १८ फ्रुट मील ऊपर की ओर एक जलाशय होगा। यह योजना लगभग १०० हजार कि वा० विद्युत उत्पन्न करेगी।

पंजाब

भाकरा नांगल योजना (Bhakara Nangal Project)—यह पूर्वी पंजाब की एकमात्र बहुमुखी योजना है जिसके द्वारा पजाव मे अन्न-उत्पादन मे वृद्धि और औद्योगिक विकास हो सकेगा। इसके अन्तर्गत भाकरा खड्ड के आरपार सतलज नदी पर ६८० फीट ऊँचा सीमेंट और कंकरीट का बाँध बनाया जावेगा जिसके द्वारा लगभग ७ करोड़ २० लाख घन फीट जलसंग्रह होने का अनुमान है, किन्तु शक्ति और सिंचाई के लिए प्रतिवर्ष ५५ लाख घनफीट पानी प्राप्त होने की आशा है। इस योजना के द्वारा लगभग ३० लाख ६० हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। जिससे १० लाख १३ हजार टन खाद्यान्न और ८ लाख कपास की गाँठों का उत्पादन हो सकेगा।

इस नदी पर नांगल मे भी एक ९० फुट ऊँचा बाँध बनाया गया है जो कि भाकरा बाँध से ८ मील नीचे की ओर है। यह बाँध ९५५ फुट लम्बा और ४०० फुट चौड़ा है। इसके द्वारा नदी का पानी नांगल जल-विद्युत नहर में परिणत कर एक जलाशय का कार्य करता है जिसमें कि भाकरा बाँध से पानी लिया जाता है। इस बाँध के नीचे १८ मील पर दो शक्तिगृह बनाए गये है और वहाँ ९८ फीट ऊपर से पानी गिरता है। यह बाँध बन चुका है और इसने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। इस योजना के द्वारा लगभग ४ लाख कि० वा० विद्युत उत्पन्न होगी जो पंजाब पटियाला राज्य संघ, हिमाचल प्रदेश, देहली और राजस्थान आदि राज्यों को दी जावेगी। सम्पूर्ण योजना पर लगभग १५६ करोड़ रु० व्यय होगा जो सिंचाई और जल-विद्युत शक्ति योजनाओं पर ३½ : ५ के अनुपात में खर्च होगा। पंचवर्षीय योजना में इस पर १०९ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था है। सम्पूर्ण बाँधों और नहरों की योजना सन् १९५७-५८ तक पूर्ण होने की आशा हैं। इसके अतिरिक्त पंजाब में मंगला विद्युत योजना, मण्डी शक्तिगृह तथा शानन शक्ति गृह और है, जिनके विकास पर कार्य हो रहा है।

हैदराबाद

तुङ्गभद्रा योजना (Tung Bhadra Project)—हैदराबाद तथा मद्रास सरकार ने सम्मिलित रूप से यह योजना आरम्भ की है। इसमें कृष्णा की बड़ी सहायक नदी तुङ्गभद्रा के आर-पार १६० फुट ऊँचा और ८२०० फुट लम्बा बाँध

बनाया जा रहा है। इस योजना के द्वारा लगभग १,३६,००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न होगी तथा ६,००,००० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। यह योजना इस वर्ष के अन्त तक समाप्त हो जायगी और इसमें लगभग ५२ करोड़ रुपया व्यय होगा। जून सन् १९५२ से ही इससे जल मिलना आरम्भ हो गया था। इस बाँध से दो नहरें, एक हैदराबाद राज्य की ओर जो १२७ मील लम्बी होगी तथा दूसरी आन्ध्र राज्य की ओर २२५ मील लम्बी नहरें बनाई जायेंगी जिनसे क्रमशः ४ लाख व २ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। नहरों का निर्माण-कार्य सम्भवतः सन् १९५६-५७ में समाप्त हो जावेगा। इसके अतिरिक्त हैदराबाद राज्य में निज़ाम नगर शक्तिगृह, देवतूर योजना, कृष्णा नदी योजना, गोदावरी घाटी योजना आदि जल विद्युत योजनाओं पर भी कार्य हो रहा है।

नन्दी कोंडा बाँध योजना (Nandi Konda Dam Project)—योजना आयोग ने फरवरी सन् १९५५ में हैदराबाद में आन्ध्र राज्यों की सरकारों के सम्मिलित रूप से नन्दी कोंडा योजना के प्रथम खण्ड पर कार्य करने की स्वीकृति दे दी थी। योजना के अन्तर्गत सिद्धेश्वरम से ९० मील नीचे की ओर नन्दी कोंडा ग्राम के समीप कृष्णा नदी के आर-पार एक पक्का बाँध बनाया जावेगा जो ३०२ फुट ऊँचा व ४५०० फुट लम्बा होगा। जलाशय से दो नहरें दांये और बांये किनारों से निकाली जायेगी जो क्रमशः १०८ और १४० मील लम्बी होंगी। बांये किनारे की नहर आन्ध्र राज्य व दांये किनारे की हैदराबाद राज्य को जल प्रदान करेंगी। जल की मात्रा के अनुपात में ही दोनों राज्य सरकारें इस योजना पर व्यय करेंगी। इस योजना में लगभग ७५ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान हैं। योजना के प्रथम खण्ड से ही लगभग २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई और १०,००० कि० वा० विद्युत उत्पन्न होने लगेगी।

भारत के प्राकृतिक साधनों की समीक्षा (Review of the Indian Natural Resources)—

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि देश के प्राकृतिक साधन आर्थिक दृष्टि-कोण से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारत में विभिन्न प्रकार के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जो देश में एक उचित जीवन-स्तर प्रदान करने की क्षमता रखते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ और निर्धन देश है जहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। इसलिये भारत को "निर्धन व्यक्तियों वाला धनी देश" (Rich Counrcy Inhabited by Poor) कहा जाता है।

इसका प्रमुख कारण भारत के प्राकृतिक साधनों का समुचित विकास न होना एवं उनका उचित और आर्थिक उपयोग न होना ही है। इनका बहुत बड़ा भाग तो बिलकुल व्यर्थ ही जाता है। कुछ खनिज पदार्थों का तो पता ही नहीं है तथा बहुत-सी महत्वपूर्ण धातुओं का निर्यात हो जाता है। जल-शक्ति के साधनों का भी पूरा उपयोग नही किया जाता जिसमें देश में औद्योगिक विकास वेग गति से नहीं हो पाया है। इन

सब बातों का आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है तथा देश में सदा ही अनेकानेक आर्थिक समस्याएँ विद्यमान रहती हैं।

ऐसी अवस्था में हमको ऐसी योजनाएँ बनानी हैं जिनसे कि देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित रूप से उपयोग किया जा सके। इस दिशा में राष्ट्रीय सरकार भी बड़े महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। इस कथन में लेशमात्र भी संदेह नहीं कि यदि भारत के विभिन्न प्राकृतिक साधनों का उचित एवं पूर्ण रूप से उपयोग किया जाय तो निश्चय ही भारत संसार का एक अग्रगण्य और महत्वपूर्ण देश बन जावेगा।

अध्याय ३

जन-संख्या
(POPULATION)

प्रत्येक देश का आर्थिक विकास प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त वहाँ की श्रम-पूर्ति पर भी निर्भर है, क्योंकि इन साधनों का समुचित उपयोग श्रम के ही द्वारा किया जा सकता है। श्रमपूर्ति देश की जन-संख्या पर आधारित है। देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास वहाँ के निवासियों की जन-संख्या एवं क्षमता पर बहुत कुछ अवलम्बित होता है और जन-संख्या की विभिन्न समस्याओं का विस्तृत अध्ययन किये बिना किसी भी आर्थिक योजना का बनाना सर्वथा कठिन है। अतः भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने से पूर्व यहाँ की जनसंख्या की गतिविधि और उसके आर्थिक महत्व का अध्ययन करना आवश्यक है। संसार के समस्त देशों में चीन को छोड़कर भारतवर्ष की जनसंख्या सबसे अधिक है। इस समय भारत की जन-संख्या जम्मू और आसाम के कबाइली क्षेत्र को छोड़कर लगभग ३५·६८ करोड़ है जिसमें से १७·३५ करोड़ पुरुष और १८·३३ करोड़ स्त्रियाँ हैं। जम्मू एवं काश्मीर की जन-संख्या सन् १९५१ की गणना के अनुसार लगभग ४०,४१,००० है और आसाम की ५६०००० है। इस प्रकार कुल जन-संख्या ३६·१४ करोड़ है। भारतीय संघ में उत्तर प्रदेश की जन-संख्या ६·१४ करोड़ सबसे अधिक है। यह इंगलैंड की जन-संख्या से अधिक और पाकिस्तान की जन-संख्या का ५।६ भाग है।

जन-संख्या में वृद्धि

सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार अविभाजित भारत की जन-संख्या ३८·८९ करोड़ थी, परन्तु विभाजित भारतीय क्षेत्र की जन-संख्या ३१·४८ करोड़ थी। इस प्रकार सन् १९४१ से १९५१ तक लगभग ४ करोड़ २५ लाख की वृद्धि हुई। २० वीं शताब्दी के प्रथम ३० वर्षों में जितनी वृद्धि हुई उसकी दुगुनी और सन् १९२१ से १९३१ तक की वृद्धि की तिगुनी वृद्धि सन् १९३१ से ५१ तक हुई। भारत में गत ५० वर्षों में लगभग १२ करोड़ ३० लाख जन-संख्या बढ़ी है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जन-संख्या में वृद्धि (१९०१-१९५१)

वर्ष	जनसंख्या	वृद्धि करोड़ में	वृद्धि (प्रतिशत में)
१९०१	२३·५५	—	—
१९११	२४·९०	+१·६५	५·८
१९२१	२४·८१	— ·०८	— ०·३
१९३१	२७·५५	+२·७३	११·०
१९४१	३१·४८	+३·९२	१४·३
१९५१	३५·६८	+४·२१	१३·४

गत १० वर्षों में केवल पंजाब और निकोबार द्वीप में जनसंख्या में कमी हुई और देहली और कुर्ग में सबसे अधिक वृद्धि हुई तथा अन्य राज्यों में यह वृद्धि प्रायः समान ही रही है। गत ५० वर्षों में देश की जनसंख्या में होने वाली लगातार वृद्धि के विविध कारण हैं, जो नीचे दिये गये हैं।

जनवृद्धि के कारण

१—देश में सामाजिक संगठन, धर्मान्धता, सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियाँ आदि बे रोक-टोक जनवृद्धि का एक प्रधान कारण रही हैं।

२—भारत में कृषि विकास योजनाओं के कारण जनसंख्या में अच्छी वृद्धि हुई है। कुछ भागों में जैसे पंजाब में सिंचाई की नई योजनाओं के कारण कितने ही अर्ध-मरु-भूमि वाले क्षेत्रों में नई बस्तियाँ बस गई हैं जिनमें कि जन-संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है। बीकानेर की नई बसी बस्तियों का भी यही अनुभव रहा है। बंगाल में भी कृषि की उन्नति के साथ-साथ जनसंख्या में भी वृद्धि हुई है।

३—सन् १९३१ की जन-गणना बहुत दोषपूर्ण थी क्योंकि उस समय देश में राजनीतिक अशान्ति छाई हुई थी, भयंकर दंगे हो रहे थे अतः कितने ही व्यक्तियों के नाम जनगणना के रजिस्ट्रों तक में नहीं आये थे।

४—परन्तु सन् १९४१ में भारतवासियों ने जनगणना का महत्त्व समझ लिया था और प्रत्येक व्यक्ति इसकी ओर आकर्षित था। फलतः जो व्यक्ति सन् १९३१ में छूट गये थे वे सब १९४१ की गणना में सम्मिलित हुए जिससे जनसंख्या काफी बढ़ गई।

५—गत वर्षों में महामारी, अकाल आदि दैवी दुर्घटनाओं से भी कोई भीषण हानि नहीं पहुँची।

६—यद्यपि देश में अस्पतालों, डाक्टरों की संख्या का यहाँ के क्षेत्रफल और जनसंख्या के देखते हुए भारी अभाव ही है, किन्तु फिर भी पिछले कुछ वर्षों में चिकित्सा की सुविधायें पहले की अपेक्षा बढ़ रही हैं जिससे मृत्यु दर में भारी कमी होती रही है।

७—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि का सबसे प्रधान कारण देश में जीवन-स्तर का नीचा होना है। यहाँ की जनता बहुत निर्धन है और यह अनुभवी तथ्य है कि निर्धन व्यक्तियों के सन्तान अधिक होती है।

जनसंख्या का घनत्व :

'जनसंख्या के घनत्व' का तात्पर्य औसतन एक वर्गमील में रहने वाले मनुष्यों से है। इसको ज्ञात करने के लिए देश की समस्त जनसंख्या को वहाँ के क्षेत्रफल से विभाजित कर देते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक देश का क्षेत्रफल ५००० वर्गमील है और वहाँ की जनसंख्या ४० लाख है तब उस देश की जनसंख्या का घनत्व ८०० होगा।

सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का घनत्व २९६ है। परन्तु सन् १९५४ के अन्त में ३१२ होने का अनुमान लगाया गया है।

अर्थात् औसत रूप से भारत में ३१२ मनुष्य प्रति वर्गमील रहते हैं।[1] अन्य औद्योगिक देशो की जनसंख्या के घनत्व से तुलना करने पर विदित होता है, कि भारत की जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है, क्योंकि यहाँ पर केवल ३१२ मनुष्य प्रतिवर्गमील रहते हैं जब कि इंगलैंड में ७५०, बेल्जियम में ७९९, जापान में ४८२ तथा जर्मनी में ३३२ मनुष्य रहते हैं। परन्तु अन्य कृषि प्रधान देशों से तुलना करने पर भारत का ३१२ घनत्व फ्रांस के १९२, अमेरिका के ४९, आस्ट्रेलिया के ३, तथा केनेडा के ३ से कहीं अधिक है।

भारत में सभी स्थानों पर जनसंख्या का घनत्व भिन्न-भिन्न है। सबसे अधिक घनत्व देहली का है (३०००) तथा सबसे कम अण्डमान निकोबार का है (१०)। जनसंख्या का घनत्व किसी विशेष स्थान की भूमि, जलवायु, वर्षा, सिंचाई के साधन, यातायात का विकास, उद्योग-धन्धे तथा ऐतिहासिक महत्त्व आदि बातों पर निर्भर करता है। भारत में जिन भागों में उक्त सभी बातें विद्यमान हैं वहाँ पर जनसंख्या का घनत्व अन्य स्थानों से अधिक है। १९४१ की जन-गणना के अनुसार भारत के बिभिन्न भागों में जनसंख्या का घनत्व इस प्रकार था[2]—

बंगाल	७७९	उड़ीसा	२७१
बिहार	५२१	आसाम	१८६
यू० पी०	५१८	मध्यप्रदेश	१७०
मद्रास	४९१	हैदराबाद	१९८
पंजाब	२८७		
बम्बई	२७२		
मैसूर	२४९		

परन्तु आधुनिक युग में जब कि अर्थशास्त्री आदर्श जन-संख्या के सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) से सहमत हैं, जन-संख्या के घनत्व को आर्थिक विकास का मापदण्ड नहीं माना जा सकता। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो देश घना बसा हुआ हो, वह अधिक प्रगतिशील और वैभवशाली भी हो। यद्यपि अमेरिका बहुत समृद्धिशाली देश है पर वहाँ की जनसंख्या का घनत्व केवल ४९ ही है। आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में केवल ३ मनुष्य प्रति वर्ग मील ही रहते हैं। परन्तु वहाँ के लोग भी बहुत धनी हैं। इसी प्रकार अमेरिका और इंगलैंड की जनसंख्या में बहुत ही असमानता है पर दोनों देश प्रगति एवं समृद्धि के समान स्तर पर हैं। संसार के समस्त कृषि-प्रधान देशों में भारत में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है। परन्तु यहाँ जनसंख्या देश की समृद्धि और वैभव बढ़ाने की अपेक्षा एक महा कठिन समस्या बन गई है।

---

१. Indian Year Book 1954-55 pp. 5.

२. Famine Enquiry Commission Report 1945 pp. 76.

ग्राम तथा नगरों में जनसंख्या का वितरण

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत में जनसंख्या का वितरण बड़ा उपयुक्त था। परन्तु धीरे-धीरे सभ्यता का, विज्ञान का तथा आर्थिक विकास होने के साथ-साथ जीवन का ढाँचा ही बदल गया। अंग्रेजी राज्यकाल में भारतीय शिल्पकला एवं कुटीर-उद्योग-धंधों का लगभग अस्त ही हो गया था और यहाँ की जनता का एक-मात्र सहारा कृषि ही रह गया। अतः भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यहाँ की केवल १७·३ प्रतिशत जनसंख्या अर्थात् ६ करोड़ २० लाख नगरों में, तथा ८२·७ प्रतिशत या २९ करोड़ ५० लाख व्यक्ति ग्रामों में निवास करते हैं। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत में लगभग ५ लाख ग्राम हैं और औसतन एक गाँव में ५२९ व्यक्ति निवास करते हैं। ५०० से कम व्यक्ति वाले छोटे-छोटे ग्राम में ग्रामीण जनसंख्या का २६·५ प्रतिशत भाग रहता है। ५०० से २००० व्यक्तियों वाले माध्यमिक ग्रामों में ४८·८ प्रतिशत, २००० से ५००० वाले बड़े गाँव में २९·४ प्रतिशत और ५००० से अधिक वाले बहुत बड़े गाँवों में ५·३ प्रतिशत मनुष्य रहते हैं।

परन्तु द्वितीय महायुद्ध के दौरान में तथा उसके उपरान्त नगरों की जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई क्योंकि युद्धकाल में नगरों के विभिन्न उद्योगों में, सुरक्षा-सम्बन्धी विभागों, कुछ सरकारी अस्थायी विभागों, जैसे—राशनिंग, मार्केटिंग तथा कन्ट्रोल आदि के स्थापित होने के कारण बहुत से ग्रामीण शहर में आकर बस गये। यह वृद्धि नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

वर्ष	ग्रामीण जनसंख्या (कुल जनसंख्या का)	नगरों की जनसंख्या (कुल जनसंख्या का)
१९२१	८८·७ प्रतिशत	११·१३ प्रतिशत
१९३१	८७·९ ,,	१२·१ ,,
१९४१	८६·१ ,,	१३·९ ,,
१९५१	८२·७ ,,	१७·३ ,,

नगरों की जनसंख्या में सन् १९४१ से ५१ तक ३·६ प्रतिशत वृद्धि हुई है और इस समय १ लाख से अधिक की जनसंख्या वाले ७५; ५०००० से १ लाख वाले १११; २०००० से ५०००० वाले ४०१ तथा १०००० से २०००० वाले ८५६ नगर हैं। भारत के १० प्रमुख बड़े-बड़े नगरों की जनसंख्या में इस प्रकार वृद्धि हुई है।

नगर	जनसंख्या में वृद्धि (लाखों में)			
	१९०१-३०	१९३१-४०	१९४१-५०	१९५१
१. कलकत्ता	६·०	—	—	४५·८
२. बम्बई	५·६	३·९	११·४	२८·४
३. मद्रास	१·६	१·३	६·४	१४·२
४. देहली	२·३	२·२	७·२	१३·८
५. हैदराबाद	०·२	२·७	३·५	१०·९
६. अहमदाबाद	१·३	२·८	२·९	७·९
७. बंगलौर	१·५	१·०	३·७	७·८
८. कानपुर	०·४	२·४	२·२	७·१
९. पूना	०·९	०·८	२·४	५·९
१०. लखनऊ	०·२	१·१	१·१	५·०

शहरों की आबादी बढ़ने से निम्नलिखित प्रभाव होते हैं—

१—देश के व्यापार और उद्योग-धन्धों का विकास होता है, शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ती है, ग्रामीण मनुष्य व्यापार और नौकरी की खोज में नगरों में आते हैं अतः नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या देश में व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का विकास का द्योतक है।

२—पुनर्जन्म की दर (Rates of Reproduction) घट जाती है क्योंकि प्रारम्भ में अधिकतर ग्रामीण अपनी स्त्रियों को ग्रामों में छोड़कर नगरों में बसते हैं।

३—मनुष्य अधिक प्रगतिशील विचारों के हो जाते हैं जिससे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार बड़ी सरलता से हो सकते हैं।

भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात

भारत की जनसंख्या में स्त्री-पुरुष का अनुपात एक विशेष आर्थिक महत्व रखता है क्योंकि भारत में उच्च तथा मध्यवर्ग की अधिकांश स्त्रियों का उत्पादन में कोई हाथ नहीं रहता। भारत में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है। सन् ५१ की जन-गणना के अनुसार प्रति १००० पुरुषों के पीछे स्त्रियों की सख्या ९४७ है। पिछले ४० वर्षों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो की संख्या में कमी हुई है। जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

वर्ष	स्त्रियों की संख्या (१००० पुरुषों के पीछे)
१९११	९५४
१९२१	९५६
१९३१	९५१
१९४१	९४६
१९५१	९४७

किन्तु भारत के नगरों में इधर कुछ वर्षों से स्त्रियों की संख्या में कुछ वृद्धि हो रही है। सन् १९२१ में १००० व्यक्तियों के पीछे केवल ८४७ स्त्रियाँ थीं, १९३१ में

८३९, १९४१ में ८३०, किन्तु सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार यह संख्या बढ़कर ८६० तक पहुँच गई थी। इसके विपरीत ग्रामों में स्त्रियों की संख्या में कमी हुई है जैसा कि निम्न आँकड़ों से स्पष्ट है। सन् १९२१ में प्रति १००० पुरुषों के पीछे ९७२ स्त्रियाँ थी, सन् १९३१ में ९६९, सन् १९४१ में ९६६ और सन् १९५१ में भी केवल ९६६ स्त्रियाँ ही थीं।

भारत के निम्नलिखित प्रदेशों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है—

राज्य	स्त्रियों की सख्या प्रति (१००० पुरुष)
कच्छ	१०७९
मद्रास	१०५४
मनीपुर	१०३६
उड़ीसा	१०४०
त्रिवांकुर-कोचीन	१००८
मध्य प्रदेश	१०१७

आसाम, कुर्ग, पटियाला राज्य-संघ, पंजाब और पश्चिमी बंगाल में १००० पुरुषों के पीछे ९०० से भी कम स्त्रियाँ हैं और सबसे कम निकोबार में ६३८ और देहली में ७६८ हैं। भारतीय नगरों में औसतन स्त्रियों की संख्या ७८७ प्रति १००० पुरुष है। देश के प्रमुख १० नगरों में स्त्री-पुरुष अनुपात इस प्रकार है—

नगर	स्त्रियों की संख्या प्रति (१००० पुरुष)
कलकत्ता	६०२
बम्बई	५९६
मद्रास	९२१
दिल्ली	७५०
हैदराबाद	९८९
अहमदाबाद	७६४
बंगलौर	८८३
कानपुर	६९९
पूना	८३३
लखनऊ	७८३

भारत में स्त्री-पुरुष समान संख्या में न तो जन्म ही लेते हैं और न मरते हैं, इसीलिए स्त्री और पुरुषों की संख्या में उक्त अन्तर रहता है। भारत में सन् १९४१ से १९५० तक १००० बालकों के पीछे मद्रास में ९४८, मध्य प्रदेश में ९३९ बम्बई में ९३५ और उत्तर प्रदेश में ८५७ बालिकाओं ने जन्म लिया। इन्हीं वर्षों में एक वर्ष से कम की आयु वाले बालकों की मृत्यु का लिंग अनुपात इस प्रकार था—मद्रास ८७०, मध्य प्रदेश ८४४, बम्बई ८६६, तथा उत्तर प्रदेश ७९०। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार मद्रास में १००६, मध्य प्रदेश में ९४६, बम्बई में ९८०, उत्तर प्रदेश में ९४१ बालिकाएँ प्रति १००० बालकों के पीछे थीं। भारत में १० वर्ष की आयु तक बालकों की बालिकाओं की अपेक्षा अधिक मृत्यु

होती है परन्तु १५ साल से ४५ वर्ष तक की आयु समूह में सबसे अधिक स्त्रियों की मृत्यु होती है, क्योंकि इसी आयु काल में स्त्रियाँ बच्चों को जन्म देती हैं। भारत में प्रसूति अवस्था में २० स्त्रियों की प्रति १००० पीछे मृत्यु हो जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ स्त्रियों का रहन-सहन का स्तर बड़ा गिरा हुआ है तथा उनका जीवन बड़ा सस्ता समझा जाता है। यहाँ के सामाजिक रीति-रिवाज भी कुछ ऐसे हैं कि बालिकाओं के जन्म को अशुभ माना जाता है। किसी-किसी स्थान पर तो बालिकाओं को जन्म लेते ही समाप्त कर दिया जाता है। विवाह के पश्चात् भारतीय नारी परदे में बन्द रहने के कारण विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाती है। उसका भोजन कम पोषक होता है और वह भी, विशेषतः हिन्दुओं में, कुसमय में पति के खाने के पश्चात् उपलब्ध होता है। स्त्रियों की बीमारी में उनकी चिकित्सा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त मलेरिया, प्लेग, प्रदर, क्षय, ज्वर आदि रोगों का प्रकोप भी स्त्रियों पर अधिक भीषणता से होता है। इन सब कारणों से स्त्रियों की पुरुषों से अधिक मृत्यु होती है और फलतः पुरुषों से स्त्रियों की संख्या कम रहती है।

पेशेवर जनसंख्या का वितरण (Occupational Distribution)

प्रत्येक देश की जनसंख्या का पेशेवर वितरण का वहाँ के आर्थिक विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। सन् १९४१ की जन-गणना के अनुसार ६७·२% व्यक्ति कृषि में, १०·२% खान तथा उद्योगों में और २२·६% व्यापार, यातायात तथा अन्य कार्यों में लगे हुए थे। उद्योगों में लगे हुए व्यक्तियों में से ९०% लघुस्तरीय एवं कुटीर उद्योगों में संलग्न थे तथा शेष १०% आधुनिक बड़े-बड़े उद्योगों में थे। भारत की कुल जनसंख्या के ४३% व्यक्ति उत्पादन-कार्य करते थे तथा ५६% व्यक्ति बालक, वृद्ध, रोगी, अपाहिज और अकर्मण्य थे।

सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार जनसंख्या को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है: (१) कृषि उद्योग पर आश्रित व्यक्ति (Agriculturists) तथा (२) अन्य उद्योगों व कार्यों पर आश्रित व्यक्ति (Non-Agriculturists)। प्रत्येक भाग को चार-चार उपभागों में बाँटा गया है जिनका विवरण निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट है—

(१) **कृषि उद्योगों पर आश्रित व्यक्ति***

विभाग (Category)	संख्या (लाखों में)	
	स्त्री	पुरुष
१. भूस्वामी कृषक व उनके आश्रित	८२२·३	८५१·१
२. कृषक जिनका भूमि पर स्वामित्व नहीं है व उनके आश्रित	१५३·८	१६२·५
३. खेतिहर मजदूर व उनके आश्रित	२२४·१	२२३·९
४. ऐसे भू-स्वामी जो स्वयं खेती न करके किराये पर उठा देते हैं व उनके आश्रित	२८·८	२४·३

* Indian Year Book 1954-55 P. 15

(२) अन्य उद्योगों व कार्यों पर आश्रित जन-संख्या

विभाग (Category)	संख्या (लाखों में)	
	स्त्री	पुरुष
१. कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार का उत्पादन करने वाले व्यक्ति	१७६·३	२००·२
२. वाणिज्य में लगे व्यक्ति	१००·७	११२·३
३. यातायात मे लगे व्यक्ति	२५·०	३१·१
४. अन्य कार्यो व विविध साधनों पर आश्रित व्यक्ति	२०३·२	२२६·५

उक्त तालिकाओ में स्पष्ट है कि भारत में कृषि का प्रभुत्व है जिस पर देश की लगभग ७०% जनसंख्या निर्भर है। यहाँ की लगभग १०·६% जनसंख्या लघुस्तरीय तथा बड़े उद्योगों में लगी है। कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार का उत्पादन करने वाले लगभग ३२४ लाख स्वावलम्बी व्यक्ति है जो विभिन्न उद्योगो में लगे हुए हैं। भारत जैसे विशाल और औद्योगिक संभावनाओं से परिपूर्ण देश की अन्य देशों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय उद्योगों में देश की जनसंख्या का बहुत छोटा भाग कार्य करता है। इस दोष को दूर करने के लिए देश का शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण बहुत आवश्यक है।

जातियों के अनुसार जनसंख्या का विभाजन

सन् १९४१ से पूर्व की समस्त जन-गणनाएँ धर्म के आधार पर अंकित की जाती थीं। किन्तु तत्पश्चात् सरकार ने कुछ कारणवश इस नीति को बदल दिया और धार्मिक आधार को छोड़कर जाति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण किया। भारत की विभिन्न जातियों की जनसंख्या का प्रतिशत निम्नलिखित तालिका में दिया गया है—

वर्ष	हिन्दू	मुस्लिम	सिक्ख	ईसाई	जैन	ट्राइब्स	अन्य
१९३१	६८·२	२२·८	१·२	१·८	·४	२·४	३·९
१९४१	६५·९	२३·८	१·५	१·६	·४	६·६	०·२
१९५१	८४·९	९·९	१·७	२·३	·४	०·४	०·०३

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में ३०·३ करोड़ हिन्दू; ·६२ करोड़ सिक्ख; ·१६ करोड़ जैनी; ·०१ करोड़ बुद्धिस्ट; ३·५ करोड़ मुसलमान; ·८१ करोड़ ईसाई; २६८०१ ज्यू (Jews); ८९१,९३५ ट्राइब्स (आदम जातियाँ) (Tribes); १११,७९१ जोरोस्ट्रियन्स (Zoroastrians) तथा ४९२२८ अन्य जातियों के लोग हैं।

विवाह के आधार पर जनसंख्या का विभाजन

भारत में प्रत्येक १०,००० व्यक्तियों में ५,१३३ पुरुष हैं और ४·८६७ स्त्रियाँ हैं, जिनमें से २५२१ पुरुष (४९·८%) और १८·८६ स्त्रियाँ (३८·८%) अविवाहित हैं अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का ४४·८ प्रतिशत भाग

अविवाहित है। पुरुषों में ४६·८% अविवाहित, ४५·८% विवाहित तथा ५% विधुर हैं और स्त्रियों में ४८·४% विवाहित तथा १२·८% विधवा हैं। तलाक दिये हुए स्त्री-पुरुषों की संख्या १४४,७८६ अर्थात् ०·४% हैं। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार ५ से १४ वर्ष की आयु वाले जन-समूह में २८,३३,००० विवाहित पुरुष, ६१,१८,००० विवाहित स्त्रियाँ, ६६,००० विधुर तथा १,३४,००० विधवाएँ थीं। यद्यपि कानून के विरुद्ध कम उम्र में ९१,५०,००० शादियाँ हुईं किन्तु अब अल्प आयु के विवाहों की दर पहले से कम हो रही है क्योंकि पहले १५ वर्ष से कम आयु वाली विवाहित स्त्रियाँ ९·६ प्रतिशत थीं जो सन् १९५१ में केवल ७·४ प्रतिशत ही रह गई थीं। १५ वर्ष से अधिक आयु वाली अविवाहित स्त्रियाँ केवल ६·४ प्रतिशत थी। इस गणना के अनुसार विधुर और विधवाओं की संख्या में भी कमी हुई है। १९३१ में विधुरों की संख्या ५·६ प्रतिशत थी जो १९५१ में केवल ५ प्रतिशत रह गई और विधवाओं की संख्या सन् १९३१ में १६·१ प्रतिशत से सन् ५१ में १२·८ प्रतिशत रह गई।

विभिन्न आयु समूह (Age Groups)

इसका अध्ययन करने से हमें कार्यव्यस्त जन-संख्या (Working Population) का अनुमान हो जाता है। देश में जितनी जनसंख्या का अधिक भाग कार्य व्यस्त होगा उतनी ही अधिक राष्ट्रीय आय होगी। भारत के समस्त स्त्री-पुरुषों को निम्नलिखित आयु समूहों में वितरित किया गया है—[1]

आयु समूह	पुरुष	स्त्रियाँ
१-४	१·७ करोड़	१·७ करोड़
५-१४	४·४ ,,	४·१ ,,
१५-२४	३·० ,,	३·० ,,
२५-३४	२·७ ,,	२·६ ,,
३५-४४	२·२ ,,	१·९ ,,
४५-५४	१·५ ,,	१·३ ,,
५५-६४	·९ ,,	·८ ,,
६५-७४	·३ ,,	·३ ,,
७५ और उससे अधिक	·१ ,,	·१ ,,
अज्ञात आयु	·०१ ,,	·०१ ,,

१. Indian Year Book 1954-55 pp. 22.

ग्राम और नगरों में विभिन्न आयु समूह के मनुष्यों का वितरण इस प्रकार है—[१]

आयु-समूह	जनसंख्या का प्रतिशत भाग	
	ग्राम	नगर
१. बालक	१३·७	१२·६
२. लड़के, लड़कियाँ	२५·१	२३·२
३. युवा स्त्री-पुरुष	३२·३	३६·५
४. अधेड़ स्त्री-पुरुष	२०·४	२०·१
५. वृद्ध मनुष्य	८·५	७·३

उक्त तालिकाओं से स्पष्ट है कि यदि १५-६० वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों को कार्य करने के योग्य मान लें तो भारत की ४४% जनसंख्या कार्य व्यस्त हो सकती है, जब कि इङ्गलैंड में ४७% है। भारत में अनुमानतः प्रति १००० पुरुषों के पीछे अधिकतर निम्न वर्गों और ग्रामीण क्षेत्रों में ४६५ स्त्रियाँ कार्य करती हैं परन्तु राष्ट्रीय आय केवल कार्य करने योग्य व्यक्तियों की संख्या पर ही निर्भर नहीं होती वरन् उसकी कार्य-अवधि का भी इस पर गहरा प्रभाव होता है। भारत में केवल १००० बालकों में ५४१ ही कार्य करने योग्य बन पाते हैं जिनमें केवल १४ व्यक्ति ६० वर्ष तक जीवित रह पाते हैं। इस प्रकार इन ४५ वर्षों में एक व्यक्ति भारत में केवल ३० वर्ष कार्य कर सकता है जब कि योरोप में औसतन ४० वर्ष कार्य-काल है। यही कारण है कि भारत की राष्ट्रीय आय अन्य देशों की अपेक्षा कम है।

जन्म और मृत्यु दर (Birth and Death Rate)

भारत में जन्म और मृत्यु दर दोनो ही संसार के समस्त देशों में सबसे अधिक है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

देश	जन्म दर	मृत्यु-दर (सन् १९५१)
बेल्जियम	१६·८	१२·६
इङ्गलैंड	१५·९	१२·६
डेन्मार्क	१७ ८	८·८
इटली	१८·१	१०·८
फ्रांस	१९·४	१३·९
आस्ट्रेलिया	२२·९	९·७
अमेरिका	२४·३	९·७
जापान	२५·३	१०·०
भारतवर्ष	२६·६	१५·१

१. Indian Year Book, 54-55 p. 22.

परन्तु भारत जैसे देश में जन्म-दर के सही आँकड़ों का एकत्रित करना बहुत कठिन है क्योंकि यहाँ ⅔ व्यक्ति, बच्चों के जन्म को रजिस्टर तक नहीं कराते। इस प्रकार यदि इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए जन्म-दर और मृत्यु-दर पर विचार किया जावे तो लगभग ४० और २७ होंगे। इसी आधार पर भारत के विभिन्न भागों में निम्नलिखित जन्म और मृत्यु-दर का अनुमान लगाया जाता है।

भारत के विभिन्न भाग	जन्म-दर	मृत्यु-दर
१. केन्द्रीय भाग	४४	३४
२. पश्चिमी भाग	४२	२६
३. उत्तर-पश्चिमी भाग	४१ या ४२	२४, २५ या २६
४. उत्तरी भाग	३८ या ३९	२७ या २८
५. पूर्वी भाग	३८ या ३९	२६, २७ या २८
६. दक्षिणी भाग	३६ या ३७	२१ या २२

भारत में इतनी अधिक जन्म-दर होने के निम्नलिखित सामाजिक और आर्थिक कारण हैं—

१—भारत में उष्ण जलवायु होने के कारण परिपक्वता (Tuberty) शीघ्र होती है। अतः विवाह भी शीघ्र होते हैं और जन्म-संख्या अधिक होती है।

२—भारत में विवाह एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य बन गया है जो प्रत्येक युवक और युवती को करना पड़ता है चाहे आर्थिक स्थिति कैसी ही क्यों न हो। भारत में भिखारी तक को भी विवाह करते देखा गया है।

३—विवाह के अतिरिक्त भारत में सन्तान की असीमित संख्या में लालसा लगी रहती है।

४—बाल-विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित है इससे जन्म-संख्या अधिक होती है।

५—भारतीयों का रहन-सहन का स्तर इतना नीचा है कि उनको अपने परिवार की संख्या बढ़ने की कोई आर्थिक चिन्ता नहीं रहती।

६—अन्त में भारत में सन्तानोत्पत्ति को रोकने का कभी कोई प्रयत्न नहीं करता। किन्तु यदि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारत की जन्म-दर का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात हो जाता है कि जन्म-दर उत्तरोत्तर घटती जा रही है। जैसा कि नीचे की तालिका में स्पष्ट है—

वर्ष	जन्म-दर (प्रति १०००)
१९०१-१०	३८·२
१९११-२०	३६·९
१९२१-३०	३३·७
१९३१-४०	३३·८
१९४७	२६·६
१९४८	२५·४
१९४९	२६·७
१९५०	२४·८

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह कमी विवाहों की संख्या में कमी या इन्द्रिय-निग्रह अथवा अन्य कृत्रिम निरोधकों का प्रयोग करने के कारण हुई है। वरन् इसका प्रधान कारण पौष्टिक भोजन का अभाव है। "राष्ट्रीय योजना समिति" के अनुसार इस गिरती हुई जन्म-दर के निम्नलिखित कारण हैं—

१—अपर्याप्त व अपौष्टिक आहार से शरीर में आवश्यक विटामिनों तथा खनिजों की कमी हो जाती है जिससे प्रजनन-शक्ति घट जाती है।

२—अपौष्टिक भोजन से बाल-मृत्यु अधिक होती है फलतः भावी युवकों के बचपन में ही मर जाने के कारण, प्रजनन का अवसर नहीं मिल पाता जिससे जन्म-दर कम हो रही है।

३—अपौष्टिक भोजन से मृत्यु अधिक होती है और इस प्रकार जन्म-दर घट जाती है।

४—प्रसव-काल में छूत की बीमारियाँ होने से भी जन्म-दर घट जाती है।

५—इसके अतिरिक्त स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम होने के कारण अज्ञात रूप से प्रजनन-शक्ति कम हो जाती है।

मृत्यु-दर

जब देश में अधिक जन्म-दर होती है तो मृत्यु-दर भी अधिक होती है इसलिए भारत में बाल-मृत्यु की संख्या बहुत ऊँची है। यहाँ जितने बालक जन्म लेते हैं उनका लगभग $\frac{1}{4}$ भाग १ वर्ष की आयु के अन्तर्गत ही मृत्यु के मुँह में पहुँच जाता है। बालकों की अधिक मृत्यु के मुख्य कारण बाल-विवाह, कुशल दाइयों का अभाव, माताओं का अज्ञान, बच्चों को दूध का कम मिलना आदि हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-सी माताएँ गृहकार्य में व्यस्त रहने के कारण बालकों का पालन-पोषण नही कर पातीं और उनको तरह-तरह की औषधियाँ खिला-खिला कर अपना कार्य करती रहती हैं। भयानक निर्धनता तथा अत्यधिक फैलने वाली बीमारियाँ भी हमारे बालकों को अधिक संख्या में समाप्त कर देती हैं। सन् १९५० में प्रति १००० जन्म लेनेवाले बच्चों में १२७·१ की मृत्यु हो गई थी।

इसके अतिरिक्त भारत में स्त्रियों की मृत्यु-संख्या भी बहुत ऊँची है। जिसके निम्नलिखित कारण हैं—

१—बाल-विवाह अथवा अपरिपक्व अवस्था में विवाह होने के कारण बहुत सी स्त्रियाँ शीघ्र ही मर जाती हैं।

२—सन्तानोत्पत्ति से पूर्व तथा उपरान्त की अवस्था में अधिकांश स्त्रियों को उचित विश्राम एवं पौष्टिक आहार नहीं मिल पाता।

३—प्रसव-काल में स्त्रियों को उचित सहायता नहीं मिल पाती क्योंकि भारत में प्रसूति-गृहों का, कुशल लेडी डाक्टरों तथा कुशल और अनुभवी दाइयों का सर्वथा अभाव ही रहा है।

भारत में अधिकांश मृत्युएँ विशेष महामारियों जैसे चेचक, म्यादी ज्वर, हैज़ा, मलेरिया, दस्त और क्षय आदि के कारण होती हैं। सन् १९४९ में भारत के

मुख नगरों में महामारियों के आधार पर मृत्यु-दर की गणना की गई थी जो इस प्रकार है:—

रोग	मृत्यु-दर		
	कलकत्ता	बम्बई	मद्रास
१. क्षय (T. B.)	१२०	११३	६९
२. दस्त (Dysentry and Diarrhoea)	१५६	७९	३०१
३. म्यादी ज्वर (Typhoid)	५८	५३	१०
४. हैजा (Cholera)	८४	—	१९

किन्तु भारत में गत वर्षों में जन-स्वास्थ्य, महामारियों को रोकने, स्त्रियों को प्रसव-काल में उचित सहायता आदि के सम्बन्ध में सरकार के द्वारा विशेष सुधार हुए हैं जिससे मृत्यु दर उत्तरोत्तर कम होती रही है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	मृत्यु-दर
१९०१-१०	३४
१९११-२०	३४
१९२१-३०	२५·३
१९३१-४१	२३
१९४७	१९·७
१९४८	१७·१
१९४९	१५·८
१९५०	१४

भारत में जन-संख्या की समस्या (Population Problem in India)

आज भारत में जन-संख्या की समस्या के विषय में मुख्यतः दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं (१) (निराशावादी) एलार्मिस्ट विचारधारा (Alarmist View), और (२) यथार्थवादी विचारधारा (Realist View)। एलार्मिस्ट तो यह विश्वास करते हैं कि भारत में अत्यधिक जन-संख्या है और इसको यों ही रहने दिया गया तो देश में माल्थस के अनुसार महामारी, अकाल और युद्ध आदि होंगे और जन-संख्या कम होगी। डाक्टर राधाकमल मुकर्जी और प्रोफेसर वाल्टन आदि ने यह अनुमान किया कि लगभग १२% जन-संख्या के लिए भारत में खाद्यान्न की कमी है। श्री गोपालास्वामी, भारतीय जन-गणना कमिश्नर के अनुसार हमारी जन-संख्या सन् १९६९ तक लगभग ४५ करोड़ हो जावेगी जब कि इस बढ़ती हुई जन-संख्या की खाद्यान्न की आवश्यकताओं को पूरा करने के हेतु उत्पादन बढ़ाने के हमारे सारे प्रयत्न विफल हो जावेंगे। ऐसी परिस्थिति से बचने के लिए उन्होंने नियन्त्रित मातृत्व का सुझाव देते हुए कहा है कि भारतीय नारी को सन्तानोत्पत्ति में नियन्त्रण रखना चाहिए और

भारत की जन्म-दर को ४० प्रति १००० से कम करके २३ प्रति १००० तक करने का प्रयत्न करना चाहिए और मृत्यु-दर १७ या १८ प्रति १००० रहना चाहिए। ब्रिटिश सरकार भी इसी विचारधारा की थी और उसका मत था कि भारत की निर्धनता का एकमात्र कारण जन-संख्या की वृद्धि है। William Vogt ने अपनी पुस्तक "Road to Survival" में लिखा है कि "ब्रिटिश सरकार ने भारत में शान्ति और सुरक्षा स्थापित की, 'अकाल रोके' और साफ-सुथरा रहना सिखाया, जिससे मृत्यु-दर में काफी कमी हुई किन्तु भारतीय बड़ी लापरवाही से सन्तानोत्पत्ति करते रहे।" Vogt तथा उसके अनुयायी डाक्टर चन्द्रशेखर के इस मत की "कि स्त्री-संभोग भारत का एक राष्ट्रीय खेल है" (Sexplay is the National sport in India), ब्राज़ील के लेखक De Castro ने कडी आलोचना की है।

भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का मत था कि कृषि और लघु स्तरीय व कुटीर उद्योगों के विकास से भारत आज की जन-संख्या से दुगुनी जन-संख्या का पालन-पोषण कर सकता है। इस विषय में प्रोफेसर कौलिन क्लार्क (Prof. Colin Clark) का विचार है कि यदि उसके देश ने माल्थस की शिक्षाओं का अनुसरण किया होता तो आज कुछ ही व्यक्ति जीवित होते और देश किसी योरोपीय शक्ति के अधीन होता और लगभग २०० वर्ष पूर्व जैसी सामाजिक और आर्थिक स्थिति होती। फ्रांस ही ऐसा देश है जहाँ माल्थस की शिक्षाओं का कुछ प्रभाव पड़ा, जिससे वह देश जो सन् १७९८ ई० में संसार का सबसे शक्तिशाली देश था आज कुछ नहीं के बराबर रह गया है। इसके विपरीत ग्रीक, डच, इंगलैण्ड और जापान में जन-संख्या की वृद्धि से उल्लेखनीय प्रगति हुई है। औद्योगिक देशों में जन-संख्या की वृद्धि से कोई असन्तोषजनक समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वे देश अपनी वस्तुओं के बदले अन्य देशों से खाद्यान्न प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु प्रो० क्लार्क के इस मत की सर चार्ल्स डार्विन ने जो खाद्य-समस्या को प्रमुख समझते हैं, बड़ी कड़ी आलोचना की है।

किसी भी देश की जन-संख्या में निम्नलिखित ३ अवस्थाओं में परिवर्तन होता है।

१—जब जन्म और मृत्यु-दर पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं होता तब जन-संख्या की वृद्धि होती है।

२—शिक्षा और ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ अपरिपक्व और असामयिक मृत्यु की संख्या में भारी कमी होती है और जन-संख्या में बड़ी तीव्र गति से वृद्धि होती है।

३—जब किसी देश में सन्तान-निरोधक उपायों का ज्ञान फैलता है तब जन्म-दर पर काफी नियन्त्रण हो जाता है और जन्म-दर का मृत्यु-दर पर आधिक्य कम होकर जन-संख्या स्थिर रहती है अथवा घटने लगती है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार भारत की जनसंख्या की वृद्धि द्वितीय अवस्था में हुई है अर्थात् शिक्षा और ज्ञान की वृद्धि से भारत में अपरिपक्व और असामयिक मृत्यु की संख्या घट जाने से जनसंख्या बढ़ रही है।

अतः भारत जैसे अर्ध-विकसित देशों में जनसंख्या की समस्या का यथार्थवादी (Realistic) अध्ययन व हल होना आवश्यक है। जनसंख्या की वृद्धि से देश की उत्पादन शक्ति, जो वहाँ के निवासियों के ऊपर राष्ट्रीय सिद्धान्तों के मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर निर्भर है, बढ़ भी सकती है और घट भी सकती है। इस कथन से सभी सहमत हैं कि जीवन-स्तर के ऊँचा होने से परिवार का सीमित होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः भारतीयों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को बढ़ाने की ही वास्तविक समस्या है और इसी दृष्टिकोण से भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या को तुरन्त रोकने की आवश्यकता है।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के उपाय

१. औद्योगीकरण—

अधिक जनसंख्या की समस्या को हल करने का एक उपाय तीव्र-गति से औद्योगिक विकास करना है। प्रो० कौलिन क्लार्क इसके बहुत पक्ष में हैं। राष्ट्रीय आय-समिति के विचार से भारत की राष्ट्रीय आय सन् १९४८ से ५१ तक स्थिर रही है। भारत के योजना कमीशन ने प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास को विशेष महत्व दिया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारत की अत्यन्त निम्न उत्पादन शक्ति, कम बचत और उद्योगों में कम पूँजी लगाने की शक्ति आदि पर विशेष महत्व देते हुए परिवार योजना और जनसंख्या पर नियन्त्रण करने पर अधिक बल दिया है। यह सत्य है कि आज भारत में औद्योगीकरण की बहुत गहन आवश्यकता है और यह जनसंख्या की वृद्धि की गति को कम करने के बिना संभव नहीं है।

२. प्रवासन (Emmigration)—

दूसरा उपाय जनसंख्या का अन्य स्थानों को प्रवासित होना है। घनी आबादी वाले क्षेत्रों से मनुष्यों को कम आबादीवाले क्षेत्रों में चले जाना चाहिए जहाँ रहने का स्तर ऊँचा हो। डॉ० चन्द्रशेखर ने अपनी "Hungry People and Empty Lands" नामक पुस्तक में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास अधिकारी के अन्तर्गत समस्त विश्व की जनसंख्या नीति का उद्घाटन करने की अपील की है। इस नीति द्वारा संसार की जनसंख्या की असमानता को दूर कर देना चाहिए। किन्तु यह सुझाव आज की परिस्थितियों में उचित नहीं है। प्रो० दन्तवाला के शब्दों में "Moral case for a planned emmigration of hungry people to empty lands is a irrefutable"। हमारे विचार से आज संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ भारतीयों का स्वागत हो और उनके बसने के लिए पर्याप्त साधन हों। इसके अतिरिक्त आज संसार की राजनीतिक परिस्थितियाँ भी जनसंख्या के प्रवास के पक्ष में नहीं हैं। बहुत से विद्वान् अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि समस्त संसार में २४० लाख वर्गमील ऐसा क्षेत्र है जिस पर खेती होती है जोकि डेनिश उत्पादन एवं उपभोग स्तर के अनुसार १००० करोड़ २० लाख मनुष्यों के पालन-पोषण के लिए

पर्याप्त है जबकि आज समस्त संसार में केवल २३० करोड़ मनुष्य रह रहे हैं। इस प्रकार संसार की जनसंख्या के बढ़ने का बहुत अधिक क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त प्रो० कौलिन क्लार्क के मतानुसार आज आवश्यकता इस बात की है कि, डेन्मार्क की भाँति जो बहुत अधिक घना बसा है किन्तु फिर भी उसकी उत्पादन-शक्ति संसार में सबसे अधिक है, संसार के समस्त देशों की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाया जाय। भारत में ७०६ मनुष्य प्रति १००० कृषि पर निर्भर हैं और वे इतना खाद्यान्न भी उत्पन्न नहीं करते जो १००० मनुष्यों के लिए पर्याप्त हो जबकि अमेरिका में १२८ व्यक्ति १००० व्यक्तियों के लिए उत्पन्न करते हैं और कुछ विदेशों को निर्यात भी कर देते हैं। भारत में प्रति व्यक्ति २·५ एकड़ भूमि आर्थिक इकाई मानी जाती है किन्तु अभाग्य-वश यहाँ केवल ·७ एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति है। अतः शीघ्र ही हमारे लिये कृषि, कुटीर उद्योग और बड़े उद्योगों के उत्पादन में अधिक-से-अधिक वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है।

३. सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपाय (Artificial Birth Control)—

सन् १९५१ की जन-गणना रिपोर्ट में जन-गणना कमिश्नर ने कुटुम्ब योजना की प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया है। योजना आयोग भी इस बात से सहमत है कि रहन-सहन के स्तर में सुधार होने से जन्म-दर कुछ कम हो जावेगी। परन्तु जनसंख्या के इसी गति पर वृद्धि होने पर जीवन-मान में सुधार होना सम्भव नहीं है। जन-गणना कमिश्नर ने नियन्त्रित मातृत्व की भी सिफारिश की है अर्थात् जनसंख्या के स्थिर रखने का सुझाव दिया है। परन्तु "क्या वास्तव में स्थिर जन-संख्या होने से आर्थिक विकास हो सकेगा ?" हमारे विचार से तो नहीं होगा।

जग-गणना कमिश्नर ने विभिन्न प्रकार के गर्भ-निरोध के साधनों को प्रयोग करने के लिए भी सुझाव दिया है। डॉ० स्टोन के "Safe Period Method" का जो सस्ता और उपयुक्त भी है, उपयोग करने की सलाह दी है किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार Safe Period Method एक बड़ा भारी प्रपंच है क्योंकि अपौष्टिक तथा अपर्याप्त भोजन पाने वाली स्त्रियों का मासिक धर्म (Mensuration) नियमित रूप से नहीं होता है। इसके अतिरिक्त गर्भ-निरोध के साधन आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाये है क्योंकि यह साधन मँहगे हैं तथा इनके विरुद्ध धार्मिक भावना का प्रचार है। साधारणतया जनता भी इनके उपयोग का तरीका नहीं जानती है और ऐसे औषधालयों व अस्पतालों की भी कमी है जो इनके सम्बन्ध में जनता को सलाह और निर्देश दे सकें। इसके अतिरिक्त हाल ही में हुई खोजों से यह पता चला है कि गर्भ-निरोध साधनों के प्रयोग से आवश्यक रूप में गर्भ-निरोध नहीं होता क्योंकि बहुधा यह देखा गया है कि जो लोग इन साधनों का निरन्तर प्रयोग करते रहे हैं उनके भी सन्तानें हुई हैं। अतः गर्भ-निरोध के लिए इनसे भी अधिक आवश्यक आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना है, जिसके लिए कुछ शिक्षा और अधिक आय तथा सफाई और एकान्त

आवश्यक है। प्रजनन की कमी की दो बातों पर निर्भर होती है (१) गर्भ-निरोध के प्रभावशाली साधनों की प्राप्ति तथा (२) मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति कम करने की इच्छा।

इस क्षेत्र में निःसन्देह केन्द्रीय सरकार ने पंचवर्षीय योजना में अस्पतालों के लिए, स्वास्थ्य केन्द्रों के लिए, निःशुल्क सलाह देने के लिये प्रचार और खोज इत्यादि के लिए ६५ लाख रुपया व्यय करने की व्यवस्था की थी। किन्तु इन सब प्रयत्नों के बाद भी यह आशा नहीं की जा सकती है कि निकट भविष्य में भारत की जन्म-दर में विशेष कमी होगी क्योंकि इन सब प्रयत्नो की सफलता जनता के कुटुम्ब-नियोजन कार्यों का समर्थन करने पर निर्भर है। किन्तु अब तक का हमारा अनुभव है कि कुटुम्ब-नियोजन की प्रणाली भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अधिक सफल नहीं हो पाई। नई दिल्ली के Director of Maternity & Child—Welfare Bureau ने इस विषय में कहा कि "Some people think that in India Women are crying out for Birth Control which is not true"। उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री ने भी कुटुम्ब नियोजन सम्मेलन में इस विषय पर अपने भाव प्रकट करते हुए कहा कि "उत्तर प्रदेश में अब तक १०६७ पति-पत्नी से भिन्न-भिन्न सम्पर्क किया गया जिनमें से ६०२ पति-पत्नियों के जोड़ों को कुटुम्ब नियोजन के विषय में निर्देश दिये गए जिनमें से केवल २% ने इनका नियमित रूप से पालन किया, ३.६% ने अनियमित रूप से पालन किया और शेष ६४·४% ने इनकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया।"

खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के दृष्टिकोण से गर्भ-निरोध जनसंख्या की समस्या का कोई सही हल नहीं है। गर्भ-निरोध शारीरिक शास्त्र और प्रचार का विषय न होकर समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का विषय है। एक सुखी परिवार और उसकी इच्छा ही आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वास्तव में भारत की जनसंख्या की समस्या केवल अंकगणित की समस्या नहीं है परन्तु ऐसे कारणों को जिनसे भारत के आर्थिक विकास होने में अड़चनें पड़ी हैं जानने और उनके निवारण करने की तथा समाज-सुधार की समस्या है। तीव्र गति से भारत में औद्योगीकरण परोक्ष रूप से जन्म-दर घटा सकता है। Staley के शब्दों में "Urban life which is characteristic of modern economy, makes it less convenient to rear large families."

इसलिए हमें शीघ्रातिशीघ्र अपने ग्रामों में नागरिक जीवन की सारी सुविधाएँ जैसे बिद्युत, अच्छे घर तथा शिक्षा संस्थाएँ आदि उपलब्ध करनी हैं। यदि भारत के प्राकृतिक और आर्थिक साधनों का समुचित उपयोग किया जाय तो भारत की जन-संख्या कोई कठिन समस्या नही रह जावेगी। हमें शीघ्र-से-शीघ्र अपने देश का आर्थिक विकास बड़ी तीव्र गति से करना है और बिना सोचे-विचारे जन-संख्या को नियन्त्रित करने में अपनी शक्ति का ह्रास नहीं करना है। हमें अपने पूर्वजों की नीतियों को अपनाना चाहिए। अधिक काल तक शिक्षा, अधिक आयु में विवाह तथा ब्रह्मचर्य

और संयम आदि के पालन करने से जन-संख्या की दर में अवश्य ही कमी हो जावेगी। परन्तु संयमशीलता कोई सरल कार्य नहीं क्योंकि हममें से अनेक के जीवन में इतना अनुशासन नहीं है जिससे इस दिशा में सफलता प्राप्त की जा सके। "Self restraint and not self indulgence is the best way of controling population but unfortunately the best way is not always the easiest way."

अतः आज भारत में गर्भ-निरोध तथा कुटुम्ब-नियोजन के झमेले में पड़ना जन-संख्या की समस्या का सही हल नहीं है वरन् इस समस्या का हल देश के आर्थिक विकास, औद्योगीकरण, उत्पादन-वृद्धि और समाज-सुधार में निहित है।

अध्याय ४

सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ

SOCIAL AND RELIGIOUS INSTITUTIONS

प्रत्येक देश के आर्थिक विकास पर वहाँ के सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं एवं समाज के रीति-रिवाजों का बहुत प्रभाव पड़ता है। देश की भौगोलिक स्थिति की भाँति वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं का आर्थिक विकास में एक विशिष्ट स्थान है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और वह जिस सामाजिक वातावरण में रहता है, उससे उसके विचार और कार्य-शक्ति को प्रेरणा मिलती है। देश के उद्योग-धन्धों, व्यवसाय, सम्पत्ति का वितरण तथा अन्य क्रिया-कलापों पर वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार, संसार में धार्मिक और आर्थिक संस्थाएँ सबसे बड़ी निर्माणकारी संस्थाएँ रही हैं। इतिहास भी इसका साक्षी है। रूस की क्रान्ति, जो कि राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति कही जा सकती है, आज एक नये आर्थिक ढाँचे का निर्माण कर रही है। सम्भवतः, इन सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं ने भारत के आर्थिक विकास को संसार के समस्त देशों से अधिक प्रभावित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के पूर्व यहाँ के सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण का ज्ञान प्राप्त कर लेना परमाश्यक है।

भारत में निम्नलिखित सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का आर्थिक विकास में विशेष हाथ रहा है:—

१—जाति-प्रथा (Caste System)

२—संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System)

३—उत्तराधिकार नियम (Laws of Inheritance and Succession)

४—धार्मिक भावनाएँ (Religious beliefs)

५—ग्राम पंचायतें (Village Panchayats)

जाति-प्रथा (Caste System)

भारत की सामाजिक संस्थाओं में जाति-प्रथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इम्पीरियल गज़ट आफ इण्डिया के अनुसार जाति-प्रथा की परिभाषा इस प्रकार है "उन कुटुम्बियों का समुदाय जिनका एक नाम है, जो साधारणतया एक विशेष प्रकार का धन्धा करते हैं, तथा जिनका एक ही पूर्वज पूज्य देवता होता है·····एक जाति

कहलाती है।" श्री सप्रे के अनुसार ऐसे जन-समूह जो आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार करते हैं, जाति कहलाते हैं। "जाति कुटुम्बों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका सम्बन्ध या तो किसी विशेष व्यवसाय से होता है या जिसके सदस्य अपने को किसी पौराणिक पूर्वज का वंशधर मानते हैं। ऐसे समुदाय के सदस्य अपनी जाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, क्योंकि जाति के अन्तर्गत ही अन्य उपजातियाँ होती हैं, जो वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा परस्पर सम्बद्ध होती हैं।"[1]

जाति-प्रथा की उत्पत्ति के विषय में लोगों का एकमत नहीं है। साधारणतया जाति का विकास आर्य लोगों में हुआ था। जहाँ-जहाँ वे गये, वहीं आदि काल से जाति-प्रथा देखने को मिलती है। वेद, मनुस्मृति तथा गीता इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, जिसकी उत्पत्ति सम्भवतः आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर भी हुई थी। इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति के गुण एवं कर्मों के आधार पर उनको ४ वर्णों में—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—विभाजित किया गया था। प्रारम्भ में तो एक वर्ण दूसरे वर्ण की सीमा का उल्लंघन करके वर्ण परिवर्तन कर सकता था, परन्तु बाद में यह व्यवस्था बहुत जटिल बन गई और जातियों और उपजातियों का बनना प्रारम्भ हो गया। व्यक्तियों व उनके व्यवसाय के आधार पर उपजातियों का नामकरण होने लगा, तथा वाणिज्य, चमार, लोहार, जुलाहा, धोबी, बढ़ई आदि जातियाँ बनीं, जिनमें गुण और कर्मों की प्रधानता केवल नाममात्र को ही रह गई थी। इस प्रकार आज देश के विभिन्न प्रदेशों में असंख्य जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं, जिनका मुख्य आधार उद्यम ही है। भारत की जाति-प्रथा की उत्पत्ति के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक तर्क दिये हैं। श्री जेम्स मिल के अनुसार जातियों का निर्माण श्रम-विभाजन के अनुसार किया गया था। श्री एम० सेनार्ट के अनुसार "प्राचीन आर्यों का विकास साधारणतया जाति के ही रूप में हुआ, जो कि उनके भारत में आने पर उस समय की परिस्थितियों से संघर्ष करने के फलस्वरूप हुआ।" इस सम्बन्ध में इंगलैंड की प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कु० वीरा एन्स्टे का विचार है कि "इसी प्रकार की जाति-प्रथा के अंकुर रोम तथा ग्रीस में भी जमे थे, किन्तु वहाँ के पुरोहितों के आजन्म अविवाहित रहने के कारण विभिन्न पेशे जातियों का रूप न ले सके। परन्तु भारत में ब्राह्मणों की सत्ता समाज पर आरूढ़ रही, जिससे वे समाज के नेता बन बैठे और अपने निहित स्वार्थों के कारण इस कुप्रथा को स्थायी रूप से जटिल करते रहे हैं।"[2] अनेकों ऐतिहासिक परिवर्तनों के बाद भी जाति-प्रथा भारतीय समाज में अपना अस्तित्व जमाए हुए है। जाति-प्रथा के इस अस्तित्व तथा प्रसार के चाहे जो कुछ कारण रहे हों, पर यह निर्विवाद है कि भारतीय जीवन और यहाँ के आर्थिक-विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

---

1. Indian Economics : Chatterji pp. 80.
2. The Economic Development of India by Vera Anstey pp. 49. quoted in 'भारत का आर्थिक विकास' by Piarey Lal Rawat p. 19.

जाति प्रथा के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Caste System)

जाति प्रथा के गुण (Advantages)—

१—इस प्रथा द्वारा समाज की शुद्धता स्थिर रहती है, तथा सांस्कृतिक सहयोग स्थापित होता है।

२—इस प्रथा से श्रम-विभाजन की प्रगति हुई है, क्योंकि इसके कारण कुछ ऐसे भिन्न-भिन्न वर्ग बन गये, जो पूर्णरूपेण संगठित थे और अपने पैतृक व्यवसाय को अबाधित रखते थे, जिससे कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। इसी प्रथा के फल-स्वरूप आज भी भारत में कुटीर उद्योगों का अस्तित्व है।

३—प्राचीन काल में शिक्षण संस्थाओं का पूर्णतः अभाव था। ऐसी अवस्था में जाति प्रथा ने ही व्यक्तियों की कार्य-कुशलता की वृद्धि में सहयोग दिया। वर्ण-भेद के कारण पुत्र अपने पिता से परम्परागत कारोबार सीखता था, जिससे स्वभावतः उसे वंशानुगत कार्यकुशलता प्राप्त होती थी।

४—जाति-प्रथा से व्यक्ति के भविष्य का निश्चय उसके जन्म से ही हो जाता है, और बचपन से ही इधर-उधर व्यर्थ में अपना समय, धन और शक्ति नष्ट न करके अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की चेष्टा करता है, जिससे उसे बड़े होने पर व्यवसाय या नौकरी की खोज में नहीं भटकना पड़ता है।

५—समाज के इस प्रकार जातियों में विभाजित होने से ग्राम में स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास हुआ, जिससे शान्तिपूर्ण वातावरण की स्थापना हुई और आर्थिक विकास में वृद्धि हुई।

६—इस प्रथा से विभिन्न जातियों में सहकारिता रही, क्योंकि प्रत्येक जाति एक-दूसरे पर निर्भर थी।

७—जाति-प्रथा के कारण विदेशियों के आक्रमण से सामाजिक संगठन को विशेष हानि नहीं पहुँच पाई, जिससे समाज में कभी भी भय, निराशा और अशांति नहीं फैल पाई थी।

८—इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा का व्यक्तिगत लाभ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से कुकर्म करने से डरता रहा। इस प्रकार इस प्रथा ने समाज की अवनति होने से रोकी।

जाति-प्रथा के दोष (Disadvantages)

इस प्रथा के जहाँ उपरोक्त लाभ हैं, वहाँ अनेकों हानियाँ भी हैं क्योंकि यह लाभ तो केवल प्राचीन काल में ही होते रहे थे। आज तो जाति-प्रथा का वास्तविक रूप इतना बिगड़ चुका है कि यह देश की आर्थिक उन्नति में किसी प्रकार की सहायता न करके तरह-तरह के रोड़े अटकाती-सी प्रतीत होती है। भारत के उप-राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् का इस प्रथा के विषय में मत है कि "जाति-प्रथा जो सामाजिक पतन को रोकने के लिए प्रारम्भ की गई थी, दुर्भाग्यवश

आज सामाजिक उन्नति में ही बाधक हो गई है।[1] भारत की जाति-व्यवस्था व्यक्तिगत साहस, मौलिकता, दस्तकारी और प्रतिभा के लिए गम्भीर बाधक सिद्ध हुई है। इससे समाज छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो गया है जिससे भाईचारे और सहयोग की भावना समाप्त हो गई है। हिन्दुओं की छुआछूत की भावना सदा राष्ट्रीय जीवन के विकास में बाधक रही है। जाति-प्रथा की मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं—

१—इस प्रथा के अनुसार समाज का श्रम-विभाजन दोषपूर्ण होता है। फलतः सम्पत्ति के वितरण में भारी असमानता रहती है।

२—जाति-प्रथा ने श्रम और पूँजी की गतिशीलता में बाधा उपस्थित की है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति अपने पारिवारिक तथा जाति-कार्य को ही करने में दक्ष होता है और उसी कार्य तक सीमित रहता है। एक जाति के व्यक्ति अन्य जाति के व्यवसायों में पूँजी नहीं लगा पाते। उदाहरणतया एक ब्राह्मण चमार तथा धोबी के कार्य में अपनी पूँजी नहीं लगाता। फलतः देश की पूँजी की गतिशीलता बहुत कम रही, जिसके कारण देश में औद्योगिक विकास न हो पाया। अतः जाति-प्रथा देश के औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े होने का परोक्ष रूप से एक मुख्य कारण है।

३—जाति-प्रथा बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना में भी बाधक रही है, क्योंकि श्रम की माँग की उचित रूप से प्राप्ति नहीं हो पाती तथा श्रम-विभाजन कुशलता से नहीं होता, क्योंकि विभिन्न जातियों के व्यक्ति मिल में एक साथ कार्य करना नहीं चाहते।

४—बड़े-बड़े मिलों में जाति-भेद मजदूरों के संगठन में भारी बाधक होता है। मजदूरों के असंगठित होने के कारण पूँजीपति उनका मनमाने रूप में शोषण करते हैं तथा कम-से-कम वेतन देते है, जिससे मजदूरवर्ग गरीब, अस्वस्थ तथा अकुशल हो जाता है।

५—जाति-प्रथा से श्रम की महानता (Dignity of labour) को ठेस पहुँचती है क्योंकि ऊँची जाति के मनुष्य नीची जातिवालों के कार्य करने के विचार-मात्र से ही घृणा करते हैं। भारत में उदाहरणतया एक ब्राह्मण अत्यन्त दीन दशा में रहना तथा भीख माँगना तो पसन्द करेगा, पर कोई कार्य कर अपना पेट पालना नहीं चाहता।

६—जाति-प्रथा से ऊँची जातिवालों में व्यर्थ का अभिमान उत्पन्न हो गया है, जिससे वे अन्य जातियों को सदा नीची दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार जातियों में सहकारिता की जगह घृणा तथा असमानता की ही प्रधानता रहती है।

---

1. "Unfortunately this device to prevent the social organisation from decay ultimately prevented it from growing." Quoted from "Indian Philosophy" by Dr. Radha Krishnan.

७—इसके अतिरिक्त इस प्रथा से जाति का नैतिक पतन होता है तथा विवाह का क्षेत्र सीमित होने के कारण दहेज की कुप्रथा, आत्म-हत्या तथा शिशु-हत्या की समाज में बाढ़-सी आ जाती है।

८—जीव-शास्त्र के दृष्टिकोण से एक ही जाति में परस्पर विवाह होने से जाति का पतन होता है, क्योंकि इससे स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों का स्वास्थ और शारीरिक शक्ति का ह्रास होता रहता है जिससे कार्य-क्षमता कम हो जाती है।

जाति-प्रथा का पतन

भारत में पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क, रेल तथा अन्य यातायात के साधनों, महात्मा गांधी के हरिजन आन्दोलन आदि के कारण तथा समाज-सुधारकों के विशेष प्रयत्न से इस कुप्रथा का प्रभाव कम हो रहा है। शिक्षित और विचारशील व्यक्ति इस प्रथा की हानियों के कारण इसका अंत करने में प्रयत्नशील है। भारतीय सरकार के द्वारा ही छूआछूत का अंत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। राष्ट्रीय सरकार ने कुछ ऐसे कानून भी बनाये है जो छुआछूत और जाति-प्रथा के नष्ट होने में सहायक हो रहे हैं। बड़ी संख्या में छात्र-वृत्ति द्वारा तथा उन्हें सरकारी नौकरियों में विशेष सुविधा देकर हरिजनों तथा अन्य पददलित जातियों में सरकार द्वारा शिक्षा का प्रचार हो रहा है। बेरोजगारी तथा अन्य आर्थिक कठिनाइयों के कारण आज बहुत-से ऊँची जाति के लोग दर्जी, धोबी आदि के छोटे-छोटे कार्य करते दिखाई देते हैं। अन्तर्जातीय विवाहों में भी वृद्धि हो रही है। इसके अतिरिक्त भारत में आर्यसमाज ने अंतर्जातीय विवाह, अंतर्भोज आदि रीतियों द्वारा जाति-भेद का अंत करने में महत्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अतः आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव, शहरों के विकास या यातायात के साधन एवं उद्योगों के विकास तथा समाज की वैधानिक समता आदि कारणों ने जाति-प्रथा के बन्धनों को शिथिल करके इसकी जड़ों को खोखला कर दिया है।

परन्तु इस सबसे भी जाति-प्रथा की हानियों का पूर्णरूपेण अंत नहीं हुआ। जो कुछ भी सुधार अथवा जाति-बन्धनों में शिथिलता दिखाई देती है, वह केवल शहरों में ही सीमित है। भारतीय ग्रामों में आज भी जाति-प्रथा के बन्धन उतने ही कठोर हैं और इस प्रकार यह प्रथा भारत की आर्थिक उन्नति में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है। अतः आर्यसमाज तथा अन्य समाज-सुधारक संस्थाओं का यह परम कर्तव्य है कि वे गाँव-गाँव में प्रचार करके जाति-पाँति के भेदों का अंत करने का प्रयत्न करें, जिससे भारत की आर्थिक उन्नति का एक महान् रोड़ा नष्ट हो जावे।

संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System)

भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली समाज की दूसरी विशेषता है। इसके अनुसार संयुक्त परिवार में सम्पत्ति, खाना-पीना, रहना, पूजा आदि सभी कार्य संयुक्तरूप से होते हैं। भारतीय संयुक्त परिवार में पाश्चात्य देशों के परिवार के विपरीत, जिनमें साधारणतः पति-पत्नी, तथा छोटे बच्चे ही होते हैं, बहुत-से व्यक्ति जैसे पति-पत्नी, पिता, माता, बाबा, दादी, चाचा, चाची, भाई, बहन, भाभी, पुत्र,

पुत्र-बधु, पुत्री आदि सब सम्मिलित रहते हैं। सबसे वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया या स्वामी होता है जो परिवार का सुचारुरूप से संचालन करता है। सब सदस्य अपनी आय उसी को लाकर देते हैं और यही व्यक्ति परिवार की आवश्यकतानुसार व्यय करता है। समाजवाद का मुख्य सिद्धान्त "प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे और आवश्यकतानुसार उपभोग करे" का पालन संयुक्त परिवार में भलीभाँति होता है। इसमें अधिक कमाने वाले पर ही अधिक व्यय नही किया जाता। कोई सदस्य कमाये या न कमाये सबके पालन-पोषण का भार परिवार पर ही रहता है।

संयुक्त परिवार प्रणाली से लाभ (Merits)

(१) संयुक्त परिवार के सदस्यों में एकता की भावना रहती है जिससे परिवार की बड़ी-बड़ी समस्याएँ भी सरलता से हल हो जाती हैं।

(२) एक साथ रहने के कारण उपभोग का व्यय बहुत कम हो जाता है। अत: एकत्रित परिवार में पर्याप्त मितव्ययता होती है।

(३) संयुक्त परिवार में सब सदस्यों के साथ समान व्यवहार होता है एवं योग्य और अयोग्य सभी तरह के व्यक्तियों का जीवन-निर्वाह निश्चित हो जाता है और अनाथ, बालक, विधवा, अंगहीन, वृद्ध और बेरोजगार सभी को परिवार का आश्रय होता है। अत: भारत में इंगलैंड के (Poor relief) अर्थात् वृद्धावस्था की पेन्शन की भाँति किसी समाज-सुरक्षा योजना के न होने पर भी इनके सम्पूर्ण लाभ संयुक्त परिवार द्वारा प्राप्त होते हैं।

(४) परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है तथा प्रत्येक सदस्य को परिवार के भिन्न-भिन्न कार्यों का भार सौंपा जा सकता है। अत: संयुक्त परिवार द्वारा एक प्रकार का श्रम-विभाजन हो जाता है।

(५) संयुक्त परिवार के कारण भूमि और सम्पत्ति का बहुत अधिक विभाजन नहीं हो पाता और सारी सम्पत्ति के सम्मिलित होने के कारण बड़ी मात्रा में व्यापार आदि किया जा सकता है।

(६) संयुक्त परिवार से घर की प्रतिष्ठा और आदर-सम्मान अधिक रहता है। इन्हीं लाभों के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली के विषय में डॉ० राधा कमल मुखर्जी का मत है कि "संयुक्त परिवार प्रणाली ने, जो प्रेम और सहयोग पर आधारित है, देश में सामाजिक सहकारिता की दृष्टि से उस आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किया है, जो पश्चिम की स्वार्थी तथा एकांकी प्रधान व्यवस्था से भिन्न और उत्तम है।"

संयुक्त परिवार प्रणाली की हानियाँ (Demerits)

उक्त लाभ होते हुए भी इस प्रणाली के दोष आज की परिस्थितियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो इस प्रकार हैं--

(१) संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य को अपने परिश्रम का पूरा फल न

मिलने के कारण सदस्यों में आलस्य और अकर्मण्यता की वृद्धि होती है तथा इससे आर्थिक क्रिया की प्रेरणा नष्ट हो जाती है।

(२) हर परिवार में कुछ ऐसे निठल्ले सदस्य होते हैं जिनमें स्वाभिमान छू तक नहीं जाता और बैठे-बैठे खाया करते हैं। इससे व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है तथा पूंजी के एकत्रीकरण और बड़ी मात्रा के उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

(३) परिवार में प्रत्येक सदस्य को अपनी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था रहने के कारण बेकारी के समय में भी वह नया कार्य करने का विचार नहीं करते और परिवार के लिए एक भार बने रहते हैं। वे घर छोड़कर बाहर जाना भी पसन्द नहीं करते, जिससे श्रमिकों की गतिशीलता कम हो जाती है।

(४) संयुक्त-परिवार में कम आयु में ही विवाह हो जाते हैं जिससे व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अभाव में संतानोत्पत्ति अधिक होती है और देश में जन्म-दर बढ़ जाती है, जिससे अनेकों आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(५) संयुक्त परिवार में यद्यपि स्वार्थ की भावना का त्याग होना आवश्यक है, परन्तु स्वभावतः मनुष्य स्वार्थी होता है और अन्य सदस्यों के हेतु अपना स्वार्थ-त्याग नहीं करना चाहता। अतः आपस में वैमनस्य बढ़ जाता है और परिवार में प्रायः छोटी-छोटी बातों पर कलह हो जाती है, विशेषकर स्त्रियों में, जिससे पारिवारिक जीवन अशान्तिपूर्ण होकर एक अभिशाप बन जाता है।

(६) संयुक्त-परिवार में धनोपार्जन नहीं हो पाता, क्योंकि प्रत्येक सदस्य यह समझता है कि उसके द्वारा कमाया हुआ धन अपने ऊपर न खर्च करके समस्त परिवार पर खर्च करना पड़ रहा है। अतः विवाह, मुण्डन इत्यादि अवसरों पर खुलकर व्यय किया जाता है।

(७) सम्पत्ति का विभाजन होते समय पारस्परिक झगड़े मुकदमेबाज़ी का रूप धारण कर लेते हैं, जिससे समस्त परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त परिवार-प्रणाली एक प्रकार से भारत की आर्थिक उन्नति में बाधा डालती रही है। परन्तु समय के साथ-साथ यह प्रथा भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। भारत में जन-संख्या की वृद्धि, पाश्चात्य शिक्षा और यातायात के साधनों के विकास के कारण यह प्रथा तीव्रगति से लुप्त हो रही है। बेरोजगारी बढ़ने के कारण मनुष्य अपने परिवार को छोड़कर रोजगार की तलाश में आवागमन के साधनों द्वारा दूर-दूर जाकर बस जाते हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भी संयुक्त परिवार प्रणाली का ह्रास हो रहा है और निकट भविष्य में सम्भवतः संयुक्त परिवार प्रणाली केवल एक ऐतिहासिक रीति ही रह जावेगी।

उत्तराधिकार के नियम (Law of Inheritance)

भारत में उत्तराधिकार के नियम संयुक्त परिवार प्रणाली पर आधारित हैं, जिनका देश के आर्थिक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। भारत में विशेषतया

हिन्दुओं में उत्तराधिकार के प्रमुख नियम 'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' प्रचलित हैं। दाय-भाग नियम पश्चिमी बंगाल में सीमित है तथा मिताक्षरा भारत के अन्य भागों में लागू होता है। 'दाय-भाग' प्रथा के अनुसार परिवार का मुखिया अपने जीवन-पर्यन्त परिवार की सम्पत्ति का स्वामी होता है और उसका इच्छानुसार क्रय-विक्रय कर सकता है। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी सम्पत्ति का मालिक हो जाता है। इसके अनुसार केवल भाई-भाइयों में बँटवारा होता है तथा पिता-पुत्र में नहीं। स्त्रियों को किसी भी प्रकार का उत्तराधिकार प्राप्त नहीं है। 'मिताक्षरा' नियम के अनुसार परिवार के सभी सदस्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, तथा मुखिया केवल प्रबन्धक का कार्य करता है वह परिवार के अन्य सदस्यों की बिना इच्छा के सम्पत्ति का क्रय-विक्रय नहीं कर सकता। परिवार के किसी भी सदस्य की मृत्यु के पश्चात् उसके भाग की सम्पत्ति का स्वामी सम्पूर्ण परिवार हो जाता है तथा मृतक के पुत्र अलग विभाजन नहीं करा सकते। यदि कोई सदस्य विभाजन चाहता है तो चाहे जब करा सकता है यहाँ तक कि पिता के जीवन-काल में ही पुत्र अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति का विभाजन करा सकता है।

हिन्दुओं के अतिरिक्त भारत में मुसलमानों की दूसरी प्रमुख जाति है। इस्लामी कानून के अनुसार सम्पत्ति में पुरुष और स्त्री दोनों का समान अधिकार रहता है। अतः मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति का बहुत से भागों में विभाजन हो जाता है।

उत्तराधिकार नियमों के आर्थिक प्रभाव—

लाभ :—

(१) सम्पत्ति के विभाजन में बड़े और छोटे का कोई भेद नहीं होता, जिससे भाई-भाइयों के हृदय में विषमता की भावना उदय नहीं होती है।

(२) इन नियमों के कारण समाज पूंजीवाद के दोषों से बच जाता है और सम्पत्ति का समान वितरण होता है जिससे एक स्वाभिमानी मध्यम वर्ग का विकास हो जाता है, जो अपने जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए कठिन परिश्रम करता है और जो आर्थिक दृष्टि से समाज और राष्ट्र दोनों के लिए कल्याणकारी होता है।

(३) इन नियमों के द्वारा ग्रामों में स्वतन्त्र कृषक भूस्वामी वर्ग उत्पन्न होता है और कृषि-जीवन बना रहता है।

(४) पिता की मृत्यु के पश्चात् सभी उत्तराधिकारियों को बराबर सम्पत्ति प्राप्त होती है, जिससे प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र जीवन-यात्रा प्रारम्भ करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

दोष (Demerits)—

(१) इन नियमों के अनुसार पूँजी के संचय में बहुत बाधा पड़ती है क्योंकि पूँजी सभी उत्तराधिकारियों में बराबर बँट जाती है। अतः बड़े पैमाने के उद्योग धन्धे सरलता से स्थापित नहीं किये जा सकते।

(२) इन नियमों के कारण भूमि का निरंतर बँटवारा होता रहता है जिससे खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाते हैं जिससे उपज कम हो जाती है और लागत बढ़ जाती है। छोटे-छोटे खेतों के छिटके होने से उनमें वैज्ञानिक मशीनों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। आज भारत में अत्यधिक छोटे और छिटके खेतों की समस्या इन्हीं उत्तराधिकार के नियमों की देन है।

(३) सम्पत्ति के विभाजन के समय आपस में झगड़े होते हैं जिनसे मुकदमे-बाजी बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार एक तो आपस में वैमनस्य होता है और दूसरे समय, शक्ति और धन की व्यर्थ बरबादी होती है जिससे अनेकों आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं।

ग्राम पंचायतें (Village Panchayats)

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारतीय ग्राम पंचायत एक प्रमुख समाजिक संस्था है, जिसका आर्थिक क्षेत्र में बड़ा महत्व है। भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण एक ग्रामीण देश है। यहाँ के ग्रामों की संख्या ५ लाख है जिनमें भारत की लगभग ८२.७% जन-संख्या अर्थात् २९ करोड़ ५० लाख व्यक्ति निवास करते हैं। प्राचीन काल में पंचायतें भारतीय समाज के संगठन की कड़ी दीवारें थीं। ग्राम के सम्बन्ध में सर चार्ल्स मेटकाफ का मत था कि "ग्रामों के ये संघ जो कि छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विकसित हो गये थे, उन्होंने भारत की सभी क्रांतियों में भारतवासियों की सबसे अधिक रक्षा की है तथा लोगों के सुख और स्वतन्त्रता के वे एक महान् साधन रहे हैं।"[1] १८वीं और १९वीं शताब्दी में भी ग्रामपंचायतों का संगठन जीवित था, क्योंकि बम्बई प्रान्त में इनका वर्णन करते हुए श्री एलफिन्सटन ने लिखा है कि "इन ग्रामों में छोटे पैमाने पर अपने अन्दर ही एक पूर्ण राज्य के सभी उपकरण हैं और यदि सभी सरकारों को वहाँ से हटा लिया जावे, तो भी पंचायतें ग्रामों की सुरक्षा के लिए पर्याप्त हैं।"

किन्तु भारत में विदेशी शासन-सत्ता के स्थापित हो जाने से, शासन का केन्द्रीयकरण हो जाने से और उनकी भूमि के बँटवारे और लगान की विधि से तथा यातायात के साधनों के विकास से इन संस्थाओं का पतन हो गया। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन-काल में महात्मा गांधी और अन्य नेताओं का ध्यान इनके पुनरुद्धार की ओर गया और सन् १९४७ में पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्त हो जाने के पश्चात् विभिन्न प्रान्तों में पंचायत राज्य की स्थापना की गई। सन् १९४९ में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने पंचायत-राज्य कानून द्वारा राज्य-भर में पंचायतों की स्थापना की। इसी प्रकार पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, मद्रास तथा बम्बई की राज्य सरकारों ने पंचायत राज्य को स्थापित करने के लिए क्रियात्मक कार्य किये हैं। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट

---

1. Economic History of British India, Vol.I, pp. 386-387, by R. C. Dutt.

है कि आज भारतीय सरकार की स्थिरता एवं दृढता पंचायतों पर ही निर्भर हैं।

पंचायत राज्य कानून के अनुसार सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह प्रत्येक ग्राम अथवा ग्राम-समूह में पंचायतों को स्थापित करे। भारत के विभिन्न प्रान्तों में पंचायतों के अधिकार और आय लगभग समान ही हैं। पंचायत संगठन के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में तीन संस्थाएँ प्रचलित हैः—

(१) **ग्राम-सभाः**—साधारणतया १००० जनसंख्या वाले गाँव अथवा गाँव समूह में ग्राम-सभा स्थापित की जाती है। गाँव के सब प्रौढ़ व्यक्ति (१८ वर्ष की आयु से अधिक) गाँव सभा के आजीवन-सदस्य होते हैं। सभा की वर्ष में २ बैठकें होती हैं। सभा के सदस्य एक सभापति तथा एक उपसभापति ३ वर्ष के लिए चुनते हैं, एवं कार्यकारिणी के सदस्यों का चुनाव करते हैं, जिनकी संख्या कुल सदस्यों की संख्या का १।५ भाग होती है।

(१) **ग्राम-पंचायतः**—एक सीमित ग्राम-क्षेत्र में प्रत्येक ग्राम-सभा अपने प्रतिनिधियों द्वारा एक कार्यकारिणी समिति जो ग्राम-पंचायत कहलाती है, निर्वाचित करती है। पंचायतों के शासन-सम्बन्धी कार्य नगर की नगरपालिकाओं (Municipal Boards) के समान हैं और वे अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धों, स्वास्थ्य तथा यातायात के साधनों की देख-भाल करती हैं तथा अपने क्षेत्र के बाजारों, मेलों तथा हाटों को नियंत्रित करती है और पशु-गणना तथा मनुष्य-गणना सम्बन्धी विवरण रखती है। गांव में सहकारिता-संबंधी कार्यो का संचालन तथा उत्तम बीज और औजार आदि के भंडार भी स्थापित करती हैं।

(३) **पंचायती अदालतः**—गाँव के शासन के साथ-साथ पंचायतों को कुछ न्याय-संबंधी अधिकार भी दिए गये हैं जिनके द्वारा पंचायती अदालत को दीवानी व फौजदारी के निर्धारित अधिकार प्राप्त है। सार्वजनिक मार्ग पर झगड़ा करना, अश्लील कार्य करना, मार-पीट, हमला, जबर्दस्ती बेगार, ५०) से कम मूल्य की चोरी, आरम्भिक शिक्षा, पशुओं के अनधिकृत जगह में घुस जाना तथा टीका अधिनियम के अपराध आदि मामलों में पंचायती अदालत सुनवाई कर सकती हैं। पंचायती अदालत को केवल १०० रु० तक जुर्माना करने का अधिकार है। यह किसी को कैद की सजा नहीं दे सकती। इस अदालत के अधिकृत मामलों पर कोई दूसरी अदालत सुनवाई नहीं कर सकती। अदालत के फैसलों की अपील दीवानी मामलों में जिलाधीश के यहाँ और फौजदारी में जिला-जज के यहाँ की जा सकती है। इसके अतिरिक्त पंचायत-घर गाँव में सभा-स्थल और सांस्कृतिक केन्द्र का काम देता है। प्रत्येक पंचायत में एक पुस्तकालय एवं वाचनालय और रेडियो सेट स्थापित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि आज भी ग्राम-पंचायतों का हमारे ग्रामीण जीवन मे भारी महत्व है। देश में ग्राम-पंचायतों की पुनः स्थापना ही एक क्रान्तिकारी कार्य है जो निकट भविष्य में ग्रामीण जीवन के स्तर को ऊँचा करने तथा ग्राम सुधार एवं उनके आर्थिक विकास में सहायक होंगे।

धार्मिक भावनाएँ (Religious Beliefs)

धर्म की भावनाएँ भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हैं। भारतीय उद्योग-धन्धों, कृषि तथा अन्य आर्थिक कार्यों पर इन धार्मिक भावनाओं की अमिट छाप पड़ी है। प्राचीन काल में भारतीय पूर्वजों ने पर्याप्त उन्नति की थी, और समस्त राष्ट्रीय जीवन को धर्म और अध्यात्मवाद पर आधारित किया था। परन्तु समय की गति के साथ-साथ धर्म में भी अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये और पाखण्डी व अगाड़ी लोग ही धर्म के ठेकेदार बन गये तथा धर्म केवल एक अप्रगतिशील रूढ़ि और अन्धविश्वास बनकर रह गया। भारत में रुढ़िवादी जनता संसार को केवल स्वप्न, माया व झूठा बताती है एवं सन्तोष को ही सबसे बड़ा धन मानती है जिससे मनुष्य सुखी रह सकता है। इससे देश में भाग्यवादिता का प्रसार हुआ, जिससे लोगों में अकर्मण्यता ने घर कर लिया। श्रीमती वीरा एन्स्टे के मतानुसार "धार्मिक प्रवृत्ति चाहे किसी भी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है और दुरूह रूढ़िवाद व अन्धविश्वासों को जन्म देती है तथा प्रत्येक नवीनता का चाहे वह कितनी ही जागृत व उदार क्यों न हो, तर्कहीन विरोध करती है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में आर्थिक व सामाजिक उन्नति के लिए धार्मिक विरोध को नष्ट करना अधिक कठिन है क्योंकि यहाँ वर्तमान धार्मिक विश्वास तथा उनसे उत्पन्न हुआ विशेष सामाजिक संगठन इस उद्देश्य में बाधक है।"[1] इसके अतिरिक्त भारत में धर्म के नाम पर लगभग ५० लाख से भी अधिक भिखारी साधु बने फिरते हैं जोकि देश के ऊपर अनुत्पादित भार हैं। अहिंसा में विश्वास करने वाले भारतीय किसान चूहे, बन्दर, गिलहरी आदि खेतों को नुकसान पहुँचाने वाले पशुओं को मारना महापाप समझते हैं। इनके कारण भारतीय कृषि की क्षति का ६० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष से भी अधिक अनुमान लगाया जाता है। इसी प्रकार बूढ़े और अपाहिज पशुओं को न मारने से भी लगभग १७६ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की क्षति का अनुमान लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त विवाह, मृत्यु-भोज, मुण्डन आदि अवसरों पर अपार धन का दुरुपयोग करना, तीर्थयात्रा में धन का व्यय करना, ग्रामीणों का ऋण-ग्रस्त होना, जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि आदि कुछ ऐसी अन्य बातें हैं जो धार्मिक अन्धविश्वासों पर आधारित हैं और जो देश को भारी आर्थिक क्षति पहुँचाती हैं। निःसन्देह, भारत में निर्धनता और निराशावादिता ने अपना अड्डा जमा रखा है। किन्तु अपनी पिछड़ी हुई आर्थिक स्थिति और इन अभावों के लिए धार्मिक भावनाओं को ही एकमात्र कारण नहीं समझ लेना चाहिए। इसके लिए तो भारत की प्राचीन आर्थिक स्थिति और राजनीतिक पराधीनता भी जिम्मेवार है। भारतीय धार्मिक भावनाओं को पाश्चात्य लोगों ने सही रूप में बिना समझे ही आर्थिक अवनति का कारण बताया है। हमारा सच्चा धर्म हमें एक अच्छा जीवन बिताने के

1. The Economic Development of India by Vera Anstey pp. 48-57. Quoted in 'भारत का आर्थिक विकास' pp. 30 by Piarey Lal Rawat.

लिए, पुरुषार्थ के लिए, उद्योगी जीवन तथा परिश्रम के लिए पथ-प्रदर्शन करता है। आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक जैसे पुरुषों ने धर्म की व्याख्या करते हुए कर्म को ही धर्म की प्रधान शिक्षा बतलाया है। श्रीमद्भगवद्गीता जो सब धर्म और दर्शन का सार है एक कर्म योग है। महर्षि स्वामी दयानन्द ने भी धर्म में कर्म की प्रधानता बताई है। यदि भारत में शिक्षा का पर्याप्त विकास किया जाता और धर्म के सही और मूल सिद्धान्तों को समझा जाता तो अवश्य ही भारतीयों की रूढ़िवादिता और संकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता और निःसन्देह भारत का धर्म भारत में ही नहीं बल्कि समस्त संसार में आर्थिक विषमता का अन्त कर उसे शान्ति, सुख एवं समृद्धि के पथ पर अग्रसर करता।

अध्याय ५

राष्ट्रीय आय

का

विकास व वितरण

(NATIONAL INCOME—ITS GROWTH AND DISTRIBUTION)

परिभाषा (Definition)

मनुष्य के प्रत्येक कार्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होते हैं जिनको वह वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करके तत्पश्चात् उनका उपभोग करके पूरा करता है। अतः मनुष्य का आर्थिक सुख उसको उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति में वहाँ की वे सब सम्पत्तियाँ सम्मिलित होती हैं, जिनका आदान-प्रदान व उपयोग किया जा सकता है। इस राष्ट्रीय सम्पत्ति से देश को प्रतिवर्ष जो आय होती है, वह राष्ट्रीय आय कहलाती है।

प्रो० कौलिन क्लार्क (Prof. Collin Clark) के मतानुसार किसी भी काल की राष्ट्रीय आय में उस समय में उपभोग की सामग्री तथा सेवाओं का द्रव्य मूल्य (Money Value) सम्मिलित रहता है। भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V. K. R. V. Rao), जिन्होंने राष्ट्रीय आय का विशेष अध्ययन किया है, का मत है कि "राष्ट्रीय आय में वस्तुओं तथा सेवाओं का, जो किसी विशेष समय में चालू मूल्यों के अनुसार, द्रव्य मूल्य लेना चाहिए और उनमें से उसी समय में किये गये आयातों का मूल्य घटाना चाहिए तथा ऐसी वतुएँ और सेवाएँ जो बिक्री योग्य हों उनका चालू मूल्यों के अनुसार मूल्य लगाकर निम्नलिखित मदों के योग को घटा देना चाहिये।

(१) उस काल में Stock में हुई कमी का द्रव्य-मूल्य।

(२) उत्पादन करते समय उपभोग की हुई वस्तु और सेवाओं का द्रव्य-मूल्य।

(३) वर्तमान पूंजी की सुरक्षा में लगाई गई वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्य-मूल्य।

(४) अप्रत्यक्ष-करों से सरकार की आय।

(५) भण्डार सहित व्यापार का अनुकूल सन्तुलन (Favourable Balance of trade)।

(६) विदेशी कर्जे में वृद्धि अथवा विदेशों में बचा हुआ धन, चाहे वह सरकार का हो अथवा व्यक्तिगत हो।[1]

राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जानेवाली सम्पत्ति तथा सेवाओं और वस्तुओं के विषय में अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। जैसे—माता और पत्नी की सेवाएँ जो बहुमूल्य हैं और जिनको द्रव्य-मूल्य में भी आँका जा सकता है, राष्ट्रीय आय में नहीं सम्मिलित की जा सकती हैं। परन्तु यदि यही सेवाएँ एक वेतन प्राप्त गृहसेविका के द्वारा की जाती हैं तो राष्ट्रीय आय का अंग बन जाती हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार सरकारी नौकरी की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए। पर इसके विपरीत दूसरों के मतानुसार उनकी केवल उस आय को जिसके बदले देश को कुछ सेवाएँ प्राप्त नहीं होतीं जैसे कार्य करने योग्य आयु की अवधि की समाप्ति पर मिलने वाली पेन्शन राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्रीय आय का महत्त्व—

राष्ट्रीय आयके आँकड़ों से देश की आर्थिक स्थिति तथा उसके उत्थान और पतन का पता लगता है। वहाँ के निवासियों के जीवन-स्तर तथा उनके विभिन्न वर्गों का आर्थिक ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त गत-वर्षों की राष्ट्रीय आय के आधार पर देश का भविष्य और उसकी आय की प्रवृत्ति समझी जाती है। यद्यपि राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की यह पद्धति पूर्णरूपेण दोषरहित नहीं है, उदाहरणार्थ किसी देश की आर्थिक आय बहुत अधिक है तो स्वभावतः राष्ट्रीय हित भी अधिक होगा। परन्तु यदि उस देश में साम्प्रदायिक दंगो के कारण, अधिक सख्या में चोर, डकैतों के कारण, राष्ट्रीय आय का अधिक भाग स्वरक्षा पर व्यय किया जाता है, अथवा जनता में अधिक रोग और महामारी होने के कारण बहुत धन व्यय किया जाता है तो निश्चय ही वहाँ के देशवासियों का आर्थिक हित अधिक नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी राष्ट्रीय आय के आँकड़े अन्य बातों के समान होने पर देश की आर्थिक स्थिति पर काफी प्रकाश डालते हैं।

देश की अन्य आर्थिक क्रियाओं में जैसे सरकार द्वारा तटीय कर, बिक्री-कर इत्यादि लगाना, उद्योगों को धन की सहायता देना, मजदूरी की दर निश्चित करना, तथा आर्थिक नीति के किसी और पहलू पर विचार करने में राष्ट्रीय आय के आँकड़े बहुत लाभदायक सिद्ध होते हैं। देश की आर्थिक योजना बनाने में भी इन आँकड़ों से बहुत सहायता मिलती है। इन आँकड़ों की भारत जैसे देश में, जहाँ कि जनता का जीवन-स्तर अत्यन्त निम्न है, लोगों का स्वास्थ्य गिरा हुआ है, जहाँ जन्म-दर और मृत्यु-दर अधिक हैं, तथा जहाँ सम्पत्ति के वितरण में विश्व में, सबसे अधिक असमानता है, और भी अधिक महत्व है।

---

1. National Income of British India by Dr. V. K. R. V. Rao, quoted in Indian Economics by K. K. Dewett pp. 531.

राष्ट्रीय आय आँकने की रीति—

राष्ट्रीय आय को आँकने अर्थात् हिसाब लगाने की तीन प्रमुख रीतियाँ हैं—

(१) **आय-रीति** (Income Method) :—इसको दृष्टिगत (Subject Method) भी कहते हैं। इसके अनुसार आय-कर के आँकड़ों द्वारा देश के सभी व्यक्तियों की आय को जोड़ देने से राष्ट्रीय-आय हो जाती है। जिन लोगों की आय आय-कर लगने वाली आय से कम होती है, उनकी आय का अनुमान लगाने के लिए किसी एक समूह के एक व्यक्ति की औसत आय में उस समूह के समस्त व्यक्तियों की संख्या का गुणा कर देते हैं। इस प्रकार सब समूहों के गुणनफल के योग से आय-कर न देने वाले मनुष्यों की आय का अनुमान हो जाता है। इस आय और आय-कर के आँकड़ों के आधार पर अनुमानित आय का योग ही राष्ट्रीय आय होती है। यह रीति प्रगतिशील देशों में जहाँ आय-कर देने वालों की बहुत अधिक संख्या होती है, लाभकारी और सरल होती है। किन्तु भारत में भी यदि आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय का सही अनुमान लगाने की व्यवस्था करली जाय, तो इस रीति का प्रयोग करके इसकी सरलता का लाभ उठाया जा सकता है।

(२) **परिगणना रीति या उत्पादन-गणना की रीति** (Inventory Method or Census of Production Method):—इस रीति के अनुसार वर्ष भर में विभिन्न उद्योगों द्वारा किये गये उत्पादन तथा सेवाओं के वेतन की गणना की जाती है। इसमें वर्षभर में उपभोग की हुई वस्तुओं का चालू मूल्य के आधार पर मूल्य निकाला जाता है तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं के बदले प्राप्त होने वाली आय उन सेवाओं का मूल्य होती है। इन दोनों मूल्यों का योग राष्ट्रीय आय होती है। भारत जैसे देश में कुछ वस्तुओं को छोड़कर वस्तुओं के उत्पादन के सही-सही आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। इस कारण यह रीति प्रयोग में नहीं लाई जाती।

(३) **आय-कर और परिगणना रीति का सम्मिश्रण**:—भारत के प्रमुख अर्थ-शास्त्री डा० वी०के० आर०वी० राव ने उक्त दोनों रीतियों को मिलाकर एक तीसरी रीति का आविष्कार किया है। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में प्रकाशित होनेवाले उत्पादन के सरकारी अनुमानों, खनिज उद्योग, जंगल आदि के उत्पादन के प्रकाशित अंक, आय-कर के आँकड़ों तथा अन्य वेतन-सम्बन्धी प्रकाशित अंकों का प्रयोग किया है। अन्य क्षेत्रों में जहाँ किसी प्रकार के आँकड़े प्राप्त नहीं थे उन्होंने स्वयं जाँच करके सूचनाएँ प्राप्त कीं। इसी रीति का अनुकरण भारतीय राष्ट्रीय आय समिति ने भी किया है।

भारत की राष्ट्रीय आय (National Income of India)—

भारत में राष्ट्रीय आय को सही रूप से नापने के प्रयत्न केवल २०वीं शताब्दी में अंक शास्त्र पर ही आधारित रहे हैं। वैसे तो समय-समय पर भारत की राष्ट्रीय आय को आँकने के प्रयत्न किये गये हैं किन्तु इस दिशा में सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी के पिछले भाग में भारत की राष्ट्रीय आय को आँकने का प्रयत्न करने का श्रेय श्री दादाभाई नौरोजी को है, जिनके अनुसार भारत के प्रत्येक व्यक्ति की

वार्षिक आय २३।।) थी। इनके पश्चात् अन्य विदेशी और भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस ओर समय-समय पर उल्लेखनीय प्रयत्न किये। दादाभाई नौरोजी के समय में सरकारी आँकड़े पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं थे, तथा खाद्यान्न बहुत सस्ते थे और औद्योगिक उत्पादन केवल नाममात्र को ही था, अतः उनको राष्ट्रीय आय आँकने के लिए खाद्यान्न के उत्पादन अंकों पर ही निर्भर रहना पड़ा था। नौरोजी के पश्चात् सन् १९३९ तक सरकारी तौर पर भारत की राष्ट्रीय आय को नापने का कभी भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया, क्योंकि विदेशी सरकार को इससे कोई लाभ नहीं था। हाँ, कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न अवश्य किये गये, जिनके अनुसार समय-समय पर भारत की राष्ट्रीय आय इस प्रकार थी:—

आँकने वाले का नाम	वर्ष	वार्षिक आय प्रति व्यक्ति Per Capital Income		
		रु०	आ०	पा०
लार्ड क्रोमर तथा बार्बर	१८८२	२७	०	०
विलियम डिग्वी	१८९९	१७	८	५
लार्ड कर्ज़न	१९००	३०	०	०
एफ. जी. एडकिन्सन	१८७५	३०	८	०
एफ. जी. एडकिन्सन	१८९५	३९	८	०
वाडिया और जोशी	१९१३–१४	४४	५	६
शाह और खम्बट	१९००–१४			
,, ,,	(प्रथम युद्ध के पूर्व)	३६	०	०
	(युद्ध के पश्चात्)	३८	०	०
फिन्डलेशिराज	१९२१	१०७	०	०
,, ,,	१९२२	११६	०	०
साइमन कमीशन रिपोर्ट	१९२९	११६	०	०
डा० वी. के. आर. वी. राव	१९२५–२९	७६	०	०
,, ,, ,	१९३१–३२			
	ग्रामीण	५१	०	०
	शहरी	१६६	०	०
	कुल भारत में	६५	०	०

उक्त विवरण के अनुसार विभिन्न विद्वानों के द्वारा अनुमानित राष्ट्रीय आय में बहुत अन्तर है, जिसका एक कारण मूल्यों में परिवर्तन है तथा दूसरा विभिन्न अनुमानों में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का होना है। उदाहरणार्थ—१९१३–१४ के मूल्य-स्तर और १९२१-२२ के स्तर में लगभग दुगुने से कुछ कम का अन्तर था। इसके अतिरिक्त किसी अर्थशास्त्री ने सम्पूर्ण भारत को अपना क्षेत्र बनाया था तो किसी ने केवल ब्रिटिश भारत को ही, अतः अन्तर होना स्वाभाविक ही था।

भारत की राष्ट्रीय आय-समिति (National Income Committee)

स्वतन्त्रता केपश्चात् भारत सरकार ने देश की सही राष्ट्रीय आय का अनु-

मान लगाने के लिए सन् १९४९ में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की जिसको निम्नलिखित कार्य सौंपे गये थे:—

(१) राष्ट्रीय आय और उससे सम्बन्धित आँकड़ों को एकत्रित करना।

(२) उपलब्ध आँकड़ों को एकत्रित करने की रीति में सुधार के सुझाव देना।

(३) अन्य आवश्यक आँकड़ों को एकत्रित करना।

(४) राष्ट्रीय आय के क्षेत्र में भविष्य में खोज करने के साधनों का सुझाव देना।

राष्ट्रीय आय समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट सन् १९५१ में और अन्तिम रिपोर्ट सन् १९५४ में भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत की, जिसमें सन् १९४८-४९ से १९५०-५१ तक राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया गया था। इसके पश्चात् इस समिति को भंग कर दिया गया और भारत सरकार ने सरकारी तौर पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए एक राष्ट्रीय आय यूनिट (National Income Unit) की नियुक्ति की जिसने हाल ही में सन् १९५१-५२ में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है।

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना का ध्येय सन् १९५०-५१ से १९५५-१९५६ तक भारत की राष्ट्रीय आय में १५ प्रतिशत वृद्धि करने का था। इसी काल में भारतीय जनसंख्या की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए यदि ६% वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तब भी योजना के इन ५ वर्षों में प्रित व्यक्ति की वार्षिक आय में ५% वृद्धि अवश्य हो जावेगी।

अतः राष्ट्रीय आय समिति तथा राष्ट्रीय आय यूनिट के द्वारा दिये गए राष्ट्रीय आय के अनुमानों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि गत वर्षों में पंचवर्षीय योजना के ध्येय की कहाँ तक पूर्ति हो सकी है।

समिति तथा यूनिट द्वारा अनुमानित राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय समिति एवं यूनिट ने सन् १९४८-४९ के वर्ष को आधार मान कर सन् १९४८-४९ से सन् १९५१-५२ तक राष्ट्रीय आय का चालू मूल्यों को स्थिर मानकर अनुमान लगाया है क्योंकि स्थिर मूल्य के आधार पर ही एकत्रित किये हुये आँकड़े अधिक विश्वसनीय एवं उपयुक्त होते हैं। सन् १९४८-४९ से १९५१-५२ तक इन दोनों संस्थाओं के आधार पर भारतीय आय में निम्नलिखित परिवर्तन हुए हैं—

वर्ष	कुल आय (करोड़ रुपये में)	प्रति व्यक्ति आय (Income per Capital)
		रु० आ० पा०
१९४८-४९	८६५०	२४६ १४ ५
१९४९-५०	८८२०	२४८ ९ ७
१९५०-५१	८८५०	२४६ ४ १०
१९५१-५२	९१६०	२५१ ११ २
१९५२-५३	९५१७	२५७ १४ ४
१९५३-५४	९९४६	२६६ ६ ४

राष्ट्रीय आय यूनिट द्वारा एकत्रित प्राथमिक आँकड़ों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता हैं कि सन् १९५२-५३ में प्रतिव्यक्ति की आय लगभग २६१ रु० थी। यद्यपि सन् १९५३-५४ के आँकड़ों का अभी अनुमान नहीं लगाया गया है। किन्तु फिर भी क्योंकि इस वर्ष में कृषि और औद्योगिक उत्पादनों में सन् १९५२-५३ की अपेक्षा क्रमशः ११% और ५% वृद्धि के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सन् १९५३-५४ में सन् १९५२-५३ की अपेक्षा, स्थिर मूल्यों के आधार पर, राष्ट्रीय आय में ८% वृद्धि हुई है। उक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि प्रथम ३ वर्षों में अर्थात् सन् १९४८-४९ से १९५०-५१ तक उन्नति की गति मन्द रही है, परन्तु इन ३ वर्षों में उन्नति करने की प्रवृत्ति ने देश में जड़ पकड़ ली और सन् १९५०-५१ के पश्चात् उन्नति की गति प्रति वर्ष तीव्र होती जा रही है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् (Post-Independence-Period)

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता के प्राप्त होते ही विभाजन के फलस्वरूप भारत को अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में देश का आर्थिक विकास मन्दगति से होना स्वाभाविक सा ही था। किन्तु फिर भी प्रथम पंचवर्षीय योजना के बनने और उसके कार्यान्वित होने से देश के आर्थिक विकास में भारी प्रोत्साहन मिला है क्योंकि योजना के प्रथम वर्ष में ही अर्थात् सन् १९५१-५२ में ३·०५% वृद्धि कुल राष्ट्रीय आय में हुई थी। यद्यपि बाद के वर्षों के सही आँकड़े उपलब्ध नहीं है किन्तु यह अनुमान उचित-सा ही प्रतीत होता है कि मूल्यों की स्थिरता के आधार पर सन् १९५२-५३ और १९५३-५४ में राष्ट्रीय आय में क्रमशः ५% और ६% वृद्धि हुई है। जनसंख्या की वृद्धि को ध्यान में रखकर भी हमने प्रथम योजना के पाँच वर्ष के अर्थात् सन् १९५५-५६ तक की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का ध्येय तो हमने योजना के द्वितीय वर्ष अर्थात् १९५२-५३ में ही प्राप्त कर लिया है। प्रथम योजना का ध्येय सन् १९५०-५१ की प्रति व्यक्ति आय में सन् १९५५-५६ तक लगभग ५% वृद्धि करना था किन्तु राष्ट्रीय युनिट के अनुमान के अनुसार सन् १९५२-५३ में ही, प्रति व्यक्ति आय १९५०-५१ की आय से ६% अधिक थी तथा सन् १९५३-५४ की आय में ७·९% वृद्धि हुई है। १९५४-५५ में १९५३-५४ की अपेक्षा कृषि व उद्योग में उत्पादन अधिक हुआ है, अतः कुल राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय में भी अवश्य ही वृद्धि हुई होगी। परन्तु सन् १९५०-५१ की आय से तुलना करने पर कुछ निराशवादी लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि यह वर्ष राष्ट्रीय आय की तुलना की दृष्टि से बहुत खराब था। क्योंकि इस वर्ष फसलों के खराब होने से देश की आर्थिक क्रियाओं में मन्दी आ गई थी। परन्तु इस आपत्ति के विपरीत यह कहा जा सकता है कि सन् १९५०-५१ में भी देश की राष्ट्रीय आय सन् १९४८-४९ या सन् १९४९-५० की आय से कहीं अधिक थी इसलिए जैसा कि हम पहले

ही कह चुके हैं कि इन ३ वर्षों में मन्द गति से आर्थिक उन्नति का होना स्वाभाविक ही था। आखिर आर्थिक उन्नति की गति को तीव्र करने के लिए कुछ समय तो चाहिए ही किन्तु फिर भी यदि आज की परिस्थितियों को सन् १९४८-४९ की परिस्थितियों से तुलना की जाय तो देश की राष्ट्रीय आय में औसतन ३% वृद्धि हुई है।

इसके अतिरिक्त भारत के आर्थिक विकास की इस मन्दगति को अन्य गणतन्त्रवादी देशों की आर्थिक उन्नति की गति से तुलना करें तो भारत की स्थिति सन्तोषपूर्ण प्रतीत होती है। विभिन्न देशों में राष्ट्रीय आय की वृद्धि की गति के आँकड़ों की तुलना निम्नलिखित तालिका में की जा सकती है :—[1]

विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष वृद्धि :—

देश Country	काल Period	वार्षिक वृद्धि की गति की% %Rate of growth per annum
१. अमेरिका	१८६९–७८–१९०४–१३	४·५
	१८६९–७८–१९२९	४·०
	१८९९–१९०८–१९२९	३·२
२. कनाडा	१९०३–१९२९	२·६
३. स्विटज़रलैंड	१८९०–१९२९	२·७
४. जर्मनी	१८७६–१९१३	२·८
५. जापान	१८८७–१९१४	३·०
	१९१४–१९३०	६·७
	१९१४–१९३७	६·७
६. आस्ट्रिया	१९०१–१९०३–१९२८-२९	३·२
	१९०१–१९०३–१९४७-४८	२'५

उक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि संसार के विभिन्न देशों में केवल अमेरिका और जापान ही ऐसे देश हैं जिनकी राष्ट्रीय आय की वृद्धि की गति अधिक है। विश्व के कुछ देशों में हाल ही में एकत्रित किये हुए आँकड़ों के अनुसार राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति इस प्रकार रही है:—

देश	काल	प्रति वर्ष आय में वृद्धि
अमेरिका	१९४८–१९५३	३·०%
जापान	१९५०–१९५३	१२·०%
फ्रान्स	१९४७–१९५३	३·२%
कनाडा	१९४७–१९५३	५·०%
इटली	१९५०–१९५३	५·०%

1 "National Income" by Gregory Grossmem pp, 12: Footnote 16 in 'Soviet Economic Groveth' edited by Akergaon. quoted by Arun Chandra Guha, Union minister in an Article 'National Income' published in A. B. Patrika on 26/1/55.

इससे यह स्पष्ट है कि जापान को छोड़कर, जो परम्परा से ही एक औद्योगिक देश है और अपने कुशल श्रम और उद्योग के लिए प्रसिद्ध है, अन्य देशों की तुलना में भारत की आर्थिक उन्नति की गति वास्तव में श्रेयस्कर और प्रशंसनीय है।

राष्ट्रीय आय के साधन (Sources of National Income)

अन्त में भारत की राष्ट्रीय-आय के विभिन्न साधनों पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। देश की आय के साधन तथा उनसे प्राप्त आय का ब्यौरा निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

भारत के विभिन्न साधन और उनसे प्राप्त आय

साधन	प्राप्त आय (कुल आय का प्रतिशत)
१. कृषि एवं इससे सम्बन्धित उयोग जैसे, वन, मछली आदि	५०·०%
२. खानें और बड़े कारखाने	७·०%
३. कुटीर उद्योग और छोटे कारखाने	१०·०%
४. अन्य सेवायें जैसे रेल, डाक व तार, बैंकिंग, बीमा, सरकारी नौकरी तथा अन्य पेशे आदि—	३३·०%
कुल	१००·०%

इसके अतिरिक्त भारत में केवल १५ करोड़ व्यक्ति काम करने योग्य है जो विभिन्न प्रकार के उत्पादनों में हाथ बँटाते हैं इनमें ७२% लोग तो केवल कृषि और उससे सम्बन्धित उद्योगों में लगे हैं तथा ८% छोटे कारखानों और कुटीर उद्योगों में लगभग ३% खानों तथा बड़े कारखानों में और शेष १७% अन्य सरकारी सेवा कार्यों तथा धन्धों में लगे हैं।

इन आँकड़ों से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राष्ट्रीय आय में वृद्धि की प्रगति गत वर्षों में विशेषकर स्वतंत्रता के पश्चात् प्रशंसनीय रही है। किन्तु इस आय के साधनों के वितरण में अभी तक कोई सुधार नहीं हो पाया है जैसा कि उपरोक्त आँकड़ों में स्पष्ट है कि एक ओर तो कृषि और उससे सम्बन्धित उद्योगों से जिसमें ७२% कार्य-व्यस्त व्यक्ति लगे हैं, कुल आय का ५०% भाग प्राप्त होता है और दूसरी ओर सरकारी सेवाओं तथा अन्य धंधों में केवल १७% कार्य-व्यस्त व्यक्ति लगे हैं और उनसे कुल आय का ३३% भाग प्राप्त होता है जिससे भारत में आय का वितरण बड़ा असमान एवं दोषपूर्ण है। अधिकांश मनुष्य जो कृषि और उससे सम्बन्धित उद्योगों पर निर्भर हैं वे अत्यंत निर्धन हैं और उनका जीवन-स्तर बहुत नीचा है। किंतु आय के वितरण में सुधार की ओर

अध्याय ७

भारत में अकाल

FAMINES IN INDIA

साधारणतः खाद्यान्न के अभाव को ही अकाल कहते हैं। सन् १८६७ ई० के अकाल आयोग के अनुसार "अकाल का अर्थ बहुत बड़ी जन-संख्या का भूख से पीड़ित होना है"। परन्तु आधुनिक युग में अकाल का कुछ और ही अर्थ है। आज अकाल का अर्थ वस्तुओं का मँहगा तथा धन की कमी होना है। खाद्यान्न को खरीदने के लिए धन की कमी होने के कारण जब किसी देश के निवासी प्रचलित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न प्राप्त नहीं कर पाते तो स्वभावतः अकाल की स्थित उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार आज का अकाल खाद्यान्न की कमी न होकर धन के अभाव के कारण ही पड़ता है क्योंकि खाद्यान्न की कमी तो आयात द्वारा पूरी की जा सकती है।

अकाल की ऐतिहासिक समीक्षा—

प्राचीनकाल से ही भारत की कृषि वर्षा जैसी अनिश्चित वस्तु पर पूर्णरूपेण निर्भर रही है जिसके कारण समय-समय पर देश की जनता अत्यन्त भयंकर अकालों से पीड़ित रही है। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतवासी अकाल को एक दैवी प्रकोप समझते थे और उसके निवारण के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते थे। अतः अकाल के समय में लाखों मनुष्य व पशुओं के प्राण चले जाते थे। हिन्दू-काल में यद्यपि कोई देश-व्यापी अकाल नहीं पड़ा था परन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर समय-समय पर अकाल पड़ते ही रहे थे। भारतीय इतिहास के अनुसार सन् ६५० ई० में सर्वप्रथम देश-व्यापी अकाल पड़ा था। तदुपरान्त सन् ९४१, १०२२, १०३३, ११४८, ११५९ ई० में भयंकर अकालों के पड़ने का उल्लेख मिलता है जिन्होंने देश को आक्रान्त कर डाला था। हिन्दू राजाओं द्वारा अकाल-पीड़ितों की सहायतार्थ निम्नलिखित कार्यों का भी उल्लेख मिलता है जैसे कर माफ कर देना, राज्य द्वारा अन्न और धन का बाँटा जाना, राज्य द्वारा तालाब, कुँए, बावड़ी आदि का निर्माण कराना तथा देश के अन्य भागों से अन्न का आयात करना इत्यादि।

मुस्लिमकाल में भारत में अकालों का बहुत जल्दी-जल्दी प्रकोप हुआ जिनमें ४ अकाल बहुत भयंकर थे। सर्वप्रथम सन् १३४३ ई० में मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में उत्तरी भारत में बहुत ही भयंकर अकाल पड़ा था। सम्राट् ने ६ महीने तक अन्न बाँटने और अकालपीड़ित क्षेत्रों में कुँए आदि खुदवाने की आज्ञा दी थी।

परन्तु कुछ काल बाद ही सम्राट् तक के भंडार में अन्न नहीं रहा और उसे अपनी राजधानी दिल्ली को छोड़ कर दक्षिण में देवगिरि में स्थापित करनी पड़ी थी। इसके पश्चात अलाउद्दीन खिलजी और अकबर के शासन काल में भी अकाल पड़े। शाहजहाँ के शासन में सन् १६३० में सबसे भयंकर अकाल पड़ा जो देश-व्यापी था। उस समय राज्य द्वारा ५० हजार रु० गुजरात में तथा ५००० रु० दिल्ली में प्रति सोमवार को गरीबों में बांटा गया तथा ७० लाख रु० का कर माफ किया और अन्न वितरण किया गया। इस अकाल का वर्णन करते हुए एक डच व्यापारी वान्ट्रिवस्ट (Vantrivest) ने लिखा है कि "मनुष्य अपने स्त्री बच्चों को छोड़कर चले गये थे। स्त्री-पुरुष और बच्चे गुलामों की भाँति बिकते थे। भूख से पीड़ित मनुष्य नर-मांस खाकर भूख को शाँन्त करते थे। कुछ परिवार इकट्ठे ही विष खाकर मर गये तथा कुछ नदियों में डूबकर मर गये। सारा देश लाशों से पटा हुआ था और लाशें सड़ रही थीं। कुछ डच लोगों ने अहमदाबाद से आते हुए देखा कि कुछ लोग आग के सहारे बैठे हाथ और पैर के टुकड़े को भून रहे थे। कितना भयावह दृश्य था ! इससे भी अधिक भयानक सुसुत्र गाँव का वह दृश्य था जहाँ नर-मांस खुले बाजार बिक रहा था। इस भयंकर दैवी प्रकोप का प्रभाव उन दरिद्रों पर अधिक पड़ा जिनके पास कुछ भी नहीं था। इसी प्रकार स्वाली गाँव के २६० परिवारों में केवल ११ परिवार शेष बचे थे।"[1]

इसके पश्चात् सन् १६६० से सन् १७५० तक लगभग १४ ऐसे ही भयानक अकाल पड़े। परन्तु इनका कहीं ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। सन् १७६९-७० में बंगाल में बड़ा भयानक अकाल पड़ा जिसमें लगभग १ करोड़ मनुष्य मर गये। सन् १७९०–९२ में भारत के इतिहास का सबसे अधिक भयंकर अकाल दक्षिणी भारत में पड़ा जिसका प्रभाव बम्बई, हैदराबाद, मद्रास में विशेषतः पड़ा जहाँ पर कि सर्व प्रथम अकाल-पीड़ितों की सहायतार्थ कुछ कार्य किये गये। सन् १८३३ में भी मद्रास में एक भीषण अकाल पड़ा जिसका उल्लेख करते हुए कप्तान वाल्टर केम्बल ने लिखा है "यह बात देखने में बड़ी वीभत्स प्रतीत होती है कि मानव किस प्रकार के जघन्य खाद्य पर उतर आता है। वह भूख से पीड़ित अभागे मनुष्य, मरे हुए कुत्तों और घोड़ों को बड़े चाव से खा जाते हैं।"[2]

सन् १८३८ से १८९९ तक लगभग ८ बड़े अकाल पड़े। सन् १८३८ के अकाल में लगभग ८ लाख मनुष्य मरे थे। उड़ीसा का वह प्रसिद्ध अकाल सन् १८६५-६७ में पड़ा था जिसमें लगभग १० लाख मनुष्य अर्थात् उड़ीसा की लगभग $\frac{1}{3}$ जनसंख्या परलोक सिधार गई थी। तदुपरान्त सन् १८६६ में मद्रास में तथा सन् १८६८-७० में पश्चिमी भारत में अकाल पड़े। सन् १८७३-७४ में

---

1. Quotations taken from Moreland "Akbar to Aurangzeb" pp. 212 quoted by Piarey Lal Rawat in 'भारत का आर्थिक विकास' P. 148
2. Ramesh Dutt "Economic History of India (Victorian Age)" pp. 70.

बिहार में तथा सन् १८७६-७९ में दक्षिणी भारत में भीषण अकाल पड़े। दक्षिणी भारत के अकाल ने प्रथम वर्ष में का केवल दक्षिण को ही नष्ट किया, परन्तु द्वितीय वर्ष में इसका प्रभाव C. P. जो आजकल मध्य प्रदेश में है, उत्तर प्रदेश और पंजाब तक बढ़ गया था। सन् १८९६-९७ में बम्बई, मद्रास तथा C. P. में बड़ा अकाल पड़ा जिसने इन प्रान्तों को उजाड़ दिया और लगभग १० लाख व्यक्ति मारे गये। सन् १८९९-१९०० के अकाल ने भी बम्बई, C. P., बरार, हैदराबाद आदि प्रान्तों के ४,७५,००० वर्गमील क्षेत्र तथा ५९,५००,००० मनुष्यों को प्रभावित किया था।

भारतीय सरकार की अकाल निवारण नीति जो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले अकालों की भीषणता के परिणाम-स्वरूप अपनाई गई थी, के कारण सन् १९०१ से १९४३ ई० तक कोई विशेष अकाल नहीं पड़ा। जो छोटे-छोटे अकाल पड़े वे सब स्थानीय ही थे। परन्तु सन् १९०७ का अकाल जो उत्तरप्रदेश में वर्षा की कमी और बुन्देलखण्ड में फसल नष्ट हो जाने के कारण पड़ा था, काफी हानिकारक सिद्ध हुआ। सन् १९२०-२१ में फिर मद्रास, मध्यप्रदेश, बम्बई, पंजाब आदि में एक भीषण अकाल पड़ा जिससे काफी क्षति हुई।

बंगाल में सन् १९४३ का भीषण दुर्भिक्ष (अकाल)

परन्तु सरकार की अकाल निवारण नीति सन् १९४३ में पूर्णतया सफल सिद्ध हुई और फलस्वरूप इस वर्ष भारतीय इतिहास में सबसे भीषण अकाल पड़ा था। सन् १९४२ में ब्रह्मा के जापानियों के अधिकार में चले जाने से बड़ी संख्या में बर्मा के शरणार्थी बंगाल और उड़ीसा में आये और ब्रह्मा से चावल का आयात बिल्कुल बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त युद्ध के खतरे से खाद्यान्न का हटाया जाना, नावों का नष्ट करना, आदि कार्यों से बंगाल में अकाल पड़ गया। सन् १९४३ के आरम्भ में ही अकाल के लक्षण दिखाई देने लगे थे क्योंकि चावल की कीमतें व्यापारियों द्वारा असीमित संग्रह (Hoarding) तथा सट्टेबाजी और चोर-बाजारी के कारण बहुत अधिक हो गई थीं। अनेकों स्थानों पर नियन्त्रण (Control) होने के कारण खाद्यान्न का प्रदाय (Supply) होना ही बन्द हो गया था। इसी वर्ष घोर वर्षा से दामोदर नदी में बाढ़ आने के कारण उत्तरप्रदेश तथा पंजाब से भी अन्न न आ सका, तथा युद्ध के कारण यातायात के साधनों के अभाव में बाहर से भी अन्न न आ सका और जो कुछ थोड़ा-बहुत आया भी था उसका उचित वितरण न हो सका। इस पर भी भारत की केन्द्रीय सरकार ने लंका को खबर भेजना आरम्भ कर दिया था। इन सब कारणों से बंगाल का भीषण अकाल पड़ा। उक्त कारणों के अध्ययन करने से बंगाल के इस भीषण अकाल की जिम्मेदारी तत्कालीन शासन पर ही आती है। इस अकाल ने सन् १९४३ के मई और जून मास में चटगाँव और नौआखाली के जिलों से अपना विकराल रूप दिखाया तथा जुलाई के अन्त तक सारे ग्रामीण क्षेत्र प्रभावित हो गये और दिसम्बर सन् १९४३ तक मृत्यु संख्या अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। लॉर्ड एमरी के अनुसार लगभग १० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई पर

अन्य सूत्रों के अनुसार ५० हजार प्रति सप्ताह मृत्यु संख्या थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रोपालाजी-विभाग की खोज के अनुसार इस अकाल में लगभग ३२,२५,००० व्यक्ति मृत्यु की गोद में गये। पर अकाल आयोग ने मृत्यु-संख्या १० और २० लाख के बीच में निश्चित की है। इस दुर्भिक्ष के कारण बंगाल में चारों ओर हाहाकार फैल गया था। कलकत्ता जैसा सुन्दर नगर भूखे और नंगे लोगों का शिकारागाह बन रहा था। नगरों से भी अधिक दयनीय अवस्था गाँवों की थी जहाँ निर्धनता के कारण लोग मृतकों की अन्तिम क्रिया भी नहीं कर पाते थे और लाशों को नदी-नालों में फेंक देते थे। केवल इतना ही नहीं वरन् पुरुष, स्त्री और बच्चों का क्रय-विक्रय भी हुआ। यूनाइटेड प्रेस के अनुसार नाब्रोकाना में ३ से १५ वर्ष तक की बालिकाओं को अनैतिक रीति से वेश्यालयों में बेचा जाता था जिनकी खरीद की दर केवल डेढ़ रुपया थी। भूख से पीड़ित महिलाएँ एक समय भोजन के लिए शरीर विक्रय तक करती थीं। इस प्रकार इस दुर्भिक्ष ने बंगाल के आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन को बिलकुल नष्ट कर दिया था।

सरकार की व्यक्तिगत धन, अन्न और वस्त्र की सहायता तथा चावल की फसल अच्छी होने के कारण सन् १९४४ के प्रारम्भ में स्थिति में सुधार हो गया और लोग फिर से बस गये। परन्तु बंगाल के इस अकाल ने देश को एक चेतावनी दी यदि समय पर काम न किया गया तो समस्त देश को अन्न-संकट का सामना करना पड़ेगा। अतः सारे देश में खाद्य-स्थिति के सुधारने के प्रयत्न किये गए। परन्तु फिर भी सन् १९५० ई० में बिहार में बाढ़ तथा घोर वर्षा के कारण अन्न का अभाव हो गया, और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई जिससे लोगों को एक समय भोजन मिलना भी दुर्लभ हो गया। तत्पश्चात् सन् १९५१ में गुजरात, पंजाब के कुछ जिले, सौराष्ट्र, राजस्थान, अजमेर तथा मध्य भारत के कुछ भागों में वर्षा न होने के कारण हलके से अकाल की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई। सन् १९५२ में मद्रास राज्य के रायल सीमा क्षेत्र मे फिर एक भीषण अकाल पड़ा था जिसको राष्ट्रीय सरकार ने तुरन्त ही वश में लाने का प्रयत्न किया और सफल भी हुई।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अकालने समय-समय पर देश में प्रकोप किये है। परन्तु जैसा कि उपयुक्त है कि आज अकाल का रूप बदल गया है और यह खाद्यान्न के अभाव में न होकर धन क्रय-शक्ति अभाव में और बेरोजगारी की अवस्था में उत्पन्न होता है। भारत में आज खाद्यान्न की कमी नहीं रही। इसलिए आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि भारतीय सरकार विभिन्न प्रयत्नों द्वारा खाद्यान्न को बढ़ाकर बेरोजगारी की समस्या को हल कर तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर कुछ ही वर्षों में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होते-होते अकाल जैसे क्रूर दानव का सदा के लिए अन्त करने में सफल होगी।

अकाल के कारण—

(१) प्राकृतिक वर्षा का न होना—प्राचीनकाल से ही भारतीय कृषि वर्षा पर

निर्भर रही है। जिस वर्ष भी वर्षा नहीं होती उसी वर्ष नोल्स (Knowles) के अनुसार कृषि उद्योग में पाला पड़ जाता है। भारत में साधारणतया ५ वर्ष में एक वर्ष सूखा पड़ता है और प्रति १० वर्ष में एक बार भीषण अकाल पडता है। इस प्रकार भारत जैसे देश में जहाँ लगभग ७२% जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, वर्षा का न होना अकाल का प्रमुख कारण बन जाता है।

(२) **अत्यधिक वर्षा व बाढ़**—जिस प्रकार सूखा होने से फसलें नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार अत्यधिक वर्षा भी कभी-कभी फसलों को पूर्णरूपेण नष्ट कर देती है और कभी-कभी बाढ़ से भी अकाल पड़ जाता है।

(३) **टिड्डी-दल व अन्य जानवर और अन्य बीमारियाँ**—प्राकृतिक प्रकोपों के अतिरिक्त जब खेतों पर टिड्डी-दल का आक्रमण होता है तो मीलों तक फसलें नष्ट हो जाती हैं। अन्य जंगली जानवर भी जैसे--भेड़िया, लोमडी, बन्दर आदि फसलों को खा जाते हैं। इसके अतिरिक्त खेतों को कीड़े व विभिन्न प्रकार के रोग लग जाते हैं जिससे कि खाद्यान्न की उपज में कमी होती है और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) **जंगलों का कटना**—जंगलों को निर्दयता से काटने पर वर्षा ठीक मे नहीं हो पाती तथा भूमि में नमी नहीं रह पाती। भूमि सूखकर मरुभूमि के समान हो जाती है, जैसा कि उत्तर-प्रदेश के कुछ भागों में हुआ है।

(५) **कम उपज**—उक्त कारणों के अतिरिक्त कम उपज का होना अकाल का प्रमुख कारण है। एक ओर तो जनसंख्या अति प्रगति से बढ़ती जाती है, दूसरी ओर खाद्यान्न की उत्पत्ति या तो उतनी ही है या कुछ फसलों में यदि वृद्धि भी हुई है तो जनसंख्या के अनुपात में नहीं।

(६) **यातायात के साधनों का अभाव**—अच्छे और सस्ते यातायात के साधनों के अभाव में अन्य स्थानों से अकाल-ग्रस्त स्थानों में खाद्यान्न नहीं लाया जा सकता। भारत में विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों का आज भी अभाव ही है।

आर्थिक कारण—

(१) **निर्धनता**—सबसे प्रमुख कारण तो भारतीयों की निर्धनता है जिससे कि उनमें किसी भी आपत्ति का सामना करने की शक्ति नहीं रहती। फलतः खाद्यान्न की कमी के कारण महँगे मूल्यों पर अन्न नहीं खरीद सकते; तथा भुखमरी फैल जाती है।

(२) **भारतीय कृषकों का ऋण-ग्रस्त होना**—यह भी उनकी निर्धनता के बढ़ने में प्रधान कारण है और परोक्ष रूप में अकाल का कारण भी रही है।

(३) **भूमि-कर की प्रथा**—भारत में जमींदारी प्रथा और विशेषतः स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा भी अकाल के लिए जिम्मेवार ठहराई जाती है।

(४) **अन्य सहायक उद्योगों का प्रभाव** - भारतीय ग्रामों में कृषक वर्ष में लगभग ४-६ महीने निठल्ले रहते हैं तथा इस काल में व्यस्त रहने के लिए सहा-

यक उद्योगों का पूर्णतया अभाव है। इसका परिणाम यह होता है कि यदि किसी वर्ष फसल नष्ट हो जाती है तो कृषकों के पास कोई अन्य आय का साधन नहीं रह जाता।

(५) **कुटीर उद्योगों का पतन**—विदेशी सरकारी नीति के द्वारा तथा मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के आयात से भारत के छोटे-छोटे कुटीर उद्योग बिलकुल नष्ट हो गए और एक बहुत बडी मनुष्यों की संख्या जो इन पर निर्भर थी, बेकार हो गई, तथा अपने पालन-पोषण के लिए उन्होंने पुनः कृषि-उद्योग को अपनाया जिससे भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता ही गया। फलतः भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होती गई जिससे उत्पादन में भी कमी हुई।

अकाल के आर्थिक प्रभाव—

(१) आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में अकाल की भीषणता अधिक होती है और उसके तत्कालीन परिणाम के अतिरिक्त भविष्य में भी भीषण परिणाम देखने को मिलते हैं। उदाहरणतया कलकत्ता विश्वविद्यालय ने १९४३ के अकाल के परिणाम का अध्ययन करने के लिए लगभग ७०० परिवारों की जाँच की थी। उनके अनुसार लगभग २४·७% परिवार अस्तव्यस्त हो गये थे। पति पत्नियों को छोड़ने और पत्नियाँ को अनैतिक कार्य करने के लिए प्रेरित हुई थीं तथा लाखों मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हुए थे।

(२) अकाल में खाद्यान्न की कमी के कारण मजदूरों की कार्यकुशलता घट जाती है। तथा भूख के कारण अनेकों संक्रामक रोग फैलते हैं जो सहस्त्रों प्राण का बलिदान ले लेते हैं।

(३) अकाल के पड़ने से कृषि-उद्योग में अनिश्चितता आती है जिससे कृषक और उसकी आर्थिक दशा पर भीषण प्रभाव पड़ता है और उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है फलतः अन्य वस्तुओं की माँग कम हो जाने से उत्पादन घट जाता है।

(४) अकाल में अन्न की कमी के साथ-साथ चारा और भूसे का भी अभाव हो जाता है जिससे देश के पशु-धन को भारी क्षति पहुँचती है।

(५) अकाल का समाज, सरकार, कृषि एवं उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि कृषि उत्पादन तथा अन्य वस्तुओं के आयात में कमी होने से रेलों की आय कम होती है और सरकार के लगान की आय भी कम हो जाती है। उधर सरकार को सहायता-कार्यों में अधिक व्यय करना पड़ता है। अतः जनता को अकाल के इन भीषण प्रभावों से रक्षा करने के लिए भारतीय कृषि-संगठन के दोषों का निवारण तथा देशवासियों की आर्थिक दशा को सुधारने की परम आवश्यकता है।

अकाल निवारण के उपाय (Remedies)

१. **कृषि में सुधार**—कृषि भारतवासियों का प्रमुख उद्यम है, अतः विकास की प्रत्येक योजना में कृषि का प्रथम स्थान होना आवश्यक है। भविष्य में अकाल

को रोकने के लिए हमें विज्ञान, अनुसन्धान तथा सहकारिता द्वारा कृषि के साधनों में काफ़ी सुधार करना होगा।

२. **बनों की सुरक्षा**—भूमि-क्षरण आदि समस्याओं को समाप्त करने के हेतु तथा अन्य आर्थिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से (जो दूसरे अध्याय में उल्लेख की जा चुकी हैं) सरकारी नीति द्वारा वनों की रक्षा करना परम आवश्यक है।

२. **कुटीर उद्योगों का पुनर्संगठन**—भारत में कुटीर उद्योगों के महत्व के विषय में दो विचार कभी नहीं हो सकते। ये लाखों मनुष्यों को रोजगार प्रदान करते है तथा बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता भी नही करते। अतः भारत के करोड़ों मनुष्यों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए कुटीर-उद्योगों का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

४. **उद्योगों का विकास**—भारत में दोनों—बड़े-बड़े उद्योग तथा छोटे-छोटे कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास आवश्यक है।

५. **यातायात के साधनों का विकास**—कृषि और उद्योगों के विकास के हेतु भारत में अच्छी सड़कों व रेलों की मात्रा का बढ़ाना बहुत ही आवश्यक है।

६. **परदेश-गमन**—विदेशों में जाकर बसना भी एक सुझाव है। परन्तु संसार की आज की राजनीतिक दशा में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है कि आज किसी भी देश में भारतीयों के लिये आदरपूर्ण स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत में ही एक स्थान से दूसरे स्थान में जा बसने का भी कोई क्षेत्र नहीं है क्योंकि उन्नत राज्य पहले से ही घने बसे हुए हैं।

अकाल-निवारण नीति

हिन्दू और मुस्लिम काल में अकाल पीड़ित क्षेत्रों में अथवा मनुष्यों की सहायतार्थ जो भी प्रयत्न किये जाते थे उनका स्थानीय महत्व होता था तथा यह सारे प्रयास तत्कालीन शासकों की व्यक्तिगत अभिरुचि पर निर्भर होते थे। उस समय दुर्भिक्ष-निवारण की कोई स्थायी व देश-व्यापी नीति नही थी, न कोई अकाल नियम ही थे। अकाल-निवारण नीति की दृष्टि से सन् १८६५, १८७६-७८, १८९६-९७ तथा १८९९-१९०० के अकाल बहुत महत्वपूर्ण थे। वैसे तो सन् १८६५ में उड़ीसा के प्रसिद्ध अकाल के पश्चात् राज्य द्वारा अकाल-निवारण की ओर प्रथम प्रयत्न किया गया था, परन्तु दक्षिणी भारत के सन् १८७६–७८ के भीषण अकाल के पश्चात् सर्वप्रथम सन् १८८० में सर रिचर्ड स्ट्रैची (Sir Richard Strachey) की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग की सरकार द्वारा नियुक्ति की गई जिसने भविष्य की अकाल-निवारण नीति के सिद्धान्तों की नींव डाली। यह सिद्धान्त निम्म-लिखित थे :—

१. कार्य करने योग्य स्वस्थ व्यक्तियों को पर्याप्त वेतन पर काम दिया जाय।

२. कार्य करने में असमर्थ व्यक्तियों को आर्थिक सहायता दी जाय।

३. ऐसे स्थानों के अतिरिक्त, जहाँ खाद्य का अभाव है अन्य स्थानों में खाद्यान्न की पूर्ति व्यक्तिगत व्यापारियों पर छोड़ दी जाए।

४. फसल नष्ट होने पर लगान में छूट दी जाय, तथा ऋण द्वारा आर्थिक सहायता दी जाय।

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर सन् १८९६-९९ और १८९९-१९०० के अकालों में बनाई हुई नीति का प्रयोग किया गया और आवश्यकतानुसार उनमे संशोधन कर दिया गया, तथा अकाल से जनता को मुक्त करने की चेष्टा की गई। इसी बीच सन् १८७८ में सरकार ने १½ करोड़ रु० का वार्षिक अकाल बीमा अनुदान (Famine-in surance grant) स्वीकृत किया था, जिससे अकाल-निवारण में काफी सहयोग मिला। तदुपरान्त सन् १८९६-९७ के अकाल में कुछ अकाल नियमों को लागू किया गया तथा अकाल के बाद एक दूसरे आयोग की सर जेम्स लॉयल की अध्यक्षता में नियुक्ति की गई। इस आयोग की रिपोर्ट में कुछ विशेष वर्गो के व्यक्तियों, जैसे जुलाहों तथा पहाड़ी लोगों को आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया गया था, तथा अकाल कोषों के नियन्त्रण के लिए कुछ नियम भी बनाए गए थे। साथ ही आयोग ने सहायता कार्य को अधिक-से-अधिक विकेन्द्रित करने का सुझाव दिया था। इस प्रकार के प्रयत्नों से इस अकाल के प्रभावों से लोग मुक्त भी नही हो पाये थे कि १८९९ में एक अकाल पुनः पडा, जो सन् १९०० तक चलता रहा। फलतः सन् १९०१ में सर एन्थौनी मेकडानल्ड (Sir Anthony Macdonald) की अध्यक्षता में एक तीसरे अकाल आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने नैतिक विधि (Moral Strategy or Putting Heart into the People) अर्थात् लोगों को धैर्यपूर्वक साहस से सामना करने का प्रोत्साहन दिया तथा किसानों को शीघ्रातिशीघ्र तकावी ऋण, मालगुजारी की माफी और विवेकपूर्ण दृढ़ता की नीति को अपनाने के सुझाव दिये। आयोग ने पशुओं के लिये चारे की उचित व्यवस्था के भी सुझाव दिये तथा राज्य की ओर से सिंचाई की उचित व्यवस्था और सहकारी समितियों की स्थापना का भी अनुरोध किया। सरकारी प्रयत्नों के अतिरिक्त गैर-सरकारी व्यक्तिगत प्रयासों को सहायता देने और प्रोत्साहित करने का अनुरोध भी किया गया था। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त तक सरकार ने इन आयोगों के सुझावों के अनुसार अकाल-निवारण के लिये तथा उनको भविष्य में रोकने के लिये अनेकों प्रयत्न किये। अकाल बीमा अनुदान के १½ करोड़ रुपये से रक्षात्मक कार्य किये गये, जैसे नहरों तथा रेलों का निर्माण। सन् १९१९ के कानून के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को अपने-अपने प्रान्तों में अकाल निवारण कोष की स्थापना का आदेश दिया गया। इस कोष की धनराशि केन्द्रीय सरकार के अधीन होती थी जो उस राशि पर ब्याज देती थी तथा उस धन को निश्चित दशाओं में अकाल-निवारणार्थ व्यय किया जा सकता था। सन् १९०० में भारतीय अकाल ट्रस्ट (The Indian People's Famine Trust) की स्थापना की गई जिसमें महाराजा जयपुर ने १६ लाख रुपया दान दिया। थोड़े ही समय में अन्य समाज-सेवकों की उदारता से इस कोष की धनराशि २८ लाख रुपया हो गई। सन् १९३४ में यू० पी० का Famine Orphan's Fund भी इसी कोष में सम्मिलित कर दिया

गया। इस प्रकार प्रान्तीय सरकार ने अकाल-निवारण के हेतु भिन्न-भिन्न नियम बनाये जिनके अनुसार सहायता कार्य किया जाता था।

अकाल निवारण की वर्तमान विधि

अकाल-निवारण की समस्त योजना सरकार के हाथों में थी। अकाल पड़ने के सारे लक्षणों पर, जैसे अनावृष्टि, पशुओं का इधर-उधर घूमना, अन्न की महंगाई, छोटे-छोटे अपराध आदि, पर कड़ी निगाह रखी जाती थी। इन लक्षणों के प्रगट होते ही सरकार उनको दूर करने में अन्न आदि का संग्रह एवं आयात का प्रबन्ध करती थी और जब यह लक्षण समाप्त होने लगते थे तो धीरे-धीरे अपनी सहायता कम करती जाती थी। इस प्रकार अकाल-निवारण नीति के दो प्रधान अंग थे। (१) अकाल पीड़ितों की तुरन्त सहायता करना और (२) अकाल की पुनरावृत्ति को रोकने के हेतु दीर्घकालीन प्रयत्न, जैसे यातायात, सिंचाई, बीज तथा खाद आदि का वितरण। अकाल के समय सहायता-कार्य को तीन भागों में बाँटा जाता था: (१) जनता को अकाल की चेतावनी देना, (२) अकालपीड़ितों की सुविधानुसार सहायता करना तथा (३) जीवरक्षा जैसे वैद्यकीय सहायता और दरिद्राश्रमों को खोलना आदि।

परन्तु सन् १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष में अकाल-निवारण के उक्त सिद्धान्त विफल हो गये। फलस्वरूप सन् १९४५ में सर जौन वुडहैड की अध्यक्षता में एक अकाल जाँच आयोग (Famine Enquiry Commission) की नियुक्ति की गई जिसने अपनी दो रिपोर्टें सरकार के समक्ष प्रस्तुत कीं। प्रथम रिपोर्ट में बंगाल के अकाल का वर्णन तथा द्वितीय व अन्तिम रिपोर्ट में आयोग ने अकाल-निवारण के हेतु निम्न-लिखित सुझाव दिये थे—

१. २५००० अथवा अधिक जनसंख्या वाले नगरों में खाद्य नियन्त्रण (Food Control) लागू किया जाय और अन्न का वितरण उचित रूप से करना चाहिए।

२. 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

३. देश-भर में खाद्य नीति का समन्वय करने के लिए अखिल भारतीय खाद्य परिषद् (All India Food Council) को स्थापित किया जाय तथा क्षेत्रीय खाद्य परिषदों (Regional Food Councils) की स्थापना भी की जाय।

४. अन्न खरीदने पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार होना चाहिए।

५. लाइसेन्स आदि देने की सरकारी नीति को अधिक कठोर बना दिया जाना चाहिए।

६. जिन कृषकों के पास २५ एकड़ से अधिक कृषि-भूमि है वह सरकारी नियन्त्रण में ले लेनी चाहिए।

७. फसलों पर अधिकार करने के बजाय किसानों को बाजार में सरकार के हाथ अनाज बेचने का प्रलोभन देना चाहिए।

८. देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए खाद्य की मात्रा को बढ़ाया जाय तथा जनसंख्या की वृद्धि को वैज्ञानिक साधनों द्वारा रोका जाय।

उक्त सुझावों के आधार पर सरकार ने वर्तमान स्थिति में काफी सुधार करने का प्रयत्न किया है। सन् १९५२ में रायल सीमा में अकाल की दशा उत्पन्न होने पर तुरन्त ही सरकार ने भारतीय सेना से सहायता ली और सैनिकों को अकाल-पीड़ितों की सहायतार्थ प्रभावित क्षेत्रों में भेजा। इस प्रकार हजारों मनुष्यों को मृत्यु के मुख में जाने से बचा लिया। अतः भविष्य बहुत आशापूर्ण प्रतीत होता है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पश्चात् भारत से अकाल का भय सदा के लिए समाप्त हो जायगा तथा अकाल केवल एक ऐतिहासिक घटना मात्र ही रह जायगा।

अकाल का प्रभाव

भारत में बार-बार अकाल पड़ने का फल यह हुआ कि सरकार को अपनी स्वेच्छावादी नीति (Laissez Faire Policy) को छोड़कर भारतीय उद्योगों के प्रति सहानुभूति पूर्ण तथा उदारता की नीति अपनानी पड़ी। इसके अतिरिक्त अकालों ने आवागमन के साधनों का महत्व (विशेषतया रेलों का) बहुत बढ़ा दिया। लार्ड डलहौजी ने रेलों के निर्माण की सिफारिश करते हुए ब्रिटिश सरकार को लिखा था कि "भारत में अकाल-निवारण के लिए रेलों का होना अति आवश्यक है।" अकालों के कारण नहरों का निर्माण तथा सिंचाई के अन्य साधनों का विकास भी हुआ जिससे सूखा पड़ने का भय कम हो गया तथा भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ गई। देश की लगान व्यवस्था में भी सुधार किये गए और वैज्ञानिक खोज द्वारा कृषि के साधनों में सुधार करके उत्पत्ति बढ़ाने के प्रयत्न किये गये। सरकार ने एक अकाल निवारण संस्था स्थापित की। किसानों को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए अनेक कानून बने तथा सहकारी ऋण-व्यवस्था आरम्भ की गई। भारतवासियों में गतिशीलता आ गई और वे अकाल के भय से अन्य देशों में जाकर बसने लगे। अकालों का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि भारत में उद्योगों के विकास का महत्व समझा जाने लगा। सारांश यह है कि अकालो ने सरकार के उत्तरदायित्व को बहुत बढ़ा दिया है।

अध्याय ८

भारतीय कृषि और उसकी समस्याएँ

(INDIAN AGRICULTURE & ITS PROBLEMS)

आर्थिक महत्व—अनादि काल से भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है। यहाँ की जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि पर निर्भर है। कृषि भारतवासियों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्यम है। प्रति ३ व्यक्तियों में २ सीधे ही अपनी जीविका के लिए इस पर निर्भर रहते हैं, तथा अन्य ग्रामीण जनता अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार ८२·७% जनसख्या ग्रामीण है तथा कुल जनसंख्या के ६९·४% व्यक्ति अर्थात् २४·९ करोड़ व्यक्ति प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से खेती में ही लगे हुए हैं। परन्तु भारत में भूमि पर जनसंख्या का भार, अल्प उत्पादन, दोषपूर्ण कृषि-प्रणाली तथा संगठन के कारण कृषि एक अलाभकारी उद्यम मात्र रह गया है।

यद्यपि भारत में खेती के बहुत से साधन हैं और अनेकों प्रकार की फसलें उत्पन्न की जाती हैं, क्योंकि यहाँ के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न जलवायु तथा भूमि की दशाएँ है, किन्तु फिर भी बहुत समय से देश में बडी मात्रा में खाद्यान्न प्रतिवर्ष आयात होता रहा है। इधर कुछ वर्षों में खाद्यान्न की कमी और भी अधिक हो गई थी। परन्तु यह कोई नवीन घटना नहीं थी। जब तक बर्मा से चावल का आयात होता रहा, तब तक भारत में खाद्यान्न की कमी प्रतीत नहीं हुई, किन्तु बर्मा के जापान के हाथ में जाते ही चावल का आना बन्द हो गया तथा देश में खाद्यान्न की कमी भी एक समस्या बन गई। उधर देश के विभाजन से कृषि-योग्य भूमि में पर्याप्त कमी हो जाने से तथा मनुष्यों की संख्या बढ़ जाने से यह समस्या और भी गम्भीर हो गई। तदुपरान्त कोरियन युद्ध आरम्भ हुआ और देश में प्राकृतिक प्रकोप, जैसे सूखा, बाढ़ इत्यादि ने स्थिति और भी खराब कर दी। परन्तु देश में सन् १९५१-५२ में प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू हुई और सर्वप्रथम खाद्यान्न की उपज बढ़ाने की चेष्टा की गई और योजना आयोग ने सन् १९५५-५६ के अन्त तक खाद्यान्न की उत्पत्ति में सन् १९४९-५० की उत्पत्ति के आधार पर, ७०·६ लाख टन की वृद्धि करने का लक्ष्य बनाया था। परन्तु इस लक्ष्य को सन् १९५३-५४ में ही प्राप्त कर लिया गया तथा इससे भी ४० लाख टन अधिक उत्पत्ति हुई। अतः आज भारत में खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न हो रहे हैं तथा आयात भी पूर्णतया समाप्त करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

कृषि की विशेषताएँ

संक्षेप में वर्तमान कृषि की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

(१) **जनसंख्या का भार**—कृषि-प्रणाली के सिद्धान्तानुसार ज्यों-ज्यों कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कृषि-उन्नति मन्द पड़ती जायगी। यदि कृषि-कला में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होंगे तो आर्थिक जीवन एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जायगा जब श्रमिकों की संख्या कृषि पर ही भार-स्वरूप बन जायेगी। आज भारत में लगभग ऐसी ही स्थिति है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण देश में प्रतिव्यक्ति कृषि-भूमि क्रमशः घटती जा रही है। प्रति १०० एकड़ कृषि-भूमि पर लगभग ८० व्यक्ति लगे हुये हैं, जो कि कृषि-प्रणाली के प्राचीन, परम्परागत तथा अति श्रमपूर्ण होने के उपरान्त भी वर्ष में ४ से ६ माह तक बेकार रहते हैं। भारतीय कृषि की कुछ ऐसी शैली हो गई है कि उसमें श्रम अधिक और पूँजी अधिक लगी है। ऐसी अवस्था में जो लोग कृषि पर निर्भर हैं उनका गरीब होना स्वाभाविक ही है। निम्न आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय कृषि में कितने मनुष्य बेकार लगे हैं।[1]

देश	प्रति १०० एकड़ भूमि पर लगे व्यक्तियों की संख्या
इंगलैंड	६
अमेरिका	६ से कम
पूर्वी यूरोपियन देश	१५ से कम
भारत	८०

(२) **कृषि में खाद्यान्न की प्रमुखता**—भारत के छोटे-छोटे खेतों में कृषि प्रधानतः जीवन-निर्वाह के लिए की जाती है। अतः इन पर अन्न ही उत्पन्न किया जाता है। खाद्यान्न और तिलहन को छोड़कर कपास, सूत, गन्ना आदि की फसलें भी आय के साधन हैं। परन्तु इनकी खेती सारे देश में नहीं होती इसलिए प्रत्येक किसान को इनसे लाभ नहीं हो पाता। चाय, कहवा और रबर की खेती बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में है और वह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित हैं। बागवानी और दुग्धशाला जैसे उद्योगों का भारतीय ग्रामों में अभी विकास नहीं हो पाया है। डॉ० बर्न्स ने भी इस बात की पुष्टि की है कि भारत शाक और फल के उत्पादन में बहुत पिछड़ा हुआ है, फिर भी शाक और फल के क्षेत्रों में क्रमशः कमी होती जा रही है। खाद्यान्न की खेती की तुलना में शाक-भाजी से कितनी अधिक आय हो सकती है यह निम्न तालिका में स्पष्ट है।[2]

१. "अर्थ सन्देश", सितम्बर १९४९, अंक।

2. U. P. Banking Enquiry Report Part I P. 242.

वस्तुओं के नाम	आय (रु० में प्रति बीघा)
नीबू	१७५ रु०
फल या आलू	८० ,,
बैगन या फालसा	६० ,,
गेहूँ	१२ ,,

(३) **प्राचीन व दोषपूर्ण कृषि पद्धति**—खाद्यान्न प्रधान होने के अतिरिक्त कृषि की पद्धति भी कुछ विचित्र सी है। देश में न तो गहरी खेती की प्रणाली प्रचलित है और न विस्तृत खेती की। प्रति एकड़ औसत उपज इतनी कम है कि इसे गहरी खेती नही कह सकते और प्रति एकड़ पूँजी की अपेक्षा श्रम इतना अधिक लगा है कि उसे विस्तृत खेती भी नहीं कहा जा सकता। भारतीय कृषक न तो अच्छे औजार खरीद सकता है और न पूँजी ही किसी स्थायी सुधार में लगा सकता है। इसके विपरीत घर के सभी व्यक्ति उसी छोटी सी खेती के आश्रित होते हैं। अतः श्रम और पूँजी का असन्तुलन भारतीय कृषि की एक विशेषता है।

(४) **अनिश्चित निर्वाह**—भारतीय कृषि आज भी वर्षा पर निर्भर है। वर्षा का वितरण दोषपूर्ण, असमान तथा अनिश्चित है। जब कभी वर्षा नहीं होती, अथवा कम होती है तभी सारे कृषि कार्यों का सन्तुलन नष्ट हो जाता है।

उत्तरप्रदेश के सम्बन्ध में अनुमान है कि ३५ वर्ष में लगभग १६ वर्ष वर्षा कम हुई है, तथा ६ वर्षों में सूखा रहा है।[1] इसी तरह बंगाल में १० वर्षों में केवल एक वर्ष ही ऐसा होता है जब संतोषजनक वर्षा होती है और हर वर्ष प्रान्त में किसी न किसी भाग में अनावृष्टि या बाढ़ का प्रकोप रहता है।[2]

(५) **दोषपूर्ण संगठन**—व्यक्तिगत रूप से भारत का प्रत्येक किसान अत्यन्त निर्धन है तथा उसके साधन इतने सीमित हैं कि वह संगठित रूप में कृषि नहीं कर पाता। फलतः कृषि में मध्यस्थों की संख्या अधिक है। जमींदार, पट्टेदार, ठेकेदार, साहूकार आदि मध्यस्थ स्वतन्त्रता से किसानों की अज्ञानता, अशिक्षा तथा निर्धनता से पहले अनुचित लाभ उठाते रहते थे तथा किसान का आर्थिक स्तर नीचा करने में

1. The Land of Rivers by Dr. Baljit Singh.
2. 'Wither Agriculture in India' By Dr. B. Singh
   Nana Wati & Anjaria in 'The Indian Rural Problem' say "Indian Agriculture has been called a gamble in vains. In any given year, not only may the rains not arrive, but they may arrive too early or too late. Even a year of normal average rainfall may, thus, witness famine conditions because of the untimely commencement or end of the monsoon and the uneven distribution of the rainfall over the season." P. 19 Ed. 1947.

इन्होंने भारी हाथ बटाया था। इसके अतिरिक्त सन् १९४६ तक शासन की ओर से भी कृषि की अवहेलना रही। इस प्रकार किसान का जीवन प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्द्धा और शोषण के झकोरों से त्रस्त रहा है।

(६) **अलाभकारी अर्थ-व्यवस्था**—कृषि की उक्त विशेषताओं के कारण भारतीह कृषि एक अलाभकारी उद्यम मात्र रह गया है। वास्तव में कृषि की इतनी दुरावस्था है कि न तो कृषकों को अच्छी आय ही होती है और न खेती में पर्याप्त उपज ही होती है। हमारे ग्रामीण जीवन को अन्य देशों के स्तर तक ऊँचा उठाने के लिए प्रति एकड़ उपज को दुगनी या चौगुनी करना आवश्यक है, तभी कृषक की आय बढ़ सकती है और तभी कृषि केवल जीवन-निर्वाह का साधन न रहकर लाभकारी व्यवसाय बन सकती है।

भारत में कृषि योग्य भूमि

भारत में लगभग २९९० लाख एकड़ भूमि में प्रतिवर्ष खेती की जाती है। कृषि सचिवालय द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार भूमि का वितरण इस प्रकार है।

(१० लाख एकड़ अथवा मिलियन एकड़ में)

वर्ष	कुल क्षेत्रफल	बन	कृषि के लिए अप्राप्य भूमि	कृषि योग्य व्यर्थ भूमि	ऊसर भूमि	यथार्थ में बोई गई भूमि
१९४९-५०	८१०	९३·१	९६·१	९८·४	५८·२	२६६
१९५३-५४[1]	८१३	१४७·७	९०·२	९५·३	५८	२९९

कृषि की गई भूमि के केवल १९% भाग में सिंचाई की सुविधा प्राप्त है तथा अन्य भागों में वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। सिंचित भूमि तथा असिंचित भूमि के उत्पादन में भी भारी अन्तर है। सिंचाई से भूमि की उत्पत्ति लगभग दुगुनी से चौगुनी तक बढ़ जाती है। इसीलिये प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई की सुविधा के विकास कार्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्रथम योजना के अन्त में सन् १९५५–५६ तक ४९० लाख एकड़ भूमि (१९४९–५०) के स्थान पर लगभग ६८०·७ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होने लगेगी।

अपर्याप्त उत्पादन

भारतीय कृषि की उक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि कृषि की दशा ठीक नहीं है और उत्पादन बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये अपर्याप्त है, क्योंकि यहाँ की भूमि की उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

---

१. **इन आंकड़ों में नये सम्मिलित हुए क्षेत्रों का क्षेत्रफल भी शामिल है। नवम्बर सन् १९५४ को फ्रेंच अधिकृत क्षेत्र के मिलने से भारत के क्षेत्रफल में २०० वर्ग मील और बढ़ गये हैं।**

उत्पत्ति का तुलनात्मक चित्र (१९४८)

वस्तुएँ	देश (उपज पौण्ड प्रति एकड़)										
	भारत	बर्मा	चीन	जापान	आस्ट्रेलिया	कनाडा	अमेरिका	पाकिस्तान	मिस्र	क्यूबा	मारीशस
रुई कच्ची	८८						३१२	१५९	५९०		
खाँड	३०६३						३७०१	३१०		४५६७	६१३२
पटसन	१०५९							११६८			
गेहूँ	५९३				९०९	९७९	१०७९	७३३			
चावल	१०४८	१२१६	२२४८	३३२१							

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि विभिन्न फसलों की उत्पत्ति अन्य देशों की अपेक्षा भारत में काफी कम है। अमेरिका में भारत से दुगना गेहूँ, चौगुनी कपास तथा १। गुनी कच्ची खाँड प्रति एकड़ उत्पन्न होती है।

कम उत्पत्ति के कारण

(१) **खेतों का छोटा तथा दूर-दूर होना** (Sub-division and Fragmentation of Holdings)—भारत के अधिकाँश कृषकों के पास अलाभकारी जोत के खेत (Uneconomic Holdings) हैं जिनमें अच्छे ढंग से खेती नहीं हो पाती।

(२) **मिट्टी के गुणों का ह्रास** (Deterioration in the Soil)—अनन्त काल से भूमि को बिना समुचित विश्राम दिये तथा उस पर निरन्तर खेती होने से उसकी उर्वरा शक्ति क्षीण हो गई है। इस पर भी जनसंख्या की वृद्धि से भूमि पहले से भी अधिक घने रूप में जोती जा रही है, इससे दिन-प्रतिदिन उर्वरा शक्ति का ह्रास होता जाता है।

(३) **उत्तम बीज का अभाव**—भारतीय किसान खेतों को बोने में बीजों की किस्म पर कोई ध्यान नहीं देते तथा साधारणतः घटिया किस्म के बीजों का प्रयोग करते हैं। इससे उपज पर भारी प्रभाव पड़ता है।

(४) **प्राचीन एवं अवैज्ञानिक कृषि-पद्धति**—किसान अशिक्षित तथा अंध-विश्वासी होने के कारण लकीर का फकीर है। और अत्यन्त परिश्रमी होते हुए भी वह अपनी प्राचीन पद्धति में कोई सुधार करना नहीं चाहता। इसके अतिरिक्त निर्धनता के कारण वह आधुनिक यन्त्रों को प्राप्त करने के योग्य भी नहीं है।

(५) **उत्तम खाद व सिंचाई का अभाव**—भारतीय कृषि अधिकतर वर्षा पर ही निर्भर है और जोती हुई भूमि के केवल १९% भाग में सिंचाई के साधन प्राप्त हैं। इस प्रकार शेष ८१% भाग की फसलों का अच्छा या ख़राब होना वर्षा पर

ही निर्भर होता है। यह भारत में अनुभव की हुई बात है कि सिंचाई वाली भूमि में लगभग दूनी से चौगुनी तक अधिक उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय किसान अच्छी खाद का भी प्रयोग नहीं करते तथा अनेक वैज्ञानिक खादों से परिचित भी नहीं है और यदि हैं भी तो धर्मान्धता के कारण उनका प्रयोग करना नहीं चाहते।

(६) **फसलों की विधि**—बीसवीं सदी में कृषि का व्यापारीकरण हो जाने से भारतीय कृषकों ने अखाद्य फसलों (Non-Food Crops) को ही बिना फ़सलों के हेर फेर पर ध्यान दिये हुए बोना प्रारम्भ कर दिया। इससे भूमि की उपज बहुत कम हो गई है।

(७) **पशुओं की बुरी दशा**—पशुओं का कृषि प्रधान देशों में विशेष महत्व होता है क्योंकि बिना इनके भारत जैसे देश में खेतों की जुताई, कुओं से सिंचाई, फसलोंके भण्डार की भराई इत्यादि कार्य असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूध जैसा पौष्टिक पदार्थ भी नहीं मिल पाता। इतना महत्व होते हुए भी हमारे पशुओं की अत्यन्त ही शोचनीय दशा है। वे निर्बल और कम उपयोगी बन गये हैं।

(८) **फ़सल के रोग और कीटाणु** (Pests & Diseases)—सिंचाई के न होने से, कम खाद तथा बिना सड़ी खाद डालने से फसल निर्बल हो जाती है तथा उसमें कीड़े लग जाते हैं, जैसे चावल में फूट राट (Foot Rot) और ब्लास्ट (Blast) कीड़े, गन्ने में मोज़ेक (Mosaic) और रेड राट (Red Rot), मक्का में स्मट्स (Smuts), मूगफली में विल्ट (Wilt) आदि। इन कीड़ों से काफी क्षति होती है। इसके अतिरिक्त भारत में टिड्डी दल का आक्रमण आये दिन होता रहता है। जंगली जानवरों से भी खेतों को भारी हानि होती है।

(९) **क्रय-विक्रय की असुविधा**—भारत में कृषि के उत्पादन के बिक्री के ढंग बहुत दोषपूर्ण हैं। कृषक को अपनी उपज का पूरा मूल्य नहीं मिलता। इससे अधिक उत्पादन करने में वह निरुत्साह हो जाता है।

(१०) **पूँजी का अभाव**—भारतीय कृषि के पिछड़े होने का प्रधान कारण तो कृषक का अत्यन्त निर्धन होना है। यह बात नहीं कि वह कृषि की उन्नति नहीं करना चाहता, परन्तु इसके लिए उसके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। वह अच्छे बीज, खाद, मशीनें इत्यादि नहीं खरीद सकता।

(११) **किसानों की निरक्षरता और धर्मान्धता**—कृषि में सुधार के साधनों को भारतीय किसान प्रयोग करना नहीं चाहता। हाल का ही अनुभव है कि सरकार द्वारा बहुत-सी बातों के प्रदर्शन (Demonstration) करने पर भी तथा उनके लाभ जानकर भी किसानों ने उनको नहीं अपनाया।

(१२) **कृषकों का ऋणग्रस्त होना**—भारतीय कृषक सदा ऋण के भार से दबा रहता है। कहा जाता है कि भारत में कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में ही पलता है तथा ऋण में ही मर जाता है। इससे उसमें अधिक उत्पन्न करने की न तो

इच्छा रहती है और न उत्साह ही रहता है। क्योंकि वह जानता है कि वह जितना ही अधिक उत्पन्न करेगा उतना ही अधिक महाजन को लाभ होगा।

(१३) **भूमि की दोषपूर्ण व्यवस्था**—अन्त में भूमि व्यवस्था के दोषपूर्ण होने से भी हमारी कृषि में कोई उन्नति नहीं हो पाई है तथा इसने सदा शोषण, अत्याचार, अनुपस्थित भूस्वामियों तथा आर्थिक दासता को ही जन्म दिया है।

(१४) उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सरकार की उदासीनता एवं अकर्मण्यता, कृषि-प्रशिक्षण का अभाव, कृषि-अनुसन्धान का अभाव आदि के कारण भी हमारी कृषि इतनी गिरी अवस्था में रही है।

उत्पत्ति बढ़ाने के उपाय

संयुक्त-राष्ट्र संघ (U. N. O.) के कृषि एवं खाद्य विभाग (F. A. O.) के डाइरेक्टर श्री एन० सी० डांड ने भारतीय कृषि की उन्नति के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

१. वनों के काटने पर कड़ा नियन्त्रण कर भूमि-क्षरण को रोका जाय।

२. नल-कूप द्वारा सिंचाई के क्षेत्रों में वृद्धि की जाय।

३. रासायनिक खाद के प्रयोग में वृद्धि करने के बजाय दाल वाली फसलों का अधिक प्रयोग किया जाय जिससे भूमि में नाइट्रोजन का संग्रह हो सके और अधिक काल तक पानी में नमी बनी रहे।

४. मशीनों का केवल नये और बड़े-बड़े खेतों में ही उपयोग किया जाय।

इसके अतिरिक्त अन्य सभी जाँच समितियों अथवा आयोगों ने भी तथा कृषि-विशेषज्ञों आदि ने एकमत होकर यह स्वीकार किया है कि भारतीय कृषि की अवस्था में सुधार करने के हेतु फसलों का संगठन व सुधार वैज्ञानिक विधि से होना अति आवश्यक है। अतः भारत में प्रति एकड़ भूमि में उत्पादन बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय आवश्यक हैं—

१. फसलों की किस्म में सुधार।

२. रोग तथा कीटाणुओं पर नियन्त्रण।

३. फसलों के बोने की प्रणाली विशेषतः उनके हेरफेर में सुधार।

४. देश के विभिन्न भागों में मिट्टी के अनुकूल कृषि का विशेष प्रसार।

५. उत्तम तथा उत्कृष्ट बीजों का प्रयोग।

६. अच्छे व विभिन्न प्रकार के खादों का उपयोग।

७. सिंचाई के साधनों का विकास।

८. भूमि-क्षरण को रोकने के उपाय।

९. छोटे-छोटे खेतों की चकबन्दी।

१०. ऊसर भूमि को पुनः कृषि-योग्य बनाना।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय सरकार द्वारा तथा व्यक्तिगत रूप से कृषि में उन्नति करने के हेतु उक्त उपायों पर अनेक कार्य किये गए हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि भारत में गत वर्षों में कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई

और कुछ वस्तुएँ आयात करने की अपेक्षा निर्यात की जाने लगी हैं। अतः हमारा पूर्ण विश्वास है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक भारत की प्रत्येक कृषि समस्या का हल हो जायगा और भारतीय कृषि दिन प्रतिदिन उन्नति करती जायगी।

भारत की मुख्य फसलें

भारत के कृषि उत्पादन की ये विशेषताएँ हैं–(१) बहुत प्रकार की फसलें तथा (२) खाद्य फसलों का अखाद्य फसलों से आधिक्य देश की कुल जनसंख्या का लगभग ३/४ भाग खाद्य फसलें लगभग ८५% खेती योग्य भूमि पर उत्पन्न करता है। अखाद्य फसलें (Non-Food Crops) कुल जोती गई भूमि के १५% भाग पर उत्पन्न की जाती हैं। जन-गणना कमिश्नर के अनुसार जोती हुई भूमि का वितरण इस प्रकार है—

खाद्य फसलें (Food Crops)	भूमि%	अखाद्य फसलें (Non-Food Crops)	भूमि%
चावल	२६	कपास	४·५
गेहूँ	११·६	पटसन व अन्य रेशेदार फसलें	०·५८
ज्वार, बाजरा	२३·२	चारे की फसलें	४·२
चना, दाल, मक्का व अन्य	२७·२		
		चाय, कहवा, तम्बाकू व अन्य	१·५

भारत में मुख्यतया दो फसलें होती हैं—(१) खरीफ़ (Kharif) और (२) रबी (Rabi)। खरीफ़ की फ़सल अप्रैल और मई में बोई जाती है और इसमें चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना, मूंगफली, तिलहन आदि की फ़सलें सम्मिलित हैं। रबी की फसल अक्तूबर या नवम्बर में जोती जाती है व इसमें गेहूँ, जौ, चना, सरसों, लाही, अरंडी आदि फसलें सम्मिलित हैं।

भारत की खाद्य और अखाद्य फसलों (Food & Non-Food Crops) के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल तथा उत्पादन निम्नलिखित तालिकाओं में दिखाया गया है।

विभिन्न फसलों का क्षेत्रफल (मिलियन एकड़ों में)

वर्ष	खाद्य फसलें					अखाद्य फसलें			
जून माह के अन्त में	चावल	गेहूँ	चना	मूंगफली	गन्ना	कपास	जूट	तिलहन	तम्बाकू
१९४७	६४·७	२५·०	१७·०	१०·३	३·५	११·७	०·६	१२·६	०·८
१९४८	६४·४	२०·९	१९·३	१०·१	४·१	१०·७	०·८	१४·०	०·८
१९५०	७५·४	२४·१	२०·५	९·८	३·६	१२·१	१·५	१५·०	०·९
१९५२	७३·७	२३·४	१६·८	११·८	४·८	१६·२	१·८	१६·६	०·७
१९५३[1]	७४·२	२४·३	१८·०	११·८	४·३	१५·७	१·८	१५·८	०·९
१९५४[2]	७६·६	२६·१	१८·९	११·४	३·६	१७·०	१·२	१६·२	०·९

1. India 1954 Govt. of India, P. 152-53.
2. Refer to Final Estimates.

मुख्य फसलों की उत्पत्ति (मिलियन में)

जून के अन्त में	खाद्य फसलें					अखाद्य फसलें			
वर्ष	चावल टन	गेहूँ टन	चना टन	मूँगफली टन	गन्ना टन	कपास गांठें	सन गांठें	तिलहन टन	तम्बाकू टन
१९४७	२१·७	४·९	३·६	३.६	४·९	२·१	१·६	१·५	०·२७
१९४९	२२·६	५·६	४·५	३·०	४·८	१·८	३·१	१·६	०·२५
१९५१	२०·३	६·४	३·६	३·४	५·६	२·९	४·७	१·६	०·२६
१९५२	२०·७	६·१	३·३	३·०	६·०	३·१	४·७	१·८	०·२०
१९५३	२२·५	७·४	४·६	२·९	५·०	३·१	४·६	१·७	०·२४
१९५४[1]	२७·१	७·८	४·५	३·८	४·६	३·९	३·१	१·८	०·२५

चावल उत्पादन की जापानी विधि (Japanese Method of Rice cultivation)

चावल भारत की प्रमुख खाद्य फसल है किन्तु जापान में भारत की अपेक्षा प्रति एकड़ तिगुनी मात्रा में चावल की उत्पत्ति होती है व संसार में सबसे अधिक होती है। भारत की चावल की खेती की प्रणाली जापान के ही समान है तथा चावल सम्बन्धी जलवायु भी उसी समान है। इसके अतिरिक्त भारत की भूमि, विशेषतया पश्चिमी बंगाल की, जापान से कहीं अधिक उपजाऊ है। जापान में अकसर तूफान और भूकम्प आदि आते रहते हैं फिर भी वहाँ की चावल उगाने की पद्धति कुछ ऐसी है कि इतना अधिक चावल उत्पन्न होता है। इस पद्धति की मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं—

(१) सर्वप्रथम उत्तम बीजों को, २० सेर पानी और १ छटांक साधारण नमक के घोल में मिलाकर चुना जाता है। खराब बीज पानी के ऊपर आ जाते हैं अतः उन्हें फेंक दिया जाता है और शेष बीजों को पारे के कम्पाउन्ड (Mercurry Compound) से धो लिया जाता है।

(२) लगभग ४ फुट चौड़ी और ३ इंच ऊँची बीज उगाने वाली भूमि पर क्यारियाँ बनाकर भूमि अच्छी तरह जोत दी जाती है।

(३) एक एकड़ भूमि पर १५० मन से २०० मन तक अच्छी खाद डालकर ऊपर राख की तह लगा दी जाती है।

(४) भूमि की नराई (Puddling) करके नालियों द्वारा पानी दिया जाता है।

(५) बीज उगाने के लिए एक एकड़ भूमि पर १½ सेर से ३ सेर तक बीज बोये जाते हैं। अच्छी भूमि बनाने के लिए १ मन एमोनियम सलफेट और एक मन

---

1. Refer to Final estimate.

सुपर फासफेट (Super Phosphate) या बोन डस्ट (Bone Dust) डाला जाता है। २८ या ३० दिन में बीज के पौधे उग आते हैं।

(६) इन बीज वाले पौधों को तैयार की हुई भूमि पर ९ इंच की दूरी पर सीधी लाइनों में लगा देते हैं।

(७) इसके १५ या २० दिन पश्चात् नराई (Weeding Operations) करके पुनः भारी मात्रा में खाद और पानी दिया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर रोगनाशक औषधियाँ छिड़की जातीं हैं।

उक्त पद्धति से भारत में सन् १९५३-५४ में २,८०,००० एकड़ भूमि पर चावल की खेती २५ विभिन्न खानों में की गई थी। सन् १९५४-५५ में लगभग २० लाख एकड़ भूमि पर खेती होने का अनुमान है। जिसका प्रदेशवार वितरण इस प्रकार है—

भारत में जापानी पद्धति से चावल की खेती (१९५४-५५)

प्रदेश	लाख एकड़ भूमि
बिहार	४·००
उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश	१·२५
पश्चिमी बंगाल	२·००
आसाम	१·००
मध्यप्रदेश	२·००
विन्ध्य प्रदेश	०·२५
भोपाल	०·१०
राजस्थान	०·२०

उत्तर प्रदेश के २९ जिलों में १९५३-५४ में, लगभग ३५,००० एकड़ भूमि पर जापानी पद्धति से चावल उगाया था जिससे २,४५,००० मन चावल उत्पन्न हुआ था। सबसे अधिक उत्पत्ति ८१·४ मन प्रति एकड़ हुई थी। सन् १९६१ तक उत्तर प्रदेश में लगभग ४ लाख एकड़ भूमि पर इस रीति से चावल की खेती करने का अनुमान है।

भारतीय कृषि के इतिहास में सन् १९५३-५४ का वर्ष विशेष महत्त्वपूर्ण रहेगा क्योंकि इस वर्ष सबसे अधिक उत्पादन हुआ था। यहाँ तक कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना का सन् १९५५-५६ के लक्ष्य को पार करके लगभग ४०·४ लाख टन अधिक उत्पादन हुआ। इस आधिक्य के दो प्रमुख कारण थे—(१) अनुकूल मौसम तथा (२) गहरी खेती। इसीलिए सन् १९५३-५४ में खाद्यान्न के आयात में भारी कमी हुई और १ नवम्बर, सन् १९५४ तक केवल ६,१८,००० टन का आयात हुआ जबकि १९५३ में २० लाख टन का आयात हुआ था। निकट भविष्य में यह आयात भी पूर्णतया समाप्त होने की संभावना है।

अध्याय ६

खेत की इकाई

(AGRICULTURAL HOLDING)

कृषि की उन्नति के लिये प्रधानतः तीन बातों की अति आवश्यकता होती है—

१. कृषि की आर्थिक जोत (Economic holding)।

२. उपयुक्त साधनों की सुविधा।

३. उत्पादन-वृद्धि के लिये अधिक परिश्रम की प्रेरणा।

परन्तु जिस प्रकार कृषि का उत्पादन कृषि के संगठन, औजार, खाद, सिंचाई आदि की सुविधाओं पर निर्भर है उसी प्रकार कृषि की इकाई या जोत का भी भारी महत्व है, क्योंकि उक्त साधनों का उचित उपयोग इसी इकाई पर निर्भर है। यदि कृषि आर्थिक इकाइयों पर की जाती है तब तो उत्पादन ठीक होता है अन्यथा उत्पादन में कमी होने के साथ-साथ अनेकों अपव्यय भी होते हैं।

जोत का अर्थ उस समस्त भूभाग से है जिस पर केवल एक व्यक्ति का स्थायी तथा पैतृक अधिकार होता है। परन्तु इस शब्द का प्रयोग कृषक द्वारा जोती जाने वाली भूमि के लिये भी किया जाता है। इस भाँति दो प्रकार की जोत होती है—

(१) भूस्वत्व वाली जोत (Right holder's holding) तथा (२) कृषक जोत (Cultivator's Holding)। जब भू-स्वामी अपने सम्पूर्ण खाते पर स्वयं खेती न करके उसका कुछ भाग वार्षिक लगान पर अन्य कृषकों को दे देता है तब कृषकों द्वारा जोती हुई भूमि की मात्रा कृषकों की इकाई कहलाती है।

आर्थिक जोत (Economic Holding)

आर्थिक इकाई में भूमि का कितना क्षेत्रफल होना चाहिए ? यह एक विवाद-पूर्ण प्रश्न है। इस विषय पर अनेकों अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं किन्तु वे एक निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। आर्थिक इकाई की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

"आर्थिक इकाई वह इकाई है जो कृषक को कृषि की आवश्यक लागत को निकालकर अपना और अपने परिवार का सुखपूर्वक निर्वाह करने का अवसर दे। अतः यह ४० से ५० एकड़ तक होनी चाहिए" (Dr. Keatings)।

"जोत की आर्थिक इकाई वह होती है जो एक औसत कुटुम्ब के लिये सन्तोष-जनक न्यूनतम स्तर प्रदान कर सके।" (Dr. Mann)

"आर्थिक इकाई वही हो सकती है जो एक कृषक को न्यूनतम स्तर प्रदान करके एक ऊँचे जीवन-स्तर को उच्च बना सके (३० एकड़ भूमि)।" (Stanley Jevons)।

उत्तर प्रदेश कांग्रेस समिति के अनुसार "न्यून कीमतों के समय जोत की इकाई १५ से २० एकड़ के बीच में होनी चाहिए किन्तु यदि कृषि-वस्तुओं का मूल्य काफी ऊँचा हो, लगान कम हो तथा सिंचाई और कृषि के साधन उपलब्ध हों तो जोत का क्षेत्रफल कुछ कम भी किया जा सकता है।"

उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि कृषि की आर्थिक इकाई वह है जिसमें खर्चा कम हो, उत्पादन अधिक हो तथा कृषक और उसके परिवार का सुखपूर्वक निर्वाह हो सके। परन्तु भूमि के क्षेत्रफल के विषय में भारी मतभेद है। एक इकाई देश के एक भाग में आर्थिक हो सकती है और दूसरे में नहीं। अतः आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निम्नलिखित बातों पर निर्भर रहना चाहिए—

(१) भूमि की उर्वरा-शक्ति (२) कृषि की प्रणाली व संगठन (३) फसलों की किस्म (४) सिंचाई के साधन (५) कृषकों की कार्य-क्षमता।

हाल ही में कांग्रेस की कृषि सुधार समिति ने अपनी रिपोर्ट में जोत को निम्न-लिखित तीन प्रकार की इकाइयो में विभक्त करने का सुझाव दिया है—

(१) **आर्थिक इकाई** (Economic Holding)—कृषि की वह इकाई जो एक कृषक को साधारण जीवन-स्तर प्रदान कर सके तथा निरन्तर उसे पूरा काम देती रहे और जिसमें उसके एक जोड़ी बैलों का उचित उपयोग हो सके, आर्थिक इकाई कहलावेगी।

(२) **बुनियादी जोत** (Basic Holding)—समिति ने सामाजिक दृष्टिकोण से आर्थिक जोत से भी छोटी जोत की सिफारिश की है जिसे बुनियादी जोत कहा है और सुझाव दिया कि बुनियादी जोत की खेती व्यक्तिगत आधार पर की जा सकती है।

(३) **आदर्श जोत** (Optimum Holding)—आदर्श जोत वह जोत होगी जिस पर एक कृषक अपना स्वत्व रख सकेगा और कृषि करेगा। इसका आकार आर्थिक जोत से तिगुना अधिक होना चाहिए।

अतः उक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक इकाई वह है जिस पर एक सामान्य कृषक परिवार (५ व्यक्ति) और उसके एक जोड़ी बैलों को निरन्तर पूरा काम मिलता रहे और इतनी आय हो जिससे वह सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह कर सके।

भारत में कृषि की इकाई (Agriculture Holding in india)

भारत में खेतों का अन्तर्विभाजन (Sub Division) और दूर-दूर बिखरे होना (Fragmentation) कृषि की बड़ी गम्भीर समस्या है। देश के अधिकांश

किसान छोटे-छोटे और दूर-दूर बिखरे खेतों में खेती करते हैं। जिससे खाद्यान्न तथा अन्य फ़सलों का उत्पादन कम होता है तथा किसानों की आय में भी कोई वृद्धि नहीं होती बल्कि गरीबी बढ़ती जाती है। भारत के सभी राज्यों में खेतों का आकार इतना छोटा हो गया है कि वे कृषक के लिए अलाभकारी (Uneconomic) सिद्ध होते हैं। सरैया सहकारी अयोजन समिति के अनुसार "अलाभकारी खेत कृषि-उत्पादन की वृद्धि में सबसे बड़ी बाधा है।"[1] इस समस्या के दो पक्ष हैं—(१) खेतों का आकार छोटे होते जाना (Sub Division) तथा एक कृषक के खेत एक चक में न होकर दूर-दूर फैलते जाना (Fragmentation)। उदाहरण के लिए यदि एक कृषक के पास २५ एकड़ भूमि है और उसके ४ पुत्र हैं, उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी २५ एकड़ भूमि चार भागों में विभक्त हो जायगी। यह तो अन्तर्विभाजन हुआ। पर यदि यह २५ एकड़ भूमि पहले ही से भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुई तो प्रत्येक पुत्र हर स्थान की भूमि का पाँचवाँ हिस्सा माँगेगा अतः २५ एकड़ के छोटे-छोटे और अलग-अलग अनेकों भाग हो जायँगे। इसके अतिरिक्त वर्तमान कानून के अनुसार भूमि का अबाध क्रय-विक्रय होता है जिससे खेतों का और भी अन्तर्विभाजन हो जाता है। भारत में यह क्रम लगभग २०० वर्षों से अधिक से चलता आ रहा है और आज खेतों का आकार २ एकड़ प्रति कृषक से भी कम रह गया है।

देश के विभिन्न राज्यों में ५ एकड़ व उससे कम भूमि रखने वाले कृषकों के आँकड़े निम्न तालिका में दिये गए हैं।

५ एकड़ तक भूमि रखने वालों का विवरण[2]

राज्य	कुल पट्टेदारों का%	कुल क्षेत्र का%
उत्तर प्रदेश	८१·२	३८·८
बम्बई	५२·३	१४·०
मध्यप्रदेश	५१·५	१०·०
उड़ीसा	७४·२	३०·१
आसाम	६६·१	२६·०
मद्रास	८२·२	४१·२
मैसूर	६६·२	२५·३
त्रिवांकुर-कोचीन	९४·१	४४·०
पैप्सू	४५·४	८·२
हिमाचल प्रदेश	९५·०	७१·०
कुर्ग	७६·०	३०·०
पश्चिमी बंगाल	६२·०	—

1. Report of the Co-operative Planning Committee 1946—P. 24.
2. 'भारतीय अर्थशास्त्र की समस्यायें' By P. C. Jain P. 26 - Prepared from Five Year Plan. PP 199-102.

उक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि यह समस्या छोटे राज्यों के अतिरिक्त बिहार, उत्तरप्रदेश, बंगाल, आसाम आदि में भी बहुत गम्भीर है। जिससे कृषकों की आय में बहुत क्षति होती है। हाल ही में की गई जांच से यह ज्ञात हुआ है कि उड़ीसा के लगभग ६०% खेत और उत्तरप्रदेश के ६६% खेत ३ एकड़ से कम है तथा मद्रास में ८४% खेत ५ एकड़ से कम हैं और समस्त देश में ८८% खेत १५ एकड़ से कम हैं।[1] इस समस्या की गहनता भारत में प्रति किसान की भूमि की मात्रा की अन्य देशों से तुलना करने पर और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। भारत में एक कृषक के पास औसतन ५ एकड़ भूमि है जबकि अमेरिका में १४६, इंगलैंड में ६२, डेनमार्क में ४२ फ्रान्स में २१ तथा चीन में ८ एकड़ भूमि है।

उत्तर प्रदेश में खेत का आकार भूमि की उर्वरता के साथ-साथ बदलता है। ज्यों-ज्यों हम पश्चिम से पूर्व की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों खेत के आकार छोटे होते जाते हैं। राज्य के दक्षिणी भाग में खेतों का औसत आकार १० से १२ एकड़ हैं, जबकि उत्तरी भाग में ६ से ७ एकड़, पश्चिमी भाग में ८ से १० और पूर्वी जिलो में केवल ३½ से ४½ एकड़ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जिलों में भी खेत का आकार भिन्न-भिन्न है। बस्ती जिले में औसत आकार ३·१ एकड़ प्रति किसान है, जबकि गोरखपुर में ४·३ एकड़, जालौन में ८·७ एकड़, फतेहपुर में ७ एकड़, अलीगढ़ में १६ एकड़ तथा बुलन्दशहर में १८ एकड़ है। किन्तु अन्तर्विभाजन की समस्या खेतो के दूर-दूर बिखरे होने से अधिक गहन हो गई है। कृषि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में एक ऐसे कृषक का उदाहरण दिया है जिसके खेत ८० भिन्न-भिन्न स्थानों में बिखरे थे। प्रमुख विशेषज्ञों एवं अधिकारियों जैसे डा० मान, कीटिंग्स, मालकोम, डारलिंग तथा कालवर्ट आदि ने इस समस्या के विषय में समय-समय पर चेतावनी दी है। सन् १९४५ के अकाल आयोग के समक्ष भी सभी राज्य सरकारों ने अपनी गवाही में कहा था कि "देश के सभी प्रान्तो में खेतों को दूर-दूर बिखरने की प्रकृति तीव्र गति से बढ़ रही है।"

खेतों के अन्तर्विभाजन तथा बिखरे होने के कारण

(१) **कृषि पर जनसंख्या की वृद्धि का भार**—गत शताब्दि में भारत में निरन्तर जनसंख्या में वृद्धि होती रही है और उधर औद्योगिक रोजगार और कृषि की दशा लगभग स्थिर रही है या उस अनुपात से नहीं बढ़ी हैं। फलतः प्रतिव्यक्ति कृषि का भाग क्रमशः कम होता रहा है। भूमि के ऊपर जन-भार बढ़ने से भूमि की माँग बढ़ी और उसके टुकड़े होते चले गये।

(२) **उत्तराधिकार के नियम**—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार के नियमानुसार प्रत्येक उत्तराधिकारी का भूमि पर समान अधिकार होता है। अतः एक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् सब उत्तराधिकारियों में भूमि बराबर बांटने की प्रथा चली आ रही है। इससे खेतों का अन्तर्विभाजन ही नहीं होता, खण्डन भी होता चला जाता है क्योंकि प्रत्येक उत्तराधिकारी हर खेत में भाग लेना चाहता है।

1. Consolidation of Holdings, Reserve Bank of India, 1951.

(३) **संयुक्त परिवार प्रथा का विलयन**—आधुनिक युग में व्यक्तिवाद की भावना इतनी बढ़ गई है कि देश की सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त-परिवार प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन चाहता है। इस प्रथा के भंग होने से एक ओर तो ईर्ष्या, द्वेष को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर संयुक्त कृषि की पद्धति नष्ट हो गई। अतः भूमि के बंटवारे के लिए झगड़े बढ़े और छोटे-छोटे खेतों को बाँटने की ज़िद्द की जाने लगी।

(४) **ग्रामीण ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषक ऋण के बोझ से दब जाने के कारण अपनी भूमि रहन रख देते हैं तथा ऋण न चुका सकने पर उस भूमि को ऋणदाता को बेच देते हैं अथवा स्वयं उसी को दे देते हैं। इससे जो भूमि पहले ही से छोटे-छोटे टुकड़ों में थी अब और विभक्त हो जाती है।

(५) **अचल सम्पत्ति से प्रेम**—भारत में लोगों को अपनी पुरानी अचल सम्पत्ति से बड़ी ममता होती है। इसलिए सभी लोग अपनी भूमि को चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो बेचना पसन्द नहीं करते जिससे उसके विभाजन को और सहारा मिलता है।

(६) **कुटीर उद्योगों का पतन**—देश के कुटीर उद्योगों के पतन ने भी भूमि के अन्तर्विभाजन और खण्डन को सहयोग दिया है। क्योंकि ग्रामीण जनता जो पहले इन पर निर्भर थी, वह फिर कृषि को अपनाने लगी। इस प्रकार कृषि पर जन-भार बढ़ गया और खेतों के आकार छोटे होने के साथ-साथ दूर-दूर बिखरने भी लगे।

(७) **कृषकों की अज्ञानता**—भारतीय किसान भूमि के उपविभाजन और खण्डन की बुराइयों से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं इसलिए विभाजन के समय पर तनिक भी आपत्ति नहीं करता। इधर यह भी अनुभव हुआ है कि वह भूमि की चकबन्दी के लिए आसानी से तैयार नहीं होता तथा इसके लिए उसे बहुत समझाना पड़ता है तथा अन्य दबाव डालने पड़ते हैं।

खेतों के अन्तर्विभाजन और बिखरे होने के प्रभाव

लाभ

(१) भूमि के छोटे-छोटे हिस्सों में बंटे रहने से गाँव के अनेक भागों में प्रत्येक कृषक की कुछ-न-कुछ भूमि रहती है, इससे बाढ़, टिड्डी तथा अन्य प्राकृतिक संकटों के आने से उसकी सारी भूमि नष्ट होने से बच जाती है। क्योंकि इस संकट से यदि एक हिस्सा नष्ट भी हो जाय तो अन्य भागों की दूर होने के कारण रक्षा की जा सकती है। परन्तु यह लाभ केवल काल्पनिक ही है क्योंकि ऐसा होने की बहुत कम सम्भावना है कि प्राकृतिक संकट से गाँव का एक भाग नष्ट हो जावे और शेष भागों पर कोई प्रभाव ही न हो और यदि भाग्य से कभी ऐसा हो भी जाय तो किसानों को बहुत कम लाभ होगा।

(२) भूमि के इस प्रकार विभाजन से गाँव की अधिकांश जनता के पास भूमि हो जाती है, अन्यथा बहुत से ग्रामीण भूमिहीन रह जावें। यह लाभ भी ठीक नहीं विदित होता। क्योंकि जहाँ तक भूमिविहीन मजदूरों का प्रश्न है वह भूमि के विभाजन या उसे छोटे-छोटे भागों में विभक्त करने से हल नहीं किया जा सकता। कुल परिवार की संयुक्त भूमि को यदि उसके सदस्यों में विभक्त कर दिया जाय और प्रत्येक सदस्य को कुछ-न-कुछ भूमि भी दे दी जाय तो इससे रहन-सहन का उचित स्तर कायम नहीं रखा जा सकता तथा इन छोटे-छोटे खेतों से किसान जीवन-निर्वाह करने में भी असमर्थ हो जाता है।

(३) भारतीय कृषक अत्यन्त निर्धन हैं व उनके कृषि साधन और प्रणाली प्राचीन है जो केवल छोटे-छोटे खेतों के लिए ही उपयुक्त है।

(४) खेतों के छोटे-छोटे और बिखरे होने से किसान को भिन्न-भिन्न खेतों की विभिन्न प्रकार की उर्वरा शक्ति, जलवायु आदि परिस्थितियों का पूरा-पूरा लाभ मिल जाता है क्योंकि जब गाँव के एक भाग के खेत में वर्षा होती है तो गाँव के दूसरे भाग के खेत में जुताई आदि करके बीज बोया जा सकता है। इस प्रकार किसान के परिश्रम तथा उसके पशुओं के श्रम का उचित प्रयोग किया जा सकता है।

(५) छोटे-छोटे खेतों पर खेती करने में किसान अपने परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम का उचित प्रयोग कर सकता है तथा उन्हें अपनी इच्छा व सुविधानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(६) छोटे खेतों पर खेती करने से उनकी देखरेख नहीं करनी पड़ती अतः इसके व्यय में कमी होती है तथा किसान भी अधिक क्षमता से कार्य कर सकता है।

(७) ऐसा अनुभव किया गया है कि बड़े-बड़े खेतों पर किसान गहरी खेती नहीं कर पाते क्योंकि उनके साधन व उनकी कृषि-पद्धति के प्राचीन होने के कारण खेतों की उर्वरा-शक्ति का प्रयोग अधूरा ही हो पाता है। इसके विपरीत छोटे-छोटे खेतों पर गहरी खेती सरलता से की जा सकती है और इस प्रकार उत्पादन में भी वृद्धि हो सकती है।

(८) बड़े खेतों की अपेक्षा छोटे-छोटे खेतों द्वारा अधिक परिवारों का भरण-पोषण किया जा सकता है।

(९) इसके अतिरिक्त फसलों के हेर-फेर के दृष्टिकोण से खेतों का छोटा व अलग-अलग होना भारतीय कृषक हितकर समझते हैं क्योंकि ऐसी दशा में वे भूमि की उर्वरता तथा सिंचाई की सुविधाओं के अनुसार प्रत्येक टुकड़े में उपयुक्त फसल बो सकते हैं।

हानियाँ

(१) छोटे खेतों पर वैज्ञानिक रीतिसे खेती नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें अच्छे बीज, अच्छी खाद और वैज्ञानिक ढंगों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।

(२) प्रायः बड़े बड़े एवं छोटे खेतों का उत्पादन व्यय तो लगभग समान ही होता है किन्तु छोटे खेतों पर कम उत्पत्ति होने से प्रति इकाई उत्पादन में अधिक व्यय होता है।

(३) किसान का बहुत सा समय, धन और शक्ति व्यर्थ नष्ट हो जाती है क्योंकि उसके खेत दूर दूर व छोटे-छोटे होने के कारण उसे बैल, हल तथा औजार इधर-से उधर ले जाने पड़ते हैं। ऐसा अनुमान है कि खेतों के ५०० मीटर दूर होने पर उनके जोतने तथा मजदूरों से काम लेने पर ५·३% अधिक व्यय होता है। इसके अतिरिक्त खाद को ढोने से २०% से २५% तक और फसल ढोने से १५%से ३२०% तक व्यय अधिक हो जाता है।

(४) छोटे छोटे खेतों के चारों ओर के रास्ते आदि बनाने में न केवल अधिक व्यय ही होता है बल्कि ४% से २२% तक भूमि भी व्यर्थ में नष्ट हो जाती है।

(५) खेतों में दूर २ होने कारण फसल की उचित सुरक्षा नहीं की जा सकती अतः कृषक का उत्साह कम हो जाता है और चोरी व पशुओं द्वारा काफी क्षति होती है।

(६) छोटे२ खेतों की सीमा तथा पगडंडी बनाने में किसानों में प्रायः मारपीट व झगड़े हो जाते हैं। इस प्रकार व्यर्थ की मुकदमेबाजी में बहुत साधन नष्ट हो जाता है।

(७) कुछ खेत इतने छोटे होते हैं कि उनमें खेती करना सम्भव ही नहीं होता है। अतः वे बेकार पड़े रहते है।

(८) छोटे २ खेतों में कुएँ आदि बनाकर स्थायी सुधार करना असम्भव है।

(९) खेतों के छोटे छोटे होने के कारण कृषि एक अलाभकारी व्यवसाय हो जाता है। उत्तर-प्रदेश में की हुई एक जांच द्वारा यह विदित हुआ है कि ज्यों-ज्यों खेत का आकार कम होता जाता है त्यों-त्यों किसानकी प्रतिएकड़ भूमि से आय भी कम होती जाती है, जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट है—[1]

खेत का आकार	कृषि का व्यय (प्रति एकड़)			सम्पूर्ण आय (प्रति एकड़)			शुद्ध आय (प्रति एकड़)		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
२० एकड़ से अधिक	३२	५	०	४०	५	०	+८	०	०
१० से २० एकड़ तक	३३	५	०	३५	१२	०	+२	७	०
५ से १० एकड़ तक	३५	१५	०	३६	१२	०	+०	१३	०
३ से ५ एकड़ तक	४१	१	०	४०	०	०	—१	१	०

अतः खेतों का अन्तर्विभाजन व दूर दूर बिखरे होना भारतीय कृषि की एक गहन और दुरूह समस्या है जिसका शीघ्रातिशीघ्र हल होना आवश्यक है क्योंकि

1. R. K. Mukerji "Economic Problems of Modern India" P. III and quoted by D. S. Nag in "भारत का आर्थिक विकास" P. 32.

देश में जब तक छोटे २ खेतों का निवारण नहीं किया जाता तब तक कृषि का विकास होना असम्भव है। सर जॉन रसैल के मतानुसार खेतों का दूर दूर बिखरे होना अधिक हानिकारक समस्या है और हो सकता है कि ये पूर्णरूपेण समाप्त न किये जा सकें किन्तु फिर भी जब तक कि इस समस्या का कोई हल नहीं ढूंढा जावेगा तब तक कृषि का विकास अति मन्द-गति से होगा।[1]

उक्त दोषों को दूर करने के उपाय

अन्तर्विभाजन व अपखंडन के दोषों को दूर करने के लिए तथा भारत में कृषि का विकास करने के लिए यह परमावश्यक है कि भारतीय कृषकों के पास आर्थिक जोतें हों। आर्थिक जोतों के सम्बन्ध में प्राय: दो सुझाव दिये जाते हैं—

(१) भारत के विभिन्न भागों की स्थानीय दशाओं का अध्ययन करके ऐसा नियम बना लेना चाहिये कि भूमि का एक निश्चित सीमा के उपरान्त विभाजन न हो सके। इसके साथ ही प्रति व्यक्ति भूमि की अधिकतम मात्रा भी निश्चित कर देनी चाहिये। इस सुझाव के आधार पर भारत में अनेक राज्यों में हाल ही में नियम बनाये गए हैं। जैसे उत्तर प्रदेश के जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार एक व्यक्ति अधिकतम ३० एकड़ भूमि रख सकता है और ६$\frac{1}{4}$ एकड़ भूमि के उपरान्त भविष्य में भूमि का उपविभाजन नहीं हो सकता।

विभिन्न राज्यों में कानून द्वारा एक निश्चित सीमा के बाद भूमि के उप-विभाजन और खण्डन पर रोक लगा दी गई है। वह इस प्रकार है—

उत्तर प्रदेश	६$\frac{1}{4}$ एकड़
हैदराबाद	२ से २४ एकड़ तक की बुनियादी जोत (Basic Holding)
राजस्थान	राज्य सरकार द्वारा निश्चित मात्रा
दिल्ली	८ स्टैंडर्ड एकड़
मध्य भारत	१५ एकड़
भोपाल	१५ एकड़
विन्ध्य प्रदेश	५ एकड़ सिंचाई वाली भूमि तथा १० एकड़ सूखी भूमि

1. Sir John Russel 'Work on I.C.A.R.' 1939—P. 64.

Dr. R. K. Mukerji further says in 'Rural Economy of India' P.65, that "In many tracts the inefficiency of agriculture is worse due to the small size and scattered nature of the holdings than to ignorance or want of alertness on the part of the peasants. Such holdings do not afford sufficient work for the cultivator and leave him almost unemployed during most part of the year. Agricultural indebtedness is atonce the cause and effect of the excessive division of the holdings and very often enforced idleness and indebtedness go together."

इसी प्रकार बम्बई ने अधिकतम मात्रा ५० एकड़ और पंजाब ने ५० स्टैन्डर्ड एकड़ निश्चित की है। हैदराबाद में यह व्यवस्था की गई है कि आर्थिक दृष्टि से एक व्यक्ति के लिए कम-से-कम जितनी भूमि की आवश्यकता है उससे ५ गुना अधिक वह भूमि रख सकता है। योजना कमीशन ने पंचवर्षीय योजना में भी यह सुझाव दिया है कि एक परिवार आवश्यक भूमि से अधिकतम ३ गुनी अधिक भूमि रख सकता है।

(२) दूसरा महत्त्वपूर्ण सुझाव छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी करना है जिससे किसानों को लाभकारी जोतें प्राप्त हो सकें।

इसके अतिरिक्त उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन करके भी भूमि का उपविभाजन रोका जा सकना है। इस विषय में यह सुझाव दिया जाता है कि उत्तराधिकार का नियम ऐसा बना दिया जाय कि भू-स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी सारी भूमि सबसे बड़े पुत्र को ही मिले और अन्य पुत्रों का उसमें कोई अधिक न रहे। किन्तु इस परिवर्तन से ही भूमि का उपविभाजन रुकना आवश्यक नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से बहुत-से व्यक्ति भूमिहीन हो जावेंगे और उनका भरण पोषण भी कठिनाई से हो सकेगा। अकाल जाँच कमीशन का भी यही मत था कि उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन करने से ही समस्या का हल नहीं हो सकता अतः आवश्यकता इस बात की है कि कृषि के अलावा अन्य ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाय जिससे कृषि पर जन-भार कम हो और भूमि का उपविभाजन भी कम हो जावे।

जोतों की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)

जोतों की चकबन्दी ही एक महत्वपूर्ण उपाय है जिसके द्वारा भूमि के अन्तर्विभाजन की समस्या का हल हो सकता है। चकबन्दी का ध्येय है एक ही परिवार के बिखरे हुये खेतों को एक चक करके आर्थिक जोत में परिवर्तित करना है। चकबन्दी का सुझाव सर्वप्रथम सर चार्ल्स सिलियट (Sir Charles Cilliot) तथा सर एडवर्ड बक (Sir Edward Buck) ने सन १८८० ई० में ही दिया था। तदुपरान्त अनेकों कृषि-विशेषज्ञों तथा आयोगों ने चकबन्दी करने की जोरदार सिफारिश की। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने चकबन्दी के महत्व को इन शब्दों में बताया था "भारतीय कृषकों को भूमि के उपविभाजन व खंडन की समस्या से छुटकारा दिलाने का चकबन्दी ही एकमात्र साधन है। इस पद्धति में बिखरे हुये खेतों के स्थान पर एक चक का खेत बना दिया जाता है अथवा विभिन्न प्रकार की गिट्टी के कुछ चक बना दिये जाते है।"

चकबंदी योजना को कार्यान्वित करने की साधारणतया ३ रीतियाँ हैं—

(अ) व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी (Through Voluntary efforts)।

(ब) सहकारी समितियों द्वारा (Through Co-operative Societies)।

(स) कानून द्वारा (Through Legislation)।

व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी—इसमें किसान स्वेच्छापूर्वक छोटे और

बिखरे खेतो का आदान-प्रदान करके चकबन्दी कर लेते हैं। किन्तु इस प्रकार से चकबन्दी करने में विशेष कठिनाई होती है तथा व्यय भी अधिक होता है। भारत में कृषि-अधिकारों की विभिन्नता के कारण भी व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषक अशिक्षित, अन्धविश्वासी तथा अज्ञानी होने के कारण चकबन्दी के महत्व को नहीं समझते तथा चकबन्दी के लिए सरलता से तैयार नहीं होते। श्री कीटिंग्स के अनुसार जब व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी की रीति फ्रांस, जर्मनी, डेनमार्क, स्विटजरलैंड आदि देशों में असफल हो चुकी है तो भारत जैसे देश में जहाँ के किसान अत्यन्त अज्ञानी व संकीर्ण विचारों के हैं, कभी सफल नहीं हो सकती।

सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी—सहकारिता के आधार पर चकबन्दी का कार्य सर्वप्रथम पंजाब में सन् १९२० में प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार की सहकारी समिति का मुख्य उद्देश्य एक चक का खेत बनाना है। प्रत्येक व्यक्ति को समिति का सदस्य बनने पर ⅔ सदस्यों द्वारा स्वीकृत भूमि के पुनर्विभाजन की योजना स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु यथार्थ में ऐसी कोई भी योजना जब तक कार्यान्वित नहीं की जाती जब तक कि उसको सभी सदस्य स्वीकार नहीं कर लेते। सर्वप्रथम सब सदस्यों की भूमियों को एक चक मान लिया जाता है। तत्पश्चात् सब सदस्यों की राय से उसके पुनर्विभाजन की एक योजना बनाई जाती है, जिसमें मुख्यतः यह ध्यान रखा जाता है कि सदस्यों को पहले जैसा क्षेत्र और उसी प्रकार की भूमि एक ही चक में मिले। इस योजना के बनाने पर चक बाँट दिये जाते हैं। योजना बनाने के लिए विशेष रूप से शिक्षा-प्राप्त कार्यकर्ता प्रत्येक समिति को सरकार द्वारा दिये जाते हैं और चकबन्दी करने में हुए व्यय का कुछ भाग भी सरकार देती है। परन्तु इस रीति में भी लगभग वे सभी कठिनाइयाँ आती हैं जो व्यक्तिगत रीति में थीं। अतः पंजाब में जहाँ कि सहकारिता के आधार पर चकबन्दी का सूत्रपात हुआ था कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी है।

फिर भी भारत के अनेक भागों में इस प्रकार की सहकारी समितियों का निर्माण किया गया है। पंजाब में सन् १९४३ तक १८०७ चकबन्दी समितियाँ थीं जिन्होंने पंजाब की ३ करोड़ एकड़ जोती हुई भूमि में केवल १०,४५,००० एकड़ भूमि के क्षेत्रफल में चकबन्दी की थी। किन्तु विभाजन के उपरान्त इस कार्य में पूर्वी पंजाब में और भी प्रगति हुई है। सन् १९४७-४८ में वहाँ १५७३ समितियाँ थीं जिनके २,२०,००० सदस्य थे। उत्तर प्रदेश में भी सन् १९३९-४० में १८२ चकबन्दी समितियाँ थी जिन्होंने ७७,६७२ बीघा भूमि पर चकबन्दी की थी। परन्तु यह विधि सन् १९४७ में अधिकारी वर्ग के भ्रष्टाचार के कारण बन्द कर दी गई थी। हाल ही में उत्तर प्रदेशीय सरकार की एक जाँच समिति के सुझावों के आधार पर यह कार्य राज्य के विभिन्न भागों में पुनः शुरू कर दिया गया है। मद्रास में भी सन् १९३६ में ऐसी समितियों द्वारा कार्य प्रारम्भ किया गया था परन्तु बड़ी मन्द गति से इसमें प्रगति हुई। सन् १९४७-४८ तक मद्रास में केवल २२ समितियाँ

थी। राज्य सरकार ने इसका प्रयोग इस बिनाह पर स्थगित कर दिया है कि जब तक कानूनन भूमि के उपविभाजन को नहीं रोका जायगा तब तक चकबन्दी से कोई लाभ नहीं होगा।

कानून द्वारा चक बन्दी—कानून द्वारा भूमि की चकबन्दी का अभिप्राय यह है कि उत्तराधिकार को कानूनन सीमित करके आर्थिक जोतों को कायम रखा जाय। इसके अतिरिक्त सहकारी समितियाँ अथवा व्यक्तिगत संस्थाएँ जो चकबन्दी का कार्य कर रही हैं, उनको भी कानूनी सहायता देना आवश्यक है। अतीत के अनुभव के अनुसार यदि देश में आर्थिक जोत बनानी है तो सरकार का अनिवार्य चकबन्दी के प्रति हस्तक्षेप आवश्यक है। किन्तु प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो स्वेच्छा से चकबन्दी की व्यवस्था तथा चेतावनी की नीति की ही आवश्यकता होगी क्योंकि जनता चक-बन्दी की विधि और इसके लाभों से पूर्णतया अनभिज्ञ थी। इसीलिए प्रारम्भ के कानूनों में जैसे बड़ौदा, मध्यप्रदेश के सन् १९२८ ई० तथा उत्तर प्रदेश के सन् १९३९ के कानून में स्वेच्छा से चकबन्दी व्यवस्था की गई थी। धीरे-धीरे मध्यभारत और मध्य प्रदेश में चकबन्दी आंशिक रूप में अनिवार्य कर दी गई। किन्तु आज परि-स्थितियाँ काफी बदल गई हैं और प्रत्येक व्यक्ति चकबन्दी के लाभों को समझ गया है। आज का युग देश के विभिन्न भागों में चकबन्दी अनिवार्य रूप से लागू करने के बहुत ही उपयुक्त है। इस आधार पर देश में निम्नलिखित कानून बन चुके हैं—

1. The C. P. Consolidation of Holdings Act 1928.
2. The Punjab Consolidation of Holdings Act 1936.
3. The U. P. Consolidation ,, ,, ,, 1939.
4. ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1953.
5. The Jammu of Kāshmir Consolidation of Holdings Act 1940.
6. The Bombay Prevention of Fragmentation and Consolidation of Holding Act 1947 and its amendment in 1953.
7. The East Punjab Consolidation and Prevention of Fragmentation Act 1948.
8. The Pepsu Holdings (Consolidation and Prevention of Fragmentation) Act 1951.
9. The Saurashtra Prevention of Fragmentation and Consolidation of Holding Act, 1951.

राज्य भूमिकर सुधार समितियों ने अन्य राज्यों जैसे उड़ीसा, मैसूर, हैदरा-बाद, त्रिवांकुर-कोचीन आदि में शीघ्रातिशीघ्र बम्बई राज्य के कानून के आधार पर कानून बनाने की ज़ोरदार सिफारिश की है।

चकबन्दी की प्रगति

पंजाब

चकबन्दी का कार्य सन् १९२९ में सहकारिता विभाग द्वारा आरम्भ किया गया था। परन्तु चकबन्दी के लिये भूस्वामियों की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण

इसकी गति बड़ी मन्द रही। इसी गति को तीव्र करने के लिये सन् १९४८ में East Punjab Holdings (Consolidation and Prevention of Fragmentation) Act पास किया गया। उसके अनुसार सरकार द्वारा एवं भूस्वामियों की प्रार्थना पर भी चकबन्दी की व्यवस्था की गई। दिसम्बर १९५० तक यह कार्य ३८३ गाँवों में किया गया था। चकबन्दी की मांग अधिक होने के कारण जनवरी सन् १९५१ में सरकार ने भूमि-कर विभाग तथा चकबन्दी विभाग को मिला दिया। इस नई योजना के अनुसार प्रत्येक जिले की एक तहसील में कार्य किया गया जो दो वर्ष में समाप्त करना था। इस प्रकार सारे राज्य में ८ वर्ष में चकबन्दी करने की योजना थी। परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण राज्य को दो भागों में 'अ' तहसील भाग व 'ब' तहसील भाग, में विभक्त कर दिया और ४७ तहसीलों में से ४० तहसीलों में चकबन्दी का कार्य सन् १९५७ तक समाप्त करने की तथा शेष ७ तहसीलों में सन् १९५८ तक की योजना बनाई गई। सितम्बर, सन् १९५४ तक 'अ' ग्रुप तहसीलों में चकबन्दी लगभग समाप्त हो चुकी थी। कुल मिलाकर ३७·८५ लाख एकड़ भूमि में चकबन्दी हो चुकी है और २८·१४ लाख एकड़ पर अभी कार्य चल रहा है। इस प्रकार इस योजना के अनुसार पंजाब के लगभग १ करोड़, ९३ लाख एकड़ क्षेत्र में से १ करोड़ ५९ लाख एकड़ क्षेत्र में चकबन्दी होगी। शेष या तो पहाड़ी क्षेत्र है या उसकी पहले ही चकबन्दी हो चुकी है। चकबन्दी के लिये ४ रु० प्रति काश्त एकड़ चकबन्दी-कर लगाया गया है जो दो किश्तों में अदा किया जा सकेगा। इस प्रकार चकबन्दी योग्य १ करोड़ १५ लाख एकड़ क्षेत्र से ४ करोड़ ६० लाख रुपया कर-रूप में वसूल होगा। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने भी १० लाख रु० प्रति वर्ष के हिसाब से पूरी योजना के लिये ८० लाख रु० तक देने का निश्चय किया है।

पंजाब के देहाती क्षेत्रों की चकबन्दी के बाद तो कायापलट सी हो रही है। लुधियाना जिले की समराला तहसील में १९५४ में चकबन्दी होने के बाद ६०० कुंए खोदे जा चुके हैं, १५० खोदे जा रहे हैं तथा २३० नल-कूप खोदे जा चुके हैं।

उत्तर प्रदेश

उत्तरप्रदेश में भी सहकारी समितियों द्वारा तथा स्वेच्छा से चकबन्दी की गति मन्द होने के कारण सरकार ने सन् १९५३ में U. P. Consolidation of Holdings Act पास किया जो सरकार द्वारा नियुक्त चकबन्दी समिति के सुझावों पर आधारित है और बहुत कुछ पंजाब के कानून से मिलता-जुलता है। इसके अनुसार भूमि के टुकड़ों (plots) का ऐसा ब्यौरा तैयार किया जावेगा जिसमें भूमि का क्षेत्रफल, किस्म प्रत्येक के लिए पिछले बन्दोबस्त में लगान की दर तथा लगान का विवरण होगा। इसी प्रकार प्रत्येक पट्टेदार (Tenure Holder) की भूमि, लगान, भूमि की किस्म, फसल तथा क्षेत्रफल का ब्यौरा भी तैयार किया जावेगा। इस ब्यौरे की स्वीकृति पर पट्टेदार को उसके पहले की जमीन के बदले नई दी जाने वाली जमीन का ब्यौरा तैयार होगा। यदि पट्टेदार को उसकी भूमि के बदले कुछ कम अच्छी भूमि दी जाती है तो इस ब्यौरे में उसके मुआवजे का भी विवरण होगा। साथ ही पट्टेदार को उसकी

भूमि के वृक्षों, कुओं और मकानों का भी मुआवजा दिया जायेगा। किसान इन व्यौरों पर आपत्ति कर सकते हैं। परन्तु इन पर फैसला होने के पश्चात् अन्तिम रूप में व्यौरे तैयार होंगे और चकबंदी योजना लागू हो जायेगी। इसके पश्चात पट्टेदारों को नई भूमि के दिये जाने के आदेश (Allotment order) दिये जाएँगे। और पट्टेदार अपनी नई भूमि के स्वामी बन जायेगे। योजना लागू करने से पहले इस बात पर ध्यान दिया जायगा कि जिस क्षेत्र में पट्टेदार की सबसे अधिक भूमि है यथासम्भव उसी क्षेत्र में उसे भूमि दी जाय। चकबंदी की यह योजना दीवानी अदालत (Civil Courts) के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं होगी। चकबंदी के लिये ४ रु० प्रति एकड़ व्यय निश्चित हुआ है जो उन किसानों से वसूल किये जायेंगे जिनकी भूमि की चकबन्दी हो रही है। सरकार को इसमें कुछ व्यय नहीं करना पड़ेगा। चकबंदी समिति ने यह सिफारिश की है कि चकबंदी का कार्य तीव्र गति से करके ५ वर्षों में समाप्त कर देना चाहिये।

इस योजना के अनुसार चकबंदी कार्य १६ जिलों की एक, एक तहसीलों में भली-भाँति हो रहा है। हाल ही में सरकार ने निम्नलिखित ५ तहसीलों में भी जुलाई या अगस्त सन् १९५५ से चकबंदी योजना लागू करने का फैसला किया है:—

खैरागढ़ (आगरा), सोरों (इलाहाबाद), नगीना (बिजनौर), बिसौली (बदायूं) तथा संडीला (हरदोई)। यदि इसी गति से कार्य होता रहा तो ५ या ६ वर्ष में सभी बिखरे हुये खेतों की चकबन्दी होने की आशा है। चकबंदी की इस योजना में कुल १८ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है।

दिल्ली

दिल्ली में सन् १९४७-४८ के अंत में ५३ सहकारी समितियों ने ६४, १६५ एकड़ भूमि की चकबंदी कर ली थी। नई योजना में ११० गाँवों में प्रतिवर्ष चकबंदी की योजना लागू हो जाती है और जुलाई सन् १९५४ तक इस योजना के अंतर्गत ९१ हजार एकड़ भूमि की चकबंदी हो चुकी थी तथा ५८ हजार एकड़ पर कार्य चल रहा था। पंचवर्षीय योजना में ७५००० एकड़ में चकबन्दी करने का लक्ष्य बनाया है तथा १०·७ लाख रु० व्यय करने का निश्चय किया है।

पैप्सू

पटियाला राज्य संघ में सरकार ने चकबन्दी का कार्य ७ या ८ वर्षों में समाप्त करने का निश्चय कर लिया है और अनुमान है कि इस कार्य में लगभग २ करोड़ रु० व्यय होंगे। जुलाई सन् १९५४ तक ८·०४ लाख एकड़ पर चकबन्दी हो चुकी थी तथा १·३ लाख एकड़ पर कार्य हो रहा था।

बम्बई

यद्यपि बम्बई में चकबन्दी का कानून तो सन् १९४८ में लागू हो गया था परन्तु वास्तविक रूप से कार्य सन् १९५०-५१ से प्रारम्भ हुआ है। कानून में दो भाग हैं—प्रथम भाग भूमि के खण्डन से सम्बन्धित है तथा द्वितीय चकबन्दी

से। जुलाई सन् १९५३ तक ७६७ ग्रामों में चकबन्दी समाप्त हो चुकी थी जिसमें २७३.५७५ खेतों को घटाकर १४२,०७९ खेत बनाये गये थे।[1] जिसमें से ४०६ चक-बन्दियों को सरकार ने स्वीकृत कर प्रकाशित कर दिया और १५३ गाँवों में लागू कर दिया। इस योजना में किसी पट्टेदार को कोई हानि नहीं हुई। चकबन्दी अधि-कारी की सहायता के लिए ग्राम समितियाँ नियुक्त कर दी गई हैं। चकबन्दी का सारा व्यय सरकार द्वारा किया जाता है तथा पट्टेदारों पर इसकी कोई फीस नहीं पड़ती। इस योजना पर लगभग ७ लाख रुपये प्रतिवर्ष व्यय किया जाता है। जुलाई सन् १९५५ तक १२·९१ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो चुकी थी। बम्बई सरकार का अनुमान है कि पुरानी बम्बई के २३००० ग्रामों में सन् १९६४ तक, १५०० ग्राम प्रतिवर्ष की दर से, चकबन्दी का कार्य पूर्णतया समाप्त हो जायगा।

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश में चकबन्दी का कार्य सन् १९२६ में प्रारम्भ किया गया था। सितम्बर सन् १९४५ तक २५१० ग्रामों में २२, ५४, ३१४ एकड़ भूमि की चक-बन्दी के फलस्वरूप खसरों की संख्या ४६३१२७८ से कम होकर ८१६७२६ रह गई थी। तथा जो खसरा पहले ०·५० एकड़ का था वह चकबन्दी के पश्चात् २·५० एकड़ का हो गया। सन् १९५० तक २६३३ ग्रामों में २३·७५ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो गई थी और जुलाई सन् १९५४ तक २६·९ लाख एकड़ पर चक-बन्दी हो चुकी है।

वस्तुतः चकबन्दी का कार्य केवल कुछ ही राज्यों में हुआ है जबकि सभी राज्यों में इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। आजकल जोत तथा किसानों द्वारा जोती गई भूमि-सम्बन्धी सही आँकड़े भी प्राप्त नहीं है। भारत सरकार ने सन् १९५४-५५ में जोत गणना (Census of Holdings) प्रारम्भ की है जो लगभग दो बर्ष में समाप्त होगी। इसके अतिरिक्त विशेष रूप से शिक्षित कार्यकर्ताओं की कमी के कारण भी चकबन्दी का कार्य तीव्रगति से नहीं हो सका है।

उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त भूमि के अन्तर्विभाजन तथा खण्डन के दोषों को दूर करने के लिए कृषि का पुनर्संगठन करके निम्नलिखित रीतियों से खेती करने के सुझाव दिये जाते हैं—

भूमि का राष्ट्रीयकरण अथवा राजकीय कृषि-व्यवस्था (Nationalization of land or State farming)—कुछ व्यक्तियों का सुझाव है कि देश में भूमि का राष्ट्रीयकरण करके राजकीय कृषि-व्यवस्था आरम्भ की जाए। इस व्यवस्था के अनुसार भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाता है और राज्य का अधिकार हो जाता है तथा सारी भूमि को बड़े-बड़े फार्मों में विभाजित करके उनमें आधुनिक विज्ञान की सहायता से वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा खेती कराई जाती है। उत्तर

१. चकबन्दी के पूर्व और पश्चात् प्रति जोत का क्षेत्रफल इस प्रकार था—
गुजरात—२·७५ एकड़···६·७८ एकड़।
कर्नाटक—५·० एकड़···७·४७ एकड़।

प्रदेश तथा अन्यों में कुछ राजकीय फार्म हैं जिन पर खोज कार्य किया जाता है तथा मशीनों द्वारा खेती की जाती है। कृषि की यह व्यवस्था वैसे तो अच्छी प्रतीत होती है किन्तु भारत में यह आज की स्थिति में असाध्य है। इसका एक कारण तो यह है कि भूमि के बदले पट्टेदारों को मुआवजा इतना अधिक देना होगा कि सरकार उसको चुकाने में असमर्थ सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त बहुत-से खेतिहर मजदूर बेकार हो जावेंगे तथा भारतीय किसान, जिसने सदा से स्वतन्त्र रूप में कार्य किया है, के विकास की सम्भावना भी नहीं रहेगी। अतः भूमि के राष्ट्रीयकरण से भारत में कोई लाभ होने की आशा नहीं है।

(२) **सामूहिक कृषि** (Collective Farming)—इस व्यवस्था के अनुसार कृषि के साधनों पर अनेक व्यक्तियों के दल का अधिकार होता है तथा वे संयुक्त होकर खेती की व्यवस्था करते हैं और संयुक्तरूप से मालिक होते हैं। सामूहिक कृषि के निम्नलिखित ३ रूप हैं—

(१) कृषि के साधनों पर सामूहिक अधिकार हो किन्तु खेती व्यक्तिगत रूप से की जाती हो। (२) सामूहिक कषि के साथ-साथ मनुष्यों के सामूहिक रूप से रहने तथा खाने-पीने का भी प्रबन्ध हो। (३) भूमि पर पूर्णतया समाज का अधिकार हो और संयुक्त प्रबन्धक मण्डल (Joint management) द्वारा कृषि की व्यवस्था के भी अनेकों लाभ हैं। परन्तु यह प्रणाली जनतन्त्री व्यवस्था के उपयुक्त नहीं है। अतः भारत में खेती की इस व्यवस्था को आरम्भ करना सम्भव नहीं है।

(३) कारपोरेशन द्वारा संचालित कृषि (Corporate Farming) के अनुसार कृषि का प्रबन्ध एक कारपोरेशन या Joint Stock Company के द्वारा किया जाता है। कारपोरेशन के सभी सदस्यों का सीमित उत्तरदायित्व होता है। सारी व्यवस्था संचालक मंडल (Board of Directors) द्वारा होती है। इस प्रकार की खेती करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में भूमि और धन की आवश्यकता होती है। यह प्रणाली अमेरिका में अधिक प्रचलित है। भारत के भी कुछ राज्यों में जैसे बम्बई, मद्रास तथा मैसूर में इस प्रणाली के अनुसार कुछ खेती की जाती है। इससे बड़े पैमाने की खेती के सभी लाभ प्राप्त होते हैं। परन्तु भारत में भूमि की कमी तथा धन के अभाव में यह प्रणाली ठीक रूप से कार्य नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त क्योंकि यह व्यवस्था पूँजीवाद की ओर ले जाती है इसलिए भारत में इसको प्रारम्भ करना उचित भी नहीं है।

(४) सहकारी कृषि (Cooperative Farming)—इस प्रकार की कृषि व्यवस्था में सहकारिता के आधार पर खेती की जाती है। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (I. C. A. R) की सलाहकार परिषद (Advisory Committee) के सन् '४९ के स्मृति-पत्र (Memorandum) के अनुसार सहकारी कृषि-समिति वह समिति है जिसमें प्रत्येक किसान को अपनी भूमि पर पूरा अधिकार होता है किन्तु खेती सामूहिक रूप से की जाती है। सहकारी कृषि की निम्नलिखित मुख्य विशेषतायें हैं:—

१. भूमि के विभिन्न टुकड़ों को मिलाकर एक चक का रूप दे दिया जाता है। २. समिति के प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है। ३. प्रत्येक सदस्य को उसके कार्य का वेतन दिया जाता है। ४. कृषि के कुल लाभ में से कुछ भाग सुरक्षित कोष (Reserved Fund) के लिए निकाल कर शेष सदस्यों में बाँट दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सहकारी कृषि कई प्रकार की होती है, जैसे—(१) सहकारिता से युक्त कृषि (Cooperative Joint Farming) (२) उच्चतर सहकारी कृषि-व्यवस्था (Cooperative Better Farming) (३) सहकारी आसामी कृषि-व्यवस्था (Cooperative Tenant Farming) तथा (४) सहकारी सामूहिक कृषि (Cooperative Collective Farming) इत्यादि।

यद्यपि सहकारी कृषि पैलेस्टाइन में अधिक लोकप्रिय है किन्तु भारत में भी इसके अनेक राज्यों में प्रयोग किये गये हैं। लगभग सभी राज्यों में विशेषकर बम्बई और उत्तरप्रदेश में सहकारी कृषि फार्म हैं। कृषि समितियों को सरकार की ओर से भी कई प्रकार से सहायता दी जाती है। जैसे समितियों पर कर कम लगाया जाना, बीज खरीदने के लिए ऋण दिया जाना, सस्ते दामों पर खाद तथा कृषि के औज़ार दिये जाना तथा बिना लाभ लिए समितियों के हिस्से खरीदना आदि। इसके अतिरिक्त हिस्सों की पूँजी में जो रुपया होता है उसका बराबर भागों में भुगतान किया जा सकता है तथा इस पर वार्षिक ब्याज केवल १ या २ रु० प्रति सैकड़ा लगाया जाता है। इन सब लाभों के होते हुए भी भारत में इस प्रकार की समितियों ने कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की है। भारत में इस प्रकार की खेती के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है। फरवरी सन् १९५२ में बम्बई में प्रथम भारतीय सहकारी कृषिसम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया था कि जहाँ कहीं भी सम्भव हो सके सरकारी कृषि समितियों को संगठित करने के लिये राज्य सरकारों तथा सहकारी आन्दोलन को सक्रिय कदम अवश्य उठाना चाहिये।

किन्तु भारतीय कृषकों के अति दरिद्र होने के अतिरिक्त सहकारी कृषि को अपनाने में अनेकों कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे—

(१)भारतीय किसान को भूमि से बहुत प्रेम होता है इसके अतिरिक्त गाँव में अन्धविश्वास तथा अशिक्षा के कारण किसानों को सहकारी कृषि के लाभों के प्रति विश्वास बड़ी कठिनाई से होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि सहकारिता का प्रचार जोरों से किया जाय और सहकारी फार्मों को स्थापित कर सहकारी कृषि से होने वाले लाभों का प्रदर्शन किया जाय।

(२) दूसरी कठिन समस्या यह है कि सहकारी कृषि को स्वेच्छा के आधार पर प्रचलित किया जाय या अनिवार्य रूप से लागू किया जाय, क्योंकि यदि अनिवार्य रूप से कृषि समितियां संगठित की जाती है, तो यह सम्भव हो सकता है कि सदस्य समिति के कार्यों में विशेष रुचि न लें और इस प्रकार समितियाँ असफल हो जावें। सन् १९५० में कांग्रेस की कृषक-समिति ने स्वेच्छा के आधार पर कृषि समितियों के

संगठन की सिफारिश की थी। किन्तु इसके असफल होने पर सहकारी कृषि अनिवार्य रूप से लागू करने का सुझाव भी दिया था।

(३) समस्त देश के लिये विभिन्न भागों में किस प्रकार की समिति उपयुक्त तभी होगी यह कहना कठिन है। विभिन्न परिस्थितियों में समितियों की सापेक्ष विशेताएँ जानी जा सकती है जब कि प्रयोग के रूप में सभी प्रकार की समितियाँ स्थापित की जायँ तथा उनके कार्य और परिणामों की जाँच की जाय।

(४) सहकारी कृषि-व्यवस्था में बड़े पैमाने पर खेती के लिए वैज्ञानिक मशीनों का उपयोग करने के कारण खेतिहर मजदूरों के बेकार हो जाने का भय है तथा इन बेकार मजदूरों को नया रोजगार खोजने की समस्या भी उत्पन्न हो जावेगी।

किन्तु सहकारी कृषि-व्यवस्था को भारत में लागू करने की प्रायः सभी ने जोरदार सिफारिश की है और उक्त कठिनाई को दूर करने के लिये निम्नलिखित उपाय भी बताये हैं:—

(१) जब किसान समिति को अपनी भूमि देने के लिये तैयार नहीं होता तो आरम्भिक कार्य के रूप में नई भूमि पर सहकारी कृषि की जानी चाहिए। इससे भारतीय किसान का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा और इसमें सम्मिलित होने के लिये उसको प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार सहकारी कृषि की लोकप्रियता बढ़ाने की अति आवश्यकता है।

(२) जब तक संयुक्त सहकारी कृषि समिति (Cooperative Collective Farming) सम्भव नहीं है तब तक उच्चतर सहकारी कृषि समितियाँ (Cooperative Better Farming Societies) स्थापित की जायँ, जिससे धीरे-धीरे सहयोग की आदत का विकास होगा।

(३) विभिन्न परिस्थितियों में कृषि समितियों की प्रकार को जानने के लिए प्रयोगात्मक फार्म (Experimental Farm) स्थापित किये जाने चाहिए।

(४) सहकारी-कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिए सरकार को खूब प्रचार करना चाहिए तथा फार्मो पर इसके लाभों का प्रदर्शन करना चाहिए जिससे अन्य किसानों का ध्यान इस प्रकार की कृषि की ओर आकर्षित हो सके।

पंचवर्षीय योजना

योजना आयोग ने भी सहकारी कृषि को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—१. प्रत्येक सहकारी कृषि फार्म के लिए न्यूनतम भूमि की मात्रा निर्धारित की गई है। जैसे एक फार्म में किसी परिवार की जोत की ४ से ६ गुनी तक भूमि होनी चाहिए। यह मात्रा परिस्थतियों के अनुकूल भी निर्धारित की जा सकती है। २. आर्थिक तथा टैक्नीकल सहायता और विक्रय-व्यवस्था में सहकारी कृषि-समिति को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। ३. चकबन्दी के कार्यों में भी ऐसे ही ग्रामों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनमें कृषि

समितियाँ स्थापित हो चुकी है। ४. ऐसी सरकारी व व्यक्तिगत बंजर भूमि का जो विकास के उद्देश्य से ली गई थी, पट्टा करते समय सहकारी कृषि समितियों को ही प्राथमिकता देनी चाहिए तथा ऐसी भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये भी उचित आर्थिक सहायता देनी चाहिए। ५. छोटे तथा मध्यम आकार वाले कृषकों को ऐसी समितियों में सम्मिलित होने को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिये कि जब तक सहकारी समितियाँ स्थापित रहेंगी तब तक इनके सदस्यों की भूमि की भी रक्षा की जायगी।

केन्द्रीय सरकार ने सहकारी कृषि के प्रोत्साहन के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५० लाख रु० व्यय करने की व्यवस्था की थी। इस दशा में गतवर्षों में काफी प्रगति हुई है। बम्बई में १ अप्रैल १९५४ को २५६ सहकारी कृषि समितियाँ थी जिनमें ८७१४ सदस्य थे और उन समितियों के पास ७६८१७ एकड़ भूमि थी। इन समितियों को लगभग ८·३ लाख रु० कर्ज तथा ६·७६ लाख रु० अनुदान के रूप में दिये जा चुके हैं। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश, सौराष्ट्र, हैदराबाद आदि अन्य राज्यों में भी सहकारी समितियों ने काफी कार्य किया है। यदि इसी प्रकार भारत में छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतों को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये तो हमारा यह विश्वास है कि शीघ्र ही भारतीय कृषि समस्याओं का अन्त होकर उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो जावेगी।

अध्याय १०

भारत में सिंचाई

(IRRIGATION IN INDIA)

सिंचाई का महत्व

कृषि-उत्पादन के लिये पानी की आवश्यकता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पानी की पूर्ति के लिये भारतीय कृषि मुख्यतः वर्षा पर निर्भर रहती है किन्तु भारत में वर्षा अनिश्चित है और इसका वितरण भी बड़ा दोषपूर्ण है क्योंकि देश में कुछ ऐसे भाग है जहाँ पर कम वर्षा होने के कारण सदा सूखा रहती है और कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ पर बहुत अधिक वर्षा होती है। भारतीय वर्षा की मुख्य विशेषतायें ये हैं—(१) देश भर में वर्षा का असमान वितरण (२) सब ऋतुओं में वर्षा का अनियमित वितरण (३) अनावृष्टि या सूखा (४) वर्षा की कमी— ऐसी परिस्थितियों में खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल के अधिक उत्पादन के लिए सिंचाई के साधनों का पर्याप्त मात्रा में होना अत्यन्त आवश्यक है। श्री नोवेल्स के अनुसार सिंचाई के कार्यों ने जीवन की सुरक्षा का प्रबन्ध किया है क्योंकि इसके कारण भूमि की उत्पादन, उसके मूल्य व उससे प्राप्त आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के साधनों से सरकार और कृषक दोनों को ही लाभ होता है क्योंकि इससे दोनों को ही आय में वृद्धि होती है। सन् १९५०-५१ में सरकार को केवल सिंचाई के साधनों से ही १४ करोड़ रु० की आय हुई थी। अतः सिंचाई का देश के आर्थिक जीवन में अत्यधिक महत्व है। इसके विकसित होने पर एक ओर तो कृषि-उत्पादन में वृद्धि होगी और दूसरी ओर अनावृष्टि का जो निरन्तर भय लगा रहता है वह समाप्त हो जावेगा और फलस्वरूप भारतीय कृषि की दशा सुधरेगी जिससे व्यापार, यातायात और राजकीय आय में भी वृद्धि होगी।

भारत में सिंचित क्षेत्र

विभाजन के पूर्व भारत में २९ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि में से केवल ७ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी अर्थात् कुल कृषि की जानेवाली भूमि का २४% भाग सिंचित था किन्तु विभाजन के पश्चात् यह घटकर १९% ही रह गया, अर्थात् २५ करोड़ १० लाख एकड़ में से केवल ४ करोड़ एकड़ भूमि पर सिंचाई होने लगी। १९५१ के आँकड़ों के अनुसार २७ करोड़ ७० लाख एकड़ भूमि में से ४ करोड़ ९९ लाख एकड़ पर सिंचाई हुई थी। इन आँकड़ों से विदित होता है

सिंचाई के आँकड़े (१९४८-४९)

राज्य	कुल क्षेत्र, लाख एकड़ में	सिंचित क्षेत्र, लाख एकड़ में
आसाम	६२	११
बिहार	२२६	४८·८
बम्बई	३४५	१८
मध्यप्रदेश	३२०	१७
मद्रास	३५८	११२
उड़ीसा	७४·५	१७
पंजाब	१३३	४६
उत्तर-प्रदेश	४९८	११९
पश्चिमी बंगाल	१३०	२०
हैदराबाद	२२५	१५
जम्मू और काश्मीर	२१३	६
मध्य भारत	९७	४
पेप्सू	४८	२०
हिमाचल प्रदेश	१०६	१.५

अतः भारत के शेष ८१% कृषि भूमि पर सिंचाई की सुविधा का विकास उत्पादन की वृद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि बिना सिंचाई वाली भूमि पर कृषि-उत्पादन $\frac{1}{3}$ से भी कम होता है। कुछ वर्ष पूर्व Sir Charles Trevilliyan का मत था कि "भारत में सिंचाई ही सब कुछ है। पानी का मूल्य भूमि से अधिक है क्योंकि भूमि में पानी लगा देने से उत्पादन ६ गुने से भी अधिक बढ़ जाता है तथा भूमि भी अधिक उर्वरा हो जाती है।" भारत में सिंचाई के २ प्रधान महत्वपूर्ण है—(अ) रचनात्मक अर्थात् कुछ क्षेत्रों में सिंचाई के द्वारा अकाल आदि का भय दूर करना और (ब) भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाना। अतः भारत की प्रत्येक सिंचाई योग्य एकड़ में सिंचाई की सुविधा उत्पन्न करना ही हमारा सर्व प्रथम ध्येय होना चाहिये।

वर्तमान समय में भारत की नदियों से प्राप्त १३५६ एकड़ फुट पानी* में से औसतन ५·६% का उपयोग किया जाता है तथा शेष पानी बाढ़ इत्यादि से क्षति करता हुआ समुद्र में मिल जाता है। इस प्रकार इन नदियों का लगभग ९४% पानी का आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकारी उपयोग किया जा सकता है जिससे बाढ़ों से क्षति कम हो, भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़े, कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो और साथ ही बहुत बड़ी मात्रा में विद्युत्-शक्ति उत्पन्न हो सके।

*** एक एकड़ भूमि को १ फुट गहरा पानी से भरने के लिये जितना पानी लगेगा वह एक एकड़ फुट पानी कहलाता है।**

सिंचाई के साधन

भारत में सिंचाई के ३ मुख्य साधन हैं—(१) कुआँ, (२) तालाब तथा (३) नहरें। सन १९५० में भारत में कुल २७ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि में केवल ५ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई हुई थी जिसमें से २ करोड़ ८० लाख एकड़ नहरों द्वारा, १ करोड़ ४० लाख एकड़ कुओं द्वारा, ६० लाख एकड़ तालाबों द्वारा तथा ७० लाख एकड़ अन्य साधनों द्वारा सींची गई थी। उक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में सिंचाई के विभिन्न साधनों में नहरें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनके द्वारा अन्य साधनों से सिंचित भूमि के योग से भी अधिक भूमि पर सिंचाई की जाती है।

कुआँ—कुआँ प्राचीन काल से ही भारत में सिंचाई का मुख्य साधन रहा है। ये कच्चे और पक्के दो प्रकार के होते हैं, किन्तु हमारे देश में अधिकांश कुएँ कच्चे हैं, क्योंकि इनके बनाने में न तो अधिक व्यय ही होता है और न किसी विशेष वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इससे पानी या तो मनुष्यों या ढेंकुली द्वारा निकाला जाता है। पक्के कुएँ दो प्रकार के होते हैं—(१) नल-कूप जिनसे बिजली या डिज़िल (Diesel) पम्पों से पानी खींचा जाता है तथा (२) ऐसे कुएँ जिनसे रहँट या चरस द्वारा पानी खींचा जाता है। भारत में अधिकतर उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास आदि राज्यों में कुओं द्वारा सिंचाई होती है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में तो कुएँ ही सिंचाई के मुख्य साधन हैं। कुएँ से सिंचाई करने से अनेक लाभ होते हैं क्योंकि इनके पानी में बहुत से रासायनिक पदार्थ जैसे सोडा, नाइट्रेट, क्लोराइड और सल्फेट आदि घुले रहते हैं जिनसे भूमि की उर्वरा-शक्ति में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त कुँओं से सिंचाई करने से नहरों की भाँति पानी एक स्थान पर एकत्र नहीं होता। परन्तु कुएँ की सिंचाई में कई मुख्य दोष भी हैं। जैसे (१) लगातार पानी निकालने से कुएँ शीघ्र ही सूख जाते हैं अथवा जिस वर्ष वर्षा कम होती है उस वर्ष कुओं में भी पानी बहुत कम हो जाता है। (२) व्यय और परिश्रम दोनों ही अधिक होते हैं। (३) कुओं से केवल सीमित क्षेत्रों में ही सिंचाई होती है क्योंकि कच्चा कुआँ अधिक-से-अधिक ३ एकड़ और पक्का कुआँ १५ से ५० एकड़ भूमि सींच सकता है (४) कुछ कुओं का जल खारा होता है जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नहीं है।

कुएँ प्रायः वयक्तिक ही होते हैं किन्तु सरकार भी तकावी ऋण देकर उनके बनाने में सहायता देती है तथा कुएँ बनाने से सुधारी हुई भूमि पर मालगुजारी की वृद्धि भी अस्थायी रूप से स्थगित कर देती है। सन् १९५१-५२ में उत्तरप्रदेश में ८६८७, मद्रास में ७२८८, मध्य भारत में ३२९७ और पंजाब में २००१ कुँए खोदे गये अथवा सुधारे गये थे। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश सरकार ने २०० और मद्रास ने ७२९ पम्पिंग सैट अपनी ओर से गाँवों में लगवाये। सन् १९५२-५३ के अन्त में विभिन्न राज्यों की कुओं से सिंचाई की योजनाओं द्वारा १४·२ लाख एकड़ भूमि पर अधिक सिंचाई हुई जब कि अब तक का लक्ष्य १८·७ लाख एकड़ भूमि था।

नल-कूप या ट्यूब वैल (Tube Wells)—एक नल-कूप ३० फुट से ४०० फुट तक गहरा होता है जो विशेष यन्त्रों से ही बनाया जाता है। इससे १ घण्टे में ३३ हजार गैलन पानी खिचता है और लगभग ५०० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकती है। इन कुओं द्वारा सिंचाई के ये लाभ हैं—(१) इनके बनाने में केवल एक बार ही व्यय होता है तथा इसकी देख-रेख और प्रबन्ध में भी बहुत कम व्यय करना पड़ता है। (२) प्रत्येक कृषक को पानी आवश्यकतानुसार नापकर दिया जाता है जिससे उसे न तो नहरों की भाँति प्रतीक्षा ही करनी पड़ती है और न व्यर्थ ही खेतों में पानी भरता है। (३) कुओं का पानी नहरों की अपेक्षा अधिक लाभकारी होता है।

सन् १९५० में उत्तर प्रदेश में ४४०, पंजाब में २२५ और बिहार में ३०० नल कूप ४ करोड़ रु० लगाकर बनाने की योजना आरम्भ की गई थी। जुलाई सन् १९५३ में २००० नल-कूपों का निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। इनमें से १७०० नल कूप खोदे जा चुके हैं जिनमें से १५०० विकसित किये जा चुके हैं। इस समय प्रतिमास ७५ कुएँ बनाये जा रहे हैं और आशा है कि कार्य नियत समय में समाप्त हो जावेगा।

नल-कूप निर्माण का दूसरा कार्य-क्रम नवम्बर सन् १९५४ में आरम्भ किया गया था। इसके अन्तर्गत ६५० कुएँ बनाने थे। इनमें से २९१ खोदे जा चुके हैं। इनमें से २५४ काम के हैं और उन में पम्प लगाए जा चुके हैं। इन दो कार्य-क्रमों के अतिरिक्त भारत-अमेरिका टैक्नीकल सहयोग कार्यक्रम के अधीन भारत सरकार ने हाल ही में ७०० नल-कूप बनाने का कार्यक्रम और शुरू किया है जिनमें से ३६ खोदे जा चुके हैं। कुछ कठिनाइयों के कारण इन कुओं पर बिजली पहुँचाने में कुछ विलम्ब होगा। किन्तु अगली खरीफ और रबी की फसलों के लिए सिंचाई का प्रबन्ध करने के लिए सितम्बर सन् १९५५ तक नल-कूपों को यथासम्भव विजली देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना आयोग ने ५००० नल-कूप बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया है इनमें से २६५० नल-कूप स्वीकृत स्थानों पर बनाए जावेंगे तथा २३५० ऐसे स्थानों पर बनाये जावेंगे जो प्रारम्भिक जाँच पर इनके योग्य हों।

तालाब—भारत में तालाबों द्वारा सिंचाई करने का अधिक प्रचलन दक्षिण में विशेषकर मद्रास और मैसूर में है। मद्रास में लगभग ३५००० तालाब हैं जिनसे २७ से ३० लाख एकड़ तक भूमि की सिंचाई होती हैं। कुछ तालाब तो हजारों वर्ष पुराने हैं और इतने बड़े हैं कि उनसे हजारों एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। इसके अतिरिक्त बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश में भी सिंचाई के लिए तालाबों का प्रयोग होता है। इन तालाबों में से कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ का निर्माण किया गया है। ये कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के हैं। पक्के तालाब जमीन के अन्दर तथा ऊपर दोनों ही तरह के बनाए जाते हैं। इनमें वर्षा ऋतु में पानी भर जाता है, जो अन्य ऋतुओं मे सिंचाई के काम में लाया जाता है।

कुएँ के पानी की भाँति तालाब का पानी भी भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने मे सहायक होता है क्योंकि इसमें वर्षा का पानी तथा गन्दगी का सम्मिश्रण होता है। तालाब सिंचाई का मुख्य साधन होते हुए भी सन्तोषजनक स्थिति में नहीं है। अतः सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अधिक संख्या में नये तालाब खोदे जावें तथा पुराने तालाबों को गहरा किया जावे। परन्तु इस कार्य में सरकार को ही सक्रिय कदम उठाने पड़ेंगे क्योंकि भारतीय किसान इस दिशा में अधिक कार्य नहीं कर सकता। उत्तर प्रदेशीय सरकार सन् १९४८ से इस दिशा में कार्य कर रही है। यह कार्य पंचायत, सहकारी समितियों तथा स्थानीय संस्थाओं के द्वारा ही ठीक प्रकार से हो सकता है। अतः पक्के तालाबों का निर्माण होना चाहिए यद्यपि इनमें व्यय बहुत अधिक होता है लेकिन पानी बहुत दिनों तक सुरक्षित रहता है जबकि कच्चे तालाब सूख जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह है कि इन तालाबों से खेतों तक पक्की नालियाँ बना दी जाये जिससे कि पानी की पूर्ति में सुधार होगा और पानी बर्बाद होने ने बच जावेगा। इसके अतिरिक्त जब तालाब खाली हो जावें और सिंचाई की आवश्यकता न रहे तो नहर के पानी से इनको भर देना चाहिए।

नहरें—भारत में नहरें सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिंचाई का साधन है। इनसे अधिकतर पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई मध्य-प्रदेश और उड़ीसा में सिंचाई की जाती है, जहाँ नहरों का एक प्रकार का जाल-सा बिछा हुआ है। नहरें प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) बारहमासी (Perennial) तथा बाढ़ निरोधक (Innundated)। बड़े-बड़े बाँधों द्वारा पानी एकत्र करके बारह-मासी नहरों का निर्माण किया जाता है जिनसे वर्ष भर पानी प्राप्त होता रहता है। बाढ निरोधक नहरों मे वर्षा ऋतु में नदियों में बाढ आने पर ही पानी आता है। यद्यपि बाढ निरोधक नहरों की अपेक्षा बारहमासी नहरों के निर्माण करने में बहुत अधिक व्यय होता है तथा टेकनीकल कुशलता, मशीन तथा विभिन्न प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता होती है फिर भी बारहमासी नहरें ही बाढ़ निरोधक नहरों से बहुत अधिक लाभकारी होती हैं क्योंकि वर्षा न होने से या सूखा पड़ने से बाढ़-निरोधक नहरों का पानी भी सूख जाता है। जबकि बारहमासी नहरों से ऐसी अवस्था मे भी सिंचाई के लिए पानी प्राप्त होता रहता है।

नहरों से सिंचाई करने से कुछ हानियाँ भी हैं। नहरों द्वारा सिंचित भूमि में पानी एक ही स्थान पर भरा रहता है तथा दलदल बन जाता है जिससे मच्छर आदि कीटाणु उत्पन्न होते हैं और खेत में पहुँचने से पहले ही पानी की काफी मात्रा व्यर्थ में ही नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त अधिक सिंचाई के कारण भूमि का क्षार फैल जाता है जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। पंजाब में ११ लाख २० हजार एकड़ तथा बम्बई की नीरा घाटी में ५१ हजार एकड़ भूमि क्षार फैल जाने से कृषि के अयोग्य हो गई है। किन्तु यह कोई बड़ी समस्या नहीं है क्योंकि

इसको नहरों को पक्का कर देने से तथा ट्यूब वैल और नालियों आदि द्वारा अधिक पानी को बाहर निकाल देने से हल किया जा सकता है।

सिंचाई की दर—भारत के विभिन्न राज्यों में सिंचाई की दर और उसकी वसूली के तरीके प्रत्येक फसल में भिन्न-भिन्न होते है। इसी प्रकार नहरों और नल-कूपों की सिंचाई-दर भी भिन्न-भिन्न है। अधिकांश भागों में भूमि-कर के अलावा सिंचाई-कर दिया जाता है जो सिंचित क्षेत्र तथा बोई गई फसल के आधार पर निर्धारित होता है। हैदराबाद, बम्बई, मद्रास तथा दक्षिणी उड़ीसा के कुछ भागों मे सिंचित फसलों का सिंचाई कर और भूमि कर सम्मिलित ही होता है। हैदराबाद मे एक एकड़ भूमि में गन्ने की खेती में सिंचाई की दर ३३ रु० है तो उत्तर-प्रदेश मे ५ रु० है, कपास की खेती में पंजाब में ३½ रु० और मद्रास में १० रु० है। इसी प्रकार चावल की खेती में प्रति एकड़ सिंचाई की दर ४ रु० से १८ रु० तक है और गेहूँ की खेती में २½ रु० से १० रु० तक है जैसा कि निम्नलिखित तालिका मे स्पष्ट है—

राज्य	फसल का नाम														
	गन्ना			चावल			कपास			गेंहूँ			मक्का		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
पंजाब	६	०	०	६	८	०	३	८	०	४	४	०	३	१२	६
	से			से			से			से			से		
	११	१	६	६	८	१०	५	४	०	४	४	७	४	४	०
मद्रास	७	८	०	६	४	०	३	२	०				३	२	०
	से			से			से			—			से		
	१२	०	०	१०	०	०	१०	०	०				१०	०	०
उत्तर प्रदेश	५	०	०	४	०	०	२	८	०	३	०	०	३	०	०
	से			से			से			से			से		
	१२	०	०	७	८	०	५	८	०	५	०	०	५	०	०
हैदराबाद	२७	०	०	११	०	०									
	से			से			—			—			—		
	३०	०	०	१३	०	०									
				(एक फसल)			—			—			—		
				१७	०	०									
	—			से			—			—			—		
				१८	०	०									
				(दूसरी फसल)											

उत्तर-प्रदेश में सिंचाई की दर

गत कुछ वर्षों से उत्तर-प्रदेश में सिंचाई की दर का विषय बहुत महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि राज्य सरकार ने १ अप्रैल, सन् १९५३ से इस दर में वृद्धि कर दी

थी जिससे सन् १९५४-५५ में राज्य की आय में २·७३ करोड़ रु० की वृद्धि होने की आशा थी। सिंचाई-दर की वृद्धि का ब्यौरा इस प्रकार है—

उत्तर-प्रदेश में सिंचाई की दर प्रति एकड़

क्षेत्र व फसल	सन् १९४८ से पूर्व				१-४-१९५३ के पश्चात्			
	रु०	आ०	पा०		रु०	आ०	पा०	
शारदा नहर								
चावल	६	०	०		१४	०	०	
गेंहूँ	५	०	०		१२	०	०	
गन्ना	१५	०	०	(१९४४ से पूर्व १० रु० थी)	३२	०	०	
गंगा नहर आगरा								
चावल	६	०	०	,,	१४	०	०	
गन्ना	१३	०	०	,,	३२	०	०	
देहरादून								
गेंहूँ	५	०	०	,,	१२	०	०	
गन्ना	१५	०	०	,,	३२	०	०	
बुन्देलखण्ड								
तम्बाकू	४	०	०		१२	०	०	
गन्ना	७	०	०		१६	०	०	
बिजनौर								
गेंहूँ	२	८	०		१०	०	०	
चावल	४	८	०		१०	०	०	
गन्ना	४	८	०		१६	०	०	

उत्तर प्रदेश में सिंचाई की दर के विरुद्ध प्रजा समाजवादी दल के तत्त्वावधान में बड़ा आन्दोलन हुआ। किसानों व प्रजासमाजवादी नेताओं ने वृद्धि के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये थे—

(१) राज्य में दो प्रकार के सिंचाई के साधन हैं—(अ) उत्पादक तथा (ब) अनुत्पादक। अनुत्पादक नहरों के क्षेत्र में किसानों की निर्धनता, कम उत्पत्ति, कम यातायात के साधन तथा कम जनसंख्या के कारण सिंचाई की दर कम थी। लेकिन यह भिन्नता सरकार ने समाप्त ही कर दी है क्योंकि शारदा नहर (अनुत्पादक) की सिंचाई-दर गंगा-नहर (उत्पादक) के बराबर कर दी है।

(२) संसार के किसी भी देश में राज्य के सिंचाई के साधन व्यापारिक साधन नहीं होते किन्तु अब राज्य सरकार सिंचाई साधनों के फलस्वरूप उत्पादन वृद्धि में से अपना हिस्सा माँगती है जो नहीं माँगा जाना चाहिए।

(३) भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन हैं और किसी भी कर-सिद्धान्त के अनुसार उस पर अधिक कर नहीं लगने चाहिएँ।

उत्तर प्रदेश में सन् १८३१ से १९४५-४६ तक सिंचाई साधनों पर लगभग २७९,६१४,६६५ रुपये व्यय किये जा चुके थे तथा २ अप्रैल सन् १९४६ से ३१ मार्च, सन् १९५२ तक ११२,५६१,६३४ रुपये राज्य सरकार ने और व्यय किये और अब लगभग २ करोड रुपये प्रतिवर्ष सिंचाई के विकास पर व्यय किया जा रहा है किन्तु फिर भी राज्य के सब क्षेत्रों में सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मूल्य-स्तर ऊँचा होने के कारण सिंचाई की योजनाओं की लागत भी बढ़ गई थी। अतः सरकार के सामने दो ही रास्ते थे कि या तो सिंचाई की नई योजनाओं पर कार्य बन्द कर दिया जाय अथवा सिंचाई की दर में वृद्धि कर दी जावे। सरकार ने दूसरी रीति को अपनाया और नई सिंचाई-दर सन् १९५३-५४ में लागू की गई। और यह निश्चय किया कि सिंचाई से जितनी भी आय होगी वह सिंचाई के विकास पर ही व्यय कर दी जावेगी। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बिना सिंचाई वाले क्षेत्रों के किसान बढ़ी हुई सिंचाई दर से भी अधिक सिंचाई-कर देने को तैयार थे। इसके अतिरिक्त कुओं की सिंचाई की लागत भी अन्यावश्यक मूल्यों में वृद्धि होने से काफी बढ गई थी। सिंचाई की दर में वृद्धि करने पर भी किसान को फायदा ही रहा है, क्योंकि ऐसा अनुमान है कि नहरों की सिंचाई के फलस्वरूप गन्ने का उत्पादन २८० मन से ४०० मन, चावल १० से १३ मन, गेहूँ ४ से ९ मन प्रति एकड़ बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य देशों की अपेक्षा उत्तर-प्रदेश में सिंचाई की दर बहुत कम है। भारत के और राज्यों में सुधार-कर (Betterment Levy) आदि लगते हैं जबकि उत्तर-प्रदेश में यह कुछ भी नहीं है। अतः सरकार द्वारा सिंचाई-दर की वृद्धि प्रत्येक दृष्टिकोण से न्यायपूर्ण थी किन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों वश उत्तर-प्रदेश की सरकार ने सन् १९५५-५६ के बजट में सिंचाई की दर २५% कम कर दी है।

सिंचाई-संगठन—सन् १९१९ के बाद से सिंचाई-व्यवस्था राज्य-सरकारों को सौंप दी गई। प्रत्येक राज्य में एक सिंचाई विभाग होता है जो राज्य के सिंचाई विकास का उत्तरदायी है। अन्तर्राज्य सिंचाई व्यवस्था (Inter State Irrigation) का संचालन करने के लिए २ केन्द्रीय संस्थाएँ हैं—(१) केन्द्रीय जल-विद्युत सिंचाई और जलयान आयोग (Central water power, Irrigation & Navigation Commission) की स्थापना भारत सरकार द्वारा सन् १९४५ में हुई थी। इसका उद्देश्य, जल-शक्ति पर नियन्त्रण, उसका उपयोग और संरक्षण करने के लिए योजनाएँ बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना है। इसके साथ ही आवश्यकता पड़ने पर राज्य-सरकारों की सलाह से इसे नई योजना बनाने का भी अधिकार है। (२) केन्द्रीय-सिंचाई परिषद् (Central Board of Irrigation) दूसरी संस्था है जो १९३१ में स्थापित हुई थी। इसका कार्य भारत के अनुसंधान-केन्द्रों में सिंचाई तथा इससे सम्बन्धित अन्य विषयों पर किये जाने वाले खोज-कार्यों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना है तथा विदेशी संस्थाओं से भी सम्बन्ध बनाए रखना है। इनके

अतिरिक्त केन्द्रीय जल-संघ (Central Ground Water Organisation) नाम की भी एक संस्था है जो सन् १९४६-४७ से जल-स्रोतों पर कार्य कर रही है।

पंचवर्षीय योजना में सिंचाई

राष्ट्रीय योजना आयोग समिति (National Planning Committee) की नदी तथा सिंचाई सम्बन्धी उपसमिति ने सर्वप्रथम १९३९ में बहुमुखी योजनाएँ लागू करने का प्रस्ताव किया था। ये योजनाएँ ऐसी हैं जिनसे एक साथ ही अनेकों कार्य हो सकते हैं जैसे—भूमि की सिंचाई, बाढ पर नियन्त्रण, विद्युत का उत्पादन तथा तैरने और मछली पालने के लिए तालाबों आदि की व्यवस्था की जा सकती है। इस समय देश में लगभग १५३ योजनाओं पर कार्य चल रहा है जिसमें से ६ बहुमुखी (तीन केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित), १०४ सिंचाई तथा ४३ जल-विद्युत योजनाएँ हैं। इन सब योजनाओं में केवल १८ बड़ी योजनाएँ (Major Projects) हैं जिनमें से ६ बहुमुखी, ३ जल-विद्युत और ३ सिंचाई योजनाएँ हैं जिन पर लगभग ४३० करोड रुपये तथा शेष योजनाओं पर १९३ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस व्यय में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सन् १९५३ तक सिंचाई और जल-विद्युत योजनाओं के लिए ६५ करोड़ रुपये का निर्धारित व्यय भी सम्मिलित है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १७३ योजनायें हैं जिनसे लगभग ८०.५३ लाख एकड़ अधिक सिंचाई होगी और लगभग १० लाख कि० वा० विद्युत् अधिक उत्पन्न हो सकेगी। प्रथम योजना के अन्तर्गत बहुमुखी योजनाओं के लिये प्रस्तावित व्यय और उनके द्वारा १९५५-५६ तक सींची जा सकने वाली भूमि का क्षेत्रफल इस प्रकार है:—

बहुमुखी योजनायें	१९५१ से १९५६ तक का व्यय लाख रु० में	सिंचित क्षेत्र	
		१९५५-५६ तक हजार एकड़	पूर्ण होने के पश्चात् हजार एकड़
भाखरा-नांगल	७७५०	१३६१	३६०४
हरिके (Harike)	१०६२	—	—
दामोदर घाटी	४१७०	५९५	११४१
हीरा कुण्ड	४४००	२६१	१७८५
उक्त योजनाओं के लिए अतिरिक्त व्यय	५०००	—	—
नई योजनायें[1]	३०००	—	—

इन योजनाओं की गत वर्षों में सन्तोषजनक प्रगति रही है। यह उल्लेखनीय है कि याजना के तृतीय वर्ष में खाद्यान्न के उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त कर गया लिया है और ३१ मार्च सन्, १९५४ तक समाप्त होने बाली योजनाओं के फलस्वरूप सिंचित

१. नई योजनाओं में कोसी, कोयना, कृष्णा, चम्बल (प्रथम पद) और रिंहाद योजनाएँ सम्मिलित हैं।

क्षेत्र में लगभग २० लाख ८० हजार एकड़ वृद्धि हुई और ४,५०,००० कि० वा० जल-विद्युत उत्पन्न हुई थी। इन योजनाओं पर किया गया व्यय इस प्रकार है—

वर्ष	व्यय लाख रु० में	१९५२ की मूल योजना में निर्धारित (लाख रु०)
१९५१-५२ (एक्चुअल्स)	८१७१	८,५००
१९५२-५३ (एक्चुअल्स)	९७७९	१२,१००
१९५३-५४ (रिवाइज्ड)	१२०५९	१२,७००
१९५४-५५ (बजट)	१६७५१	१०,७००

भारत के विभिन्न राज्यों में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई की योजनाओं में हुई प्रगति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है:—

राज्य	लाख रु० में		सिंचित क्षेत्र में वृद्धि (हजार एकड़ में)	
	अब तक का व्यय	योजना में निर्धारित व्यय	सिंचित नई भूमि	योजना का लक्ष्य
आन्ध्र	५९२	९९६	२	१३
आसाम	३२	१५८	७३	२१८
बिहार	४०१	९७३	३३६	६७५
बम्बई	१११५	२२६९	८०	४७४
मध्यप्रदेश	९६	३०८	१०	१७४
मद्रास	११४९	२०१९	४५	४३५
उड़ीसा	१७१	३००	६२	४८०
पंजाब	२३२	३२६	३६३	६६६
उत्तर प्रदेश	१४८८	१९११	७८०	१३६१
पश्चिमी बंगाल	८६८	१५३७	६१९	९१७
हैदराबाद	१३९९	२४७९	३२	३०६
काश्मीर	१६८	३४०	११	७६
मध्यभारत	१०४	३२८	२९	८३
मैसूर	७१४	१४३६	१२	३०
पैप्सू	१७	३४	—	—
राजस्थान	२०३	५०४	७३	१७९
सौराष्ट्र	३४०	४७३	४६	६४
त्रिवांकुर-कोचीन	२६६	४७८	१२	६
अजमेर	१	११	—	—
हिमाचल प्रदेश	१६	८०	३८	५०
कच्छ	५२	९१	१२	३१
भोपाल	—	१०	—	—
योग	२६२६	२१३५६	२६२६	४८०७

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई

उत्तर प्रदेश—

प्रथम योजना में निर्धारित ३० करोड़ रु० की लागत की सिंचाई योजनाओं में ८०% कार्य समाप्त हो चुका है। द्वितीय योजना में ६० करोड़ रु० की लागत की सिंचाई योजनाओं का विकास किया जायेगा जिनसे लगभग ४० लाख एकड़ भूमि पर और सिंचाई हो सकेगी। इन योजनाओं में अधिक महत्वपूर्ण नैनीताल में रामगंगा बांध योजना (बहुमुखी) होगी जिसमें २५ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। इसमें से १६ करोड़ सिंचाई पर तथा ९ करोड़ जल-विद्युत और शेष १ करोड़ अन्य कार्यों पर व्यय होगा। रामगंगा बांध योजना द्वारा मैनपुरी, फरुखाबाद एटा, मथुरा, आगरा, कानपुर, फतेहपुर और उन्नाव आदि जिलों की ६·५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त इस बांध से लोअर गंगा नहर को भी पानी दिया जा सकेगा।

दूसरा बांध उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में, मिर्जापुर जिले के चुनार और रौबर्टसगज के बीच इरगो नदी पर १.२५ करोड़ रु० की लागत का बनाया जायेगा जो ७०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई की सुविधा प्रदान करेगा। इसके अतिरिक्त मिर्जापुर जिले में एक और बाध अपर खाजुरी बांध भी बनेगा। जिसमें ५० लाख रु० व्यय होगा और जो १४००० एकड़ भूमि सीचेगा। गंडक नहर योजना देवरिया और गोरखपुर में ४ लाख एकड़ भूमि को सींचने के लिये २ करोड़ रु० व्यय करके बनेगी। बांदा जिले में भी दो नहरें, एक पैसजिनी और दूसरी जोहिनी से बनाई जायेंगी जिनमें १.५ करोड़ रु० व्यय होगा और जो ४०००० एकड़ भूमि को सीचेगी एक आजमगढ़ पम्प नहर टांडा के पास घाघरा नदी से बनेगी जिसमें ८ करोड़ रु० लगेगा और वह आजमगढ़ तथा जौनपुर जिलों की ४ लाख भूमि सीचेगी।

इसके अतिरिक्त ३५ जिलों में लगभग २००० नये नल-कूप १० करोड़ रु० लगाकर बनाने की योजना है जो १० लाख एकड़ भूमि सींचेंगे। माताटीला बांध और शारदा बांध पर भी ४ करोड़ रु० व्यय करके कार्य आरम्भ होगा तथा ३०००० कुएं भी बनाने की योजना है।

मध्य भारत—

मध्यभारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में छोटी और बड़ी १५० सिंचाई योजनाओं पर लगभग २० करोड़ रु० व्यय किया जायेगा जब कि प्रथम योजना में यह व्यय कुल ३ करोड़ १० लाख रु० था। इन योजनाओं द्वारा ५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई हो सकेगी तथा १ लाख टन अन्न अधिक उत्पन्न किया जा सकेगा। उक्त १५० योजनाओं में ६ बड़ी, १४ मध्यम तथा १३० छोटी योजनायें हैं। तीन बड़ी योजनाओं में पार्वती, हलाली, और चिन्तखेड़ा में नदियों पर बांध बनाने का प्रस्ताव भी सम्मिलित हैं। योजनाओं पर कार्य प्रारम्भ होने पर १ लाख व्यक्तियों को अस्थायी रूप से काम मिल जायेगा तथा इनके पूर्ण होने के पश्चात् १० हजार व्यक्तियों को स्थायी रूप से काम मिल सकेगा।

विन्ध्य प्रदेश—

विन्ध्य प्रदेश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई की ६४ छोटी योजनाएँ रक्खी हैं जिन पर ४५ लाख रु० व्यय होगा और जिनसे १,२०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। इसके अतिरिक्त बड़ी सिंचाई योजनाओं पर अगली योजना में ३९२८०००० रु० व्यय किया जायगा तथा इनसे लगभग ३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

कठिनाइयाँ

भारत में सिंचाई के साधनों का विकास करने में निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—

(१) **वित्त की कमी**—सिंचाई की बहुमुखी व अल्प योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है। पंचवर्षीय योजना के अनुसार बड़ी योजनाओं के लिए ५५८ करोड़ रुपये और छोटी योजनाओं के लिए ४७ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी इसके अतिरिक्त व्यक्ति तथा सहकारी समितियों को कुओं और तालाबों के निर्माण के लिए धन की जरूरत है। इसको प्राप्त करने लिए योजना में ऋण लेने, सरकारी आय से सहायता लेने, विशेष अनुदान, जलपूर्ति कर, लगान में वृद्धि तथा सिंचाई और विकास-कर आदि लागू करने की व्यवस्था की है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार धन संचित करने से जनता पर अनुचित भार पड़ता है जिससे काफी असंतोष फैलता है।

(२) **टेक्नीकल शिक्षा का अभाव**—भारत में योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए टेक्नीकल और शिक्षित कर्मचारियों की बहुत कमी है इसलिए प्रायः सभी योजनाओं में विदेशी इंजीनियर तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति करनी पड़ी है जिन पर अनावश्यक रूप से आर्थिक व्यय करना पड़ रहा है। अतः भारत में अनुसंधान तथा ट्रेनिंग केन्द्र खोलने की अत्यन्त आवश्यकता है।

(३) **आवश्यक सामग्रियों का अभाव**—योजनाओं के निर्माण के लिए आवश्यक सीमेण्ट और इस्पात की भी कमी है। इस ओर सरकार ने सक्रिय कदम उठाये हैं और गत वर्षों में इन दोनों वस्तुओं के नये कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी सामग्री देश में उपलब्ध हो वह सबसे पहले सिंचाई योजनाओं में लगानी चाहिए।

(४) **पानी का अनुचित उपयोग**—भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न फसलों के लिए पानी की आवश्यकता अलग-अलग मात्रा में होती है। परन्तु अधिकतर किसान बिना सोचे-समझे पानी का प्रयोग करता है जिससे खेती को काफी क्षति होती है और पानी भी बर्बाद होता है। इसके लिए नहरों को पक्का बनाना चाहिए और सिंचाई-कर प्रयोग किये गए पानी की मात्रा के आधार पर लगाने चाहिए।

(५) भारत का किसान खेत की सिंचाई के लिए वर्षा की प्रतीक्षा करता रहता है और जब वर्षा में विलम्ब हो जाता है तब सिंचाई के लिए नहरों और नल-

कूपों से पानी के लिए दौड़-धूप करता है। परन्तु भारतीय नहरों और जल-कूपों का पानी किसान की औसत आवश्यकता से कम होने के कारण सब किसानों को एक ही समय में आवश्यक पानी मिलना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सिंचाई की व्यवस्था पर अधिक भार पड़ता है। अतः इस भार को कम करने के लिए किसानों को अपनी पानी की आवश्यकता पहले से ही सरकारी रजिस्टरों में दर्ज करा देनी चाहिए और क्रमानुसार ही उनको पानी देना चाहिए।

उक्त कठिनाइयाँ असाध्य नहीं हैं। सरकार और जनता के सहयोग से उचित प्रयत्नों द्वारा इनका निवारण किया जा सकता है। हमारा विश्वास है कि यदि भारतीय किसान पानी का उचित रूप से प्रयोग करने की आवश्यकता को समझें तथा बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं के साथ-साथ फलीभूत होने वाली योजनाओं पर भी सरकार की ओर से अधिक जोर दिया जावे तो निश्चय ही देश की सिंचाई-व्यवस्था में सुधार होगा।

अध्याय ११

कृषि विपणन

AGRICULTURAL MARKETING

विपणन का महत्व

उत्तम बाजारों का होना समाज की आर्थिक क्रियाओं के समुचित संचालन के लिए आवश्यक व महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से यह कहावत है कि "अच्छे कृषक की एक आँख हल पर और दूसरी आँख बाजार पर रहती है" किन्तु १९वी शताब्दी के मध्यान्ह से कृषि के व्यापारीकरण होने के पश्चात् यह उक्ति अधिक सही हो गई है कि "अच्छे कृषक के दोनों हाथ हल पर और दोनों आँखें बाजार पर लगी रहती हैं।" अतः भारतीय कृषक बाजार का रुख देखकर ही उत्पादन करता है। किन्तु उत्पादन के पश्चात् उसको सफलतापूर्वक बेचना कृषक के लिए सरल नहीं होता।

विपणन का अर्थ

विपणन का अर्थ खरीददार प्राप्त करना है, अर्थात् उत्पादक और उपभोक्ता को एक स्थान पर एकत्र करके माँग और पूर्ति का संतुलन करना है। विपणन में निम्न-लिखित कार्य करने पड़ते हैं—(१) माल एकत्र करना (Assembling), (२) वस्तु का किस्म के अनुसार श्रेणीकरण करना (Grading), (३) वस्तु को ठीक करना (Processing), (४) यातायात के साधन द्वारा वस्तु को एक स्थान से मंडियों तक अथवा उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Transporting), (५) वस्तु की सुरक्षा के लिये उसे अच्छे गोदामों में रखना (Storing), (६) वस्तु को बेचकर उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Retailing), (७) बिक्री से पूर्व किसान को रुपया देना (Financing) (८) जोखिम उठाना (Risk bearing); क्योंकि गाँव से वस्तु को उपभोक्ता तक पहुँचाने में अधिक समय लगता है और इस समय में मूल्य गिर सकता है, अतः वह जोखिम भी उठाता है।

उक्त कार्य किसान द्वारा ही किए जा सकते हैं, परन्तु साधारणतः उसके लिये सब कार्यों का करना असम्भव है क्योंकि प्रत्येक कार्य के लिये विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। भारत में यह कार्य मध्यस्थों द्वारा किये जाते है। भारत में गेहूँ विपणन की रिपोर्ट के अनुसार यह मध्यस्थ निम्न प्रकार के पाये जाते हैं—

(१) किसान जो दूसरे किसानों से गल्ला एकत्र करते हैं।

(२) भूस्वामी जो अपने काश्तकारों की ओर से गल्ला एकत्र करके बेचते हैं।

(३) गाँव का बनिया, महाजन।

(४) व्यापारी जो गाँव-गाँव घूमते है।
(५) कच्चा आढ़तिया।
(६) सहकारी दलाली दुकानें।
(७) पक्के आढ़तिया।

अच्छे विपणन के गुण (Essentials of good Marketing)

उचित व सही विपणन होने के लिये, जिससे कृषक को अपनी वस्तु का उचित मूल्य प्राप्त हो सके, निम्नलिखित बातें आवश्यक है—

(१) वस्तु की किस्म (Quality) अच्छी हो, जो अच्छे बीज, अच्छी कृषि-प्रणाली, श्रेणीकरण और अच्छे गोदामों में रखने से की जा सकती है।

(२) बिक्रेता की कुछ समय तक रुकने की शक्ति। यदि कृषक को अपना गल्ला फसल काटने के तुरन्त बाद ही बेचना पड़ता है तो कम मूल्य मिलता है। अतः या तो कृषक के पास ही अपने आवश्यक खर्चों के लिये पर्याप्त धन होना चाहिये अथवा ऐसे साधन उपलब्ध होने चाहिएँ जिनसे उचित व्याज पर धन उधार मिल सके।

(३) **अच्छे और सस्ते यातायात के साधन**—किसानों को बाजार-भावों का निरन्तर पता लगता रहना चाहिये जिससे वे लाभकारी मूल्यों का लाभ उठा सकें। गाँवों से मंडियों तक सड़कें बहुत अच्छी होनी चाहिएँ।

(४) उत्पादक ग्रामों के पास ही सुव्यवस्थित बाजार होने चाहिएँ।

भारत में अच्छे विपणन की आवश्यकता

यदि भारतीय कृषकों की आय में वृद्धि करना है तो उसकी अच्छी व बड़ी-बड़ी फसलें बोने में सहायता करने के साथ ही उत्पादन की उचित मूल्य पर बिक्री में भी सहायता देना आवश्यक है। भारत में कृषकों को अपने कठोर परिश्रम द्वारा उत्पादित गल्ले का उचित मूल्य नहीं मिल पाता, क्योंकि बेचते समय अंधकार में छिपे घातक जन्तुओ की भाँति मध्यस्थ उन पर टूट पड़ते हैं और उनकी आय का बहुत बड़ा भाग स्वयं हड़प जाते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता को तो गल्ले का पूरा मूल्य देना पड़ता है किन्तु किसान को उचित मूल्य क्या, उसका आधा भी नहीं प्राप्त हो पाता। 'कृषि शाही आयोग' के अनुसार जब तक भारत में कृषि विपणन की समस्या को पूर्ण रूप से हल नहीं किया जाता तब तक कृषि समस्या का हल अधूरा ही रहेगा।

वर्तमान विपणन पद्धति (Present Marketing System)

बर्तमान पद्धति के अनुसार किसान की सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसे अपना माल प्रतिकूल स्थान, प्रतिकूल समय व प्रतिकूल मूल्य पर बेचना पड़ता है। आजकल भारतीय ग्रामों में कृषि पदार्थों के विक्रय की निम्नलिखित पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

(१) **गाँव में बिक्री**—भारतीय किसान अपनी अधिकांश उपज को गाँव में ही बनियों के हाथ बेच देते हैं। साधारणतः किसान एक छोटा उत्पादक होता है जो अपनी उपज का अधिक से अधिक स्वयं उपभोग कर लेता है और उसके पास बेचने

योग्य इतना माल नहीं रहता जिसे दूर के बाजारों में ले जाना लाभदायक हो सके। अतः वह माल को गाँव में ही बेच देता है। इसके अतिरिक्त फसल का लगान चुकाने, साहूकार का ऋण चुकाने, शादी आदि के समय धन की आवश्यकता होने के कारण लाचारी से किसान अपनी फसल को गाँव में ही साहूकार, बनिया या छोटे-छोटे व्यापारियों को ही बेच देता है। विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न पदार्थों की गाँव में बेची जाने वाली मात्राओं में अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ पंजाब में गेहूँ का ७०%, कपास ३५% और तिलहन की ७०% बिक्री गाँव में ही होती है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में गेहूँ का ८०%, कपास ४०% और तिलहन की ७५% बिहार और बंगाल में तिलहन की ८५% तथा पटसन की ९०% बिक्री गाँव में ही हो जाती है। जिन स्थानों में किसान अधिक ऋणी होते हैं अथवा गाँव से मंडियों तक के आवागमन की असुविधा होती है वहाँ तो गाँव में ही लगभग सारी फसल बिक जाती है। इस तरह की बिक्री के प्रायः तीन रूप होते हैं—(अ) गाँव में कभी-कभी लगने वाली पेंठ जो या तो सप्ताह में दो बार या १५ दिन बाद लगती है, जिसमें फेरीवाले गाँव के गल्ले को बेचते हैं तथा बड़े-बड़े मेलों में, जो कभी-कभी किसी धार्मिक अवसर पर होते हैं, कृषि उपज बेची जाती है। (ब) गाँव का बनिया महाजन भी कृषि-उपज को विशेष मात्रा में मनमाने मूल्यों पर किसानों से खरीद लेते हैं और शहर के व्यापारियों को लाभकारी दरों पर बेच देते हैं। (स) व्यापारियों के या आढ़तियों के कुछ दलाल गाँव में ही रहते हैं जो फसल तैयार होने पर उसे खरीद लेते हैं। इस प्रकार किसान को अपना माल गाँव में प्रतिकूल शर्तों पर बेचने से उचित मूल्य नहीं मिल पाता, अथवा उतना भी नहीं मिल पाता जितना कि यदि वह बैलगाड़ियों द्वारा गल्ले का अव्यवस्थित मंडियों में भी ले जाकर प्राप्त कर लेता।

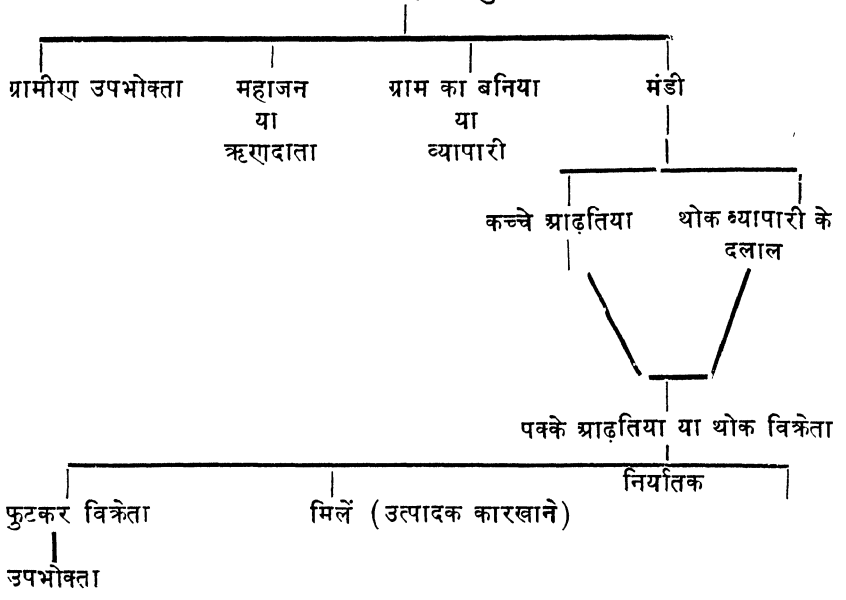
(२) **किसान के द्वारा माल स्वयं गाँव से बाजार को ले जाना**—कुछ किसान ऐसे भी होते हैं जिनके पास घर की बैलगाड़ी होती है और उनकी आर्थिक दशा भी कुछ अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त यातायात के निजी साधन न होने पर भी कुछ लोग गधे, खच्चर, ऊँट अथवा किराये की बैलगाड़ियों में माल लादकर मंडियों को ले जाते हैं। किन्तु यातायात के साधन भारतीय ग्रामों में प्रायः अत्यन्त कम तथा खराब होने के कारण न केवल माल के ले जाने का खर्चा बढ़ता है, बल्कि छोटे-छोटे व्यापारी तथा मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि हो जाती है, कृषि-उत्पादन को सस्ते किराये पर जल्दी लाकर बाजार में बाधा भी उत्पन्न कर देते हैं। कभी-कभी मूल्य का लगभग २०% भाग १५ मील दूरी पर स्थिति मंडियों में ही, माल के ले जाने के किराये में उठ जाता है किन्तु फिर भी इन किसानों को गाँव में बेचने वाले किसानों से कुछ अधिक पैसे मिल जाते हैं।

(३) **मंडियों में बिक्री**—कृषि उत्पादन के विक्रय की तीसरी पद्धति मंडियों में बेचने की है। भारतीय मंडियाँ अधिकतर असंगठित और पुराने ढंग की हैं जिनमें बिक्री या हिसाब के लिये कोई विशेष नियम नहीं होते तथा स्थायी कार्यकर्ता भी नहीं

होते। ये छोटी-छोटी मंडियाँ होती हैं जहाँ आढ़तिया किसानों से माल खरीदकर बड़ी. बड़ी मंडियों के बड़े आढ़तियों के पास भेज देते हैं। जिन स्थानों में गेहूँ, कपास, गन्ना और पटसन आदि अधिक मात्रा में उत्पन्न होते है वहाँ संगठित मंडियाँ अधिक आसानी से बन जाती है। किसान अपने गल्ले को गाड़ियों में भरकर कच्चे आढ़तियों या थोक खरीदारों के दलालों के पास ले जाते हैं। ये आढ़तिये किसान को ग्राहकों से अर्थात् पक्के आढ़तियों या थोक खरीदारों से मिलाते है। यह खरीदार माल का नमूना देखकर आढ़तियों के साथ मूल्य निश्चित करके सौदा करते है। कभी-कभी माल को नीलाम द्वारा भी बेचा जाता है। सौदा समाप्त होते ही आढ़तिया बेचने वाले को अपनी छूट तथा अन्य खर्चे काटकर मूल्य चुका देता है, यद्यपि उसको पक्के आढ़तियों से तुरन्त मूल्य नही प्राप्त होता। इन पक्के आढ़तियों द्वारा कृषि उत्पादन फुटकर व्यापारी, मिलों और निर्यातकों के हाथ बेचा जाता है। फुटकर व्यापारियों से अन्त में गल्ला उपभोक्ताओं तक पहुँचता है।

उक्त प्रणालियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रणालियाँ भी है जिनके द्वारा कृषक अपना माल बेचते हैं, जैसे सरकार द्वारा गल्ले की खरीद अथवा सहकारी समितियों द्वारा माल की बिक्री, ये दोनों ही प्रणालियाँ देश में हाल ही में प्रारम्भ की गई हैं जो कृषि विपणन के क्षेत्र में काफी प्रगति कर रही है। इनका विवरण इसी अध्याय में आगे किया गया है। कृषि-विक्रय की व्यवस्था की विभिन्न स्थितियाँ निम्न चार्ट में स्पष्ट हो जाती है—

कृषि उपज के विक्रय की क्रिया



वर्तमान विपणन प्रणाली के दोष—

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में कृषि विपणन की विभिन्न पद्धतियाँ बहुत ही असन्तोषजनक व दोषपूर्ण हैं जिनके कारण निर्धन किसान को अपने उत्पादन का उचित मूल्य नही मिल पाता। ये दोष निम्नलिखित है—

(१) **उचित संगठन का अभाव** (Lack of proper Organisation)—गल्ले-उत्पादकों या किसानों में किसी प्रकार का संगठन नहीं होता। कृषि उपज के खरीददार, विशेषतया व्यापारिक फसलों जैसे पटसन, कपास और तिलहन के, जो बड़ी मात्रा में खरीदते हैं, पूर्णरूप से सुसंगठित होते है जब कि खेती की उपज लाखों छोटे-छोटे किसानों द्वारा थोड़ी मात्रा में भिन्न-भिन्न गाँवों से मंडी में लाई जाती है। यहाँ पर बिक्री तथा मूल्य के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं होते और न किसानों के हितों की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध ही होता है। विक्रेता के असंगठित होने का फल यह होता है कि उनको बुरी तरह ठगा जाता है और विचारे किसान को उचित मूल्य प्राप्त नहीं हो पाता।

(२) **उपज की निम्नकोटि** (Low quality of the Produce)—किसानों को प्रायः कृषि उपज के निम्नकोटि के होने के कारण कम मूल्य मिलता है। भारतीय कृषि-उपज के निम्नकोटि होने के ये कारण है--(१) फसलों के बोते समय निम्न कोटि के बीजों का चुनाव। (२) प्राकृतिक प्रकोप, जैसे—अधिक वर्षा या अनावृष्टि अथवा फसलों के रोग तथा कीटाणुओं का आक्रमण। (३) फसल काटने की दोषपूर्ण विधि। (४) गाँव में माल सुरक्षित रखने की व्यवस्था का अभाव। (५) व्यापारियों द्वारा जानबूझ कर बेईमानी से मिलावट कर दिया जाना तथा (६) उपज के प्रमाणीकरण (Standardisation) व श्रेणीकरण (Gradation) का अभाव।

(३) **दोषपूर्ण आवागमन के साधन** (Defective Means of Transport)—भारत में यातायात के साधनों की व्यवस्था बहुत कम व दोषपूर्ण है। अभी तक भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में रेलों का विकास नहीं हो पाया है। भारत में केवल २·२ मील रेलें प्रति १०० वर्ग मील के क्षेत्र में हैं, जब कि इंगलैंड में २२·७ तथा अमेरिका में ८·३ मील रेलें उतने ही क्षेत्र में हैं। इसके अतिरिक्त रेलों का किराया अधिक होने के कारण कृषि-उपज के, जिसकी अधिक मात्रा का कम मूल्य होता है, यातायात को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। इसी प्रकार भारतीय सड़कें न तो अच्छी ही हैं और न पर्याप्त ही हैं। ग्रामों की अधिकांश सड़कें कच्ची हैं जो वर्षाकाल में बिलकुल बेकार हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त गाँव से गल्ला बैलगाड़ी या ऊँटगाड़ी आदि से मण्डी तक लाया जाता है जिनमें अधिक समय के साथ-साथ व्यय भी अधिक होता है। ऐसी स्थिति में किसान गाँव के व्यापारी या बनिये को ही अति सस्ते दामों पर अपने गल्ले को बेच देता है।

(४) **प्रतिकूल परिस्थितियों में बेचने को किसान की विवशता** (Forced Sale) आधुनिक विपणन प्रणाली का एक दोष यह भी है कि किसानों अर्थात् विक्रेताओं का अपनी वस्तुओ के विपणन पर कोई भी अधिकार नहीं है। अधिकांश किसान

फसल कटने के बाद तत्काल ही अपना माल प्रतिकूल परिस्थितियों में गाँव में महाजन और बनियों को बेचने को विवश हो जाते हैं, जो उनको कम-से-कम मूल्य देते हैं। इसके अतिरिक्त अच्छी सड़कों का अभाव तथा गल्ले की सुरक्षा के लिए गोदाम के अभाव में भी किसान लाचार होकर तुरन्त ही कम मूल्य पर अपनी उपज बेच देता है। इसीलिए भारत में फसल कटने पर प्रायः मन्दी आ जाती है।

(५) **मध्यस्थों की अधिकता** (Large Number of Middlemen) भारत में वास्तविक उत्पादक तथा अन्तिम उपभोक्ता के बीच में बहुत से मध्यस्थ हैं जो उत्पादक और उपभोक्ता दोनों पर ही अपना अस्तित्व रखते हैं। किसान को मन्डी में जाकर गल्ले की बिक्री के लिए दलाल, आढ़तिया, महाजन, साहूकार आदि अनेकों मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये मध्यस्थ किसानों को मिलने वाले मूल्य का बहुत बड़ा भाग स्वयं हड़प जाते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचों के अनुसार गेहूँ की बिक्री में १ रु० में ९$\frac{3}{4}$ आने, चावल में ८$\frac{1}{2}$ आने, अलसी में १० आने, आलू में ८ आने और मूंगफली की बिक्री पर केवल ७$\frac{1}{2}$ आने ही किसान को मिल पाते हैं।

(६) **प्रमाणीकरण तथा श्रेणीकरण का अभाव** (Lack of Standardisation and Gradation):—भारत में फसल के बोने से लगाकर बेचने तक गल्ले की शुद्धता और श्रेणीकरण का तनिक भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। अच्छी और खराब दोनों ही फसलों को ढेरों में बिना अन्तर के एक साथ बेचा जाता है। श्रेणीकरण, विशेषतया निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में अति आवश्यक है क्योंकि आज भी रुई आदि की फसलों में कई प्रकार की अशुद्धतायें, मिलावट, पानी के छींटे देकर कपास गीला करना आदि पाई जाती है। इसी प्रकार मूंगफली, चावल, तिलहन, गेहूँ में कंकड़, मिट्टी आदि भी मिला दिया जाता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की बहुत बदनामी हो रही है और कृषि वस्तुओं का मूल्य बहुत कम मिलता है। इसीलिये प्रायः सभी उन्नत राष्ट्रों में कृषि पदार्थों का उचित रूप से प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण कर दिया गया है। भारत में भी सन् १९३७ में कृषि उत्पादन (श्रेणीकरण व विपणन) कानून पास हो गया था, जिससे स्थिति में काफी सुधार हुआ है। इसके अनुसार विश्वसनीय व्यापारियों को ही निर्यात करने का लाइसेन्स दिया जाता है। उनको सरकारी विपणन विभाग के अधिकारियों के निरीक्षण में अपनी वस्तुओं का श्रेणीकरण कराना पड़ता है और उनका माल बाजार में 'एगमार्क' की छाप लगाकर बिकता है।

(७) **कृषि उपज को सुरक्षित रखने के लिए खत्तियों व भंडारों का अभाव** (Lack of Storage and warehousing Facilities)—भारतीय ग्रामों में कृषि-उपज को सुरक्षित रखने के लिए समुचित प्रबन्ध नहीं है और इसके लिए भूमि में गड्ढे या मिट्टी की कोठरियाँ ही हैं जिन्हें ठेका या खत्तियाँ कहते हैं। ये सब मिट्टी की बनी होती हैं जिनमें बहुत अधिक सील, चूहों अथवा अन्य कीड़े, मकोड़ों जैसे घुन, दीमक आदि द्वारा माल की बहुत क्षति होती है। ऐसा अनुमान है कि अकेले गेहूँ में इस प्रकार के संग्रह से २$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की क्षति होती है।

(८) **मूल्य परिवर्तनों की सूचना का अभाव** (Lack of Information Regarding Prices)—भारतीय किसान मंडियों में दिन-प्रतिदिन मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों से पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है। बाजार भावों को जानने का एकमात्र साधन गाँव का बनिया ही होता है। गत कुछ वर्षों से बाजार की स्थिति तथा भाव दैनिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे हैं व रेडियो में भी सुनाए जाने लगे हैं। किन्तु भारतीय किसान निरक्षर होने के कारण इनको नहीं समझ सकता और निर्धनता के कारण रेडियो आदि का लाभ नहीं उठा सकता। ऐसी स्थिति में किसानों को गाँव के व्यापारी या बनियों के ऊपर ही निर्भर रहना होता है, जो सदा उनको कम मूल्य बताकर ठगते रहते हैं।

(९) **मंडियों में बेईमानी व धोखेबाजी के कार्य** (Fraudulent Practices) मंडियों में विभिन्न प्रकार के अनुचित कार्य किये जाते है जिनसे विक्रेता को बहुत हानि होती है। इनमें से मुख्य ये हैं:—

(अ) मंडियों में दलाल या मध्यस्थ, विक्रेता और खरीददार दोनों ही की ओर से बातचीत करता है। प्रायः वह आढ़तिया खरीददार का पक्ष कर जाता है क्योंकि कभी-कभी आने वाले किसान-विक्रेता की अपेक्षा आढ़तियों से उसके निकट सम्बन्ध होते हैं।

(ब) आढ़तियों तथा खरीदारों के बीच मूल्य का निर्धारण तो प्रायः कपड़े की आड़ में ही होता है। दोनों आढ़तिये अपने हाथ एक कपड़े के अन्दर छिपा लेते हैं और एक-दूसरे की उंगली पकड़ने का यत्न करते है। इस प्रकार रुपयों के ऊपर आनों का भाव वे तय कर लेते हैं जिसका विक्रेता को कुछ पता नहीं रहता। किन्तु फिर भी किसान लाचारी में अपना माल बेच देता है।

(स) मंडियों में प्रायः बाँट व तराजू भी झूठे होते हैं। बहुधा खरीदने के और बेचने के बाँट-तराजू भिन्न-भिन्न होते है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भागों में तोल और बाँटों की विभिन्नता भी बहुत अधिक पाई जाती है। शाही कृषि आयोग के अनुसार पूर्वी खानदेश के १६ जिलों में से १३ जिलों में १ मन की तोल २१½ से लगाकर ८० सेर तक की थी। यही नहीं बाँट लकड़ी, पत्थर, लोहे आदि के टुकड़ों के होते हैं। तोल की विभन्न इकाइयों में भी अन्तर रहता है, जैसे एक सेर की तोल ३१ तोले से १०२ तोले तक है, एक पंसेरी ५ सेर से ९ सेर तक तथा एक मन ४० सेर से ५४ सेर तक का होता है। इसके अतिरिक्त तोलने वाले प्रायः व्यापारी से मिले होते है इसलिए विभिन्न प्रकार से बेईमानी करने का प्रयत्न करते हैं।

(१०) अन्त में मण्डियों में किसानों को विभिन्न प्रकार के कर व कटौती देनी पड़ती हैं, उदाहरणार्थ चुंगी व रमन्ना, दलाल की दलाली, आढ़त, तौल की तुलाई, बोराबन्दी, मजदूरों को गाड़ी खलाने की व बोरा भरने की पल्लेदारी, उपज में अशुद्धता के कारण गर्दा चुकाना, माल की तौल में कमी के लिए दाना चुकाना आदि। इनके अतिरिक्त मंडी में और भी बहुत से व्यक्ति व संस्थाएँ होती हैं जिन्हें

किसान को थोड़ा-थोड़ा देना होता है जैसे—शागिर्दी, चौकीदार, भंगी, ब्राह्मण, मुनीम, भिश्ती तथा भिखारी आदि की भी कटौती होती है। इसके बाद धर्मादा के नाम पर मन्दिर, गौशाला, प्याऊ, पाठशाला, रामलीला आदि के लिए भी कुछ-न-कुछ देना पड़ता है। इतना ही नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न व्यापारियों तथा किसानों से विभिन्न मात्रा में कटौतियाँ काटी जाती हैं। शाही कृषि आयोग के अनुसार "मंड़ियों में प्रचलित बहुत से रिवाज तो खुली चोरी से कम नही है।" उत्तर प्रदेश की कुछ मंड़ियों की कटौतियाँ इस प्रकार है —

प्रति १०० रु० पर व्यय और कटौती

कटौती	मंडी के नाम		
	हापुड़	गाजियाबाद	बरेली
	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
ढुलाई	० १० ६	० ६ ३	० ११ ०
कर्दा और दालता	—	—	० १० ०
कमीशन	० ७ ६	—	१ ० ०
दलाली	—	० २ ६	० २ ०
धर्मादा	० १ ०	० १ ०	० १ ६
अन्य	० २ ६	० २ ६	० ३ ६
योग	१ ५ ६	० १२ ३	२ १२ ६
व्यय			
महसूल व चुङ्गी	—	० १० ०	३ ६ ०
ढुलाई तथा कमीशन	१ १ १०	२ ३ ०	१ ७ ६
कुल योग	२ ७ ४	३ ६ ३	७ १३ ०

सुधार के प्रयत्न

भारत में कृषि विपणन की समस्यायें बहुत दिनों से चली आ रही हैं, जिनके कारण देश में निर्धनता तथा अन्य आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित रही है। कृषि उत्पादन में गत वर्षो में काफी वृद्धि होने पर भी कृषकों को अधिक लाभ नही हो सका है। आज भी किसान निर्धनता के कारण अपने उत्पादन को अधिक समय तक रोकने में असमर्थ है। अतः उसे महाजन, दलाल, और मिल मालिकों की दया पर ही निर्भर रहना पड़ता है और प्रतिकूल स्थान तथा प्रतिकूल मूल्यों पर ही अपना माल

बेचना पड़ता है। इस समस्या की ओर भारत सरकार का ध्यान प्रथम महायुद्ध के बाद ही आकर्षित हुआ था और तब से ही कृषि विपणन में सुधार करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गए हैं। सर्वप्रथम शाही कृषि आयोग ने भारतीय कृषि विपणन की समस्या का अध्ययन किया था और अपने सुझाव सरकार के समक्ष रखे थे। तदुपरान्त १२ वर्ष बाद राष्ट्रीय आयोजन समिति ने कृषि विपणन का पुनः अध्ययन किया किन्तु कोई सुधार नहीं पाया। सन् १९४९ में कांग्रेस की भूमि सुधार समिति ने भी कृषि विपणन में सुधार करने के लिये अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। योजना आयोग ने भी इस समस्या पर काफी जोर दिया है। इसी बीच अनेकों जाँच समितियों ने जैसे—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति, विपणन-उप-समिति, कृषि वित्त उपसमिति, सहकारी आयोजन समिति तथा ग्रामीण बैंकिंग जाँच-समिति आदि ने कृषि विपणन की एक न एक समस्या का अध्ययन किया और सुधार के सुझाव दिये। किन्तु अभी तक इन सुझावों के प्रति सरकार उदासीन रही और कोई सक्रिय कार्य नही किया। सन् १९५३ में अखिल भारतीय विपणन अधिकारी सम्मेलन ने भी कृषि विपणन की अनेक समस्याओं पर वाद-विवाद किये और पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित करने के लिये राज्य सरकारों से कृषि विपणन के विकास की योजनाएँ तैयार करने तथा इन योजनाओं का केन्द्रीय संस्था के द्वारा समन्वय करने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त व्यवस्थित बाजार, लाइसेंसयुक्त गोदाम, वित्त की समस्या, बाँट और माप, प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण, कोटि नियन्त्रण, प्रशिक्षण और अनुसन्धान आदि पर अनेकों सुझाव दिये, किन्तु अतीत की भाँति इन सुझावों पर भी सक्रिय कार्यों के होने की सम्भावना कम ही है क्योंकि राज्य सरकारें इनके प्रति सदा उदासीन ही रही हैं और नाममात्र के लिए ही कुछ कार्य किये हैं। अतः आज केवल प्रस्ताव पास करने और सुझाव पेश करने से ही समस्या का हल नहीं होगा वरन् अनिवार्य रूप से उन सुझावों व पास किये गये कानूनों को तुरन्त ही लागू करने से समस्या का हल हो सकेगा। फिर भी गत २५ वर्षों में कृषि विपणन के दोषों को दूर करने के लिए देश में सरकार द्वारा अनेकों सक्रिय प्रयत्न किये गये हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) **नियन्त्रित मंडियाँ** (Regulated Markets)—सर्वप्रथम सन् १८९७ में बरार कपास व गल्ला मंडी नियम (Berar Cotton and Grains Markets Law) के अनुसार कपास के लिये नियंत्रित मंडी खोली गई थी। परन्तु सन् १९२६–२८ तक देश में इस ओर विशेष प्रगति नही हुई। शाही कृषि आयोग ने भी यह सुझाव दिया था कि 'नियंत्रित मंडियों' का संगठन भारतीय कृषकों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यह केवल कपास तक ही सीमित न रख कर अन्य कृषि पदार्थों में भी लागू करना चाहिये और इस ओर राज्य को सक्रिय प्रयत्न करने चाहिएँ। उक्त सुझावों के फलस्वरूप अन्य प्रान्तों में नियंत्रित मंडी अधिनियम पास किये गए। मध्य प्रदेश में सन् १९३२, मद्रास में सन् १९३३ और हैदराबाद में १९३९ में तथा मैसूर, ग्वालियर, बड़ौदा आदि राज्यों में भी नियंत्रित मंडियाँ स्थापित की

गई। इसके पश्चात् योजना आयोग ने भी नियंत्रित मंडियों की स्थापना पर बहुत जोर डाला और योजना काल में इस दिशा में प्रगति भी हुई है। इस समय पैप्सू और पंजाब की अधिकांश थोक की मंडियाँ नियंत्रित कर दी गई है। किन्तु अभी आसाम, बिहार, उड़ीसा, प० बंगाल और उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्यों में इन मंडियों को नियंत्रित नही किया गया है तथा कुछ राज्यों में तो अभी इसके लिये कानून भी नहीं बने है। सन् १९५०–५१ में नियंत्रित मंडियों की संख्या २८३ थी जो सन् १९५३-५४ में ३५६ हो गई अर्थात् योजना के प्रथम तीन वर्षों में ७३ नई मंडियों की स्थापना इस प्रकार हुई है—

बम्बई	२६
हैदराबाद	१९
मध्य प्रदेश	५
मैसूर	५
पंजाब	१८
कुल	७३

अपने मूल रूप में यह सभी मंडियाँ एक दूसरे से मिलती जुलती हैं और इनकी मुख्य विशेषताये निम्नलिखित है—

(क) प्रत्येक मंडी की व्यवस्था तथा संचालन वहाँ के क्रेता और विक्रेताओं द्वारा बनाई गई एक समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति का मुख्य कार्य बाज़ार का निरीक्षण करना है जिससे मंडी में कोई बेईमानी न हो सके। इसके अतिरिक्त तौल, माप और कटौतियों पर कड़ी निगाह रख के किसानों को हर प्रकार की सुविधा देना है।

(ख) मंडी में कार्य करने वाले दलालों, तौलने वाले तथा अन्य मध्यस्थों को अपना पंजीयन (Registration) कराना आवश्यक है जिससे वे अनुचित कार्य करने पर पकड़े जा सकें और दण्ड के भोगी बन सकें।

(ग) क्रेता और विक्रेता के बीच होने वाले सभी झगड़ों का निपटारा उक्त समिति द्वारा ही किया जाता है।

भारत में नियंत्रित मंडियों की प्रगति विभिन्न भागों में असमान तथा शिथिल है। इस शिथिल प्रगति के मुख्यत: दो कारण हैं—(१) जहाँ-जहाँ मंडियों को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ बड़े-बड़े व्यापारियों और मध्यस्थों ने प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक रोड़े अटकाने के प्रयत्न किये हैं। (२) अनेक विशेषज्ञ समितियों और आयोगों के ज़ोरदार सिफ़ारिश करने पर भी राज्य सरकारों और जनता ने नियंत्रित मंडियों की उपयोगिता व आवश्यकता को नहीं समझ पाया है।

(२) **उपज का प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण** (Standardisation and Gradation)—भारत में कृषि विपणन में सुधार करने के लिये तथा विश्व-बाज़ार में भारतीय उपज का अधिकतम मूल्य पाने के लिये उपजों का प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसी आशय से सन् १९३७ में भारत सरकार

ने कृषि उपज श्रेणीयन और विक्री अधिनियम (Agricultural Produce & Marketing Act) पास किया जिसके अनुसार विपणन अधिकारियों के निरीक्षण में कुछ विश्वस्त व्यापारियों के कृषि पदार्थों का उचित श्रेणीकरण करने के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं और ऐसे पदार्थों पर 'एगमार्क' का लेबिल लगा दिया जाता है। सन् १९४२-४३ में इस कानून में कुछ संशोधन किये गये और अब इस कानून के अन्तर्गत घी, अंडा, आटा, तिलहन, गुड़, वैजीटेबिल, कपास, तम्बाकू, लाख, चमड़ा, चावल, गेंहूँ, ऊन, कहवा, फल आदि वस्तुओं का श्रेणीकरण होता है। इस कार्य के समुचित निरीक्षण के लिये पर्याप्त अधिकारी विभिन्न राज्यों में हैं जो नमूनों की जाँच करके उचित श्रेणी का पता लगाते हैं। इस प्रकार भारत में सन् १९४८ में १२ करोड़ रु० के पदार्थों का, सन् १९४९ में १३ करोड़ रुपये, १९५० में १५ करोड़ रु० और १९५१ में २१ करोड़ रुपये के पदार्थों का श्रेणीकरण हुआ था। किन्तु श्रेणीकरण के सम्बन्ध में भी कुछ राज्य सरकारें उदासीन सी प्रतीत होती हैं। इसीलिए इसमें बड़ी शिथिल प्रगति हो रही है। उदाहरण के लिये, उत्तर प्रदेश के राजकीय डेरी फार्मों पर भी 'एगमार्क सील' के साधन नहीं हैं जिससे अकसर इन फार्मों द्वारा उत्पादित पदार्थों की शुद्धता पर संदेह किया जाता है। अतः इस दिशा में अधिक कार्य करने की आवश्यकता है। सन् १९५३ में अखिल भारतीय कृषि विपणन अधिकारियों के सम्मेलन में भी कृषि पदार्थों के श्रेणीकरण, विशेषतया खाने वाले तेलों पर, अधिक ज़ोर दिया गया था तथा राज्य सरकारों से प्रचलित एगमार्क प्रथा द्वारा श्रेणीकरण का खूब प्रचार करने की सिफारिश की थी। परन्तु आज आवश्यकता श्रेणीकरण का केवल प्रचार करने की नहीं है वरन इसको कानून द्वारा लागू करने की है।

(३) **माप विधि तथा बांटों में सुधार**—भारतीय मंडियों से माप विधि और बाँटों की भिन्नता और धोखेबाजी को दूर करना तथा एक ही प्रकार के प्रमाणित बाट चलाना अति आवश्यक है। इस दिशा में भारत सरकार ने मार्च सन् १९३९ में एक अधिनियम बनाया था जो १ जुलाई सन् १९४२ से लागू किया गया। इसके अनुसार बम्बई में 'मिन्ट मास्टर' ने प्रामाणिक बाटों को ढालकर देश में वितरित किया था। भारतीय प्रमाण संस्था (Indian Standard Institution) ने सुझाव दिया है कि देश में बाटों के प्रमाणीकरण के लिये मेट्रिक प्रणाली (Metric System) अपनाना चाहिये। किन्तु इस ओर भी अधिकांश राज्य सरकारें उदासीन हैं। कुछ राज्यों में तो अभी बाटों के प्रमाणीकरण के लिये कोई नियम ही नहीं बना व अन्य कुछ राज्यों में अधिनियम बन जाने पर भी वे लागू नहीं किये गये हैं।

हाल ही में बाँट और माप विधि में दशमलव प्रणाली चलाने की अनेक राज्यों ने अपनी अनुमति दे दी है तथा इस प्रथा को अमल में लाने के लिये सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया है। इस प्रणाली को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में उचित कार्यक्रम निर्धारित करने तथा कानून आदि की रूपरेखा के सम्बन्ध में विचार करने का कार्य एक स्थायी समिति को सौंप दिया गया है।

(४) **बाजार में मूल्य परिवर्तनों की सूचना की सुविधायें**—विभिन्न मंडियों में भावों की दरों में समानता नही होती और उनकी सूचना भी किसान को नहीं मिलती जिसके फलस्वरूप उसको बहुत आर्थिक हानि होती है। इस समय केन्द्रीय सरकार के विपणन विभाग के द्वारा प्रतिदिन शाम को अखिल भारतीय रेडियो से विभिन्न पदार्थों के भाव प्रसारित किये जाते हैं और कुछ पदार्थों का मूल्य तथा स्टॉक आदि का विवरण साप्ताहिक भी प्रसारित होता है। इसके अतिरिक्त दैनिक समाचार पत्रों में भी मूल्य प्रकाशित किये जाते हैं। राज्य विपणन विभाग भी इसी प्रकार सूचनाओं को प्रसारित करने की योजनाओं पर विचार कर रहे हैं। परन्तु अधिकांश ग्रामों में रेडियो सेट न होने के कारण तथा समाचार पत्रों के देर से मिलने के कारण मूल्य-प्रचार से मनोवाछित फल प्राप्त नही हो पाता। इसके लिये ग्राम पंचायतों को समाचारपत्रों व रेडियो की व्यवस्था करनी चाहिये।

(५) **सुरक्षित गोदामों की सुविधा**—भारतीय किसानों की उचित अन्न भंडार तथा गोदामों की समस्या का हल करना बहुत आवश्यक है क्योंकि इनके अभाव में किसान को तो हानि होती ही है, पर राष्ट्र को भी, लाखों मन खाद्यान्न के प्रति वर्ष सड़ जाने से, भारी क्षति होती है। अतः सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा पक्के गोदामों का निर्माण होना चाहिये। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने सन् १९४४ में एक गोदाम संचालन विभाग की स्थापना की थी जिसके अन्तर्गत कई लाख टन खाद्यान्न के संग्रह करने के लिये बम्बई, विजगापट्टम, कोयम्बटूर, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में बड़े-बड़े गोदामों का निर्माण हुआ है।

गत कुछ वर्षों में भारतीय कृषि उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई है। परन्तु मंडियों में, व ग्रामों में अच्छे गोदामो का भारी अभाव होने से भारी क्षति हुई है। इस विषय में योजना आयोग ने लाइसेन्स युक्त गोदोमों को स्थापित करने का सुझाव दिया था। बम्बई, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, त्रिवांकुर कोचीन आदि राज्यों में इस सम्बन्ध में आवश्यक अधिनियम बन गये हैं किन्तु अभी तक इनके अनुसार गोदामों का निर्माण नहीं हो पाया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में बम्बई, कलकत्ता, विजगापट्टम, मद्रास और कोचीन आदि बन्दरगाहों में बड़े-बड़े गोदाम बनाने के लिये १·२५ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया था। परन्तु देश के विभिन्न भागों में खाद्यान्न के आधिक्य और कमी वाले भागों में २.१७ लाख टन खाद्यान्न भरने योग्य गोदाम बनाने के लिये यह राशि बढ़ा कर २ करोड़ रुपया कर दी गयी थी। इसमें से सन् १९५३-५४ तक ६० लाख रुपया व्यय करके ६३००० टन खाद्यान्न भरने के लिये पर्याप्त गोदामों का निर्माण हो चुका है। भारत सरकार ने सन् १९५३-५४ में एक केन्द्रीय खाद्य कोष स्थापित करने का निश्चय किया था और इसके लिये १५.६ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न भरने योग्य गोदाम बनाने के लिये १० करोड़ रु० व्यय करने की योजना बनाई थी। इसके अतिरिक्त भारत-अमरीका टैक्निकल सहकारी योजना (Indo U. S. Technical Cooperative Programme) के अन्तर्गत पुरानी किस्म के गोदामों को आधुनिकतम गोदाम बनाने का भी सुझाव दिया है।

(७) पदार्थों की कोटि का नियन्त्रण:—इधर कुछ वर्षों से भारत में बेईमानी ने जोर पकड़ रक्खा है। मिलावट तो एक साधारण-सी बात हो गई है, जिससे देश में व्यापारिक एवं आर्थिक हानि होने के अतिरिक्त भारतीय वस्तुओं का विदेशों में उचित मूल्य नहीं मिलता और बहुत बदनामी होती है। इस ओर सुधार की परम आवश्यकता है। विदेशों में स्थित भारत के व्यापार कमिश्नरो ने भी बहुत शिकायतें की हैं और सिफारिश की है कि सरकार को कम-से-कम निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की किस्म पर नियन्त्रण (Quality Control) करना चाहिये। एक विशेष समिति ने भी यह सुझाव दिया था कि आवश्यक वस्तुओं का निर्यात होने से पूर्व विशेषज्ञ निरीक्षकों द्वारा जाँच करानी चाहिए और इसके लिए एक सुयोग्य सरकारी संगठन स्थापित कर देना चाहिये। योजना आयोग ने भी पंचवर्षीय योजना में इसकी सिफारिश की है। इसके अतिरिक्त सन् १९५३ में विपणन अधिकारियों के सम्मेलन में भी एक प्रस्ताव द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की किस्म पर नियन्त्रण करने की जोरदार सिफारिश की गई थी। किन्तु यह सुझाव तो उचित नही प्रतीत होता क्योंकि इससे केवल निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर ही नियन्त्रण हो सकेगा और देश के अन्दर मिलावट की समस्या दिनोंदिन बढ़ती ही जायेगी। अतः इस सम्बन्ध में कांग्रेस की भूमि सुधार समिति द्वारा प्रस्तावित अनिवार्य श्रेणीकरण योजना भारत सरकार को तुरन्त ही लागू कर देना चाहिये।

(८) सस्ते और अच्छे आवागमन के साधन—आवागमन के साधनों के अभाव में किसानों को अपने कुल प्राप्त होने वाले मूल्य का लगभग १५% भाग गाँव से मंडियों तक गल्ला ले जाने में ही व्यय कर देना पड़ता है। अतः सस्ते और अच्छे आवागमन के साधनों के विकास की सबसे अधिक आवश्यकता है। राज्य सरकारों को गाँवों से मंडियों तक पक्की सड़क बनवानी चाहिये। किसान को बैलगाडी में लकड़ी के पहियों के स्थान पर रबर के पहिये लगाने को प्रोत्साहित करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रेलों के विकास के साथ-साथ इनके भाड़े में कमी होना आवश्यक है।

सहकारी विपणन (Cooperative Marketing)

कृषि विपणन के दोषों को दूर करने के लिए सहकारी समितियाँ अति उत्तम साधन हैं। ऐसी सहकारिता का प्रादुर्भाव दोनों ही ओर से अर्थात् इंगलैंड के उपभोक्ता थोक विक्रेता (ConsumersWholesale) की भाँति उपभोक्ताओं द्वारा अथवा कनाडा के गेहूँपूल (Wheat Pools) की भाँति उत्पादकों द्वारा किया जा सकता है। हमारा सम्बन्ध तो उत्पादकों द्वारा सहकारी विक्रय से ही है। कृषक छोटी-छोटी मात्राओं में तथा अलग-अलग बेचने के स्थान पर सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा सम्मिलित रूप से सीधे ही थोक बाजार में अपना माल बेच सकते हैं और इस प्रकार वर्तमान विपणन पद्धति की अनेकों कठिनाइयों से मुक्ति पा सकते हैं।

भारत में सर्वप्रथम सन् १९१२ के सहकारी समिति विधान के अन्तर्गत सहकारी विक्रय समितियों को स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। ये समितियाँ विशेषकर बम्बई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में पाई जाती हैं। सहकारी विक्रय समितियों

को विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जाता है: (१) कृषि उपज का क्रय-विक्रय करने वाली समितियाँ (२) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ (३) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियाँ तथा (४) कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन को क्रय-विक्रय करने वाली समितियाँ। यह समितियाँ सीधे उत्पादकों से माल खरीदकर उपभोक्ताओं को बेच देती हैं या उत्पादकों के Agent का कार्य करती है जिससे बीच के मध्यस्थों की संख्या कम हो जाती है। ये समितियाँ एक या अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर सकती हैं, किन्तु भारत में केवल एक वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाली समितियाँ अधिक है जिनमें उत्तरप्रदेश और बिहार की गन्ना विपणन तथा विकास सहकारी समितियाँ (Sugar Cane Marketing & Development Cooperative Societies) और बम्बई की कपास ओटने तथा उसकी सफाई करने वाली समितियाँ (Cotton ginning & Processing Societies) प्रमुख है।

सहकारी विक्रय समितियाँ निम्नलिखित कार्य करती है—

(१) अपने सदस्यों से कृषि उपज तथा कुटीर उद्योगों के उत्पादित माल लेकर उनका वर्गीकरण तथा प्रमाणीकरण करके अपने सहकारी संघों को बेचने के लिए देती हैं।

(२) अपने सदस्यों के उत्पादित माल के बदले में उन्हें ऋण देती है किन्तु धन की कमी तथा गोदामों के अभाव से इस कार्य में समितियों को सफलता नहीं मिल पाई है।

(३) उत्पादित माल को बेचने के लिए अपने सदस्यों के प्रतिनिधि का काम करती है। उत्तर-प्रदेश और बिहार की गन्ना समितियाँ तो केवल यही कार्य करती हैं। गत कुछ वर्षों में तो कुछ समितियों ने गन्ना वसूली के लिए सरकार के प्रतिनिधियों के रूप में भी काम किया था।

(४) अपने सदस्यों को उत्तम कोटि का माल उत्पादित करने का प्रोत्साहन देती हैं।

(५) कुछ समितियाँ, विशेषकर मद्रास में विक्रय के अतिरिक्त ऋण तथा अन्य सुविधाएँ भी देती है।

(६) उपरोक्त कार्यो के अतिरिक्त ये समितियाँ स्कूल, अस्पताल तथा सड़कों आदि के निर्माण में सहयोग देकर समाज सेवा का कार्य भी करती है।

सहकारी विक्रय समितियों से लाभ (Advantages)

(१) इन समितियों के स्थापित होने से उत्पादक और उपभोक्ता के बीच के सारे मध्यस्थ समाप्त हो जाते हैं।

(२) अपने सदस्यों को ऋण देने के अतिरिक्त समय-समय पर उन्हें उचित सलाह देकर व्यापारियों की धोखेबाजी से बचाती हैं। इसके साथ-साथ इन समितियों के कारण उत्पादकों की माल बेचने की शक्ति तथा समय की काफी बचत हो जाती है।

(३) समितियों द्वारा माल के श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण करने से उपभोक्ताओं को भी उत्तम कोटि का माल मिल जाता है तथा माल में मिलावट की कोई सम्भावना नहीं रहती ।

(४) इन समितियों से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण हो जाता है । अत: माल को कुछ समय तक रोककर उसकी कीमत को बढ़ाया भी जा सकता है ।

(५) सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ पर्याप्त विज्ञापन व प्रचार भी कर सकती हैं, जोकि अकेला किसान नहीं कर पाता ।

वस्तुत: सहकारी विक्रय समितियों के उक्त लाभों को आज सभी सभ्य सरकारें मानने लगी हैं और प्रत्येक देश में इन्होंने पर्याप्त और सराहनीय कार्य किया है । भारत में पश्चिमी बंगाल की धान व पटसन की विक्रय समितियों को यद्यपि विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी किन्तु बम्बई, गुजरात और खानदेश में कपास की समितियों को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है । यद्यपि सभी राज्यों की विक्रय समितियों के कार्यो के विषय में अधिक सूचना उपलब्ध नही है, परन्तु जो कुछ भी उपलब्ध है उसके अनुसार बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में ही इन समितियों ने सफलतापूर्वक कार्य किया है । सन् १९५१-५२ में बम्बई में ९३ कपास विक्रय समितियों ने लगभग ३·७४ करोड़ रुपये की कपास बेची थी । इसके अतिरिक्त ४५ समितियों द्वारा फल और शाक-भाजी बेचने की व्यवस्था की गई थी । मद्रास में भी सन् १९५२-५३ में १०० सहकारी समितियाँ थीं । जिनमें से ५० समितियों ने लगभग ४७ लाख रुपये का माल अपने सदस्यों से प्राप्त किया । उत्तर प्रदेश में इन समितियों ने बहुत सराहनीय प्रगति की है । सन् १९५२-५३ में उत्तर प्रदेश के १०९ सहकारी गन्ना संघों ने गन्ने की मिलों की कुल आवश्यकता का ९३·३% गन्ना बेचा जबकि १९५१-५२ में केवल ९१·३७% ही गन्ना बेचा था । पिछले १० वर्षों में राज्य में लगभग ५६०० सहकारी गन्ना संघ व समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं । ये संघ और समितियाँ अपने सदस्य गन्ना-उत्पादकों की सिंचाई व्यवस्था में सुधार व अच्छे बीज और खाद खरीदने के लिए धन से सहायता करती रही है । हाल ही में बम्बई और मद्रास में राज्य सरकारों के सहयोग तथा प्रोत्साहन से प्रान्तीय सहकारी बिक्रय समितियाँ स्थापित की गई हैं ।

विपणन का नया संगठन (New Marketing Organisation)

सन् १९२८ में शाही कृषि आयोग ने विपणन की विभिन्न वस्तुओं की जाँच के लिए विशेषज्ञ विक्रय अधिकारी (Expert Marketing Officer) की नियुक्ति का सुझाव दिया था । इसके अनुसार सन् १९३४ में भारत सरकार ने शाही कृषि-सभा (Imperial Council of Agriculture) के सलाहकार के रूप में श्री ए० एम० लिविंग्सटन की नियुक्ति की । इस अधिकारी को सलाह देने के लिए एक उपसलाहकार, ३ उच्च विपणन अधिकारी, १५ सहायक विपणन अधिकारी भी आजकल नियुक्त किये जाते है । इनके अतिरिक्त विपणन सलाहकार को वस्तुओं की कोटि के

विषय में सलाह देने के लिए दो मुख्य इंस्पेक्टर, एक उच्च इंस्पेक्टर, २८ इंस्पेक्टर, एक मुख्य रसायन शास्त्री, तथा एक विकास अधिकारी आदि भी नियुक्त होते हैं। इन सबको मिलाकर विपणन विभाग का संगठन बनता है। इसी प्रकार राज्यों में भी विपणन विभाग होते हैं। सन् १९४९ के पूर्व भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् से राज्य सरकारों को विपणन विभाग के संचालन के लिए आर्थिक सहायता मिलती थी। किन्तु सन् १९४९ में यह बन्द हो गई। तदुपरान्त बंगाल, बम्बई, मद्रास, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, हैदराबाद तथा मैसूर आदि राज्यों ने विपणन-विभाग को स्थायी रूप दे दिया है। इन विपणन विभागों का कार्य मुख्यतः ३ श्रेणियों में विभाजित है—(१) अनुसंधान-कार्य (Investigation), (२) विकास कार्य (Development) तथा (३) श्रेणीकरण की जाँच (Gradation testing)। अनुसंधान कार्य में महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की बिक्री की छानबीन, नियन्त्रित मंडियों की समस्याएँ, माल बाहर भेजना तथा गोदाम में रखना आदि कार्य आते हैं। विकास-कार्य प्रायः अनुसंधान के परिणाम पर निर्भर होता है। इसके अंतर्गत उपभोक्ता की आवश्यकताओं की सूचना उत्पादकों को देना तथा प्रामाणिक वर्गों का जनता में प्रचार करना आदि है तथा श्रेणीकरण के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं का वर्गीकरण करना और बेची जाने वाली वस्तुओं की जाँच करना है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गत २५ वर्षों में कृषि-पदार्थों के विक्रय में पर्याप्त सुधार हुए हैं और यह आशा है कि यदि भारत की केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें इस ओर उचित व सक्रिय कदम उठावेंगी तो निकट भविष्य में निश्चय ही वर्तमान कृषि विपणन प्रणाली के सभी दोषों का निवारण हो जायगा तथा मंडियों का संगठन आधुनिक प्रणालियों के आधार पर होगा।

अध्याय १२

भूमि-व्यवस्था व भूमि-सुधार

(LAND TENURES & LAND REFORMS)

भूमि-व्यवस्था का अर्थ किसान द्वारा सरकार अथवा जमीदार से प्राप्त भूमि पर स्वामित्व रखने की प्रथा से है। दूसरे शब्दों में भूमि-व्यवस्था का सम्बन्ध उन शर्तों व अवस्थाओं से है जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसकी जोत का अधिकार निर्भर रहता है। भूमि एक प्राकृतिक साधन है जिस पर मनुष्य का कोई अधिकार नही है। अत: प्रत्येक देश में सरकार अपने को समस्त भूमि का अन्तिम स्वामी मानती है और इसीलिए वह भूमि से भूमि-कर लेती है जिसे मालगुजारी भी कहते हैं। अत: भूमि-व्यवस्था में निम्नलिखित दो बातों का विवरण होता है—

(अ) **भू-स्वामित्व** (Proprietory tenure)—जिसमें भू-स्वामियों के अधिकार की शर्तों तथा सरकार के प्रति उनके कर्तव्यों का विवेचन रहता है।

(ब) **जोत का अधिकार अर्थात् काश्तकारी** (Cultivation tenure)—इसमें राज्य या जमींदारों से प्राप्त होने वाली भूमि की शर्तों का विवेचन होता है। क्योंकि भू-स्वामी और काश्तकार दोनों भिन्न-भिन्न हैं। काश्तकार tenants कहलाते हैं और जिस भूमि पर वे खेती करते हैं, उस पर उनका निजी स्वत्व नहीं होता बल्कि काश्तकारी पद्धति से उनको भूमि दी जाती है। इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक को निम्नलिखित ३ प्रकार के अधिकार होते हैं

(१) **खुदकाश्त** (Occupancy tenant)—इस अधिकार के अनुसार जब तक किसान भूमि का लगान देता है तब तक उसे उस भूमि पर खेती करने का अधिकार रहता है और जमींदार या मालगुजार अपनी इच्छा से उसे बेदखल नहीं कर सकते और न लगान की मात्रा में ही परिवर्तन कर सकते हैं।

(२) **यथेच्छ काश्त** (Tenant At Will)—इसके अन्तर्गत जमींदार किसान को अपनी इच्छा से भूमि पर खेती करने से रोक सकता है तथा लगान में भी परिवर्तन कर सकता है। सरकार की ओर से उसके इस प्रकार के अधिकार के लिये कोई संरक्षण नहीं है।

(३) **उप-कृषक** (SubTenant)—इसमें मौरूसी किसान भूमि पर स्वयं खेती न करके, जितना लगान वह स्वयं देता है उससे अधिक लगान पर दूसरे किसानों

को उठा देता है। उप-किसान, किसान की इच्छानुसार ही भूमि पर खेती कर सकता है या उसके कुछ निश्चित अधिकार होते हैं। यह उप-किसान भी भूमि को दूसरे किसानों को लगान पर उठा सकता है। इस प्रकार सरकार तथा वास्तविक किसान के बीच बहुत से मध्यस्थ होते है। यह प्रथा बंगाल में विशेषत: प्रचलित रही है और वहाँ अनेक गाँवों में ऐसे मध्यस्थों की सख्या लगभग चालीस तक पाई गई है।

भूमि-स्वामित्व (Proprietory Tenure)—

भूमि-स्वामित्व के आधार पर भारत में मुख्यत: तीन प्रथाये अधिक प्रचलित रही है।

(१) **ज़मींदारी प्रथा** (Zamindari System)—इसमें एक व्यक्ति अथवा भू-स्वामियों का एक समूह सरकार के प्रति लगान के भुगतान के लिये उत्तरदायी होता है। जब तक यह जमीदार सरकार को लगान देते रहते है तब तक भूमि के स्वामी रहते है। जमींदारों द्वारा दिये जाने वाले लगान की मात्रा दो प्रकार से निश्चित होती है:—(अ) स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) जिसमें लगान की मात्रा सदा के लिये एक बार निश्चित हो जाती है और (ब) अस्थायी प्रबन्ध (Temporary Settlement) जिसमें लगान ३० या ४० वर्ष बाद दुहराया जाता है। यह प्रथा बंगाल, बिहार, उडीसा, उत्तरप्रदेश, उत्तरी मद्रास, मध्य प्रदेश और बम्बई के कुछ भागों में पाई जाती है। किन्तु अब विभिन्न राज्यो में इस प्रथा का उन्मूलन हो चुका है।

(२) **महालवारी प्रथा** (Mahalwari System)—इसके अन्तर्गत एक महाल अथवा गाँव पर गाँव की बिरादरी का अधिकार होता है और उसके सदस्य एकत्रित रूप से तथा व्यक्तिगत रूप से सरकार को लगान के देनदार होते है। इसीलिये इस प्रथा को सम्मिलित ग्राम स्वामित्व (Joint Village Tenure) भी कहते है। इसमें माल-गुजारी अस्थायी होती है अर्थात् साधारणत: ३० या ४० वर्ष बाद फिर दुहराई जाती है। यह पंजाब, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में पाई जाती है।

(३) **रैयतवारी प्रथा** (Ryotwari System):—इस प्रथा के अनुसार कृषक का सरकार से सीधा सम्बन्ध होता है। वह स्वयं ही सरकार को लगान देता है। मालगुजारी ३८-४० वर्ष बाद निश्चित होती है, जो भूमि की उर्वरता के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। वैधानिक रूप से किसान भूमि का पूर्ण स्वामी नही होता किन्तु व्यवहार में वह स्वामी ही रहता है। यह प्रथा मद्रास, बम्बई और बरार में प्रचलित है।

सन् १९३७-३८ के आँकड़ों के अनुसार उक्त तीनों प्रकार की भूमि-व्यव-स्थाओं के अन्तर्गत भूमि का विभाजन इस प्रकार था:—

भूमि-व्यवस्था की प्रथा	क्षेत्रफल (१० लाख एकड़ में)	कुल का % क्षेत्रफल	जहाँ पाई जाती है
१. रैयतवारी	१८३	३६	मद्रास, बम्बई, बरार, आसाम
२. जमीदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	१३०	२५	बंगाल, बिहार, उडीसा, उत्तरी मद्रास और बनारस (उत्तर प्रदेश)
३. जमीदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	१९९	३९	मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब

जमींदारी उन्मूलन (Zamindari Abolition)

भारत की लगभग ८४ फीसदी आबादी किसानों की है जो अत्यधिक निर्धन हैं और जिनकी क्रय-शक्ति नहीं के बराबर है। युद्ध-काल में किसान की आर्थिक दशा कुछ सुधरी अवश्य किन्तु जमींदारी प्रथा के कारण वह इस स्थिति का पूर्ण लाभ नहीं उठा सका। इसके अतिरिक्त इसी प्रथा के कारण सरकार निर्माण-कार्य तीव्र गति से न कर सकी। मध्यमवर्गीय कर्मचारियों और व्यापारियों की दशा खराब रही और व्यापार तथा उद्योग भी पिछड़े रहे। अर्थात् समस्त समाज पर इस प्रथा का बुरा प्रभाव पडा। इसलिए विशेषज्ञों की अनेक समितियों ने समय-समय पर इस प्रथा को समाप्त करने के सुझाव दिये तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आर्थिक नीति का जमीदारी उन्मूलन सदैव एक महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने जमीदारी उन्मूलन को अपने आर्थिक कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग बना लिया और आज धीरे-धीरे सभी राज्यों में यह नीति लागू की जा रही है। बहुत से राज्यों ने जहाँ जमीदारी या इसी के अनुरूप कोई अन्य प्रथा प्रचलित है भूस्वामियों के इन विशेषाधिकारों का अन्त करने के लिए कानून भी लागू कर दिये हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राज्य सरकारें जमींदारियों को जब्त न करके जमीदारों को उनकी जमीन के बदले उपयुक्त प्रतिकार अर्थात् मुआवजा देकर जमीन पर अपना अधिकार कर रही हैं। इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन से देश में वह व्यवस्था उत्पन्न होगी जिसके आधार पर सारा समाज समृद्धि की ओर अग्रसर होगा, राष्ट्रीय निर्माण-कार्य तीव्र गति से पूर्ण हो सकेंगे तथा जनता के रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो सकेगा।

जमींदारी उन्मूलन के पक्षीय तर्क

(१) जमींदार किसानों का बहुत दिनों से शोषक रहा है। उसने अपनी भूमि में कोई सुधार नहीं किया और न भूमि जोतने वाले किसानों को ही भूमि सुधार करने की अनुमति दी तथा भूमि की चकबन्दी करने में सदा रुकावट ही डाली है। अतः जमींदारों को समाप्त कर देने से भूमि-सुधार योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सकेगा और खाद्यान्न के उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

(२) जमींदारी उन्मूलन से राज्य की भूमि-कर (Land Revenue) से आय बढ़ेगी। सन् १९५०-५१ में खण्ड 'क' के ९ राज्यों को ३३ करोड़ २१ लाख रुपये की आय हुई थी और यह अनुमान लगाया गया था कि जमींदारी उन्मूलन करने वाले ७ राज्यों की आय में १९ करोड़ ५० लाख रुपये से भी अधिक की वृद्धि होगी, जिससे राज्य सरकारें मुआवजे की किश्त अदा करने के बाद भूमि-सुधार तथा ग्राम-पुनर्निमाण (Rural Reconstruction) की योजनाओं को कार्यान्वित कर सकेंगी, जिनके फलस्वरूप देश के प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होगी और किसान की दशा सुधरेगी।

(३) जमींदारी-उन्मूलन आर्थिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त राजनीतिक दृष्टिकोण से भी उचित है, क्योंकि देश के मतदाताओं में किसानों की संख्या बहुत अधिक है। वे अपनी वर्तमान स्थिति से बहुत असन्तुष्ट है और इसके लिए जमींदारो को ही दोषी ठहराते हैं। अतः जनतन्त्र-प्रणाली के अनुसार बहुमत के निर्णय को मान्यता देने के दृष्टिकोण से जमींदारी उन्मूलन एक सही साधन है। इसके अतिरिक्त भूमि-सुधार योजनाओं को तभी सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है जबकि सरकार और किसान के बीच सभी मध्यस्थों को समाप्त कर दिया जाय।

(४) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् लोगों की क्रय-शक्ति मे वृद्धि होगी जिससे देश में औद्योगिक विकास हो सकेगा।

विपक्षीय तर्क

(१) जमींदारी उन्मूलन से मनुष्यों के दो दलों का निर्माण होगा, जो सदा एक-दूसरे के विरुद्ध रहते है जिससे आपसी वैमनस्य और मुकदमेबाजी में बहुत अधिक वृद्धि होगी।

(२) भारतीय किसान के पास इतनी सम्पत्ति नही है जिसके विरुद्ध वह कुछ कर्जा ले सके और दसगुना लगान अदा करके भूमिधर बन सके। अतः उसको बहुत ऊँची ब्याज की दर पर रुपया उधार लेना पड़ेगा।

(३) ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार जमींदार सदैव राज्य के प्रति स्वामि-भक्त रहे है और रहेंगे।

(४) जमींदारी उन्मूलन जैसे परिवर्तनों के लिए भारतीय ग्रामों मे आवश्यक शिक्षा, दृष्टिकोण और क्षमता नही है।

(५) जमींदारी उन्मूलन से जमींदार, जिलेदार और कारिन्दे आदि बहुत बडी संख्या में बेरोजगार हो जायँगे।

यद्यपि जमींदारी उन्मूलन के विरुद्ध ये तर्क दिये गए है, किन्तु उनमें कोई जान नहीं है क्योंकि किसी भी महत्वपूर्ण परिवर्तन के साथ कुछ कठिनाई और अव्यवस्था का होना बहुत जरूरी है, किन्तु इन कठिनाइयों और अव्यवस्था के भय से परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता। जमींदारी उन्मूलन से जो अव्यवस्था पैदा होगी उसका सामना करना ही पड़ेगा और उसको शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना लाभदायक होगा।

कानूनी व्यवस्था—भारतीय संविधान में व्यक्ति के अल्प अधिकारों की भांति उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था है। ३१वें अनुच्छेद की धारा २ के अनुसार सम्पत्तिमें कोई भेद नहीं है। यदि सरकार किसी भी सम्पत्ति पर अपना अधिकार करेगी, तो उसे उस सम्पत्ति के स्वामी को इसके एवज में मुआवजा देना पड़ेगा। यह मुआवजा नकद या किसी अन्य रूप में अदा करने की भी व्यवस्था है। विधान के लागू होने के १८ महीने पूर्व मुआवजे के विषय में जो नियम बनाये गये हों या विधान के लागू होते समय राज्य विधान सभा में इस पर विचार होना बाकी हो और यदि ऐसे कानूनों को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाय तो कोई भी अदालत उन पर आपत्ति नहीं कर सकती। यह नियम राज्यों में जमीदारी उन्मूलन सुविधापूर्वक करने के लिए ही बनाया गया है। परन्तु फिर भी बिहार, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में जमीदारों ने जमीदारी उन्मूलन कानून के विरुद्ध आपत्ति की कि ये कानून संविधान में दिये गये मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा के विरुद्ध है। इस पर उच्चतम न्यायालय (Supreme court) की constitution bench ने मई सन १९५२ के अपने अन्तिम फैसले में घोषित किया था कि उत्तर प्रदेश, बिहार, और मध्य प्रदेश के जमीदारी उन्मूलन कानून, कुछ धाराओं को छोडकर, पूर्णतया वैध (Valid) है और संविधान के अधिकार के अनुसार और अन्तर्गत हैं (Intra Vires) है। इस फैसले से इन राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों में भी जमींदारी उन्मूलन अथवा अन्य क्रान्तिकारी भूमि-सुधारों को लागू करने में सुविधा हो गई है। इसके अतिरिक्त संविधान में भी, जमींदारों द्वारा की गई आपत्ति के आधार पर, सशोधन कर दिया गया है जिसके अनुसार जमींदारी अन्य प्रकार की निजी सम्पत्तियों से भिन्न है और इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार राज्य विधान सभाओं को ही है। इस प्रकार अब जमींदारी उन्मूलन के लिये वैधानिक रूप से अत्यन्त सुगम मार्ग हो गया है।

जमींदारी उन्मूलन की योजना

स्वतंत्रता के पश्चात् देश की लगभग सभी राज्य-सरकारों ने जमींदारी उन्मूलन व अन्य मध्यस्थों की समाप्ति की नीति को अपना लिया था। अतः सन् १९५१ से पूर्व मध्यस्थों की समाप्ति के लिए बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, आंध्र और उत्तर-प्रदेश में कानून बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त बम्बई में भागदारी, नफादारी, ताल्लुकदारी, बाजिफदारी तथा खोटी, हैदराबाद में जागीरदारी और पैप्सू में विसवेदारी आदि प्रथाओं को समाप्त करने के लिए भी सक्रिय कदम उठाए गये। पंचवर्षीय योजना-काल में आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मध्य भारत, पैप्सू, राजस्थान, सौराष्ट, भोपाल, दिल्ली और विन्ध्य प्रदेश में कानून बनाये गये है तथा बिहार और आसाम के कानूनों में कुछ संशोधन हुए हैं तथा बम्बई में कुछ और अन्य रैयतवारी के अतिरिक्त प्रथाएँ समाप्त कर दी गई हैं। हिमाचल प्रदेश में भी हाल ही में इसी प्रकार का कानून बना है। इसके अतिरिक्त मैसूर में इनाम प्रथा तथा

हैदराबाद में व्यक्तिगत इनाम की समाप्ति के लिए विधान सभाओं में बिल पेश हो चुके हैं।

यद्यपि देश के लगभग सभी राज्यों में मध्यस्थों की समाप्ति के कानून बन चुके हैं किन्तु वे पूर्ण रूप से लागू नहीं किये जा सके हैं। इसका मूल कारण कुछ क्षेत्रों में लगान के आँकड़े तथा शासन-प्रबन्ध का अभाव ही है। मध्यस्थों की समाप्ति के कानून निम्नलिखित राज्यों में पूर्णरूप से तथा अधिकांश रूप से लागू किये जा चुके हैं—बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, आंध्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, पैप्सू, सौराष्ट्र, भोपाल और विन्ध्य प्रदेश। इसके अतिरिक्त ये कानून आंशिक रूप में बिहार, उड़ीसा और राजस्थान में लागू हो चुके हैं किन्तु आसाम, पश्चिमी बंगाल, मैसूर, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली में अभी लागू नहीं हो पाये हैं। निम्नलिखित राज्यों में विभिन्न प्रथाओं की समाप्ति के लिये अभी सरकार को कानून बनाने हैं। जैसे—

आसाम के अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों के लिये, मद्रास में जैमिनी प्रथा, मालावार की जागीर तथा इनाम प्रथा के गांव जो जागीर बन चुके हैं; उत्तर प्रदेश में कुमायूँ क्षेत्र, हैदराबाद में इनाम-प्रथा, मध्य भारत के इनाम और माफी भूमि, मैसूर में इनाम प्रथा और राजस्थान में जमीदारी तथा अजमेर, कुर्ग और कच्छ आदि।

जमींदारी उन्मूलन की कुछ जानकारी निम्नलिखित आंकड़ों से प्राप्त की जा सकती है—[1]

राज्य	जमीदारी का क्षेत्र-फल (लाख एकड़)	कुल मुआवजा (करोड़ रुपये में)	मुआवजा औसत प्रति एकड़ (रुपयों में)
मद्रास	१७४·१६	१५.५	९
उत्तर प्रदेश	५२५·००	१४०.०	२७
बिहार	३६९·९४	१५०.०	३८
मध्य प्रदेश (ब्लैक क्षेत्रों के अतिरिक्त)	३९४.४०	६८.५	१७
पश्चिमी बंगाल	१२७.००	२५.०	२०
उडीसा	१००.००	१०.०	१०
आसाम	१६.७२	५.०	३०
कुल	१७३४.२२	४१४.०	२४

उक्त आंकड़ों के अनुसार केवल ७ राज्यों में जमींदारी उन्मूलन करने से लगभग ४ अरब १४ करोड़ रुपया मुआवजे के रूप में देना है। इसी प्रकार देश के अन्य राज्यों में ज़मींदारी उन्मूलन होने से क्षेत्रफल बढ़ने के साथ-ही-साथ मुआवजे

1. Reserve Bank of India Bulletin, June 1950.

की राशि भी बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त यह मुआवज़ा भी विभिन्न राज्यों में विभिन्न हैं जैसे बिहार में प्रति एकड़ ३८ रु० है जब कि मद्रास में केवल ६ रु० प्रति एकड़ ही है।

देश के विभिन्न राज्यों में थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ ज़मींदारी को समाप्त कर दिया गया है। कानून के अन्तर्गत ज़मींदारों, जागीरदारों आदि की भूमि तथा संरक्षक बोर्ड (Trusts) अथवा कोर्ट आफ़ वार्डस (Court of wards) के आधीन भूमि भी राज्य सरकारों ने ले ली है। परन्तु ज़मीदारों की खुदकाश्त अथवा सीर की भूमि उन्हीं के पास छोड़ दी गई है तथा बंजर भूमि, चरागाह और जंगल इत्यादि ग्राम पंचायतों को दे दिये गए हैं। ज़मींदारी समाप्त करने के पश्चात् प्रत्येक मनुष्य के पास कम-से-कम और अधिक-से-अधिक भूमि की मात्रा निश्चित कर देना आवश्यक है जिससे देश में ज़मींदारी के पश्चात् कृषि व कृषक की अन्य समस्यायें न उत्पन्न हों और जिससे जमींदारी उन्मूलन का उद्देश्य नष्ट न हो।

मुआवजे का वितरण—

विभिन्न राज्यों के ज़मीदारी उन्मूलन कानून में मुआवजे के वितरण की भिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं। आसाम, विहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में इसका आधार भूमि से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (Net Income) मानी गई है। उत्तर प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' (Net Assets) और मद्रास में 'मूलभूत वार्षिक आय' (Basic Annual sum) है। किन्तु वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति का आधार तो लगभग समान ही है। इसमें ज़मींदारी की कुल आय में से लगान, कर (Cess), प्रबन्ध का व्यय, लाभ के लिये किये गए अल्प व्यय तथा कृषि आयकर आदि घटा कर वास्तविक आय ज्ञात हो जाती है। किन्तु यह आय सभी राज्यो में समान नहीं है, इसीलिये विभिन्न राज्यों में इसी आधार पर निश्चित किये गये मुआवजे भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास में 'मूलभूत वार्षिक आय' ज्ञात करने के लिए कृषि की वार्षिक आय में से, आय को $\frac{1}{3}$ भाग का ५% कर्मचारियो पर व्यय तथा वसूली न हो सकने के लिए तथा ३ $\frac{1}{2}$% सिंचाई-व्यय आदि घटा दिये जाते है। शेष आय मूलभूत वार्षिक आय होती है। यह पद्धति अन्य राज्यों से भिन्न है, क्योकि मुआवजा ज़मींदारी से होने वाली वर्तमान आय पर आधारित न होकर, रय्यतवारी प्रथा लागू होने के पश्चात् भू-राजस्व के २५% पर आधारित होगा।

उत्तर प्रदेश में मुआवजे की दर वास्तविक सम्पत्ति की ८ गुनी रखी गई है इसके साथ ही जो जमींदार १० हजार रु० वार्षिक से अधिक मालगुजारी नहीं देते उनकी वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर १ गुने तक पुनर्वास अनुदान दिया जाता है। अर्थात् यह अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिए अधिक है और अधिक आय वालों के लिये क्रमशः कम होते जाते है। जहाँ तक मुआबजे के भुगतान का प्रश्न है, मद्रास के अतिरिक्त अन्य सब राज्यों में यह हुन्डियो (Bonds) में अथवा आंशिक रूप से हुन्डियों में और आंशिक रूप में नकद दिया जाता है। मुआवजे का धन यदि २० रु० के सबसे छोटी हुन्डी से कम हो या ५० रु० से अधिक

न हो तो मुआवजा नकद दिया जाता है। इन हुन्डियों की अवधि ४० वर्ष है और प्रतिवर्ष २½% की दर से इन पर उचित ब्याज में से छमाही किश्तों में रु० दिया जाता है। जमींदारों के दावों की जाँच करने में और मुआवजा देने में काफी समय लगता है, इसलिए जमीदारों को कष्ट से बचाने के लिए इस बीच की अवधि में अस्थायी मुआवजे की व्यवस्था की गई है जो नकद दिया जाता है। स्थायी बन्दोबस्त किये हुए क्षेत्रों से इस अवधि में जितना रु० भू-राजस्व के रूप में वसूला जा सकता है उनका १½ गुना मुआवजे में दिया जाता है। तथा अन्य मामलों में मुआवजे की मात्रा भू-राजस्व के बराबर ही है। उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और मध्य प्रदेश में मुआवजे का धन उन काश्तकारों से एकत्र किया गया है जिनको किसी अर्थ में भू-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हो गये हैं तथा उनको अगले बन्दोबस्त तक भूमि के लगान में छूट भी दे दी गई है। उत्तर प्रदेश में काश्तकार अपने वर्तमान लगान का १० गुना देकर अथवा ४ किश्तों में १२ गुना देकर भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। इसके बदले वे भविष्य में ४० बर्ष तक आधा लगान देंगे और शेष भाग राज्य द्वारा चुकाया जावेगा। मध्य भारत में मौरूसी काश्तकार को ६ गुना तथा उपकाश्तकारों को १५ गुना देना पडता है। इन साधनों से प्राप्त धन से जमीदारों को मुआवजे का भुगतान किया जाता है।

राज्य सरकारों को मुआवजे की हुण्डियों का मूलधन और ब्याज के भुगतान मे कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी क्योंकि इस बीच भू-राजस्व से सरकार की आय में वृद्धि होगी जिसमें से भुगतान दिया जावेगा। जमींदारी उन्मूलन से राज्य की आय में प्रतिवर्ष कुल मुआवजे की ४·७% वृद्धि होगी जैसा कि निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट है।[1]

राज्य	मुआवजे का धन (करोड रु० में)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व (करोड रु० में)	कुल मुआवजे का %
मद्रास	१५·५	१ (अ)	६·४५
उत्तर प्रदेश	१४०·०	७	५·००
बिहार	१५०·०	६·५	४·३३
मध्य प्रदेश	६८·५	२·७५ (अ)	४·००
प० बंगाल	२५·०	१·४ (अ)	५·६०
उडीसा	१०·०	०·६७ (अ)	६·७०
आसाम	५·०	०·२०	४·००
कुल	४१४·०	१९·५२	४·७१

1. Reserve Bank of India Bulletin, June, 1950.
(अ) = अनुमान

पंचवर्षीय योजना में कृषक सम्बन्धी सुधार

पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

(अ) लगान में कमी (ब) किसान के स्वत्व की सुरक्षा (स) किसान को अपनी भूमि को खरीदने का अधिकार। इस दिशा में योजना आयोग ने यह सुझाव दिया है कि देश में लगान की मात्रा उत्पत्ति का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ भाग निश्चित कर देनी चाहिये तथा किसान का स्वयं खेती वाली भूमि पर स्वत्व हो जाना चाहिये। जिस भूमि पर भूमिधर खेती नहीं करता उस भूमि को वास्तविक किसानों द्वारा खरीदने का अधिकार होना चाहिये।

इस दिशा में देश में बहुत-से राज्यों द्वारा निश्चित लगान की मात्रा योजना आयोग के द्वारा निर्धारित मात्रा से अधिक नहीं है तथा लगान में और कमी करने के लिते मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, आन्ध्र, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, काश्मीर, मध्य-भारत, मैसूर, पैप्सू और भोपाल आदि राज्यों में सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश और दिल्ली में ऐसे कानून बनाये जा रहे हैं जिनके अनुसार किसान के द्वारा जोती हुई भूमि पर उसका स्वत्व हो जावेगा। इसी प्रकार मध्य भारत और राजस्थान में भी कानून बनाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'सीलिंग' निश्चित करने के लिये विभिन्न राज्यों में नियम बनाये जा रहे हैं किन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि इस सीलिंग की मात्रा क्या होगी। बटाईदारों को बेदखल किये जाने से बचाव के लिने भी कानून बनाये जा रहे हैं।

उपसंहार

प्रथम पंचवर्षीय योजना के बनने से पूर्व देश में खाद्यान्न की भारी कमी तथा विभिन्न राज्यों में भूमि के भिन्न-भिन्न बन्दोबस्त आदि रोड़ों के कारण कुछ उल्लेख-नीय भूमि सुधार नहीं किये जा सके। किन्तु योजना आयोग ने इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी भूमि-सुधार की एक नीति सामने रखी जिसको राज्य सरकारों ने अपनाया और गत कुछ वर्षो में भूमि-सुधार योजनाओ को कार्यान्वित किया है। फलस्वरूप देश के बहुत बड़े भाग में सरकार और किसान के बीच समस्त मध्यस्थ समाप्त हो गये हैं और अधिकतम लगान निश्चित कर दिया गया है। फिर भी इस दिशा में देश में उल्लेखनीय प्रगति नही हुई है क्योंकि आज भी विभिन्न भागों में भूमि की जोतों में बहुत अन्तर पाया जाता है तथा बम्बई, हैदराबाद, पंजाब आदि अनेकों राज्यों में काश्तकारों की जोरों से बेदखली हो रही है। इसको रोकने के लिए व अन्य सुधारों के दृष्टिकोण से योजना आयोग की भूमि-सुधार समिति ने निम्न-लिखित सुझाव दिये हैं—

(१) समिति के मतानुसार एक निश्चित तिथि नियत करके उसके बाद बेदखल किये गए काश्तकारों को पुनः अपनी मूल हैसियत प्रदान की जानी चाहिये।

(२) एक बार जमीन छोड़ देने के बाद जमींदार को फिर खेती करने का

अधिकार नहीं देना चाहिये किन्तु छोटे जमींदारों के लिए इसमें कुछ अपवाद किये जा सकते हैं।

(३) काश्तकार की परिभाषा में फसल के हिस्सेदार और सहायक आदि भी सम्मिलित होने चाहिये तथा सब काश्तकारों को स्थायी रूप से अधिकार दे देने चाहिये।

(४) भूमि अधिगमन करते समय मुआवजे की मात्रा विभिन्न प्रकार की जमीनों के लिए भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। जहाँ भू-स्वामी स्वयं खेती करता है उसका मुआवजा अधिक और जो जमीन काश्तकारों को पट्टे पर दी गई है उसके अधिगमन का मुआवजा कम होना चाहिए तथा मुआवजे की मात्रा बाजारी कीमत से कम होनी चाहिए।

(५) भूमि का लगान फसल की कुल उत्पत्ति का चौथा भाग नियत किया जाना चाहिए।

(६) ग्राम-सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त मशीनरी में सुधार करना चाहिए। ग्राम-पंचायतों द्वारा किये गए कार्यों का नीरीक्षण होना चाहिए तथा पाटिल और पटवारी वश-परम्परागत नहीं होने चाहिये।

ज़मींदारी उन्मूलन के पश्चात् गाँवों के वर्गों के बीच जो नया सम्बन्ध स्थापित हुआ है वह भी वर्तमान समस्याओं को बढ़ाने में सहायक है। प्रायः कल के ज़मींदारों ने आज के बड़े किसानों का रूप धारण कर लिया है और आज भी गाँवों में उसी वर्ग की चलती है। इसके अतिरिक्त यह सम्पन्न वर्ग अधिक शिक्षित है तथा ग्राम और तहसील के स्तर पर मालगुजारी शासन-व्यवस्था के निचले भाग में इसी वर्ग के लोगों का बाहुल्य है। परिणामस्वरूप कानून की धोखाधड़ी, पटवारी के कागज़ों में गलत इन्दराज का जारी रहना, गैर-कानूनी तौर पर जमीन को लगान पर उठाने के मामलों पर ध्यान न देना आदि बहुत से दोष अभी भी जारी हैं। इस प्रकार प्रगतिशील काश्तकारी कानून भी व्यावहारिक रूप में अपने लाभकारी प्रभाव डालने में असफ़ल हो रहे हैं।

इन कठिनाइयों के साथ ही कृषि-मूल्यों की गिरावट जिसके फलस्वरूप ऋण-भार में वृद्धि आदि से उत्पन्न समस्यायें भी हैं। इन समस्याओं का सामना राज्य को निर्णयात्मक व ऋण-कार्यों द्वारा करना है जिनका सम्बन्ध उत्तमतर काश्तकारी कानून, लगान में कमी, सरकारी आदेशों द्वारा सभी बेदखलियों को तुरन्त बन्द करने, आराजियों की अधिकतम मात्रा के निर्धारण, शेष ऋणों की समाप्ति, कृषि-मूल्यों की स्थिरता, प्रशासन-व्यवस्था में बड़े पैमाने पर प्रभावशाली सुधार, विशेषतया मालगुजारी विभाग में और जोतने-बोने वाले किसानों में अपने अधिकार और कर्तव्यों के उच्चतम ज्ञान से है। सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि प्रशासन-व्यवस्था को पूर्णरूप से सुधारा जाय। राज्य-स्तर पर तो व्यवस्था संतोषजनक कही जा सकती है। किन्तु ग्राम-स्तर पर पटवारी, लेखपाल, पाटिल या कुलकर्णी स्तर पर स्थिति पहले जैसी बुरी ही बनी है। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश में परम्परागत

भ्रष्टाचारी पटवारी को सुधारने के लिए दृढ और प्रशंसनीय कदम उठाया गया था और इसमें कुछ प्रारम्भिक सफलता भी मिली थी। परन्तु आज स्थिति फिर पहले जैसी ही दोषपूर्ण हो चली है। इस समय भ्रष्टाचार, घूसखोरी, गलत इन्दराज और दूसरे सारे दोष सामान्य रूप से पाये जाते हैं और वास्तव में यह एक भारी समस्या बन गई है।

अतः भूमि-सुधार के क्षेत्र में जो कुछ भी सुधार करने है वह साहस और तेज़ी से करने चाहिएँ और देश में आयोजन की निश्चित सफलता भी इसी बात पर निर्भर करती है। अस्तु, सरकार व जनता को अपनी प्रगति में सचेत रहना चाहिए और जमींदारी उन्मूलन के बाद सरकार का अगला कदम देश के बहुसंख्यक किसानो के विकास-मार्ग से सभी बाधाओं को हटा कर उनका उत्थान करना ही चाहिए।

उत्तर प्रदेश में भूमिसुधारों की प्रगति

लगभग १५० वर्ष पूर्व से भूमि को जोतने बोने वाला किसान जमीदारी प्रथा का दास था जिससे उसकी व सारे समाज की सामाजिक व आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी अतः इस प्रथा का विनाश करने के हेतु उत्तर प्रदेश की सरकार ने 'यू० पी० जमींदारी उन्मूलन तथा भूमिसुधार अधिनियम, १९५०' पास किया। यह कानून उत्तर प्रदेश धारा सभा ने सन् १९५१ में अन्तिम रूप से पास कर दिया जो १ जुलाई, सन् १९५२ से सारे राज्य में लागू कर दिया गया। इसके अनुसार १ जुलाई, सन् १९५२ को उत्तरप्रदेश की सभी जमींदारियाँ राज्य में निहित हो गई। इस कानून के अनुसार जमींदारों के अधिकार की कुल ४ करोड़ १३ लाख एकड भूमि (विलीन रियासतों को छोड़कर) में से ३ करोड ९० लाख एकड़ भूमि राज्य द्वारा हस्तगत कर ली गई।

यह कानून १ जुलाई, सन् १९५४ को अन्य क्षेत्रों में जैसे—

(१) उत्तर प्रदेश में विलीन भूतपूर्व देशी रियासतों के वे भाग जो आगरा, मथुरा, झाँसी, जालौन, बाँदा, हमीरपुर, इलाहाबाद आदि जिलों के अन्तर्गत आते थे।

(२) भूतपूर्व बनारस राज्य के अन्तर्गत सरकारी जायदादें।

(३) रामपुर राज्य की सरकारी जायदादों आदि पर भी लागू कर दिया गया है।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राज्य सरकार ने इन कानूनों को कार्यान्वित करने में जो अनुभव प्राप्त किये उनके आधार पर वह इनमें सुधार भी करती रहती है। इस सम्बन्ध में सन् १९५४ का उत्तर प्रदेश भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम अधिक उल्लेखनीय है।

मध्यस्थों का उन्मूलन

१ जुलाई, सन् १९५२ से मध्यस्थों के सभी हित, जिनमें जोती-बोई जाने वाली भूमि, बाग की भूमि, बंजर भूमि, बन, मीनाशय, हाट, बाजार आदि सम्बन्धी हित भी सम्मिलित थे, बिना किसी प्रतिबन्ध या भार के राज्य-सरकार में निहित हो गये। जमींदारों की ऐसी भूमि जिन पर वे स्वयं खेती करते रहे हों, अर्थात्

उनकी सीर और खुदकाश्त, उनके ही अधिकार में छोड़ दी गई है। इसके अतिरिक्त ऐसी भूमि के वृक्षों, आबादी के भीतर उगे हुए उनके अधिकृत वृक्षों, बागो तथा उनके निजी कुओं पर भी उनका अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। मध्यस्थो के अधिकारों को मुआविज़ा (प्रतिकर) देकर हस्तगत किया गया है।

मुआविजे (प्रतिकर) का निर्धारण तथा भुगतान की प्रगति

मुआविजे का निर्धारण सामान्य दर पर सम्पत्ति के शुद्ध मूल्य के ८ गुने के बराबर किया गया है। राज्य सरकार इन मध्यस्थों को १६० करोड़ रु० मुआविज़े के रूप में देगी। मुआविज़े की रकम पर २½% ब्याज दिया जायगा। परन्तु यदि मुआविज़े का निर्धारण ६ महीने से अधिक समय तक नहीं हो पाता तो अन्तर्कालीन मुआविज़ा अदा करने की व्यवस्था भी की गई है। छोटे जमीदारों के पुनर्स्थापन के लिए कानून में ५००० रुपये या इससे कम मालगुज़ारी देने वाले जमीदारों को क्रम-बद्ध ढंग पर पुनर्स्थापन अनुदान देने की भी व्यवस्था है और यह अनुदान सम्पत्ति के शुद्ध मूल्य के २० से २ गुने तक दिया जाता है।

मुआवज़ा सम्बन्धी लेखे बनाने का कार्य बड़ी मन्दगति से आगे बढा है। राज्य-भर में कुल २७७७२४ महालों के लिए मुआवज़ा लेखे तैयार करने पड़े थे और कुल ६७,०४,११४ मुआवज़ा-पत्र तैयार किये गए। २८ फरवरी, सन् १९५५ तक आक्षेप उपस्थित करने के उद्देश्य से मुआवज़ा-पत्रों के ६६,९२,५०४ प्रारूप प्रकाशित किये गए थे जिनमें से ५५,९९,९८४ पर अन्तिम निर्णय कर दिया गया तथा ४% पत्रों पर अर्थात् ३,२४,७७ पत्रों पर आक्षेप प्रस्तुत किये गए। ९८·८% महालो के सम्बन्ध में मुआवज़ा पत्र प्रकाशित हो चुके है और ९९·८% मध्यस्थो को मुआवजे की आंक-सम्बन्धी पत्रों के प्रारूप के विषय में नोटिस (सूचना) दे दी गई है। २८ फरवरी, सन् १९५५ तक कुल अस्थायी मुआवजे की रकम ६८ करोड ७३ लाख १८ हजार ५९८ रुपया आंकी गई थी। इसी दिन तक ५०७,०५,१०६ रुपये की रकम अन्त-र्कालीन मुआवजों के रूप में ३,२४,३६८ मध्यस्थों को जिन्होंने इसके लिए प्रार्थना-पत्र दिये थे, बाँटी गई। इसके अतिरिक्त ८,७३,९८२ ऐसे मध्यस्थो को जिनके मुआवजे की रकम ५० रुपये से कम थी, १८३,५५,५१२ रुपये का अन्तिम भुगतान कर दिया गया। इसके अलावा कुछ दूसरे साधारण भुगतानों सहित (ऐसी बची हुई रकमें जो रुक्को, अन्तर्कालीन मुआवजे के सूद, आदि में सम्मिलित न की जा सकी थी) २८ फरवरी, सन् १९५५ तक कुल ७,८६,७०,८२० रुपये का भुगतान कर दिया गया है।

१५ मार्च सन् १९५४ को रिजर्वबैंक ने जमीदारी उन्मूलन सम्बन्धी रकमों की निकासी के लिए लखनऊ में एक सार्वजनिक ऋण-कार्यालय (The Public Debt office, Reserve Bank of India, Lucknow) स्थापित किया था, जहाँ से जुलाई सन् १९५५ में ३९७३९ माँग-पत्र दिये गए, जिनका मूल्य २,००,९६,९०० रुपया था। इस प्रकार अप्रैल सन् १९५४ से जुलाई सन् १९५५ तक इस कार्यालय द्वारा २३,०८,१२,१०० रुपये के मूल्य के ४,२३,४५४ माँग-पत्र दिये जा चुके है।

काश्तकारी सम्बन्धी सुधार—

उत्तरप्रदेश जमीदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम, १९५१ द्वारा काश्तकारों की विभिन्न किस्मों को समाप्त कर दिया गया है। इस कानून के अनुसार भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर स्वामित्व रखने वाले लोगों की दो मुख्य श्रेणियाँ, 'भूमिधर' और 'सीरदार' तथा दो गौण श्रेणियां—'आसामी' और 'अधिवासी' हैं। सन् १९५१ के मौलिक अधिनियम में अधिकारियों को, जो वस्तुतः शिकमी काश्तकार थे, यह अनुमति दी गई थी कि वे अपनी भूमि को ५ वर्ष तक अपने अधिकार में रख सकते हैं और तत्पश्चात् लगान का १५ गुना देकर उस भूमि पर 'भूमिधारी' अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु ३० अक्तूबर सन् १९५४ को लागू होने वाले संशोधक अधिनियम (उत्तर प्रदेश भूमि सुधार (सशोधन) अधिनियम १९५४) के अनुसार राज्य के कुल ४४ लाख अधिवासियों को, बिना कुछ भुगतान लिए ही 'सीरदारी' अधिकार प्रदान कर दिया गया है।

ऐसे शिकमी काश्तकारों के अतिरिक्त जो किसी असमर्थ किसान की आराजी को जोत-बो रहे हों अथवा किसी बाग की भूमि के शिकमी हों, या ऐसी भूमि के शिकमी हों जिनके सम्बन्ध में स्थायी अधिकार नही दिया जा सकता जैसे नदी की तलहटी की भूमि, अथवा चलती-फिरती या स्थिर खेती वाली भूमि—शेष सभी काश्तकारों और शिकमी काश्तकारों को उनकी भूमि पर स्थायी, पैतृक और हस्तान्तरशील अधिकार प्रदान कर दिया गया है।

ऐसे काश्तकार जिनको पहले से हस्तांतरण का अधिकार प्राप्त नही था, लगान का १० गुना रुपया जमा करने पर यह अधिकार पा सकते है। इसके साथ-ही-साथ उनके लगान की दर भी आधी हो जायगी। ऐसे काश्तकारों में से लगभग २०% काश्तकारों ने तत्सम्बन्धी आवश्यक भुगतान कर दिये है, जिनसे राज्य को लगभग ३५ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हो चुकी है।

सभी जमीदारों को उनकी सीर, खुदकाश्त और बाग की भूमियों पर 'भूमिधारी' के अधिकार प्राप्त हो गये है। सभी काश्तकारों को लगान का १० गुना जमा करने पर भूमिधर बन जाने का अधिकार है। भूमिधर को अपनी आराजी पर स्थायी, हस्तान्तरणशील और पैतृक अधिकार दे दिया गया है। वह अपनी आराजी को इच्छानुसार चाहे जैसे उपभोग में ला सकता है किन्तु उसे बे-दखल नहीं किया जा सकता।

ऐसे काश्तकार जिन्हें भूमि पर मौरूसी अधिकारप्राप्त था, कानून के अनुसार 'सीरदार' बन गये हैं। इन सीरदारो को अपनी भूमि पर स्थायी, हस्तान्तरणशील और पैतृक अधिकार तो मिले हैं किन्तु वे इस भूमि का उपयोग कृषि, फल पैदा करने और पशु-पालन के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य में नहीं कर सकते।

बाग की भूमि के काश्तकारों, शिकमी काश्तकारों और चरागाहों, नदी के पानी के नीचे की भूमि आदि के गैर-मौरूसी काश्तकारों को 'आसामी' के अधिकार दे दिये गये हैं। यदि कोई भूमिधर या सीरदार स्वयं खेती करने में असमर्थ है तो

वह अपनी भूमि को पट्टे पर उठा सकता है और इस भूमि के पट्टेदार को भी 'आसामी' के अधिकार प्राप्त होंगे।

खेतों के अत्यधिक बँटवारे को रोकने के उद्देश्य से कानून ने यह व्यवस्था की है कि खेत का बँटवारा उसी हालत में हो सकता है जबकि इस प्रकार बाँटे गये हिस्से आर्थिक जोत (६½ एकड़) से कम न हों।

लगान सम्बन्धी नियम—जिन किसानों को पहले से भूमि के हस्तान्तरण का अधिकार नहीं था उन्हें भूमि-सुधार अधिनियम के अनुसार १० गुना लगान देकर यह अधिकार प्राप्त हो गया है और साथ-ही-साथ उनके लगान की दर भी आधी हो गई है। शिकमी किसान के लगान की दर मौरूसी किसान के लगानकी दर के दुगने से अधिक नहीं हो सकती।

सन् १९५४ के संशोधन अधिनियम की अन्य मुख्य बातें

(१) गाँव समाज की खाली पड़ी हुई भूमि पर अधिकार पाने में ऐसी शिक्षा संस्थाओं को जिन्हें स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है, प्राथमिकता दी जायेगी। कुछ ऐसा संशोधन कर दिया गया है जिससे कि भूमि प्रथा के अन्तर्गत भूमि के अधिकारी शिक्षा संस्थाओं को भूमि लगान पर दे सकें। सीरदार भी स्वीकृति प्राप्त शिक्षा संस्थाओं को अपनी भूमि दान में दे सकते हैं।

(२) गाँव समाज में निहित जायदादों के दुरुपयोग को रोकने के ध्येय से यह व्यवस्था कर दी गई है कि यदि गांव पंचायत या भूमि प्रबन्धक समिति के किसी सदस्य की प्रत्यक्ष भूल या दुर्व्यवहार के कारण इस प्रकार की हानि, बर्बादी अथवा उसका दुरुपयोग होगा तो वह सदस्य ही इसका जिम्मेदार माना जायेगा। इस प्रकार के दुर्व्यवहार के कारण भूमि प्रबन्धक समिति का कोई भी सदस्य अथवा अध्यक्ष अब पदच्युत किय जा सकता है।

(३) जिलाधीश को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह भूमिधर या सीरदार की जोत में सम्मिलित ऐसी किसी भूमि को जो १२॥ एकड़ से अधिक हो और जिस पर लगातार तीन वर्ष तक खेती न की गई हो, किसी अन्य व्यक्ति को खेती के लिये लगान पर दे सकता है।

(४) सार्वजनिक उपयोग की भूमि, जैसे सार्वजनिक चारागाह, श्मशान, कब्रगाह तालाब, मार्ग या खलिहान पर से बेदखली करने के लिए तुरन्त फैसला करने की व्यवस्था कर दी गई है।

(५) सीरदार के लगान की दर मौरूसी किसान के लगान की दर के दुगने के बराबर कर दी गई है। यदि यह अधिक होती है तो तुरन्त घटाकर बराबर कर दी जाती है।

भूमि प्रबन्ध

जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप १३१·५ लाख एकड़ परती भूमि, जो भूमि प्रथा के अन्तर्गत भूस्वामियों की जोतों में शामिल नहीं थी, राज्य सरकार ने ले ली। इसमें से ९३ लाख एकड़ भूमि गांव समाज के अधिकृत कर दी गई और ३८·५ लाख एकड़ वन विभाग को देदी गई है। भूमि प्रबन्धक समिति आयोजित भूमि उपयोग

के अन्तर्गत ईंधन की लकडी के लिये वृक्ष लगाने, फलों के बगीचे, चरागाह, खाद के गढ़े आदि के उद्देश्य से भूमि को सुरक्षित कर सकती है। गांव प्रबन्धक समितियों को यह आदेश दिया गया है कि वे बबूल, खजूर आदि के वृक्ष लगाने, छप्पर के लिये घास उगाने, पोखर और तालाबों में सिंगाड़े पैदा करने तथा मीनाशयों की उन्नति सम्बन्धी कार्यों को बढ़ावा दें। "सन् १९५४ के अन्त तक राज्य के कुल ५९,१४९ गांवों में इस प्रकार आयोजित उद्योग के लिये भूमि की चकबन्दी का कार्य समाप्त हो गया था। इन गाँवों में ऐसी भूमि का क्षेत्रफल ८५,७७,०२५ एकड़ था, जिस पर खेती नहीं की गई थी। इसमें से ६,७५,४३७ एकड़ पर आबादी, १,६६,८४३ एकड़ पर श्मशान और कब्रगाहें, ५५,२७५ एकड़ पर खलिहान, २७,०,६३० एकड़ पर रास्ते और १३,६८,९७५ एकड़ पर तालाब और पोखर थे। इस प्रकार आयोजित उपयोग और लगान पर उठाने के लिये केवल ९५,१६,२९७ एकड़ भूमि बची थी जिसमें से आयोजित उपयोग के लिये २५,१५,०४० एकड़ भूमि सुरक्षित रख ली गई और खेती की वृद्धि के लिये केवल ३२,०१,२५७ एकड़ भूमि शेष बची थी।"[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि सुधार अधिनियम के राज्य में लागू होने पर जोती-बोई गई भूमि, बाग, मार्ग, आबादी की भूमि, बंजर भूमि, वन, घाट, मीनाशय, सार्वजनिक कुएँ, तालाब, नाले, हाट, बाजार, मेले, खानें, खनिज और भूमि के भीतर वाले अधिकारों सहित सभी मध्यवर्ती स्वत्व बिना किसी प्रतिबन्ध के राज्य सरकार में निहित हो गये थे। अतः ऐसी भूमि का प्रबन्ध करने की व्यवस्था आवश्यक हो गई। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिनियम में गाँव समाज की व्यवस्था की गई है जो गाँव के उन सभी प्रौढ़ों की संस्था है जो भूमि प्रथा अनुसार भूस्वामी हैं। राज्य के कुल ११,०००० गाँवों में ९०४१७ गाँव समाज स्थापित किये गये थे। इनकी कार्यवाहक समितियों के रूप में भूमि प्रबन्धक समितियों की स्थापित किया गया जिनके द्वारा गाँव समाज गाँव का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार गाँव में दो समानान्तर संस्थाएँ स्थापित हो गई थी. (१)ग्राम पंचायतें जो राज्य भर में कुल ३५,९४३ थीं, और (२)भूमि प्रबन्धक समितियाँ जिनमें प्रत्येक ग्राम समाज के सीमा क्षेत्र के सदस्य सम्मिलित होते थे। इसलिए यह निश्चय किया गया कि सभी गाँवों को जिनकी आबादी २५० से कम है, पड़ोस के गाँवों में मिला दिया जाय। इस प्रकार गाँवों को संयुक्त कर देने के फलस्वरूप इस समय ग्राम समाजों की संख्या ६६,४०० है। भूमि प्रबन्धक समिति का मन्त्री लेखपाल होता है जिसके सभी कार्यों का निरीक्षण माल विभाग के अधिकारी करते हैं, जिनमें निरीक्षक (Supervisor), कानूनगो, नायब तहसीलदार, तहसीलदार, परगनाधीश और जिलाधीश सम्मिलित हैं। भूमि प्रबन्धक समिति के कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) भूमि को लगान पर उठाना

(२) जिस भूमि पर खेती न होती हो उस भूमि व वनों को दूसरों को और उनका प्रबन्ध करना।

---

१. आर्थिक समीक्षा, पृ० १४, २२ मई १९५५

(३) छिटपुट वृक्षों की रक्षा करना तथा उन्हें दूसरों को देना।

(४) हाट, बाजार, मेला, तालाब, पोखर, मीनाशय आदि का प्रबन्ध करना।

(५) मालगुजारी की वसूली में सहायता करना।

जोतों की अधिकतम सीमा और गणना

वर्तमान जोतों के सम्बन्ध में अभी तक कोई सीमा निर्धारित नहीं हो सकी है। परन्तु भविष्य में जोतों के हस्तगत व हस्तांतरण करने के सम्बन्ध में अधिकतम सीमा ३० एकड़ निर्धारित कर दी गई है।

उत्तर प्रदेश राज्य सरकार निम्नलिखित कारणों से जोतों की गणना अभी नहीं करना चाहती—

(१) राज्य सरकार ने अपनी भूमि नीति पहले से ही निश्चित कर रखी है। अतः उसके लिए आंकड़ों की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

(२) यदि इस गणना का आधार १० एकड़ या इससे अधिक जोतों तक भी सीमित रखा जाय तो भी ३०-४० लाख रु० व्यय होने का अनुमान लगाया गया है और सरकार की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति में इतने बड़े व्यय का कोई उचित आधार नहीं है।

(३) माल विभाग के कर्मचारियों पर पहले से ही कार्यभार बढ़ा हुआ है, विशेषतया जोतों की चकबन्दी और अधिवासियों को सीरदारी अधिकार दिलाने के कारण, अतः उन पर गणना सम्बन्धी और कार्य का लादा जाना सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है।

अध्याय १३

भूदान यज्ञ

(BHOODAN YAGNA)

भूदान आन्दोलन एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम है, जो विश्व के इतिहास में सर्व-प्रथम भारत में गत ४ वर्षों से स्वर्गीय महात्मा गांधी के अनन्य भक्त आचार्य विनोबा भावे द्वारा कार्यान्वित किया गया था। भारत में सदा से शिक्षित समाज की संसार की विभिन्न क्रान्तियों को पुस्तकों द्वारा समझने की आदत रही है। आचार्य जे० बी० कृपलानी के शब्दों में "जो पढ़े-लिखे आदमी होते हैं, उनका एक अजीब तरीका होता है। साधारण आदमी तो कोई बात जल्दी समझ लेता है, पर इनको विद्वता भरी दलीलें चाहिएँ। बच्चा भी समझता है कि दो और दो मिलकर चार होते हैं। पर पण्डित को यही बात समझाने के लिये पचास पन्ने लिखने होंगे। जो स्पष्ट दीखता है, वही पण्डित को समझाने के लिये दलीलों से साबित करना पडता है। उसके लिए तो 'इंट्लेक्चुअल जिम्नेस्टिक', बौद्धिक कसरत चाहिये।"

परन्तु क्रान्तिकारी पुरुष तो पुस्तकों से बाहर की बात करता है। गांधीजी ने जिस स्वावलम्बी समाज की बात कही थी तो शिक्षित व्यक्ति उसे समझने में असमर्थ थे क्योंकि वे सभी इसको पुस्तकों में ढूँढ़ना चाहते थे। किन्तु यह बात पुस्तकों में कहाँ थी ? कुछ समय पश्चात् जब गांधीजी की बातें सत्य होने लगीं तो लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ और वे भी गांधीजी के भक्त बन गये। इसी प्रकार भूदान यज्ञ की महानता, अर्थ व लक्ष्य को भी शिक्षित वर्ग ने किताबी भाषा में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में बहुत लोगों को 'भूदान-यज्ञ' पर विश्वास नही होता था, किन्तु आज जब सम्पूर्ण गाँव के गाँव भूदान में प्राप्त हो रहे हैं तो शिक्षित समाज सरकार, राजनीतिज्ञ व अर्थशास्त्री आदि सब का ध्यान स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हो गया है।

भूदान यज्ञ का उद्देश्य

भूदान यज्ञ केवल भूमि माँगने और भूमिहीनों में उसका वितरण करने का कार्यक्रम नहीं है। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्ति उत्पन्न करके एक वर्गहीन, शोषणहीन, शासन-निर्पेक्ष व दण्डमुक्त समाज की स्थापना करना है। ऐसे समाज को दूसरे शब्दों में सर्वोदय समाज भी कहते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भूदान, सम्पत्ति दान, श्रम दान और जीवन दान आदि कार्य मुख्य साधन हैं। अतः भूदान यज्ञ ऐसे समाज को स्थापित करने की

ओर प्रथम सीढी है जिसके अन्तर्गत आचार्य विनोबा ने सन् १९५७ तक ५ करोड एकड़ भूमि भूस्वामियों से दान में प्राप्त करके भूमिहीनों तथा बेकार लोगों में वितरण करने का प्रारम्भिक कार्य हाथ में ले लिया है। यह यज्ञ सीढ़ियों के सहारे क्रान्ति के शिखर पर चढ़ने का प्रथम मोर्चा है। इसीलिए विनोबाजी इसे आन्दोलन की अपेक्षा 'आरोहण' कहते हैं। अतः भूदान का विवरण करने से पूर्व सर्वोदय समाज का अर्थ तथा उसकी मुख्य बातों का विवरण अति आवश्यक है।

सर्वोदय समाज

इस समाज में सब सुखी होंगे। ऊँच-नीच का कोई भेद न होगा। वर्गहीन होने के कारण शोषण की कोई गुञ्जाइश न रहेगी। सबके साथ न्याय होगा तथा सब समान होंगे। इस समाज की सत्ता जनता के हाथ में होगी और वही इसका सचालन करेगी। केन्द्रीय शासन की तो कोई आवश्यकता ही न होगी और यदि होगी भी तो बहुत कम। जीवन सम्बन्धी अधिकांश विषयों का शासन ग्राम द्वारा होगा, उससे कम जिले द्वारा, उससे भी कम प्रान्त द्वारा तथा सबसे कम केन्द्र द्वारा होगा। इसी प्रकार सत्ता की मात्रा व क्रम भी विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रहेगी। यह सब बातें एक शोषणविहीन समाज में ही हो सकती है जिसमें न केवल आर्थिक शोषण, बल्कि किसी प्रकार का शोषण न हो और ऐसे ही समाज को स्थापित करना सर्वोदय का लक्ष्य है।

परन्तु ऐसे शोषण विहीन समाज की स्थापना तभी सम्भव है जब कि श्रमिक उत्पादन के साधनों का स्वयं मालिक हो तथा उत्पादन के साधन शोषण के लिए उपलब्ध न हों। यह सब आर्थिक स्वावलम्बन के बिना सम्भव नहीं हो सकता अर्थात ऐसा करने के लिए कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योगों का पूर्ण विकास जिससे वे घर-घर में चल सकें तथा बड़े-बड़े उद्योगों का समाज के हाथ में रहना परम आवश्यक है। इस प्रकार मालिक और मजदूर का भेद समाप्त होकर आर्थिक शोषण भी सदा के लिये समाप्त हो जावेगा। इसी प्रकार सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है जिससे ग्रामीण अपना विकास स्वयं कर सकें।

किन्तु आज का तो सारा समाज ही दूषित है। प्रायः सभी लोग स्वार्थ-परायण है। वे अपने हित और लाभ की बात अधिक सोचते हैं। दूसरों के हानि-लाभ की कोई चिन्ता नहीं करते। छोटे-छोटे लाभ के लिए भी झूठ बोलना, बेईमानी करना आदि तो साधारण-सी बात हो चली है। परन्तु हमारे शोषणविहीन समाज मे तो इस प्रवृत्ति को त्यागना होगा और दूसरों का ध्यान करना होगा तथा जीवन के दृष्टिकोण को ही बदलना होगा। अतः सर्वोदय के अन्तर्गत मनुष्य-मात्र को ही बदल डालना है क्योंकि यदि व्यक्ति न बदला तो शोषण भी न मिट सकेगा।

व्यक्ति का बदलना बहुत बड़ा उद्देश्य है और भू-दान-यज्ञ इसी उद्देश्य को प्राप्त करने का ही साधन है क्योंकि भूमि की समस्या से करोड़ों व्यक्ति सम्बन्धित हैं और यदि इसे शीघ्र हल न किया गया तो अन्य हानियों के साथ-साथ तेलगाना का इतिहास फिर से दोहराये जाने का भय है। अतः भूदान यज्ञ द्वारा भूमि की समस्या

के हल होने के साथ ही बड़ी बात यह होगी कि करोड़ों व्यक्ति बदलेंगे क्योंकि इस यज्ञ का मुख्य आधार प्रेम और स्वेच्छा है।

विनोबा जी भू दान यज्ञ के द्वारा दूसरी मुख्य बात लोगों को यह समझाना चाहते हैं कि जो कुछ भी है वह केवल अपना न होकर सारे समाज का है। इस विषय में उद्योगपति, बड़े-बड़े मिल-मालिक यह कह सकते है कि इन मिलों और उद्योगों को हमने अपने स्वयं के श्रम और बुद्धि से बनाया है फिर ये समाज के कैसे हो सकते है ? यद्यपि इस प्रकार की भावना रखना ठीक नहीं है, फिर भी वे यह कह सकते हैं। किन्तु भूमि तो प्राकृतिक देन है। इसे तो किसी व्यक्ति विशेष ने नहीं बनाया। अतः भूमि पर किसी का अधिकार नहीं होना चाहिये। ईश्वर के नियम के अनुसार तो 'सबै भूमि गोपाल की' इसलिये जो व्यक्ति भूमि पर कार्य करता है वह उसी की है। प्राचीनकाल में भूमि ग्रामों की होती थी और प्रति बीस वर्ष बाद ग्राम-पंचायतें परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुसार भूमि का वितरण करती थीं। उनका सिद्धान्त था कि किसी व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक भूमि न रहे। आज भूदान यज्ञ द्वारा इसी सिद्धान्त को भू-स्वामियों को समझाया जा रहा है।

भूमि की भाँति ही सर्वोदय के अनुसार किसी अन्य प्रकार का धन भी आवश्यकता से अधिक नही रखना चाहिये क्योंकि धन कोई अकेला व्यक्ति ही अपनी बुद्धि और श्रम से उत्पन्न नहीं कर सकता, बल्कि सारे समाज के सहयोग से ही उत्पन्न किया जाता है। इसीलिए विनोबा जी ने भू दान के साथ-साथ सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु इस विषय में सबसे कठिन प्रश्न यह है कि अपनी आवश्यकता का क्या माप होना चाहिये। क्योंकि आज के समाज में पूँजी के वितरण में बहुत अधिक अन्तर है। किसी को केवल ५०-६० रुपये मासिक की आय है तो किसी की लाखों-करोड़ों रुपये है। इसलिये विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ हो सकती है। इस विषय में विनोबाजी कहते है कि व्यक्ति स्वयं ही अपनी आवश्यकता का अनुमान लगा सकता है। वे भिन्नता को बुरा नहीं कहते क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भी समान नहीं होता परन्तु अधिक अन्तर आपत्ति-जनक है क्योंकि वस्तुतः करोड़पतियों की आवश्यकता भी सीमित ही होती है। वे दसमन नही खाते या सैकड़ों धोतियां नही पहनते। इस दृष्टि से विनोबा जी ने यह सिद्धान्त बनाया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का व भूमि का $\frac{1}{6}$ भाग दान कर देना चाहिए। परन्तु यह दान तो उसकी प्रथम किश्त के रूप में ही होगी, क्योंकि सर्वोदय का उद्देश्य तो स्वामित्व का पूर्णरूपेण विसर्जन करना है जिसे दाता को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

हिंसा अथवा अहिंसा का मार्ग

भारतीय शिक्षित समाज के कुछ व्यक्तियों को इस प्रकार के दान द्वारा व्यक्ति के बदलने में सन्देह होने लगता है। उनके अनुसार इस प्रकार के दान द्वारा समाज को बदलना असम्भव है। समाज को बदलने के लिए निर्धनों का संगठन

करना आवश्यक है। उसके बाद वर्ग-संघर्ष की ओर उन्हें ले जाना होगा। इस वर्ग-संघर्ष में हिंसा का हो जाना स्वाभाविक है। बिना इसके समाज नहीं बदल सकता।

निस्सन्देह हिंसा से समाज बदल सकता है परन्तु उससे उक्त सर्वोदय समाज की स्थापना असम्भव है। हिंसा से न्याय और समता का समाज नहीं बनेगा और वे ही व्यक्ति जनता पर अपनी सत्ता कायम रखेंगे जो हिंसा करने में अधिक चतुर होंगे। इसके अतिरिक्त हिंसा से ऐसे ही समाज की स्थापना होगी, जैसी रूस में है जहाँ की जनता को देश में बड़े-बड़े परिवर्तनों की भी सूचना नहीं मिल पाती। उदाहरणतया मार्शल स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् मैलेन्कोव कैद होने तक रूस की जनता को यह पता नही था कि मैलेन्कोव के हाथ में देश की बागडोर है। सर्वोदय का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना नहीं है। इसके अतिरिक्त हिंसा से मनुष्यार्थ का अन्त हो जाता है और मनुष्य पशुओं के समान व्यवहार करने लगता है। भारत की संस्कृति सदा से ऐसे व्यवहार के विरुद्ध तथा शान्ति और अहिंसा की हामी रही है। अतः हिंसा के मार्ग का अनुकरण करना उपयुक्त और श्रेयस्कर कभी भी नहीं हो सकता।

कुछ व्यक्ति कानून द्वारा समाज बदलने की बात सोचते हैं और कहते हैं कि भूदान व सम्पत्ति-दान का कार्य कानून द्वारा करा लेना चाहिए। किन्तु क्रान्तिकारी कानून में भी कुछ हिंसा आ ही जाती है और उसके पीछे लोकमत का आधार रहे बिना उसका निभना भी कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त सर्वोदय का लक्ष्य भूदान, सम्पत्तिदान आदि द्वारा दण्डनिरपेक्ष समाज की स्थापना करना है। तब भूदान आदि में राजसत्ता, कानून या दण्ड का सहारा कैसे लिया जा सकता है।

अतः मनुष्य को प्रेम और अहिंसा के सहारे ही बदलना है। और यह बहुत सरल है क्योंकि मनुष्य एक ही परमात्मा की देन है और वह स्वभावतः अच्छा होता है, बुरा नहीं तथा अच्छे की ही पूजा करता है, और अच्छे कार्य को अपनाता है। भूदान यज्ञ आन्दोलन, जिसका दिनोंदिन विस्तार हो रहा है, द्वारा इसी प्रकार का हृदय-परिवर्तन हो रहा है जो भूदान के निम्नलिखित विवरण से सिद्ध होता है।

भूदान यज्ञ का आरम्भ और प्रगति

भूमि-वितरण की समस्या केवल भारत की नहीं बल्कि लगभग सारे एशिया की सबसे अधिक गम्भीर समस्या है। रूस और चीन जैसे देशों में यह समस्या भारी रक्तपात तथा अन्य प्रकार की क्रूरतापूर्ण प्रणाली का प्रयोग करके हल की गई है। बर्मा, इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना, थाईलैण्ड आदि देशों में भी ये ही प्रणालियाँ अजमाई जा रही हैं। भारत में भी तेलंगाना और दक्षिणी भाग के कुछ हिस्सों में इसका आरम्भ हो चुका था। उत्तर भारत में काश्मीर ने स्वतन्त्रता के पश्चात् कानून के बल भूमि-समस्या को हल करने का प्रयत्न किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की। पैप्सू में भूस्वामियों से जबरदस्ती भूमि छीनने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। किन्तु इन प्रणालियों से भूमि-समस्या के स्थायी रूप से हल होने की संभावना नहीं है।

सन् १९५१ में हैदराबाद के तेलंगाना क्षेत्र में भूमि-समस्या के कारण भारी रक्तपात हो रहा था। अमीर और गरीब का भेद हद दर्जे तक बढ़ गया था। अमीरों को अपने धन व प्राणों की रक्षा का कोई सहारा नही रहा था। जनता साम्यवादियों के आतंकपूर्ण कार्यो से परेशान हो चली थी और जनतन्त्रवाद, अहिंसा, शान्ति आदि आदर्शो में अविश्वास-सा करने लगी थी। इसी समय आचार्य विनोबा भावे को इन सब हिंसात्मक घटनाओं से बड़ा क्षोभ हुआ और वे स्वयं तेलगाना में नालगौडा जिले के एक छोटे से ग्राम में पहुँचे जहाँ साम्यवादियों का बड़ा आतंक छाया था। वहाँ के हरिजनों ने विनोबा जी से ८० एकड़ भूमि की माँग की। विनोबा जी तुरन्त वहाँ के भूस्वामियो के पास गये और उनसे अपने पड़ौसियों को सहायता देने की प्रार्थना की। इस पर एक युवक जमीदार आगे बढ़ा और उसने अपनी कृषि योग्य भूमि की १०० एकड़ भूमि विनोबा जी को दे दी, जो उन हरिजनों को बाँट दी गई। यह घटना १८ अप्रैल, सन् १९५१ की है जब सर्वप्रथम विनोबा जी को भूमि का दान मिला। इस घटना से उन्हें अपने में ईश्वरीय शक्ति का आभास मिला और इस कार्य को देशव्यापी रूप में करने की प्रेरणा मिली। उसी रात्रि को उन्होंने भूदान आन्दोलन को सारे देश में फैलाने का निश्चय कर लिया जो आज भी भारत में जोरों से चल रहा है। इस प्रकार इस पवित्र भूदान यज्ञ का भारत में आरम्भ हुआ था।

तेलंगाना में २५ दिन की पैदल यात्रा में विनोबा जी ५१ ग्रामों में रुके तथा २०० ग्रामों में इस यज्ञ का प्रचार करते हुए गुजरे और लगभग ५०० ग्रामीण झगड़ों का फैसला किया। लगभग २०००० व्यक्तियों को भाषण दिया तथा भूमि हीनों के लिए १२२०१ एकड़ भूमि प्राप्त की। आचार्य जी २७ जून को अपने पौनार आश्रम में लौटे और वर्षा आरम्भ होने से २ माह के लिए भूदान का कार्य स्थगित कर दिया। इतने में ही पंडित जवाहरलाल ने उन्हें दिल्ली बुला भेजा और वे वहाँ तक पैदल ही मार्ग में भूदान का प्रचार करते हुए पहुँचे। सागर में २ अक्तूबर, सन् १९५१ को उन्होंने अपने भाषण में भूदान के लक्ष्य की घोषणा करते हुए कहा, "यद्यपि मेरा पेट तो बहुत छोटा है किन्तु दरिद्र नारायण का बहुत बड़ा है। अतः जो कोई मुझसे मेंरी माँग पूछता है तो मै उत्तर दे देता हूँ कि मुझे ५ करोड़ एकड़ कृषि-योग्य भूमि चाहिए। यदि किसी परिवार में ५ पुत्र हैं तो मुझे छठा और यदि चार हैं तो मुझे पाँचवा पुत्र समझा जाय और इस प्रकार देश की कृषि-योग्य भूमि का $\frac{1}{6}$ या $\frac{1}{5}$ भाग चाहता हूँ जिसमें से ५ करोड़ एकड़ भूमि सन् १९५७ तक मिल जानी चाहिए।" इस प्रकार पौनार से मध्य प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों से होते हुए विनोबा जी ६२ दिन में अर्थात् १३ नवम्बर, १९५१ को दिल्ली पहुँचे और मार्ग में उनको १९,४३६ एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

दिल्ली में ११ दिन रुकने के पश्चात् वे उत्तर प्रदेश में आये और १ करोड़ एकड़ भूमि की मांग की। अप्रैल सन् १९५२ में सेवापुरी आश्रम में सर्वोदय सम्मेलन

हुआ जिसमें दो वर्ष में २५ लाख एकड़ भूमि एकत्र करने का लक्ष्य बना लिया और विभिन्न प्रान्तों से भूमि की मात्रा निश्चित कर दी। तथा सर्वोदय व भूदान-कार्यकर्ताओं के समक्ष एक ठोस कार्यक्रम रख दिया।

उत्तर प्रदेश की यात्रा में विनोबाजी ने ३७५० मील की पैदल यात्रा की और २५७ स्थानों पर रुके तथा २९५०२८ एकड़ भूमि प्राप्त की। जून सन् १९५२ में हमीरपुर जिले के मंगरौठ ग्राम की सारी भूमि दान में मिली। यह सम्पूर्ण ग्राम-दान को सर्वप्रथम घटना थी। उस समय तक समस्त देश में केवल ४ लाख एकड़ भूमि एकत्रित हो चुकी थी।

१४ सितम्बर, सन् १९५२ को कर्मनासा नदी को पार कर विनोबाजी ने बिहार में पदार्पण किया और २ जनवरी, सन् १९५५ तक वहाँ रहे। इन २७ महीनों में विनोबाजी को २३,००,००० एकड़ भूमि का दान मिला। यहीं पर इसी बीच उन्होंने 'सम्पत्तिदान' यज्ञ भी २३ अक्तूबर सन् १९५२ से आरम्भ किया और लोगों से उनकी सम्पत्ति का $\frac{1}{6}$ भाग मांगने लगे क्योंकि उनके विचार से भूदान यज्ञ उस समय तक पूरा न हो सकेगा जब तक भूमिहीनों को भूमि देकर, उन्हें उस पर आबाद करने के लिये अन्य आवश्यक सहायता नहीं दी जायगी। कृषि के लिये आवश्यक वस्तु पानी है। इसके लिए कुएँ अथवा जलाशय की भी आवश्यकता है। सम्पत्ति-दान में भी जनता ने बड़े उत्साह से सहयोग दिया है।

मार्च सन् १९५३ में श्री जयप्रकाश नारायण ने प्रजा समाजवादी दल से त्यागपत्र दे दिया और सक्रिय राजनीति को छोड़कर विनोबा जी के भूदान यज्ञ में मिल गये। ३० जनवरी से ४ मई, सन् १९५४ तक विनोबाजी गया जिले में रहे। अप्रैल सन् १९५४ में बोधगया में सर्वोदय सम्मेलन छठा वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें जयप्रकाश बाबू ने भूदान यज्ञ की पूर्ति के लिये लोगों से अपने जीवन की आहुति देने की अपील की और इस प्रकार 'जीवन दान' यज्ञ को जन्म दिया। विनोबा जी ने सर्वप्रथम अपना जीवनदान दिया और उनके पश्चात् तत्काल ही लगभग ५०० स्त्री पुरुषों ने जयप्रकाशजी को भूदान यज्ञ के लिये जीवन-दान कर दिया इस समय तक देश में २३७ ०२२ दानियों से २२६१५१०१ एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी थी।

१ जनवरी सन् १९५५ को विनोबाजी ने बिहार की पवित्र भूमि से विदा ली और बंगाल में पदार्पण किया और २५ दिन तक बांकुरा और मिदनापुर जिलों के गावों में भूदान यज्ञ के मंत्र को फूँका। तत्पश्चात् वे २६ जनवरी को उड़ीसा में पहुँचे और तत्काल ही उन्हें १,२५,००० एकड़ भूमि तथा ९३ सम्पूर्ण ग्राम दान में मिले। पुरी में मार्च सन् १९५५ में सर्वोदय सम्मेलन के सातवें अधिवेशन में विनोबाजी ने साफ शब्दों में घोषणा करदी थी कि सन् १९५७ में भूमिहीनों को भूमि मिल जायगी और लोगों का हृदय परिवर्तित होकर सर्वोदय समाज की स्थापना हो जावेगी।

भूदान यज्ञ आन्दोलन ने गत चार वर्षों में उल्लेखनीय प्रगति की है और मई १९५५ के अन्त तक ५०२६४१ दानियों द्वारा दी गई ३७,५८, ६९२ एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी है। भूदान में बिहार राज्य प्रथम, उत्तर प्रदेश द्वितीय और

बम्बई सबसे पिछड़ा हुआ है। इनमें क्रमशः २३,३०,५५४ एकड़, ५,४२,२३२ एकड़ व १२३ एकड़ भूमि प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त जून, १९५५ के अन्त तक २५० सम्पूर्ण ग्राम 'ग्राम दान' में प्राप्त हुए हैं। उड़ीसा में अभी तक ५०० ग्राम प्राप्त करने का लक्ष्य है। देश के विभिन्न भागों से लगभग १५०० कार्य-कर्ताओं ने भूदान यज्ञ में अपने सम्पूर्ण जीवन की ही आहुति चढ़ा दी है अर्थात् 'जीवन दान' दे दिया है।

भूदान यज्ञ की इस प्रगति को देखकर यह आशा सी होती है कि सन् १९५७ तक सम्भवतः भूमि-समस्या का अन्त हो जायगा। आज जिन लोगों के पास अधिक भूमि है वे समझने लगे हैं कि अब अधिक भूमि उनके पास न रह सकेगी। फलतः भूमि विक्रय का क्रम जोरों से चालू है और कृषि करने वालों ही के हाथ में छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में भूमि बिक कर जा रही है। दूसरों की भूमि पर जो काश्त करते रहे उनसे भूस्वामी हाल ही में बनने वाले कानूनों के अनुसार भूमि वापस न ले सकेंगे। इस विचार से बड़ी मात्रा में बेदखली शुरू हो गई है। किन्तु सरकार इसको रोकने के प्रयत्न कर रही है। योजना आयोग ने भी यह सिद्धान्त मान लिया है कि भूमि के विषय में 'सीलिंग' निश्चित करके अधिक भूमि किसी के पास नहीं रहनी चाहिये। हैदराबाद में इसी सिद्धान्त के आधार पर एक कानून बना है। भारत के अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार के सक्रिय कार्य किये जा रहे हैं। अतः इस भाँति भूमि के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष वितरण के अनुकूल जो वातावरण बन रहा है वह भूदान यज्ञ ही के कारण है।

भूदान यज्ञ की सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका कार्य पक्षातीत है। साम्यवादी दल व एक आध अन्य वर्ग छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक व सामाजिक दल भूदान यज्ञ का खुले रूप से समर्थन कर रहे हैं तथा यथाशक्ति सहयोग भी दे रहे हैं। सभी कार्यकर्ता अपना दल भूल कर सामान्य सामाजिक कार्य-कर्ता के रूप में भूदान का कार्य करते हैं तथा अपने दल-विशेष के लिये कोई लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार भूमि का वितरण भी निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा निष्पक्ष भाव से किया जा रहा है।

भूमि-वितरण

भूदान यज्ञ में भूमि तो पर्याप्त मात्रा में एकत्रित हो गई है और होने की आशा है। परन्तु सबसे बड़ी समस्या तो भूमिहीनों में भूमि निष्पक्ष भाव से वितरण करने और उस पर खेती करने के लिये उन्हें अन्य सहायता देने की है। गत वर्ष बोध गया में सर्वोदय सम्मेलन के तुरन्त बाद ही भूमि-वितरण का कार्य हाथ में लिया गया था किन्तु इस दिशा में कुछ प्रगति नहीं हुई क्योंकि एक तो भूमि के हस्तांतरित करने में कानूनी कार्यों में बहुत समय लग जाता है और दूसरे कार्यकर्ताओं ने भी भूमि-वितरण की कठिनाइयों के कारण उत्साह से कार्य नहीं किया। बिहार भूदान समिति ने सन् १९५५ के अन्त तक ६ लाख एकड़ भूमि भूमिहीनों में वितरण करने का निश्चय किया था जिसमें से जून १९५५ तक बिहार के ११३६४ भूमिहीन परिवारों

में २११२३ एकड़ भूमि का ही वितरण किया जा सका है तथा समस्त भारत में ५६५६१ भूमिहीन परिवारों को १६७४३८ एकड़ भूमि वितरण की जा चुकी है।

भूमि-वितरण की कठिनाई से भी अधिक कठिन कार्य भूमि मिलने वालों का भूमि पर खेती करने योग्य बनाने के लिये उन्हें आर्थिक सहायता भी देना है। इसके लिये बहुत धन की आवश्यकता होगी। यह अनुमान लगाया गया है कि 'भूदान-कृषकों' को अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाने के लिये १०० रुपया प्रति एकड की आवश्यकता होगी। प्रति १० एकड़ भूमि के लिए एक जोड़ी बैल की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कुएँ खोदने होंगे, हल और समुचित मात्रा में उत्तम बीजों का वितरण करना होगा। इस प्रकार केवल बिहार के भूदान कृषकों को बसाने के लिये इस वर्ष के अन्त तक लगभग ६ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। इसमें ग्रामीणों, सरकार तथा व्यापारी वर्ग आदि सभी को सम्पत्ति दान द्वारा सहयोग करना है। इस दिशा में बिहार की कोयले की खानों के मालिकों का १५००० टन ईंट पकाने कोयले का दान उल्लेखनीय है। रेल विभाग ने भी इस दान के कोयले को लाने के लिए रेल-भाड़े में ५०% छूट दे दी है। कलकत्ता और बिहार के प्रमुख व्यापारियों ने काफी सम्पत्तिदान किया है। बिहार के शक्कर मिलों के मालिकों ने ५००० रु० प्रति मिल दान दिया है। टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी ने १ लाख रु० दिया है तथा हज़ारी बाग के अभ्रख की खान के मालिको व व्यापारियों ने जमशेदपुर के होने वाले व्यापार में से १ आना प्रति १०० रु० प्रतिवर्ष दान देना स्वीकार किया है। कुछ श्रम-संघो ने श्रमिको का एक दिन का वेतन भी दान में दिया है।

श्री अशोक मेहता के अनुसार भूदान यज्ञ के अन्तर्गत निम्नलिखित महान् कार्य हो रहे हैं जिससे भारत की भूमि-समस्या के हल होने की सम्भावना है—

(१) भूदान से भूमि के न्यायपूर्ण वितरण के अनुकूल वातावरण तीव्रगति से बन रहा है।

(२) भूमि और सम्पत्ति के स्वत्व के विषय में नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो रहा है क्योंकि छोटे-छोटे कृषक भी अपनी भूमि का दान कर रहे हैं।

(३) भूमि का मूल्य गिर रहा है अतः मुआवजे का प्रश्न सरल होता जा रहा है।

(४) भूमि हीनों को भूमि प्राप्त हो रही है इसलिए उनको सहकारी कृषि समितियों की ओर सरलता से आकर्षित किया जा सकता है।

(५) भूमि का वितरण ग्राम सभाओं तथा भूमिहीनों की सूचना के अनुसार ही हो रहा है अतः पक्षपात और भ्रष्टाचार का तनिक भी भय नही है।

(६) भूमिहीनों को कम-से-कम ५ एकड़ सूखी या एक एकड़ तर भूमि देकर भूमि का वितरण हो रहा है। अतः 'सीलिङ्ग' का प्रश्न स्वतः ही हल हो जाता है।

भूदान के उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भूदान यज्ञ भूमि-वितरण का आन्दोलन नहीं है बल्कि क्रान्ति का आन्दोलन है और इसमें शोषण-विहीन व दण्ड

निर्पेक्ष समाज की स्थापना का लक्ष्य निहित है। इस सर्वोदयी समाजवाद में आर्थिक समता' और 'आर्थिक क्रान्ति' के विचार समाविष्ट ही हैं। समाजवाद भारतीय संस्कृति में मनुष्य की धर्म-भावना से ही बना हुआ है और आज के युग के लिए यह शोभापूर्ण मनुष्य धर्म है। आचार्य विनोबा भावे आज इस भावना को भारत के जन-जन के हृदय में अंकित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उन्होंने सन् १९५७ तक भारत में सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की यह प्रेरणा सफल करके एक शोषण विहीन और दण्ड निर्पेक्ष समाज की स्थापना करने का एक महान् कार्य आगे बढ़ाया है। भूदान यज्ञ के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में क्रान्ति की ज्योति आज प्रज्वलित होती है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वराज्य मन्दिर में सामाजिक क्रान्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उसी का यह प्रभाव है और वही सत्याग्रही शक्ति और विनोबा भावे के नेतृत्व में सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं के द्वारा आज आर्थिक क्रान्ति के रूप में प्रकट हो रही है। यदि भारत अपनी समस्या इस प्रक्रिया से हल कर सका तो वह समस्त संसार के समक्ष एक आदर्श रखेगा और संसार को यह प्रदर्शित कर देगा कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सार्वत्रिक सत्तावादी प्रक्रियाओं या सर्वसत्ताधारी सरकारों के द्वारा सफलतापूर्वक नहीं किये जा सकते बल्कि जनतन्त्रात्मक उपायों से ही किये जा सकते हैं।

पण्डित नेहरू के शब्दों में "भूदान यज्ञ सही तरीके का आन्दोलन है और प्रत्येक व्यक्ति का यह फर्ज है कि वह पूर्णरूपेण इसके महत्व को समझे और इसमें यथाशक्ति सहयोग दें।"

अध्याय १४

राज्य और कृषि

(STATE AND AGRICULTURE)

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहाँ के किसान निर्धन और अशिक्षित हैं, कृषि के विकास के लिए राज्य ही का उत्तरदायित्व हो जाता है। कोई भी उद्योग चाहे वह कृषि हो या अन्य उत्पादक उद्योग हो बिना राज्य के पूर्ण सहयोग व संरक्षण के नहीं पनप सकता। प्राचीन काल में भारतीय कृषि की बड़ी अच्छी दशा थी क्योंकि उसे सम्राटों द्वारा हर प्रकार का संरक्षण प्राप्त रहता था। किन्तु मुगल शासकों के पश्चात् कृषि का विनाश प्रारम्भ हो गया। १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार ने व्यक्तिवाद की नीति को अपनाया और कृषि-सुधार के विषय में सदा उदासीन रही और कभी ऐसी नीति नही अपनायी जिससे भारतीय कृषि में कुछ भी उन्नति हो सकती, फलतः कृषि का पतन ही होता चला गया।

कृषि-नीति का विकास—वस्तुतः कृषि-नीति का विकास समय-समय पर नियुक्त किये गए अकाल जाँच आयोगों के सुझावों पर आधारित है। कृषि नीति की ओर भारत सरकार ने सर्वप्रथम सन् १८६६ के ऐतिहासिक बंगाल और उड़ीसा अकाल के पश्चात् अकाल जाँच आयोग के सुझाव के अनुसार जून सन् १८७१ में एक लगान कृषि व व्यापार-विभाग की स्थापना की थी। परन्तु यह विभाग सिवाय कृषि के आँकड़ों को एकत्रित करने के कोई और उल्लेखनोय कार्य नहीं कर पाया क्योंकि इस विभाग के कार्य संचालन के लिये किसी विशेषज्ञ की नियुक्ति नहीं की गई थी। १८७९ में यह विभाग गृह विभाग में मिला दिया गया।

इसके पश्चात् सन् १८८० के अकाल जाँच कमीशन ने अकाल को रोकने के लिये कृषि-सुधार पर विशेष जोर दिया तथा केन्द्र और प्रांतों में कृषि विभाग स्थापित करने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने इन सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु कुछ प्रान्तों में कृषि-विभाग खोलकर कृषि संचालक (Director of Agriculture) की नियुक्ति कर दी। इसके अतिरिक्त किसानों की सहायता के लिए दो अधिनियम—भूमि-सुधार व ऋण अधिनियम (Land Improvement & Loans Act) और कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturist's Loans Act) पास कर दिये गए।

सन् १८९२ में डा० जे० ए० वोयलकर के सुझावों के आधार पर सरकार को कृषि-सुधार और कृषि-नीति के विषय में सलाह देने के लिए एक कृषि-रसायन शास्त्री (Agricultural Chemist) की नियुक्ति की गई। तत्पश्चात् सन् १९०१ में एक कृषि-निरीक्षक (Inspector General of Agriculture) तथा एक माइको-लाजिस्ट (Mycologist) को केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों को सलाह देने के लिए नियुक्त किया गया। सन् १९०३ में एक एन्टेमालाजिस्ट की भी नियुक्ति हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे कृषि विभाग का विकास होता रहा।

सन् १९०१ के अकाल जाँच आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने एक निश्चित कृषि-नीति को अपनाया। सन् १९०४ में सहकारिता कानून पास किया ही जा चुका था तथा सन् १९०५ में केन्द्रीय व प्रान्तीय कृषि विभागों का पूर्णतया पुनर्गठन कर दिया गया और उसी आधार पर आजतक इन विभागों का संचालन होता रहा है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विभागों के कार्यों का समन्वय करने के लिए एक अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना भी इसी वर्ष हुई और भारतीय कृषि-सेवा (Indian Agricultural Service) को सन् १९०६ में वैधानिक रूप दे दिया गया। इस नई नीति के लिए भारत सरकार ने कृषि अनुसन्धान, प्रयोग, प्रदर्शन व शिक्षा के सम्बन्ध में सक्रिय कार्य किये। कानपुर, नागपुर, पूना, लायलपुर, कोयम्बटूर तथा मान्डले में कृषि-विद्यालय खोले गये। जिनके लिए भारत सरकार ने २४ लाख रुपया प्रतिवर्ष अनुदान के रूप में देना स्वीकार किया। प्रान्तीय कृषि विभागों में भी विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अधिकारियों को नियुक्त किया गया। परन्तु सरकार की इस नीति का भी फल आशा के अनुसार नही हुआ क्योंकि इन विभागों ने देश की कृषि-समस्या और उसकी आवश्यकताओं का अध्ययन न करके केवल अनुसन्धान, उत्तम बीज, औजारों का प्रचार तथा प्रदर्शन पर अपने कार्यों को केन्द्रित रक्खा था।

सन् १९१९ के वैधानिक परिवर्तनों के अनुसार कृषि को प्रान्तीय सरकारों के आधीन कर दिया गया और केन्द्रीय सरकार को केवल निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण करने का अधिकार रह गया। किन्तु केन्द्र द्वारा सिवाय कृषि अनुसन्धान और इसके कर्मचारियों के प्रशिक्षण की केन्द्रीय संस्थाओं के किसी अन्य प्रान्तीय विषय पर व्यय करने की व्यवस्था नहीं की गई। फलतः विभिन्न प्रान्तों की कृषि नीति में कोई समानता नहीं रही और केवल विधान सभा के सदस्यों को प्रसन्न करने के लिए जिससे उनकी वोट प्राप्त हो सके, कार्य किये गये।

शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture)

भारत सरकार ने कृषि व ग्रामीण दशा की जाँच करने व उसमें सुधार के सुझाव देने के लिए सन् १९२६ में एक शाही कृषि आयोग की नियुक्ति की जिसने विशेषकर निम्नलिखित बातों की जाँच की थी—

(१) कृषि-सुधार, अनुसंधान, प्रयोग, शिक्षा, प्रदर्शन, पशुओं की दशा सुधारना, कृषि सम्बन्धी आँकड़ों की व्यवस्था आदि के कार्यों का पता लगाना।

(२) कृषि उत्पादन के विपरण व यातायात की तत्कालीन सुविधायें।

(३) कृषकों की ऋण प्राप्त करने की विधि।

(४) ग्रामोत्थान तथा कृषकों के कल्याण के साधन।

इस आयोग ने भारतीय कृषि के सर्वाङ्गीण विकास के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे। इसके अनुसार कृषकों को अपना दृष्टिकोण बदलकर अधिक उदार व विशाल बनाना तथा सरकार को स्वयं ग्राम और ग्रामीणों की समस्याओं को हल करने के प्रयत्न करना था। भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशों के अनुसार सर्वप्रथम कार्य सन् १६२७ में शाही कृषि अनुसंधान परिषद की स्थापना करके किया। इस परिषद का मुख्य कार्य समस्त देश में कृषि अनुसंधान कराना व विभिन्न अनुसंधान कार्यों का समन्वय करना था। परिषद को भारत सरकार ने आयोग की सिफारिश पर २५ लाख रुपये का प्रारम्भिक अनुदान तथा ७·२५ लाख रुपये का वार्षिक अनुदान दिया।

भारत सरकार ने इस परिषद को कृषि अनुसन्धान-कार्यों के लिये मार्च सन् १६३६ तक १ करोड़ रुपया दिया था जिसमें से ५० लाख आम विषयों पर अनुसन्धान के लिये, २० लाख शक्कर पर, २५ लाख विपणन योजनाओं पर और ६ लाख एक नया दुग्ध अनुसन्धान-केन्द्र स्थापित करने को दिया गया था। इसके अतिरिक्त परिषद को अधिक वित्तीय सहायता देने के लिये एक कृषि उत्पादन कर अधिनियम (Agricultural Produce Cess Act) पास किया गया जिससे लगभग १४ लाख रुपया प्रतिवर्ष की आय होने की आशा थी। परिषद के समान एक अन्य अनुसन्धान-केन्द्र दिल्ली में खोला गया जो प्रमुख अखिल भारतीय कृषि-सम्बन्धी विषयों पर अनुसन्धान-कार्य करता था। इसके अतिरिक्त आयोग के सुझाव के अनुसार प्रान्तीय अनुसन्धान समितियाँ भी बना दी गई थी जिनका मुख्य कार्य अनुसन्धान की नई योजना बनाकर परिषद के समक्ष रखना तथा उन योजनाओं के कार्यान्वित होने पर उनकी प्रगति की रिपोर्ट देना था। परन्तु स्वभावतः विभिन्न समितियों में कोई सामान्यता नही थी।

इसके पश्चात् रसैल-राइट रिपोर्ट के सुझावों पर भी कृषि के विकास के लिए अनेक कार्य किये गये किन्तु यह कार्य सन् १६३७ से जबकि प्रान्तों में स्वायत्त प्रशासन की स्थापना हुई, कांग्रेस मन्त्रि-मन्डलों द्वारा अधिक ज़ोरों से किया गया था। काग्रेस सरकार ने ग्रामोत्थान के लिये विभिन्न योजनायें बनाई थीं किन्तु थोड़े समय बाद सरकारों द्वारा त्याग-पत्र देने के कारण ग्रामोत्थान की योजनाएँ सुचारु रूप से कार्यान्वित न की जा सकीं। अतः सन् १६२८ से १६३६ तक इस ओर सरकार की लापरवाही, जनता के असहयोग तथा कृषि उत्पादन के मूल्यों में भारी कमी के कारण विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

युद्धकालीन कृषि-नीति भारत में खाद्यान्न की कमी से बहुत प्रभावित हुई और सरकार का मुख्य कर्तव्य खाद्य-समस्या को हल करना बन गया। इसके अति-

रिक्त सरकार के महायुद्ध में अधिक व्यस्त रहने के कारण और कोई कार्य भी न किये जा सके। खाद्यान्न की समस्या को हल करने के लिये 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' सरकार ने आरम्भ किया और सन् १६४३ में खाद्यान्न नीति समिति की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य खाद्यान्न के उचित वितरण और उनके उचित मूल्यों पर नियंत्रण के सुझाव रखना था। इन सुझावों में अधिक महत्वपूर्ण सुझाव एमोनियम सलफेट (रासायनिक खाद) को उत्पन्न करने के लिए सिन्दरी में कारखाना स्थापित करने के सम्बन्ध में था।

योजना आयोग (Planning Commission)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् के दो वर्षों में देश में अनेक राजनीतिक और वैधानिक परिवर्तन हुए और सन् १६४७ में पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। राष्ट्रीय सरकार ने तुरन्त ही ग्रामोत्थान का कार्य अपने हाथ में ले लिया। अधिक खाद्यान्न उत्पादन की जितनी योजनाएँ चल रहीं थीं उन्हें और तीव्र गति से कार्यान्वित किया गया और लगभग २ वर्ष तक केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने ग्रामीण विकास और उत्पादन-वृद्धि की अनेक योजनाओं को आरम्भ कर दिया। किन्तु इन सरकारों के विभिन्न विभागों में सामंजस्य के अभाव में कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी, इसलिए भारत सरकार ने मार्च सन् १६५० में प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग की, भारत में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों, पूंजी तथा मानवीय साधनों के आधार पर देश के आर्थिक विकास के लिये एक योजना बनाने और योजना को कार्यान्वित करने की विधि बताने के लिये, नियुक्ति की। आयोग ने जुलाई सन् १६५१ में ड्राफ्ट योजना बनाकर सरकार के समक्ष रखी जिसको थोड़े से परिवर्तन करने के पश्चात् स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार आयोग ने २०६६ करोड़ रुपये की लागत की प्रथम पचवर्षीय योजना (अप्रैल सन् १६५१ से मार्च १६५६ तक की) बनाई जिसमें कृषि-विकास तथा ग्रामोत्थान की योजनाओं को विशेष महत्व दिया गया था।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें ग्रामोत्थान पर और विशेषकर कृषि-उत्पादन में वृद्धि के अनेक प्रयत्न कर रही हैं। जिनका वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है।

कृषि-विभाग के कार्य

कृषि आजकल राज्य सरकारों का विषय है। अतः कृषि-विकास के प्रयत्नों का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर ही है। केन्द्रीय कृषि-विभाग का मुख्य कार्य तो राज्य सरकारों के कृषि-विभागों के कार्यों का निरीक्षण व निर्देशन करना है। राज्यों के कृषि विभागों का मुख्य कार्य निम्नलिखित कार्यों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करना है—

(१) कृषि सम्बन्धी शिक्षा।

(२) कृषि अनुसन्धान तथा वैज्ञानिक सुधार।

(३) कृषि सम्बन्धी सूचनायें।
(४) प्रदर्शन व प्रचार।
(५) फ़सल प्रतियोगिता।

कृषि शिक्षा

कृषि सुधार व कृषकों के जीवन में सुधार करने के लिये शिक्षा का होना अनिवार्य है। इंगलैड के कृषक इतने उद्यमी और कुशल इसीलिए है कि वे शिक्षित हैं और जो कुछ भी अनुसन्धान द्वारा नई खोज होती है वे तुरन्त ही उसका प्रयोग करके लाभ उठाना चाहते है। इसके विपरीत भारतीय किसान घोर निरक्षर है। निर्धनता, निरक्षरता, अन्धविश्वास, धर्मान्धता, रूढ़िवादिता आदि बुरी आदतों ने यहाँ के किसान को अदूरदर्शी, अज्ञानी, काहिल और कमजोर बना दिया है। वह किसी भी नवीनता को अपनाना नहीं चाहता है। अभी तक भारत में कृषि सुधार के जितने भी कार्य हुए उनकी असफलता का मुख्य कारण किसानों का असहयोग ही रहा है। वह वर्तमान व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता है। अतः ग्रामोत्थान व उनके पुन.संगठन के लिये कृषि सम्बन्धी शिक्षा देना बहुत आवश्यक है।

आजकल कृषि सम्बन्धी शिक्षा देने की देश में कुछ कृषि विद्यालयो में, हाईस्कूल, माध्यमिक विद्यालयों में तथा अनुसंधान केन्द्रों में ही व्यवस्था है। बम्बई में कुछ माध्यमिक विद्यालयों को कृषि का प्रत्यक्ष प्रशिक्षण देने के लिये खोला गया है। पंजाब आदि राज्यों में मिडिल स्कूलों व हाईस्कूलों में कृषि पर विशेष विषय के रूप में में शिक्षा दी जाती है। कृषि की उच्च शिक्षा व अनुसन्धान की सुविधायें पूना, कोयम्बतूर, नागपुर, कानपुर, (नैनी) इलाहबाद, लुधियाना के कृषि महाविद्या लयोंतथा भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था नई दिल्ली, पूसा कृषि संस्था, आदि में उपलब्ध है।

परन्तु इस प्रकार की शिक्षा का इच्छित फल नहीं प्राप्त हो सका है। इसी शिक्षा का प्रभाव केवल महाविद्यालयों तक ही सीमित रहता है और कृषकों को इसका कोई लाभ नही होता। इसके मुख्य कारण ये है कि एक तो शिक्षित व्यक्तियों की सख्या बहुत कम है। दूसरे जो शिक्षित व प्रशिक्षित है वे गांवों में जाकर अपनी शिक्षा के आधार पर खेती नहीं करना चाहते जिससे कृषकों का भी भला हो सके। वे शिक्षा समाप्त होते ही कृषि-विभाग में अथवा शहरों में ही नौकरी तलाश करने लगते है और शहरों की अपेक्षा गांवों में रहना पसन्द भी नहीं करते। तीसरे इन महाविद्यालयों में कृषि सुधार के जो साधन बताये जाते है वे इतने मंहगे है कि भारतीय किसान सरलता से उनका लाभ नही उठा सकता। इस विषय में शाही कृषि आयोग का मत था कि ऐसे कृषि महाविद्यालयों को आगे न खोला जाय तथा वर्तमान विद्यालयों को बन्द कर देना चाहिये।

इसका एकमात्र उपाय यही है वि कृषि शिक्षा की प्रणाली व उद्देश्य में तुरन्त ही परिवर्तन कर देना चाहिए। ग्रामीण प्राइमरी स्कूलों में कृषि के विषय को अनिवार्य कर देना चाहिये और कृषि के सिद्धान्तों के साथ-साथ वास्तविक प्रशिक्षण

भी देना चाहिये। कृषि सुधार के साधन जो पढ़ाए जाएँ वे देश की परिस्थितियों के अनुकूल हों। योजना आयोग ने कृषि-शिक्षा प्रणाली को बदलने की आवश्यकता के मर्म को समझते हुये यह सुझाव दिया है कि राज्य सरकारों को प्रारम्भिक क्षेत्र में ही शिक्षा-प्रणाली का पुर्नगठन करना चाहिये। इस विषय में उत्तर प्रदेश सरकार के कार्य उल्लेखनीय हैं जिनको अन्य राज्यों में भी करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार ने अमरीका के Land Grant Colleges के आधार पर एक ग्रामीण विश्वविद्यालय (Rural University) स्थापित करने के लिये एक समिति बनाई है और इस के लिए कुछ अधिकारियों को विदेशों में अध्ययन करने के लिए भेजा है। गत वर्ष सरकार ने एक नई ग्रामीण शिक्षा योजना जिसको Reorientation Education Scheme कहते हैं, चालू की है। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामों में, जूनियर हाई स्कूलों में कृषि और उद्योगों के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाती है और इस प्रकार के स्कूलों को खोलकर व अध्यापकों को नियुक्त कर देश की बेकारी की समस्या को भी हल करने में सहायता दी जाती है। ऐसे स्कूलों में प्रत्येक विद्यार्थी को २ घण्टा प्रति दिन स्कूल के कृषि फार्म पर कार्य करना पड़ता है। इस योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए मुख्य मन्त्री की अध्यक्षता में एक समिति बना दी गई है। इन विद्यालयों का प्रचार करने के लिए हर प्रकार की सहायता दी जाती है तथा योजना अधिकारियों को इन विद्यालयों से निकट सम्पर्क स्थापित करने तथा उनकी हर प्रकार से सहायता करने का आदेश दे दिया गया है। इन विद्यालयों का प्रचार करने व सहयोग प्राप्त करने के लिये जिला योजना समिति में एक शिक्षा उप-समिति बना दी गई है। इस प्रकार लगभग १,००,००० विद्यार्थी ऐसे विद्यालयों में आज अनिवार्य कृषि-शिक्षा पा रहे हैं। सरकार ने भी चालू व स्थायी व्यय के लिए ७१ लाख रुपये का अनुदान दिया है।

जनता कालेज—इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया है कि प्रत्येक राज्य में एक जनता महाविद्यालय (Janta College) की स्थापना करने की स्वीकृति दे दी है जिन्होंने देश की कृषि शिक्षा को एक नया मोड़ बल व प्रेरणा प्रदान की है। एक जनता विद्यालय के पाँच खंड होते हैं जैसे—प्रसार-कृषि व कला—आत्म-सुधार—स्वास्थ्य सुधार—सांस्कृतिक कार्य। प्रसार-शिक्षक ग्राम-सेवकों को शिक्षा देते हैं। विद्यालयों में कुछ कारीगर होते हैं जो विभिन्न स्थानीय लघुस्तरीय व कुटीर उद्योगों को सिखाते हैं। यह विद्यालय शिक्षा प्रसार केन्द्र का कार्य करता है तथा पाँच अन्य जूनियर हाई स्कूल इससे सम्बन्धित होते हैं। एक जूनियर हाई स्कूल १५ प्राइमरी स्कूलों का निरीक्षण व देख-रेख करता है। इस प्रकार एक जनता कालेज जिले के लगभग एक तिहाई भाग में कार्य करता है। कालेज का पूरा कोर्स (पाठ्य-क्रम) ६ माह का होता है जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होता है। हर क्रम में ८० विद्यार्थी होते हैं जिनमें से २० उस क्षेत्र के अध्यापक, २० विद्यार्थी, १८ से ३५ वर्ष तक की आयु के जो मिडिल तक पढ़े हैं

पूरे समय के (whole time) तथा ३० अल्पकालीन विद्यार्थी जो कृषि कार्यों से फुरसत पाने पर शिक्षा लेते हैं, होते है। पहली दो श्रेणी के विद्यार्थियों को कुछ वजीफे भी दिए जाते हैं। इन विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीणों को विकास सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करने का मूलभूत आधार बनाना है। इसीलिये विद्यार्थियों का चुनाव अधिक-से-अधिक गाँवों में से किया जाता है, जिससे इस शिक्षा का अधिक लाभ व प्रचार हो सके। उत्तर प्रदेश में ऐसे तीन विद्यालय—इलाहाबाद, लखनऊ, तथा मुजफ्फर नगर में खोले गये है। भारत सरकार ने तीनों विद्यालयों के स्थायी व चालू व्यय के लिए ६·१७ लाख व ६०,०९० रुपया क्रमशः अनुदान दिया है।

कृषि अनुसन्धान—इस दिशा में भारत सरकार ने प्रथम प्रयास सन् १८८९ में डॉ० वोयलकर के सुझाव के अनुसार एक रसायन-शास्त्री नियुक्त करके किया था, जो सरकार को कृषि सुधार सम्बन्धी सलाह देता था। द्वितीय प्रयास सन् १९०५ में सरकार ने पूसा में शाही कृषि अनुसन्धान केन्द्र स्थापित करके किया था। उसके पश्चात् शाही कृषि आयोग की सिफ़ारिशों के आधार पर वर्तमान भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् स्थापित की गई थी, जिसके निर्देशन व नियंत्रण में सारे कृषि अनुसन्धान कार्य होते है। इस परिषद् का विवरण अन्यत्र दिया गया है।

राज्यों में कृषि अनुसन्धान कार्य सरकार द्वारा संचालित कृषि महाविद्यालयों द्वारा किये जाते हैं। निस्संदेह, इस दिशा में भारत में बहुत प्रगति हुई है।

कृषि सम्बन्धी सूचना

पर्याप्त सूचना-साधनों के अभाव में बहुत सी कृषि सुधार की खोजों के फल किसान तक पहुँच ही नहीं पाते और वे वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में ही सीमित रहते हैं। सूचना एकत्र करके किसान तक पहुँचाना भी एक कला है और इस सम्बन्ध में हमें विदेशों से बहुत कुछ सीखना है। आज केवल योजनाओं व नवीनतम खोजों का प्रचार ही नहीं करना, बल्कि एक साधारण भाषा व विधि से उन्हें किसान तक पहुँचाना है, जिससे वह उन्हें समझ सकें। लखनऊ में कृषि सम्मेलन में भी इस समस्या के निम्नलिखित पहलुओं पर विचार किया गया था—

(१) 'दुहरे मार्ग' बनाना, जिससे अनुसन्धान कार्यों के फल बड़े बड़े सरकारी फार्मों से किसान तक पहुँच सकें तथा किसान की अपनी खेती की कठिनाइयां अनुसन्धान अधिकारियों तक पहुँच सकें, ताकि भविष्य में उन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के उपायों की खोज की जा सके।

(२) एक देश-व्यापी संस्था स्थापित की जानी चाहिये, जो समस्त देश से कृषि सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्र करके विभिन्न सरल भाषाओं में बदलकर किसान तक पहुँचा सके। इस संस्था में किसानों तथा अन्य जनता के प्रतिनिधियों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये, जिससे किसान को इसके कार्यों के प्रति आकर्षित किया जा सके।

(३) इस उक्त संस्था को सूचना एकत्र करने में, अनुसन्धान केन्द्रों, सरकारी विभागों, जनता व व्यापारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना चाहिये।

(४) एकत्रित सूचनाओं को किसान तक पहुँचाने के विभिन्न साधनों का जैसे, फिल्म, बेतार का तार, सिनेमा, ड्रामा, गीत, इश्तहार, पुस्तिका आदि का प्रयोग करना चाहिये।

उक्त बातों पर महत्वपूर्ण निश्चय किये गये थे, और जभी से विभिन्न राज्य सरकारें परिस्थितियों के अनुकूल कृषि संबन्धी सूचनाओं को किसान तक पहुँचाने का प्रयत्न कर रही हैं।

प्रदर्शन (Demonstration)

भारत जैसे देश में जहां के किसान अशिक्षित और रूढ़िवादी हैं, 'प्रदर्शन' प्रणाली द्वारा किसानों को शिक्षित किया जा सकता है। इस प्रणाली के अनुसार किसानो को सरकारी कर्मचारी अपने फार्मों पर खेती करने की विधि और उसके परिणामों को बताते हैं। कृषि में इस प्रकार की शिक्षा दो प्रकार से दी जा सकती है—(१) प्रदर्शन फार्म द्वारा तथा (२) प्रदर्शन खेतों द्वारा। प्रदर्शन फार्म तो अधिकतर सरकारी फार्म जो कृषि महाविद्यालयों से सम्बन्धित है, होते हैं, जिन पर वैज्ञानिक मशीनों तथा बड़ी मात्रा में खेती करने के कामों का प्रदर्शन निकटवर्ती ग्रामों के किसानों को किया जाता है। किन्तु इन फार्मो पर थोड़े ही व्यक्ति जाते हैं जो वहाँ की बड़ी इमारतों, अच्छे व पुष्ट पशुओं, औजार और मशीनें, नियंत्रित खेती, अधिक पूंजी तथा बड़ी मात्रा की खेती को देखकर ही निराश हो जाते हैं, क्योंकि वे इन साधनों को अपने छोटे छोटे खेतों पर जुटाने में असमर्थ होते हैं। अतः वे इन प्रदर्शनों को व्यर्थ समझते हैं। इसके विपरीत किसानों के छोटे खेतों पर ही छोटी मात्रा की खेती करके उत्तम बीज, अच्छे व छोटे औजारों, अच्छे खाद, तथा खेती की विधि में परिवर्तन करके इनसे होने वाले लाभों को प्रदर्शित किया जा सकता है, जिससे छोटे छोटे किसान भी इन साधनों को प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित हो सकें। आजकल प्रदर्शन खेतों द्वारा ही प्रदर्शन करने पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

फसल प्रतियोगिता (Crop Competition)

सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में फसल प्रतियोगिता की गई थी, किन्तु आज यह देश-व्यापी हो गई है। भारत सरकार ने सन् १९४९-५० में फसल प्रतियोगिता योजना किसानों में अधिक उत्पादन करने की प्रतिद्वन्द्विता करने के ध्येय से बनाई थी, जिसके कारण देश के कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। फसल प्रतियोगिता विभिन्न स्तरों में, ग्राम स्तर से अखिल भारतीय स्तर तक की जाती है। सर्वप्रथम गाँव प्रतियोगिता होती है, जिसमें उस गाँव के निवासी भाग लेते हैं। तब पंचायत अदालत स्तर पर प्रतियोगिता होती है, जिसमें ग्राम स्तर के किसान भाग लेते हैं। इसके पश्चात् तहसील या तालुक प्रतियोगिता होती है, जिसमें पूर्व प्रतियोगिताओं के

पुरस्कार-विजेता ही भाग ले पाते हैं। इसी स्तर पर नगर-प्रतियोगिता भी होती है, जिसमें केवल नगर पालिकाओं व नोटीफाइड क्षेत्रों के किसान भाग लेते हैं। इसके पश्चात् अगले वर्ष जिला स्तर पर पुरस्कार विजेताओं में प्रतियोगिता होती है, तथा इसके बाद क्षेत्र स्तर पर (Zonal Level) प्रतियोगिता होती है। इसके लिए राज्य को विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक जिले हैं। क्षेत्र-प्रतियोगिता में जिला के पुरस्कार विजेता ही भाग ले पाते हैं, तथा साथ-ही-साथ वे उसी वर्ष राज्य प्रतियोगिता में भी भाग लेते हैं और अन्त में राज्य प्रतियोगिता के विजेताओं में अखिल भारतवर्षीय प्रतियोगिता होती है, जिसमें कम-से-कम ४ राज्यों का भाग लेना आवश्यक है।

देशव्यापी प्रतियोगिता में सबसे अधिक उत्पादन करने वाले कृषक को प्रथम पुरस्कार जिसमें ५००० रुपये नकद और 'कृषि पंडित' का प्रमाण-पत्र दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार भी प्रत्येक राज्य की सबसे उत्तम तहसील को पुरस्कार देती है, जिससे अधिक-से-अधिक तहसीलें प्रतियोगिता में भाग लेती हैं। अन्य पुरस्कार इस प्रकार वितरित होते हैं—

(१) ५००० रु० प्रति राज्य की दर से सबसे अच्छे गाँव को पुरस्कार दिये जाते हैं, जो कुल १,२०,००० रुपये के होते हैं।

(२) २ पदक 'तहसील' अधिकारियों को (२६) तथा ३ पदक जिला अधिकारियों को (७२) २०० रुपया प्रति पदक की दर से प्रत्येक राज्य को दिया जाता है जो कुल १६६०० रुपये के होते हैं। इस प्रकार कुल १,३६,६०० रुपये के पुरस्कार वितरित किये जाते हैं। तहसील का पुरस्कार अधिकारियों द्वारा सबसे अच्छे गाँव में समाज-कल्याण कार्यों में व्यय किया जाता है।

गाँव सभा, पंचायती अदालत, तहसील तथा नगर-स्तर पर होने वाली प्रतियोगिताओं में प्रवेश-शुल्क की आधी मात्रा का प्रथम पुरस्कार तथा $\frac{1}{3}$ भाग के दो द्वितीय पुरस्कार दिये जाते हैं। जिला प्रतियोगिता में प्रथम, द्वितीय, तृतीय पुरस्कार क्रमशः ३००, २००, १०० रुपयों के दिये जाते हैं। क्षेत्र प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार १००० रु० और द्वितीय ५०० रु० का होता है। राज्य प्रतियोगिता में तीन पुरस्कार, प्रथम ५००० रु०, द्वितीय ३००० रु० तथा तृतीय २००० रु० का होते हैं। पुरस्कार विजेताओं की इच्छानुसार यह पुरस्कार बीज, खाद व औजार के रूप में भी दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त पुरस्कार विजेताओं को निम्नलिखित सुविधाओं में से एक सुविधा भी प्रदान की जाती है—

(१) लोहा, इस्पात, सीमेन्ट तथा कोयला देने में प्राथमिकता।

(२) उत्तम बीजों के मिलने में सुविधा।

(३) योग्य विजेताओं को बन्दूक या पिस्तौल का लाइसेन्स।

(४) सिंचाई के लिए विद्युत।

प्रवेश शुल्क—विभिन्न स्तर की प्रतियोगिताओं में प्रवेश-शुल्क इस प्रकार है—गाँव सभा, ।।); पंचायती अदालत, ।।); तहसील, १); नगर, ५); जिला—

५) पूर्व प्रतियोगिताओं में भाग लेने वालों के लिए तथा १५) सीधे भाग लेने वाले के लिये; क्षेत्र १५) पूर्व प्रतियोगिताओं के लिए तथा ३०) सीधे प्रतियोगियों के लिए; राज्य—२५ पूर्व प्रतियोगियों से व १००) सीधे प्रतियोगियों से। इसके अतिरिक्त शुल्क को देने पर सीधे प्रतियोगियों को अन्य स्तरों पर भी स्वीकार किया जा सकता है। शुल्क का सारा रुपया पुरस्कारों में वितरण कर दिया जाता है।

कृषि सम्बन्धी आँकड़े (Agricultural Statistics)

विकास-सम्बन्धी योजनाओं को बनाने तथा कार्यान्वित करने के लिये सही व विश्वसनीय आँकड़ों का उपलब्ध होना अनिवार्य है। किन्तु इस कार्य के लिये वर्तमान आँकड़े पर्याप्त व विश्वसनीय नहीं हैं। स्वर्गीय रफ़ी अहमद किदवई के शब्दों में "कृषि सम्बन्धी आँकड़े सब ग़लत हैं।"

कृषि आँकड़ों का कार्य खाद्य व कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत (Directorate of Economics and Statistics) के द्वारा किया जाता है तथा अनुसन्धान-सम्बन्धी आँकड़ों का कार्य कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत व Directorate की सहायता से कृषि अनुसन्धान परिषद की (Statistics Branch) द्वारा होता है। आँकड़े सम्बन्धी कार्यों को भली भाँति समझने के लिये दो भागों में विभक्त किया जाता है।

(१) बुनियादी अंक (Basic Statistics) जिसके अन्तर्गत भूमि-व्यवस्था की प्रकार, खेतों का तितर-बितर होना, भूमि का प्रयोग, कृषि जनसंख्या, कृषि औज़ार, मशीन आदि बातों से सम्बन्धित आँकड़े एकत्र करना है।

(२) चालू अंक (Current Agricultural Statistics) के अन्तर्गत फसल की उत्पत्ति, कृषि योग्य भूमि के एकड़, पशुओं व उनकी उत्पत्ति, मूल्य तथा वेतन आदि के आँकड़े एकत्र होते हैं। परन्तु भारत में बुनियादी आँकड़े अपर्याप्त हैं तथा चालू आँकड़े अविश्वसनीय हैं।

बुनियादी अंक राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न रीतियों से एकत्रित किये जाते हैं। इस प्रकार की अन्तिम गणना सन् १९३१ में हुई थी। आज इस प्रकार की गणना की बहुत आवश्यकता है। गत वर्ष भारत में कृषि इकाइयों की गणना आरम्भ हो गई है। जहाँ तक चालू अंकों का सम्बन्ध है, १० वर्ष पूर्व समस्त भारत के अकों को एकत्रित करने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। वार्षिक गणना की रीति भी दोषपूर्ण है व गणना का फल समय पर प्राप्त नहीं हो पाता। फसलों की भविष्यवाणी (Forecasts) भी रेवेन्यू अधिकारियों की न्यूनतम स्तर पर रिपोर्टों के आधार पर कर दी जाती है। हाल ही में पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में फसल गणना (Crop Survey) व भविष्यवाणी (Forecasts) की नवीन रीति अपनाई गई है, जो सही और उचित है। अतः इसी रीति को गणना में सामान्यता लाने के लिये समस्त देश में लागू कर देना चाहिये।

अध्याय १५

कृषि नियोजन व सुधार

(AGRICULTURE, PLANNING & IMPROVEMENTS)

कृषि नियोजन का महत्व—भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यहाँ की अधिकांश जनता अर्थात् २९ करोड़ व्यक्ति ५ लाख गाँवों में रहते हैं, जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में कृषि से सम्बन्धित है। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक रूप से योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि नियोजन पर ही विशेष जोर दिया है। सम्पूर्ण योजना को कार्यान्वित करने के लिए २०६९ करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई थी, जिसमें से ३६०·४३ करोड रुपया कृषि तथा सामुदायिक विकास पर व्यय तथा ५६१·४१ करोड़ रुपया सिंचाई और विद्युत योजनाओं के लिए निर्धारित किया गया था। योजना आयोग ने कृषि के विकास को विशेष महत्व देने के दो कारण बताये थे—(१) जो योजनाएँ कार्यान्वित की गई है उनको पूर्ण करना आवश्यक है, तथा (२) जब तक खाद्यान्न का तथा उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों व खनिज पदार्थों का पर्याप्त उत्पादन नहीं कर लिया जाता, तब तक औद्योगिक विकास की योजनाओं को तीव्रता से कार्यान्वित करना संभव नही है। इसके अतिरिक्त कृषि में सुधार होने से भारत की अधिकांश जनता का रहन-सहन का स्तर निश्चय ही ऊँचा होगा, क्योंकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से कृषकों की आय भी बढ़ेगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के बहुमुखी विकास की योजना की गई थी जिसमें कृषि के अतिरिक्त पशु-सुधार, सहकारी आन्दोलन में सुधार, डेरी फार्मिंग, वन, भूमि-संरक्षण तथा ग्राम पंचायतें आदि के विकास और सुधार की योजनाएँ भी सम्मिलित थीं। इन योजनाओं का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करके देश को स्वावलम्बी बनाया जाय, बल्कि वास्तविक ध्येय यह है कि भारतीय कृषकों के रहन-सहन के स्तर में सुधार हो और व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति में वद्धि हो। कृषि-विकास के लिए निर्धारित कुल व्यय में से १८४ करोड़ रुपया कृषि पर, १०० करोड़ से कुछ अधिक सामुदायिक योजनाओं व ग्राम सुधार में, २२ करोड़ पशु-पालन व डेरी-फार्मिंग में, १५ करोड़ अभावग्रस्त क्षेत्रों के स्थानीय विकास में और १२ करोड़ वन तथा भूमि-संरक्षण पर व्यय करने की योजना थी।

इसी प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी योजना-आयोग ने कृषि-विकास सम्बन्धी योजनाओं पर ६५० करोड़ रुपया व्यय करने का आयोजन किया है जिसमें से ४३ करोड़ रु० केन्द्रीय खाद्य तथा कृषि सचिवालय द्वारा व्यय होंगे, ५५८ करोड़ ऐसी योजनाओं पर व्यय होगा जिन पर केन्द्रीय व राज्य सरकारें सम्मिलित रूप से व्यय करेंगी तथा ४९ करोड़ राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय योजनाओं पर व्यय किया जावेगा। द्वितीय योजना में सन् १९५५-५६ के कृषि उत्पादन से सन् १९६०-६१ तक १ करोड़ टन अधिक खाद्यान्न उत्पादित करने का लक्ष्य है। सन् १९५५-५६ में होने वाले उत्पादन के आधार पर द्वितीय योजना के अन्त तक अर्थात् सन् १९६०-१९६१ तक पटसन के उत्पादन में २५%, गन्ने में २६% तथा कपास में लगभग ३१% वृद्धि करने की अर्थात् पटसन की ४० लाख गाँठों के स्थान पर ५० लाख गांठें, गन्ना ६१ लाख टन से ७७ लाख टन, तथा कपास की ४२ लाख गाँठों से ५५ लाख गाठें उत्पन्न करने की योजना है।

भारतीय कृषि नियोजन की विशेषताएँ

(१) कृषि-सम्बन्धी सभी योजनाओं का संचालन राज्य सरकारों द्वारा संचालित किया जाता है, अर्थात् कृषि की सभी योजनाएँ राज्य सरकार (Public sector) के अन्तर्गत है और निजी व्यापारियों (Private enterprise) का इनमें कोई हाथ नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कृषि सुधार योजनाओं से बहुत दिन बाद लाभ प्राप्त होगा, जबकि निजी व्यापारी अपनी पूँजी से तुरन्त लाभ उठाना चाहता है। अतः वे इन योजनाओं में अपनी पूँजी फंसाना नही चाहते। योजना के अनुसार राज्य सरकारें सिंचाई तथा विद्युत की योजनाओ का संचालन करती हैं तथा केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्यों के इन कार्यो का उचित समन्वय करती है, और उन्हें अन्य सामान्य सहायता देती है।

(२) कृषि-नियोजन में दीर्घकालीन योजनाओं को विशेष महत्व दिया गया है, जिनसे लगभग १५-२० वर्ष पश्चात् लाभ का अनुभव हो सकेगा और जब तक कृषि का पूर्ण विकास हो जायगा। इन योजनाओं के साथ-साथ खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल के उत्पादन को अल्पकाल में ही बढ़ाने की भी व्यवस्था की गई है जिससे भारत खाद्यान्न के विषय में प्रथम योजना काल में ही स्वावलम्बी हो गया है तथा कपास और पटसन के सम्बन्ध में विदेशों पर निर्भरता कम हो गई है।

(५) कृषि नियोजन का ध्येय कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के साथ-साथ ग्रामीण जीवन का बहुमुखी विकास करना भी है।

कृषकों का सहयोग

कृषि विकास सम्बन्धी योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम कृषकों का स्वेच्छा से योजना-कार्यो में सक्रिय सहयोग अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु भारतीय कृषक तो निरक्षरता और धर्मान्धता व अन्धविश्वास के कारण लकीर

के फकीर हैं। वे रूढ़िवादिता को त्यागने के लिए सहज ही तैयार नहीं होते और हर बात में परम्परागत दृष्टिकोण से विचार करते हैं। वे कृषि में नये प्रयोगों को करने में सहयोग नहीं देते। इसलिए अतीत में भारतीय कृषकों की दशा सुधारने के लिए अधिकांशत: प्रयत्न उनकी उदासीनता व असहयोग के कारण असफल रहे। अतः योजना आयोग ने व देश के सभी नेताओं ने पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि-विकास कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए और निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जन-सहयोग की प्राप्ति को विशेष महत्व दिया है, क्योंकि बिना जन-सहयोग के कोई भी समाज-कल्याण की योजना सफल नहीं हो सकी है। भारतीय किसानों को प्रोत्साहित करने के लिए व उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) विभिन्न प्रकार से कृषि की योजनाओं के प्रति किसानों में विश्वास उत्पन्न किया जाय कि इनके सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने से उन्हीं को अधिक लाभ होगा।

(२) दीर्घकालीन योजनाओं में मूल्य के अधिक होने, बेरोज़गारी बढ़ने से, व्यापक आर्थिक कठिनाइयों के कारण किसानों व जन-साधारण का विश्वास घटता जा रहा है, इसलिए यह आवश्यक है कि अल्पकालीन योजनाओं को कार्यान्वित करके शीघ्र ही ऐसे परिणाम निकाले जावें, जिससे किसानों को व्यक्तिगत लाभ हो सके और उन्हें योजना के प्रति विश्वास हो जाय और वे सक्रिय सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित हो सकें।

(३) जन-साधारण में योजना को कार्यान्वित करने के उत्तरदायी अधिकारियों की ईमानदारी व कार्यक्षमता के प्रति विश्वास उत्पन्न किया जाय। क्योंकि यदि ऐसे उत्तरदायी अधिकारी ही भ्रष्टाचार के व अन्य अनुचित कार्य करेंगे तो जनता का सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

(४) गाँव-गाँव में योजना का व उसकी उपयोगिता और उससे होने वाले लाभों का विभिन्न प्रकार से प्रचार व प्रदर्शन किया जाना चाहिए, जिससे जन-साधारण योजना के प्रति आकर्षित हों और स्वेच्छा से कार्य करने को उत्साहित हो सकें।

(५) योजना अधिकारियों को कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने की अपेक्षा रचनात्मक कार्यों में अधिक लगन से कार्य करना चाहिए और साथ ही किसानों से निकटतम सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

योजना की प्रगति

योजना प्रारम्भ होने के पूर्व भारत में खाद्य व अखाद्य फ़सलों का उत्पादन आवश्यकता से कम होता था। सन् १९५० में ३० लाख टन खाद्यान्न की कमी थी। इस अभाव को पूरा करने के लिये योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में सन् १९५५-५६ तक के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये थे :—

वस्तु	लक्ष्य (मात्रा मिलियन में)
खाद्यान्न	७·६ टन
कपास	१·२६ गाँठें
पटसन	२·०९ गाँठें
तिलहन	०·४० टन
गन्ना	०·७० टन

योजना के तीन वर्षों में केवल गन्ना तथा पटसन को छोड़कर खाद्यान्न, कपास और तिलहन के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है तथा योजना के लक्ष्य को या तो पूरा कर लिया है या उसके समीप पहुँच गये हैं। खाद्यान्न का सन् १९५५-५६ तक के निर्धारित लक्ष्य और तीन वर्षों के उत्पादन की तुलना निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट है—

वस्तु का नाम	मिलियन टन	
	उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य	सन् १९५३-५४ में अधिक उत्पादन
चावल	४·००	४·२५
गेहूँ	२·००	०·६५
चना व दाल	१·००	१·३०
अन्य खाद्यान्न	०·६०	१·१७

उत्पादन में वृद्धि के कारण आयात समाप्त हो गये तथा खाद्यान्न के मूल्यों में भी भारी कमी हो गई, जिससे उपभोक्ता तथा आम जनता को बड़ा सुख मिला है और प्रत्येक व्यक्ति चाहे जितनी मात्रा में अन्न खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार की नियन्त्रण की नीति अब समाप्त हो गई है जिसके विषय में यह अनुमान था कि सन् १९५५-५६ तक तो यही नीति बर्तनी पड़ेगी। खाद्यान्न के भावों में कमी निम्न तालिका में दिखाई गई है।

विभिन्न खाद्यान्न के सूचक अंक[1]

वस्तु	२७-७-५४	१८-७-५३	१९-७-५२	२१-७-५१	१-४-५१
चावल	४८१	५३८	५३४	५३५	५५३
गेहूँ	४३४	६०९	५४९	५४०	५९१
ज्वार	२००	२४३	२३०	३२८	३०७
बाजरा	२३७	३२८	२४५	२४५	२४५
चना	२५३	४१३	४४२	३७१	३९१
दाल (अरहर)	३७३	६८६	६४५	८०४	७७४

1. Government of India Progress Report for 1953-54 P. 52.

राज्य सरकारों की कृषि योजनाओं में १२० करोड़ रु० व्यय करने के अतिरिक्त ३० करोड़ रुपया विशेष छोटी सिंचाई योजनाओं पर व्यय करने का अनुमान लगाया गया था। निर्धारित व्यय में से 'अ' भाग के राज्यों ने गत तीन वर्षों के औसतन ४६% तथा 'ब' और 'स' राज्यों ने ४०% का धन व्यय किया है। परन्तु कुछ राज्यों में जैसे हैदराबाद, मध्यभारत, त्रिवांकुर-कोचीन आदि में विकास-कार्यों की गति बड़ी मन्द रही है तथा त्रिवांकुर-कोचीन ने निर्धारित धन का केवल पाँचवां हिस्सा अर्थात २०% दो-तीन वर्षों में व्यय किया है। विभिन्न राज्यों में तीन वर्षों का व्यय इस प्रकार है—

राज्य	निर्धारित धन करोड़ रु०	तीन वर्षों में किया गया व्यय १९५१-५४ करोड रु०
'अ' राज्य	८७·४७	४५·२१
'ब' राज्य	२६·२३	११·२८
'स' राज्य	६·२०	२·४०
कुल योग	११९·९०	५८·८९

कृषि सुधार (Agricultural Improvements)

प्रत्येक दृष्टिकोण से भारतीय कृषि की बहुत ही हीन दशा है, जिसमें तुरन्त सुधार होना अति आवश्यक है। पुराने औजार तथा कृषिपद्धति, एकत्रित व पूजीवादी कृषि का अभाव, खेतों का छोटा व बिखरा होना, अधिक संख्या में कृषि मजदूरों का मिलना, बहुत बड़े कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र पर खेती न होना आदि भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ हैं।

अतः जनसंख्या की वृद्धि तथा कुटीर उद्योगों के पतन के कारण कृषक की प्रतिव्यक्ति आय में भारी कमी होती है। भारत में केवल आधा एकड़ भूमि पर प्रतिव्यक्ति के पीछे, खाद्यान्न उत्पन्न होता है, जबकि चीन में खाद्यान्न केवल चौथाई एकड़ भूमि प्रतिव्यक्ति पर उत्पन्न किया जाता है। फिर भी चीन में भारत से ३०-५०% तक अधिक जनसंख्या का भरण-पोषण होता है। यह सब इसलिए सम्भव है कि वहाँ की पद्धति में आधुनिक सुधार करके उत्पादन-शक्ति को बहुत बढ़ा लिया गया है। अतः भारतीय कृषि में भी सुधार की आवश्यकता है।

भूमि-सुधार का निम्नलिखित एक अथवा दोनों बातों से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(१) कृषि में लागत से अधिक उत्पादन करना अर्थात कृषिपद्धति में सुधार, तथा (२) ऐसे सुधार करना जिससे कृषक की भूमि से होने वाली आय में वृद्धि हो अर्थात् कृषि-संगठन में सुधार करना, जिससे कृषि-आय का सही वितरण हो सके। प्रथम सुधार का सम्बन्ध कृषि उत्पादन से तथा द्वितीय का कृषि वितरण से है।

कृषि-पद्धति में सुधार करने के लिए तीन मुख्य बातों की आवश्यकता है जैसे—(१) कुशल तथा औद्योगिक श्रम, (२) औजार, बीज, खाद, पशु आदि में सुधार, (३) भूमि की दशा में सुधार। अतः कृषि में सुधार करने के लिये उत्पादन के तीन बड़े साधनों में अर्थात भूमि, श्रम तथा पूंजी में सुधार करना है। इस सम्बन्ध में भारत में गत वर्षों में काफी प्रयत्न किये गए हैं और विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त सुधार भी हुआ है।

कृषि मजदूर (Agricultural Labour)

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या में से लगभग ४॥ करोड़ व्यक्ति खेत के मजदूर तथा उन पर आश्रित हैं। इन मजदूरों में से ८९% आवश्यकता के अनुसार खेतों पर काम करते हैं और केवल ११% मजदूर ही ऐसे हैं जो निश्चित मजदूरी पर कृषक के साथ कार्य करते हैं। अधिकांश मजदूर परिगणित जातियों के होते हैं, और उन्हें बहुत-सी सामाजिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कृषि मजदूरों के विषय में विश्वास योग्य आंकड़े तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु जो कुछ भी है, उनसे यही सिद्ध होता है कि इन मजदूरों की देश में अत्यन्त दयनीय दशा है। मजदूरों को कुछ राज्यों को छोड़कर मजदूरी जिन्स में तथा इसके साथ विभिन्न स्थानों पर विभिन्न सुविधाओं में दी जाती है, जो परम्परा से निश्चित होती है। द्वितीय महायुद्ध के समय मजदूरी बढ़ जाने पर भी खेतिहर मजदूरों को मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण अधिक हानि उठानी पड़ी थी। कुछ भागों में मजदूरी नकद भी दी जाती है। सन् १९४९-५० में विभिन्न राज्यों में मजदूरी इस प्रकार थी—आसाम में पुरुष, स्त्री, बच्चों को क्रमशः २), १।।), १।); बिहार में १)।।।, ।।।)।।, ।।।)।।; बम्बई में ।।।=)।, ।।=)।, ।≡)।।।; मध्यप्रदेश में ।=), ।≡)।।, ।≡)।; मद्रास में ।।।−)।।।, ।।), ।≡)।।; पंजाब में २।।−)।।, २=)।।; उत्तर प्रदेश में १=)।।।)।।।, ।।=)। मिलती थी। पंजाब का उदाहरण देते हुये मि० कालवर्ट ने कहा था कि वहाँ एक औसत मजदूर वर्ष में २५० दिन से अधिक कार्य नहीं करता और बाकी समय में वह कर्जा लेकर अपना समय काटता है। इस विषय में केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४९ में एक कानून बनाया था, जिसके अनुसार कानून पास होने के ३ वर्ष पश्चात तक, किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ा दी गई थी और ३१ दिसम्बर सन् १९५३ तक प्रत्येक राज्य सरकार को अपने राज्य में कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर देनी थी। इसके लिए सन् १९४९ में २००० गाँवों में कृषि मजदूरों की स्थिति

का अध्ययन करने के लिए एक कृषि-सुधार समिति स्थापित की गई, जिसने कि पारिश्रमिक बोर्ड, जिनमें स्वामी और मजदूर दोनों का प्रतिनिधित्व होगा, बनाने का सुझाव दिया है। उक्त कानून के अनुसार विभिन्न राज्यों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है।

भारतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि में विभिन्न प्रकार से सुधार के प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिनसे निस्संदेह कृषि मजदूरों को अधिक कार्य मिल सकेगा। केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विशेष रूप से भूमि-हीन कृषि मजदूरों के पुनर्वास के लिए दो करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की थी, जिससे उनकी स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी भारत के समस्त कृषि मजदूरों को पुनर्वासित करने की व्यवस्था की गई है, और यह विश्वास किया जाता है कि सन् १९६०-६१ तक समस्त भूमि-हीन कृषि मजदूर बारोजगार हो जायेंगे और उनकी दशा में काफी सुधार हो जाएँगे।

उत्तम बीज

अच्छे बीज का अर्थ उसकी पुष्टता व शुद्धता से है। इन दोनों गुणों की भारतीय बीज में बहुत कमी है और इसका प्रत्यक्ष परिणाम कृषि-उत्पादन व कृषि-पदार्थों के विपणन पर पड़ता है। उत्तम बीज के अभाव में फसल कमजोर और रोग-ग्रस्त होती है तथा अनेक प्रकार के कीटाणुओं का सरलता से शिकार बन जाती है। अतः प्रति एकड़ उत्पादन बहुत कम होता है। अकाल जाँच आयोग के अनुसार उत्तम प्रकार के बीजों द्वारा कृषि उत्पादन में ५ से १०% तक वृद्धि की जा सकती है।

भारतवर्ष में कुछ वर्षों से बीज की समस्या को हल करने के प्रयत्न किये गए हैं। शाही कृषि आयोग के सुझावों के अनुसार अनेक क्षेत्रों में उत्तम बीजों का प्रयोग बढ़ गया है। इस दिशा में राज्य सरकारों तथा राज्य कृषि अनुसन्धान परिषद ने अच्छा योग दिया है। परिषद ने समस्त भारत में बीजों का अनुसन्धान कार्य फैलाया है। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत भी बीज-सुधार कार्य में काफी उन्नति हुई है।

इसके अतिरिक्त पंचवर्षीय योजना में भी राज्य सरकारों ने अपनी-अपनी योजनाओं के अन्तर्गत लगभग ६ करोड़ रु० के मूल्य के विभिन्न प्रकार के उत्तम बीजों का वितरण करने की व्यवस्था की थी, जिसमें से सन् १९५१ से १९५४ तक २·५८ करोड़ रु० के बीज वितरित हो चुके हैं। केन्द्रीय सरकार ने भी 'अधिक अन्न उपजाओ कोष' में से १·५ करोड़ रुपये के बीज वितरित करने की स्वीकृति दी थी, जिसमें निम्नलिखित मात्रा में उत्तम बीजों का विभिन्न राज्यों में वितरण किया गया है[1]—

1. Government of India, Progress Report for 1953-54 P. 72.

राज्य	१९५१–५२ (टन)	५२–५३ (टन)	५३–५४ (९ माह मार्च सन् १९५४ तक) (टन)
आसाम	९६६	११७५	उ० न०
बिहार	३६२	८४	उ० न०
बम्बई	३५४६	३५१५	३३२०
मध्य प्रदेश	४६५७	५३८६	५२८५
मद्रास	१७३३६	१११८३	१६२१
उड़ीसा	१५३४	१३७७	७४९
पंजाब	२४३६१	१२१४१	उ० न०
पश्चिमी बंगाल	११४७	७८४	४६७
हैदराबाद	५५०४	८५२७	६१५५
मध्य भारत	१०७२	१०५२	१०४८
मैसूर	२१८०	उ० न०	३६३
राजस्थान	८५	४८०	१२२५
सौराष्ट्र	२२	उ० न०	उ० न०
पेप्सू	उ० न०	६४५	१४८६
उत्तर प्रदेश	२०३४६	२०८४७	२५७३१

उ० न०—उपलब्ध नही है।

किन्तु राज्यो में बीजों के वितरण करने का संगठन संतोषप्रद नही है, फलतः किसानों को उपयुक्त मात्रा में व उत्तम किस्म का बीज नहीं मिल पाता था। किन्तु अब सामुदायिक व राष्ट्र-प्रसार योजनाओं के अन्तर्गत बीज का वितरण अच्छे ढंग से किया जा रहा है और दिसम्बर सन् १९५४ तक ४३२०० टन बीज विभिन्न क्षेत्रों में वितरित किये जा चुके हैं।

खाद

भूमि की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाने व बजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के उत्तम खादों की बड़ी भारी आवश्यकता है। भारतीय परिस्थितियों के अनुसार मुख्य खादें गोबर की खाद, हरी खाद, खली की खाद, कम्पोस्ट, कृत्रिम खाद, विष्ठा खाद तथा अन्य खादें जैसे मछलियों, हड्डियों आदि की हैं। गत वर्षो में इस ओर भी काफी सुधार किये गये हैं।

गोबर की खाद—गाय-भैंस के मल-मूत्र आदि से खाद बनती है, जिसमें उर्वरा-शक्ति के प्रायः सभी पोषक तत्व होते हैं और कृषक की वर्तमान आर्थिक स्थिति में सबसे उपयोगी सिद्ध होती है। किन्तु फिर भी इसका उचित उपयोग नहीं हो पाता और लगभग ४०% भाग ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है व २०% भाग व्यर्थ बरबाद हो जाता है और केवल ४०% खाद के रूप में काम में आता है। अतः गोबर का ईंधन के रूप में प्रयोग शीघ्र-से-शीघ्र बन्द करना चाहिए।

कम्पोस्ट खाद—कम्पोस्ट शहरों और ग्रामों के कूडा-करकट और पेड़-पत्तियों से तैयार किया जाता है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक और राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओ द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे कम्पोस्ट खाद बनाने की व्यवस्था की गई है, और इन योजनाओ के अन्तर्गत ३१ दिसम्बर, सन् १९५४ तक ग्रामों में लगभग ६०१७२३ कम्पोस्ट खाद के गड्ढे खोदे जा चुके है तथा और अधिक-से-अधिक खोदे जा रहे है। इन गड्ढो मे कूडा,करकट, मैला, घास, पत्ती आदि भर दिये जाते है जो वर्षा या सिचाई के पानी के योग से सड़कर खाद बन जाती है। ऐसा अनुमान है कि ग्रामीण जनता के मल-मूत्र व अन्य कूडा-करकट से लगभग ५ करोड टन खाद प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकती है।

इसके अतिरिक्त नगरो मे इस खाद के बनाने मे काफी प्रगति की जा चुकी है। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अर्न्तगत नगर पालिकाओं को यह खाद बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। गत ३ वर्षो में अर्थात् सन् १९५१-५४ तक ६० लाख रुपयो का अनुदान इसी कार्य के लिए दिया जा चुका है। भारत में ३००० नगर पालिकाओ व नोटीफाईड क्षेत्र समितियो मे से १७२९ कम्पोस्ट खाद बनाने का कार्य कर रही है। गत तीन वर्षों की इनकी प्रगति इस प्रकार रही है—

वर्ष	देश मे कम्पोस्ट खाद बनाने वाले नगर केन्द्रों की संख्या	खाद का उत्पादन (लाख टन)
१९५०-५१	१०४८	१४·०३
१९५१-५२	१६९३	१६·९४
१९५२-५३	१७००	१७·९९
१९५३-५४	१७२९	१८ ५०

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार सीवर तथा गंदे नालो के पानी को खाद बनाने के लिए प्रयोग करने के लिए आर्थिक सहायता देती है, और सन् १९५४ के अन्त तक ऐसी १४ योजनाओ को कार्यान्वित करने की स्वीकृति दी जा चुकी है।

विष्टा खाद (Blood Meal)—भारतीय कृषक अभी तक अन्धविश्वास और धर्मान्धता के कारण विष्टा के खाद को प्रयोग करने में हिचकते रहे है, किन्तु इधर कुछ वर्षो मे इस खाद का प्रयोग भी होने लगा है क्योकि इससे भूमि की उर्वरा-शक्ति में वृद्धि होती है। कसाईखानों की विष्टा को नगर के बाहर गड्ढो में एकत्र करके इस खाद को बनाया जाता है। यह कार्य नगरपालिकाएँ सरलता से कर सकती है। कुछ राज्यों में तो नगरपालिकाओ को कानूनन यह खाद बनाना पडता है। योजना आयोग ने भी इस खाद को बनाने पर अधिक जोर दिया है। उत्तर प्रदेश, मद्रास, पश्चिमी बंगाल तथा हैदराबाद में इस दिशा में काफी प्रगति हुई है। उत्तर प्रदेश की चार नगरपालिकाओं—कानपुर, हापुड, गोरखपुर तथा लखनऊ—द्वारा लगभग ४६० टन विष्टा खाद उत्पन्न की जाती है। यह समस्त खाद राज्य कृषि विभाग

द्वारा उचित मूल्य पर खरीद ली जाती है। बम्बई में पूना नगर, पूना छावनी और बम्बई नगर द्वारा लगभग ३०० टन विष्टा खाद प्रतिवर्ष बनाई जाती है।

रासायनिक खाद—प्राकृतिक खाद की कमी के कारण रासायनिक खाद की माँग दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इनमें विशेषकर एमोनियम सल्फेट व नाइट्रेट से बनी खाद प्रमुख हैं, जिनमें लगभग २०-२१% नाइट्रोजन होती है। ३ वर्ष पूर्व तक इन खादों का प्रयोग भारत में अधिक नहीं किया जाता था, किन्तु इधर निम्नलिखित बातों के कारण इन खादों का उपयोग अधिक प्रचलित हो गया है—

(१) एमोनियम सल्फेट का मूल्य ३३० रु० टन से घटाकर २९० रु० टन कर दिया गया है।

(२) रेल्वे भाड़े में सामान्यता हो जाने के कारण देश के किसी भी भाग में एमोनियम ३१५ रु० टन प्राप्त हो सकता है।

(३) अभी तक कुछ राज्यों में इस खाद का वितरण सन्तोषजनक नहीं था और व्यय भी अधिक होता था, किन्तु अब इस खाद को किसान के घर पर ३४५ रु० टन देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(४) यदि किसान खाद के मूल्य को नकद चुकाने की स्थिति में नहीं होता, तो उसे फसल की बिक्री तक उधार दे दिया जाता है और इस सुविधा के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५२-५३ के बजट में २ करोड़ रु०, सन् १९५३-५४ में ८ करोड़ व १९५४-५५ में १० करोड़ रु० की व्यवस्था की थी।

(५) कृषि विभाग के अधिकारियों द्वारा तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा क्षेत्रों में खाद का बहुत प्रचार तथा प्रदर्शन किया गया है।

भारत में एमोनियम सल्फेट का प्रयोग काफी बढ़ रहा है। सन् १९५० में २ लाख ७५ हजार टन, सन् १९५३ में ४ लाख २० हजार टन तथा सन् १९५४ में इसकी खपत और भी अधिक हुई थी। अभी तक स्थानीय उत्पादन कम होने के कारण यह खाद विदेशों से ही मंगाया जाता था। लेकिन आज सिंधरी के कारखाने में ९६० टन खाद प्रतिदिन उत्पन्न किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त त्रिवांकुर राज्य में भी इसका उत्पादन हो रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सन् १९५५-५६ तक ६ लाख १० हजार टन खाद प्रतिवर्ष उत्पन्न करने का लक्ष्य है। हाल ही में देश के खाद उत्पादन को बढ़ाने के लिए सिंधरी के खाद के कारखाने में १० करोड़ रु० से भी अधिक व्यय करके एक अतिरिक्त संयन्त्र लगाया जावेगा, जो कोक भट्टी की चिमनी से निकलती हुई १ करोड़ घनफुट गैस को ४०० टन एमोनियम नाइट्रेट व सल्फेट में तथा ७० टन यूरा में, जो दोनों ही बड़े शक्तिशाली नाइट्रोजन खाद हैं—परिवर्तित कर देगा। इस प्रकार निकट भविष्य में सिंधरी कारखाने के उत्पादन में काफी वृद्धि हो जावेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देश में २-३ अन्य रासायनिक खाद के कारखाने स्थापित किये जायँगे, जिनके उत्पादन की क्षमता १ लाख टन से बढ़कर १ लाख ७० हजार टन हो जायगी। इन नये कारखानों में से एक तो भाखरा नंगल में

स्थापित होगा, जहाँ विद्युत की सहायता से पानी और हवा द्वारा अमोनियम नाइट्रेट बनाया जायगा, जिसमें नाइट्रोजन का २६% भाग होगा। इसके अतिरिक्त सिंधरी कारखाने की भाँति ही एक अन्य कारखाना, जिसमें अनुमानतः ३० करोड़ रुपया लगेगा, आगरा—हाथरस सड़क पर उत्तरप्रदेशीय व केन्द्रीय सरकारों के सहयोग से स्थापित करने की योजना है। इन दोनों नये कारखानों में लगभग ६४ करोड़ रुपया व्यय होगा तथा लगभग ४०००० व्यक्तियों को रोज़गार मिल सकेगा।

हरी खाद—जिन खेतों में खाद देना कठिन होता है या पर्याप्त मात्रा में खाद उपलब्ध नहीं होती उनमें सन, सनी, नील, मटर आदि कोई-एक फसल बोकर, जब वह काफी बढ़ जाती है उसे हल से जोतकर खेतों में मिला दिया जाता है। यही हरी खाद कहलाती है। इसका प्रयोग विशेष रूप से मद्रास राज्य में हुआ है, किन्तु अन्य स्थानों में सफलता नहीं मिली। इस खाद का प्रयोग उन्हीं स्थानों पर सफल हो सकता है जहाँ पानी की पर्याप्त पूर्ति हो, भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो, हरी खाद की फसल सस्ती हो तथा फसलों को अदल-बदलकर बोने की प्रथा हो। किन्तु भारतीय छोटे और निर्धन किसानों के लिये यह खाद अधिक उपयुक्त नहीं है।

खली की खाद—नाइट्रोजन प्राप्त करने का खली एक महत्वपूर्ण साधन है। किन्तु तिलहन का अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। यदि देश में ही तेल के उत्पादन में वृद्धि हो जावे, तो पशुओं तथा खाद के लिये पर्याप्त मात्रा में खली प्राप्त हो सकती है। आजकल इसका प्रयोग अधिकतर पशु-भोजन के रूप में ही होता है और २० लाख टन खली में से केवल ९ लाख टन खाद के रूप में प्रयोग की जाती है।

उपरोक्त खादों के अतिरिक्त भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने के लिये मछलियों की खाद, हड्डियों की खाद, समुद्री किनारों पर प्रचुर मात्रा में प्राप्त जल-वनस्पति की खाद आदि भी प्रयोग में लाई जाती हैं, जिनका प्रयोग भारत के विभिन्न स्थानों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है।

फसल की कृषि-नाशक कीड़ों और संक्रामक रोगों से रक्षा

अनुमानतः कृषि-नाशक कीड़ों, जंगली पशुओं एवं संक्रामक रोगों द्वारा भारतीय कृषि उत्पादन को १० से २०% तक क्षति हो जाती है। किन्तु यह समस्या गन्ने की फसल के विषय में बहुत गम्भीर है, जिसमें २० से ४०% तक प्रतिवर्ष क्षति हो जाती है। उत्तर प्रदेश में केवल कीड़ों और जंगली पशुओं के कारण ही ५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष की हानि होती है। किन्तु अधिकांश किसान विभिन्न कारणोंवश इस क्षति को रोकने में असमर्थ रहते हैं। इस दिशा में केन्द्रीय खाद्य व कृषि सचिवालय तथा डाइरेक्ट्रेट आफ प्लान्ट प्रोडक्सन द्वारा उल्लेखनीय कार्य किया जा रहा है, किन्तु इन कार्यों को और अधिक विस्तृत रूप में करने की आवश्यकता है।

इस समस्या को हल करने के उपायों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) रोग के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने से रोकने के उपाय, (२) किसी विशेष स्थान पर रोग को रोकने के उपाय, (३) फसलों की कीड़ों से रक्षा करने के उपाय, (४) फसलों की जंगली पशुओं से रक्षा करने के उपाय।

(१) प्रथम उपाय के लिये विदेशों से रोगयुक्त पौधों के आयात को बन्द करना चाहिए। Insect and Pests Act के अनुसार बिना उपयुक्त प्रमाण-पत्र के कोई पौधा विदेश से आयात नहीं किया जा सकता। विदेशों से आने वाले रोगयुक्त पौधों की जाँच के लिए बम्बई और मद्रास में जाँच केन्द्र (Quarantine Stations) हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ऐसे दो केन्द्र कलकत्ता और कोचीन में स्थापित करने की व्यवस्था की गई, और यह केन्द्र सन् १९५४-५५ में बनकर तैयार हो गये थे। अगस्त सन् १९५४ में एक केन्द्र अमृतसर के हवाई अड्डे पर भी खोला गया है। इसके अतिरिक्त बम्बई, दिल्ली और मद्रास के हवाई अड्डों पर भी आयात किये गये पौधों की जाँच व नीरोग करने का प्रबन्ध कर दिया गया है।

(२) दूसरे प्रकार के उपायों में रासायनिक पदार्थों द्वारा कीड़ों को मार कर रोग फैलने से रोकने के उपाय हैं। इसमें भूमि की दशा को बदल कर, पौधों पर सूखा चूर्ण आदि दवा छिड़क कर अथवा अन्य किसी तरह से कीड़ों को मार कर रोग फैलने से रोका जाता है।

(३) टिड्डी दल (Locusts) से भी प्रतिवर्ष कृषि को भारी क्षति होती है। गत ३ वर्षों में अधिकतर टिड्डी दल के आक्रमण पश्चिम की ओर से हुए हैं, जिनसे राजस्थान, पेप्सू, पंजाब, सौराष्ट्र, कच्छ और बम्बई आदि राज्यों का ८०८०० वर्ग-मील क्षेत्र इनसे प्रभावित हुआ है। टिड्डियों की बहुत बडी संख्या इन्हीं राज्यों में पैदा होती है, इसलिए इन क्षेत्रों में इनकी बढ़वार को रोकने के सक्रिय प्रयत्न किये गये हैं, जिनकी सफलता इसी बात से सिद्ध होती है कि सन् १९५२ से भारत में बड़ी संख्या में टिड्डी उत्पन्न नहीं हुई है और अधिकतर दल पश्चिमी पाकिस्तान में होते हुए अरब की ओर से आये थे।

टिड्डीदल के आक्रमण से पहले ही कृषि-विभाग के अधिकारियों द्वारा उचित चेतावनी दे दी जाती है और टिड्डियों को मारने का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाता है। हाल ही में टिड्डीदल पर नियन्त्रण करने की विधियों में काफी सुधार किये गए हैं। टिड्डियों को बड़ी-बड़ी खाइयों में डालकर गाड़ देने के स्थान पर जहरीली धूल उड़ाकर तथा जहरीले पदार्थ छिड़क कर उनको मारा जाता है। हाथ की मशीनों के स्थान पर शक्ति द्वारा संचालित मशीनें, जो ट्रक और जीप कारों में लगी रहती है, चालू की गई हैं। इसके अतिरिक्त सन् १९५१ से हवाई जहाज द्वारा भी टिड्डी मारने के प्रयत्न किये गए हैं।

(४) जंगली पशुओं से फसलों की रक्षा करने के लिये बन्दूक क्लब (Gun Clubs) स्थापित करने चाहिएँ और उनके सदस्यों को हथियारों के सरलता से लाइसेंस देने चाहिये। इसके अलावा गोदामों में ही खाद्यान्न का ५% भाग घुन लग जाने

से नष्ट हो जाता है। इसको बचाने के लिए गोदामों के फर्श सीमेंट के बनाये जा रहे हैं और रोशनदानों की व्यवस्था अच्छी की जा रही है। समय-समय पर डी० डी० टी० या गैमेक्सीन आदि रासायनिक द्रव्यों को भी छिड़का जाता है।

कृषि-औजार (Agricultural Implements)

भारतीय कृषि की पतित अवस्था के अनेक कारणों में पुरानी पद्धति के औजारों का प्रयोग करना भी मुख्य है। भारतीय कृषक अपने छोटे खेतों पर हल्के, वहनीय और सस्ते औजारों को जो सरलता से स्थानीय सामान से ही बिना विशेष कार्य कुशलता से बनाये जा सकते हैं, प्रयोग करता है। यह औजार स्थानीय स्थिति और पशुओं की शक्ति के अनुकूल होते हैं। इन औजारों से भूमि पर उगने वाली अनावश्यक वनस्पति पूर्णतः नष्ट नहीं की जा सकती और न हरी खाद का उचित उपयोग ही किया जा सकता है। अतः इन औजारों में सुधार और परिवर्तन की अति आवश्यकता है।[1]

कृषि विभाग ने अनेक प्रकार के उन्नतशील वैज्ञानिक औजारों को कृषि कार्य में प्रयोग में लाने के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं। इन औजारों में लोहे के हल, गन्ने का रस निकालने वाले लोहे के कोल्हू, लोहे की रहट, भूसा काटने की मशीन, फसल बोने और काटने के यन्त्र, रबर के टायर की बैलगाड़ियाँ, होज (Hoes) और बेरों (Barrows) इत्यादि मुख्य हैं। फिर भी इनमें अभी अधिक सुधार होना आवश्यक हैं। आजकल भारतीय ग्रामों में कुओं से पानी निकालना, अनाज पीसना, गन्ना और तिलहन पेरना आदि कार्यों में मशीन का प्रयोग होने लगा है। तेल के इंजन और बिजली के मोटरों का प्रयोग भी अधिकाधिक हो रहा है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात भारतीय कृषकों ने बड़ी मात्रा में शक्ति के द्वारा संचालित मशीनों का प्रयोग करना शुरू कर दिया था। उनके इस ओर झुकाव के मुख्य कारण यह थे—(१) श्रमिकों के पारिश्रमिक में वृद्धि, (२) श्रमिकों की कमी। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के पश्चात भूमि व्यवस्था में सुधारों के कारण भूस्वामियों ने स्वयं ही बड़े-बड़े खेतों पर खेती करना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार कृषि के बड़े-बड़े यन्त्रों की जैसे ट्रैक्टर, हारवेस्टर्स आदि की मांग बढ़ने लगी जो निम्नलिखित आयात के आँकड़ों से स्पष्ट है—

---

१. देशी औजारों के विषय में Mr. Darling के निम्न शब्द ध्यान देने योग्य हैं—
The Plough that looks like a half open pen-knife and just scratches the soil; the hand sickle made more for a child than a man; the old fashioned winnowing tray that woos the wind to sift the grain from the Chaff; and the rude chopper with its waste fodder, are undisplaced from their primitive but immemorial functions"

वर्ष	आयात किये गए ट्रैक्टरों की संख्या
१९४९-५०	३,३१८
१९५०-५१	४,९३०
१९५१-५२	७,१४८
१९५२-५३	१,२२७
१९५३-५४	३,१९५

इसके अतिरिक्त गहरी जमी हुई घास को उखाड़ने, भूमि को कृषि योग्य बनाने तथा नई भूमि को तोड़ने के कार्यों में केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन ट्रैक्टरों का प्रयोग कर रहा है जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है। भारत सरकार को अमरीका से ३७५ ट्रैकटरों को खरीदने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने १०० लाख डालर्स का ऋण दिया था।

सन् १९५१ में भारतीय कृषि कार्यों में ८२६० ट्रैक्टरों का प्रयोग किया गया था। योजना के प्रथम तीन वर्षों में ११७५० आयात किये ट्रैक्टरों में से भी कुछ अवश्य कृषि कार्य में प्रयोग किये गए होंगे। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सन् १९५१-५२ तक ट्रैक्टरों के बढ़ते हुये आयात में गत दो वर्षों में काफी कमी हुई है।

यह कमी सम्भवतः इसलिए हुई है कि बड़े-बड़े कृषक अब 'सीलिंग' निश्चित होने के भय से अपना रुपया ट्रैक्टरों में नहीं लगाना चाहते। किन्तु निस्संदेह ट्रैक्टरों को सहकारी समितियों द्वारा खरीदा और प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु ऐसी समितियों की अभी देश में स्थापना होने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त सामुदायिक व राष्ट्र प्रसार सेवा क्षेत्रों में ३१ दिसम्बर, सन् १९५४ तक १०१०७० अच्छे कृषि के औजारों का सहकार द्वारा किसानों में वितरण किया जा चुका है तथा ४३३११७ प्रदर्शन किये जा चुके हैं।

कृषि का यन्त्रीकरण

भारतीय कृषि का यन्त्रीकरण करने का विषय बड़ा विवादपूर्ण है तथा विद्वानों के इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। लगभग १९२८ के बाद से ही अनेकों जाँच समितियों ने तथा कृषि विशेषज्ञों ने भारत की प्राचीन कृषि-पद्धति और औज़ारों की कटु आलोचना करते हुए कृषि के यन्त्रीकरण की जोरदार सिफारिशें की हैं परन्तु हाल ही में उत्तर-प्रदेश के कृषि-मन्त्री श्री चरणसिंह जो कृषि-सम्बन्धी विषयों में विशेष ज्ञान रखते हैं, के द्वारा प्रकट किये गये विचारों के अनुसार कृषि का यन्त्रीकरण तथा बड़े-बड़े फार्मों पर खेती करना भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। कृषि का यन्त्रीकरण अमेरिका में सम्भव है क्योंकि वहाँ की जनसंख्या का बहुत थोड़ा भाग कृषि पर निर्भर है तथा जनसंख्या के फैले हुए होने के कारण उसका कृषि पर भार भी कम है। इस प्रकार नियन्त्रीकरण के लिए ऐसे देशों में बड़े-बड़े फार्म प्राप्त हैं। उदाहरणतया रूस में कृषि का राष्ट्रीयकरण हो गया है तथा व्यक्तिगत

रूप से बड़े-बड़े फार्म पर खेती करना निषेध है। किन्तु भारत में न तो रूस की तरह कृषि का राष्ट्रीयकरण हो सकता है और न अमेरिका जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। भारतीय बैल सदा कृषि के स्तम्भ रहेंगे। यदि कुछ विशेषज्ञों के अनुसार बैलों के स्थान पर ट्रेक्टर्स से कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय तो न केवल लाखों ग्रामीण बेकार हो जावेंगे वरन् भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र की ही दशा बड़ी शोचनीय हो जायगी।

भारतीय कृषि की असली समस्याएँ तो सिंचाई तथा खाद की सुविधा का होना है। यदि ये दोनों सुविधाएँ ग्रामों में प्राप्त हो जायें तो उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाय तथा अधिक खाद्यान्न होने से मनुष्यों का रहन-सहन का स्तर स्वतः ही ऊँचा हो जायगा। भारत में अनेकों राज्यों ने भूमि की इकाई की मात्रा निश्चित करके बड़े-बड़े फार्मों के विचार को ही त्याग दिया है। यदि यही क्रिया अन्य राज्यों में भी की जाए तो न केवल लाखों भूमिहीन भूस्वामी बन जायँगे वरन् गहरी खेती भी होने लगेगी और इस प्रकार उत्पादन बढ़ेगा। हाल ही की कुछ फसल प्रतियोगिताओं से यह अनुभव हुआ है कि सिंचाई और खाद्य की सुविधा प्राप्त होने से उत्पादन दुगुना किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में गेहूँ और धान का उत्पादन ९ मन प्रति एकड़ है। जबकि फसल प्रतियोगिताओं में पुरस्कार विजेताओं ने ५० मन प्रति एकड़ तक उत्पादन किया है। अतः भारत में कृषि के नियन्त्रीकरण करने के स्थान पर ग्रामीणों और कृषि-विभाग के अफसरों के बीच सद्भावना और सहकारिता भावों को प्रचलित करना व बढ़ाना है क्योंकि उन्हीं के अभाव के कारण कृषि अनुसन्धान के अच्छे-अच्छे फल तथा भूमि-सुधार की रीतियाँ कृषकों तक नहीं पहुँच पातीं।

ऊसर भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाना (Land Reclamation)

योजना आयोग ने ७४ लाख एकड़ भूमि में सुधार व पुनः कृषि योग्य बनाने के हेतु पंचवर्षीय योजना में कुल ३५ करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय किया था। जिसमें से १०·२२ करोड़ रुपये केन्द्रीय ट्रेक्टर संघ (Central Tractor Organisation) को दिया जिसकी १४ लाख एकड़ भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाने की योजना थी, जिसमें से गत ३ वर्षों में इस संघ द्वारा ८·०६ लाख एकड़ भूमि निम्नलिखित राज्यों में कृषि योग्य बनाई जा चुकी है—[1]

(लाख एकड़)

राज्य	१९५१-५२	५२-५३	५३-५४
१. कांस आदि उखाड़ना			
उत्तर प्रदेश	०·३९	०·३४	०·५६
मध्य प्रदेश	०·७२	०·६३	१·१०
मध्य भारत	०·४५	०·९१	०·७५
भोपाल	०·७९	०·६१	०·३५
योग	२·३५	२·४९	२·७६

1. Govt. of India —Progress Report for 1953-54 —P. 66.

राज्य	१९५१-५२	५२-५३	५३-५४
२. जंगल साफ करना			
उत्तर प्रदेश	०·२०	०·१७	०·०५
भोपाल	—	—	०·०४
योग	०·२०	०·१७	०·०९
३. कुल कृषि योग्य बनाई गई भूमि	२·५५	२.६६	२.२५

मार्च सन् १९५४ के अन्त तक के० ट्रै० सं० ने ६·३ करोड़ रु० इन कार्यों में व्यय किया था जिसमें से १·७ करोड़ रु० सन् १९५१-५२ में, २·५ करोड़ रु० ५२-५३ में और २·१ करोड़ रु० ५३-५४ में व्यय किया है। संघ ने प्रथम दो वर्षों में तो राज्य सरकारों से ५२ रु० प्रति एकड़ वसूल किया था परन्तु ५३-५४ में यह दर बढ़ा दी और २०० एकड़ या अधिक भूमि के लिए ५५ रु० प्रति एकड़ तथा १०० से २०० एकड़ तक के चक के ६५ रु० लिये। सन् १९५४-५५ यह दर घटाकर ४५ रु० प्रति एकड़ कर दी। सन् १९५३-५४ में के० ट्रै० सं० के २७९ ट्रैक्टर निम्नलिखित राज्यों में काम में लायें—

राज्य	ट्रै० की संख्या
मध्य प्रदेश	९७
उत्तर प्रदेश	६५
मध्य भारत	६२
भोपाल	५५
	२७९

जिन राज्यों में कृषि-योग्य भूमि बनाई गई है वहाँ की सरकारें उस भूमि पर तुरन्त खेती करने के लिए किसानों को नाना प्रकार से प्रोत्साहन देती हैं। अन्यथा उन पर खेती न करने से फिर ऊसर हो जाने का भय है।

केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ का अधिकांश कार्य चार राज्यों ही में, जहाँ बड़े-बड़े चक मिलते है, सीमित हैं। इसलिए अन्य राज्यो ने अपने अलग-अलग राज्य ट्रैक्टर संघ स्थापित कर लिये हैं जिससे वे कृषि करते हैं तथा कृषि-योग्य भूमि भी बनाते हैं। इन संघों ने जो अब तक कार्य किया है वह निम्न तालिका में स्पष्ट है।

राज्य	पंचवर्षीय लक्ष्य (एकड़)	लक्ष्य की प्राप्ति (एकड़) १९५१-५४
उत्तर प्रदेश	३,६२,०००	१,९१,७७७
मद्रास	२,६९,७४९	८५,०३६
मध्य प्रदेश	३,७८,९००	१,४४,८८९

पशु-पालन (Animal Husbandry)

भारतीय कृषि-उद्योग में पशुओं (गाय, भैंस, बैल, सांड आदि) का विशेष महत्व है। खेतों की जुताई, सिंचाई तथा बीज, खाद व गल्ला ढोने के लिए ये पशु किसान के लिए अनिवार्य होते हैं। पशु अपने जीवन-काल में दूध, घी, मक्खन, खाद आदि वस्तुएँ प्रदान करते हैं तथा मृत्यु के पश्चात् बड़ी मात्रा में मांस, खाल, व हड्डियाँ देते हैं जिनको आर्थिक रूप में प्रयोग किया जाता है। इन पशुओं से भारत में लगभग १२३५ करोड़ रुपये की आय होती है। डाक्टर राइट के अनुसार इनसे कुल आय १००० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष होती है। किन्तु पशुओं का इतना अधिक आर्थिक महत्व होते हुए भी, भारत में पशुओं की दशा अति दयनीय है। वे बहुत दुर्बल, अयोग्य तथा रोगयुक्त होते हैं और उनकी नस्ल भी खराब होती है।

सन् १९५१ की गणना के अनुसार देश में २९ करोड़ १० लाख ५० हजार पशु थे जिनमें १५ करोड़ गाय-बैल थे व ४½ करोड़ भैंस, लगभग ८¾ करोड़ भेड़-बकरी, ७१ लाख घोड़े, ऊँट, खच्चर व गधे तथा ७ करोड़ मुर्गे थे। इतनी बड़ी पशुओं की संख्या किसी अन्य देश में नहीं है। भारत में संसार के पशुओं का लगभग २४·३% भाग है वे प्रतिवर्ग मील में २०४ और कृषि-योग्य भूमि के प्रति १०० एकड़ में ६५ हैं। सन् १९५१ के खाद्यान्न और कृषि-संघ के द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता ने लखनऊ में बताया था कि भारत में पशुओं की कुछ ऐसी नस्लें हैं जिन पर उसे गर्व हो सकता है परन्तु ऐसे पशुओं की संख्या भी बहुत अधिक है जिनकी नस्ल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता और जिनके उपयोग से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। पशुओं की उपयोगिता की जाँच करने वाली समिति (Cattle Utilisation Committee) के अनुसार भारत में लगभग १०% पशु अर्थात् १ करोड़ १५ लाख पशु अनुत्पादक हैं और उनका किसी काम में उपयोग नहीं हो सकता। मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, बिहार आदि राज्यों में दूध न देने वाली गायों का अनुपात २ : १ है, मध्य प्रदेश में १½ : १ तथा पंजाब में ¾ : १ है। अतः भारत के पशुओं की समस्या को हल करना भी अति आवश्यक है।

खाद्यान्न व कृषि संघ के द्वितीय सम्मेलन में पशुओं की दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

(१) बड़ी संख्या में विदेशी सांडों का आयात कम करना चाहिए क्योंकि उनसे देश की अच्छी नस्लों के खराब हो जाने का भय है। किन्तु प्रयोगात्मक पशुओं को आयात करने की सुविधा देनी चाहिए।

(२) देश की उत्तम नस्लों को चुनकर उनका विकास किया जाना चाहिए।

(३) पशु-सुधार केन्द्रों की स्थापना तब तक स्थगित कर देनी चाहिए जब तक कि कम-से-कम चार पीढी तक उत्तम सांडों की व्यवस्था न कर ली जाय।

(४) कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिए।

(५) अनुसन्धान केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।

(६) कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाय और अन्य राज्य सरकारों से उनके अदल-बदल की व्यवस्था होनी चाहिए। अतः पशुओं की दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित तीन उपाय करना अति आवश्यक है—

(१) पशुओं की नस्ल में सुधार (Cattle Breeding)।

(२) संक्रामक रोगों से पशुओं की रक्षा करना (Prevention of Diseases)।

(३) पशुओं के पर्याप्त भोजन की व्यवस्था (Cattle Feeding)।

पशु उत्पत्ति—चुनी हुई नस्ल के सांड़ों द्वारा अच्छी गायों से उत्तम पशुओं की उत्पत्ति हो सकती है। भारत में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए १० लाख सांड़ चाहिएँ जबकि सांड़ पालन केन्द्रों पर केवल ७५० सांड़ प्रतिवर्ष तैयार किये जाते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में पशुओं की योग्यता तथा शक्ति बढ़ाने के लिए ६०० केन्द्रीय ग्राम योजनाएँ (Key Village Schemes) जिनमें एक योजना के अन्तर्गत ३ या ४ गाँव हैं तथा ५०० गायें हैं, १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र (Artificial insemination Centres) जो और चार केन्द्रीय ग्राम योजनाओं के पीछे एक होगा, २५० सांड-पालन केन्द्र (Bull Rearing farms) स्थापित करने के लिए २ करोड़ ९३ लाख रुपया व्यय करने की व्यवस्था की थी।

किन्तु अभी तक इस दिशा में कोई विशेष उल्लेखनीय सुधार नही हो पाया है। मार्च सन् १९५४ तक केवल ३४५ केन्द्रीय ग्राम योजनाओं और ११२ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किये गए थे और निर्धारित व्यय में से केवल २० लाख रु० व्यय हुआ था। किन्तु सन् १९५४-५५ में यह कार्य काफ़ी तेजी से किया गया और दिसम्बर सन् ५४ तक ७३८ केन्द्रीय ग्राम-योजनाएँ स्थापित हो गई थीं जिनमें लगभग ३००० अच्छे सांड उत्पन्न किये गए थे। फिर भी जनता व राज्य सरकारों की ओर से इस ओर समुचित सहयोग नहीं मिला तथा योजनाओं में उचित नियन्त्रण नहीं रखा गया। परन्तु कुछ केन्द्रीय ग्राम योजना-क्षेत्रों में खराब व कमजोर सांडों को हटा दिया गया या बधिया (Castration) कर दिया गया है। अभी तक १३ राज्यों में कृषि सुधार अधिनियम (Live Stock Improvement Act) लागू कर दिया गया है और ५ अन्य राज्यों में इस पर विचार किया जा रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं में २२५ साँड-पालन केन्द्र स्थापित करने की व्यवस्था थी किन्तु बाद में इसको समाप्त करके यह निश्चित किया गया था कि केन्द्रीय ग्राम योजना क्षेत्रों में उत्तम बछड़ों को चुनकर उनके मालिकों को ५ रु० प्रतिमाह उनके पोषण के लिये दिये जाँय, जिससे कि कुछ दिन में वे उत्तम साँड बनकर संतानोत्पत्ति के काम आ सकें। यह योजना सन् १९५४-५५ में लागू कर दी गई थी। कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों में एक साँड द्वारा लगभग ६०० गाय गर्भवती होती हैं जबकि प्राकृतिक ढंग से केवल ६०-८० गाय हो पाती हैं। किन्तु फिर भी भारतीय कृषक इस योजना का आदर नहीं करते। बिहार, मद्रास, मैसूर, त्रिवांकुर-कोचीन आदि राज्यों में तो कृत्रिम गर्भाधान प्रथा का काफी प्रचार हो गया है। आन्ध्र, बम्बई, हैदराबाद, विंध्य-प्रदेश आदि राज्यों में अभी प्राकृतिक गर्भाधान को ही उत्तम समझते हैं। किन्तु गत कुछ समय से कृत्रिम प्रणाली का विरोध शनैः शनैः घटता जा रहा है और ऐसी सम्भावना है कि शीघ्र ही यह प्रथा देश में अपना ली जायेगी।

बेकार पशुओं का पृथक्करण

भारतीय पशुओं की १०% संख्या बेकार, रोगी तथा बुड्ढे हैं जिसके कारण चारे की और भी कमी हो जाती है। किन्तु इन सबका एक साथ वध करना भी सम्भव नही है। इसीलिए योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेकार गाय भैंसों को पृथक रखने के लिए १९७ लाख रु० व्यय करके १६० गोसदन बेकार भूमि में, जंगलों के भीतरी भागों में तथा ऐसे अलग भागों में जहाँ चारे का उपयोग नहीं होता, स्थापित करने की व्यवस्था की थी। इस योजना के अन्तर्गत २००० पशु प्रत्येक गो-सदन में रखने का प्रबन्ध है और इस प्रकार योजना के अन्त तक ३२०००० को पृथक रखने का प्रबन्ध होना चाहिये। किन्तु इस दिशा में देश में बहुत कम कार्य हुआ है और सन् १९५३-५४ के अन्त तक केवल १० गोसदन स्थापित हो सके हैं जिन पर ९७ लाख रुपयों में से केवल ३·२१ लाख रुपया व्यय हुआ है। गोसदन योजना की असफलता के मुख्य कारण ये है :—

(१) गोसदन स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े भूमि के क्षेत्र सरलता से प्राप्त नहीं हो पाते।

(२) कुछ राज्यों में इन योजनाओं पर व्यय करने के लिए धन की व्यवस्था नहीं हो पाई है।

(३) गोसदन योजना को विस्तृत जन सहयोग नहीं प्राप्त हुआ जिसके बिना बूढ़े और बेकार पशुओं को एकत्र करना बड़ा कठिन है।

पशु-रोगों पर नियन्त्रण व चिकित्सा

भारतीय किसान पशुओं को अच्छा और पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं दे पाता। कमजोरी के कारण अधिकतर पशु रोगों के शिकार बन जाते हैं और कम आयु में ही मर जाते हैं। त्वचा सम्बन्धी रोग रिण्डरपेस्ट (Rinderpest) भारत में बहुत

अधिक पशुओं के प्राण प्रति वर्ष ले लेता है। पशुओं को चिकित्सा के देश में पर्याप्त साधन नहीं हैं। आजकल समस्त देश में केवल ३००० पशु चिकित्सालय हैं। जिनमें से लगभग १००० से अधिक तो योजना के अन्तर्गत खोले गये हैं। पंचवर्षीय योजना में संक्रामक रोग तथा विशेषतः रिंडरपेस्ट को समाप्त करने के लिए सन् १९५५-५६ तक १५ लाख ७० हजार रुपया व्यय करके २००० पशु चिकित्सालय खोलने की व्यवस्था की गई थी। पुराने राजाओं की स्टेटों में जो अब 'अ' 'ब' 'स' राज्यों में अधिकतर सम्मिलित कर ली गई हैं पशु चिकित्सालयों की बहुत कम सुविधा थी। अतः योजना के अन्तर्गत इन्हीं राज्यों में नये चिकित्सालयों की स्थापना गत ३ वर्षों में इस प्रकार हुई है—

राज्य	नये चिकित्सालयों की संख्या
हैदराबाद	५२
पेप्सू	२५
विन्ध्य प्रदेश	१८
हिमाचल प्रदेश	७
मध्य प्रदेश	४७
उड़ीसा	१०
बिहार	१४
योग	१७३

राजस्थान, मध्य भारत, आसाम तथा बम्बई राज्यों में जहाँ इन सुविधाओं की काफी आवश्यकता है, नये चिकित्सालय नहीं खोले गये हैं। दिसम्बर सन् १९५४ तक सामुदायिक योजना व राष्ट्रीय प्रसार सेवा-क्षेत्रों में ७६५३४४४ पशुओं की निःशुल्क चिकित्सा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त बरेली के निकट इज्जतनगर में पशु-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए एक केन्द्र खोला गया है जहाँ पशुओं के रोग के कारण उनके निवारण तथा कृत्रिम गर्भाधान के विषय पर खोज की है।

पशु चिकित्सा के सम्बन्ध में सबसे गम्भीर समस्या तो सुयोग्य पशु चिकित्सकों की कमी है। जिसके निकट भविष्य में भी पूर्ण होने की सम्भावना नहीं है। इस समय देश में केवल ९ पशु-चिकित्सा विद्यालय (Veterinary Colleges) हैं जिनसे यद्यपि विद्यार्थियों की संख्या बढ़ा दी गई है फिर भी वह आवश्यकता से बहुत कम होती है। अतः हैदराबाद और पंजाब के विद्यालयों में दो पालियों में शिक्षा देने का प्रबन्ध कर दिया गया है। जिससे ये विद्यालय सन् १९५८-५९ तक ११५ अतिरिक्त पशु-चिकित्सक बना सकेंगे।

कृषि संगठन

कृषि के श्रम और पूँजी में सुधार के अतिरिक्त संगठन में भी सुधार आवश्यक है क्योंकि इसको सुधारने से कृषि में दो प्रकार से सुधार हो सकता है—(१) अच्छा संगठन होने से भूमि में सुधार होगा और कृषि-योग्य भूमि की मात्रा में

वृद्धि हो सकेगी। (२) सुसंगठन के कारण कृषि की वर्तमान आय का उचित वितरण हो सकेगा तथा किसान के पास अधिक बचत हो सकेगी।

इस विषय में भारतीय ग्रामों में विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित करने की आवश्यकता है। सहकारी ऋण समितियों के अतिरिक्त भूमि बंधक बैंक, सहकारी क्रय स्टोर्स, जो किसानों को अच्छे औजार, उत्तम बीज, व खाद सामूहिक रूप में खरीद कर सस्ते दामों पर दे सकें, तथा सहकारी विक्रय समितियों की भी आवश्यकता है। इस ओर भी भारत में बहुत सुधार हो चुका है जिसका विवरण अन्यत्र दिया गया है।

कृषि अनुसंधान (Agricultural Research)

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत सरकार का ध्यान कृषि के महत्व की ओर आकर्षित हुआ था। अतः कृषि सुधार की योजनाओं के साथ-साथ कृषि अनुसन्धान के भी प्रयत्न किये गए। सन् १९०५ में केन्द्र तथा प्रान्तों में कृषि विभाग स्थापित किये गए जिन्होंने अनुसंधान कार्य का सूत्रपात किया। सन् १९१९ मे कृषि को पूर्णतया प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया जिससे अनुसन्धान कार्यो को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। सन् १९२८ के शाही आयोग के सुझाव पर भारत सरकार ने सारे देश में कृषि अनुसंधान की उन्नति, पथ-प्रदर्शन तथा समन्वय करने के लिए सन् १९२९ में एक 'इम्पीरियल कृषि अनुसन्धान परिषद' स्थापित की जो आज भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (Jndian Council of Agricultural Research) कहलाती है। इसके अतिरिक्त Indian Institute of Veterinary Research (मुक्तेश्वर), The Research Institute (तुकलमई), Cotton Research Laboratory (मुतुङ्गा), Indian Institute of Animal Husbandry and Dairying (बंगलौर), Cane Breading Station (कोयम्बटूर) तथा H. B. T. I. (कानपुर) जैसी अनेकों संस्थाएँ हैं जिनमे कृषि अनुसन्धान कार्य चल रहा है। अन्वेषण के मुख्य विषय निम्नलिखित हैं—

(१) छाँट तथा उत्पत्ति द्वारा नये प्रकार के बीजों की खोज।
(२) कीटाणुओं यथा रोगों पर नियन्त्रण तथा रोग निवारक बीजों की खोज।
(३) अच्छी मशीन और नये औजारों का आविष्कार।
(४) फ़सल उगाने की उत्तम प्रणाली की खोज।
(५) भूमि संरक्षण के नवीन उपायों की खोज।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अन्य अनुसन्धान-कार्य करने वाली संस्थाओं को आर्थिक अनुदान (Grants) देकर कृषि-सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर खोज कराती है और प्रत्यक्ष रूप में स्वयं कोई अनुसन्धान-कार्य नहीं करती। एक समिति जिसमें देश के राज्यों के कृषि मन्त्री, राज्य सभा के कुछ

सदस्य व व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि सदस्य होते हैं, परिषद् का संचालन करती है। यह समिति धन के उचित व्यय व अन्य साधारण संचालन-कार्यों की ही देखभाल करती है। इसके अतिरिक्त देश के अग्रगण्य कृषि विशेषज्ञों की एक सलाहकार समिति (Advisoy Board) होती है जो उन कृषि-सम्बन्धी योजनाओं पर सलाह देती है जो संचालन समिति के समक्ष आती हैं। केन्द्रीय सरकार का कृषि-मन्त्री परिषद् का प्रधान (अध्यक्ष) होता है। सरकार परिषद् को निम्नलिखित दो तरीकों से वार्षिक अनुदान देती है—(१) सरकार द्वारा वार्षिक अनुदान, जो आवश्यकतानुसार बदलता रहता है, केवल संचालन-कार्य के लिए ही दिया जाता है। सन् १९५३-५४ में सरकार द्वारा परिषद् को ९,९७,८०० रुपये का यह अनुदान प्राप्त हुआ था। (२) कृषि उत्पादन पर लगाये गए विभिन्न करों (Cess) से होने वाली आय को अनुदान के रूप में परिषद् को दे दिया जाता है। सन् १९५३-५४ में यह आय लगभग ३४ लाख रुपया थी। इसके अतिरिक्त सरकार समय-समय पर परिषद् को विशेष अनुदान देती रहती है। सन् १९५३-५४ के बजट में ही सरकार ने २५,१४,००० रु० के विशेष अनुदान की व्यवस्था की थी। उक्त धन-राशि पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि अनुसन्धान कार्यों पर व्यय होने को थी। किन्तु योजना के गत ३ वर्षों में केवल 'क' खण्ड के राज्यों में तो पर्याप्त मात्रा में कृषि-अनुसन्धान पर व्यय किया गया है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

राज्य	व्यय
पश्चिमी बंगाल	१६ लाख रु०
मध्य प्रदेश	५ लाख रु०
बम्बई	८३ लाख रु०
मैसूर	३ लाख रु०

'ख' खण्ड के राज्यो तथा अन्य राज्यों में अन्वेषण पर बहुत ही न्यून मात्रा में व्यय किया गया हैं। इसलिए कृषि-अनुसन्धान में अधिक मात्रा में कार्य करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६ करोड़ रु० परिषद् के द्वारा व्यय करने की व्यवस्था की है क्योंकि भारतीय कृषि का विकास मुख्यतः कृषि अनुसन्धान की सफलता पर ही निर्भर है।

अध्याय १६

भारत में सामुदायिक विकास योजनाएँ व राष्ट्रीय प्रसार कार्य
(COMMUNITY DEVELOPMENT PROJECTS AND NATIONAL EXTENSION SERVICE IN INDIA)

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक योजनाएँ व राष्ट्रीय प्रसार कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय ग्रामों के आर्थिक विकास के लिए किये गए पिछले प्रयासों से यह अनुभव हो चुका था कि बिना जन-सहयोग के ग्रामों का उत्थान नहीं हो सकता। इसलिए योजना आयोग ने ग्रामोत्थान के हेतु अपनी योजना में सामुदायिक विकास योजनाओं को विशिष्ट स्थान दिया है।

सामुदायिक योजनाओं का विकास

वास्तव में भारत मे इन योजनाओं का जन्म अमरीका की प्रेरणा से हुआ था। भारत और अमरीका की सरकारों के बीच एक "भारत-अमरीका शैल्पिक सहायता समझौता" (Indo-U. S. Technical Co-operation Agreement) ५ जनवरी, सन् १९५२ को हुआ जिसके अनुसार अमरीका ने 'फोर्ड फाउन्डेशन' के अन्तर्गत भारत सरकार को इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता देने का वचन दिया।

सर्वप्रथम सामुदायिक योजना का कार्य प्रयोग (Pilot Project) के रूप में उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में सितम्बर, सन् १९४८ में अमरीकी विशेषज्ञों के निरीक्षण में तथा अमरीका की आर्थिक सहायता से आरम्भ किया गया था। पहले इस योजना में १०० ग्राम सम्मिलित किये गए थे किन्तु बाद में ९७ ग्राम और मिला लिये गए और सेवा नगर को योजना का केन्द्र बना लिया गया था। इसके पश्चात् भारत में नीलोखेरी योजना आरम्भ की गई। इन्हीं योजनाओं की सफलताओं से प्रभावित होकर भारत सरकार ने २ अक्तूबर, सन् १९५२ को भारत के विभिन्न भागों में ५५ सामुदायिक योजनाएँ आरम्भ कर दीं, जिनके लिए अमरीका से पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी सामुदायिक योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार कार्यो को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और योजनाकाल में अर्थात् मार्च, सन् १९५६ तक भारत की ग्रामीण संख्या का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग इन योजनाओ के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य बनाया। अर्थात् देश में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मार्च, सन् १९५६ तक १२०० खण्ड देश के ५$\frac{1}{2}$ लाख ग्रामों में से १,२०,०००ग्रामों में

स्थापित हो जायँगे जिनकी जनसंख्या लगभग ८ करोड़ होगी। इन १२०० खण्डों में से ७०० खण्ड गहरी विकास खण्ड योजना (Intensive Community Development Programme) और ५०० राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना के अन्तर्गत होने को थे।

योजना के उक्त लक्ष्य के विपरीत इस क्षेत्र में अप्रैल सन् १९५५ तक की प्रगति निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट है[1]—

वर्ष	निश्चित योजनाओं या खण्डों की संख्या[2]	इनके अन्तर्गत ग्रामों की संख्या	इनके अन्तर्गत जनसंख्या (दस लाख में)
सामुदायिक योजनाएँ			
१९५२-५३	१६७	२५,२६४	१६·४
१९५३-५४	५३	७,६९३	४·०
प्रसार सेवा खण्ड			
१९५३-५४	२५९	३१,४३५	१८·७
१९५४-५५	२४२	२४,२००	१६·०
१९५५-५६	१०७	१०,७००	७·१
योग	८२८	९९,२९२	६२·२

अतः आज भारत में ८२८ सामुदायिक योजनाओं व राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं पर काम हो रहा है। योजना आयोग ने सन् १९५२-५३ से १९५५-५६ तक इन योजनाओं पर ९० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की है।

योजना का क्षेत्र व कार्यक्रम

प्रत्येक सामुदायिक योजना में लगभग ३०० गाँव होते हैं जिनमें लगभग १।। लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि होती है तथा सम्पूर्ण क्षेत्रफल लगभग ५०० वर्गमील होता है। एक योजना के अंतर्गत क्षेत्र की लगभग २।। लाख जनसंख्या होती है। योजना क्षेत्र को ३ विकास खंडों (Development Blocks) में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक विकास खण्ड में १०० गाँव होते हैं जिनकी जनसंख्या ६०-७० हजार होती है। तत्पश्चात प्रत्येक विकास खंड ५-५ गाँवों के समूहों में विभाजित कर दिया जाता है।

प्रत्येक सामुदायिक योजना के पूर्ण होने में ३ वर्ष का अनुमान लगाया गया है तथा इस काल को निम्नलिखित ५ अवस्थाओं में विभक्त किया गया है—

१. **योजना = ३ खण्ड, १ खण्ड = १०० ग्राम लगभग ६०-७० हजार जनसंख्या**

2. Community Development Programme in India Paper Prepared by India at the Asian-African Conference held at Bandung, Indonesia in April 1955, Page 10.

(१) योजना की रूपरेखा (Conception)	३ माह
(२) कार्यारम्भ (Initiation)	६ ,,
(३) प्रगतिपूर्ण सम्पादन (Operation)	१८ ,,
(४) संगठन (Consolidation)	६ ,,
(५) अन्तिम अवस्था (Finalisation)	३ ,,
	३६ माह

समस्त समुदाय की योजनाओं को २ पारस्परिक संबन्धित भागों में विभक्त किया गया है—

(१) ऐसी योजनाएँ जो केन्द्रीय सामुदायिक योजना शासन (Community Project Administration) के द्वारा भारत अमेरिका शैल्पिक सहायता समझौते के अन्तर्गत सहायता से संचालित होती हैं तथा (२) कुछ योजनाएँ ऐसी हैं जिनका संचालन 'फोर्ड फाउंडेशन' की आर्थिक सहायता से सीधे खाद्य एवं कृषि सचिवालय द्वारा किया जाता है।

सामुदायिक योजनाओं का संचालन

सामुदायिक विकास योजनाओं की व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय सामुदायिक योजना प्रशासन (Community Project Administration) है। इसके अंतर्गत एक केन्द्रीय समिति (Central Committee) तथा सामुदायिक योजना प्रबन्धक (Community Project Administrator) है। आजकल योजना आयोग ही केन्द्रीय समिति का काम कर रहा है। यह समिति योजनाओं की प्रमुख नीति का निर्धारण, सामान्य निरीक्षण तथा संचालन का कार्य करती है तथा प्रबन्धक देश की विकास योजनाओं का निर्देशन, नियोजन तथा समन्वय करता है और इस कार्य के लिए विभिन्न राज्यों के उपयुक्त अधिकारियों से सलाह लेता है। इस प्रकार केन्द्रीय समिति के नाम पर यही प्रबन्धक देश की सम्पूर्ण योजनाओं का संचालन करता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में विकास समिति होती है जिसमें राज्य के मुख्य मन्त्री व नियोजन मन्त्री व अन्य उपयुक्त मंत्री सम्मिलित होते हैं। इसके कार्य संचालन के लिए एक राज्य विकास कमिश्नर होता है जो समिति का मंत्री भी होता है। वह समिति ही राज्य की सामूहिक योजनाओं का पथ-प्रदर्शन करती है प्रत्येक जिले में सामूहिक योजनाओ के निरीक्षण का उत्तरदायित्व जिला विकास अधिकारी पर होता है जो राज्य विकास कमिश्नर के आधीन है और उसी के निर्देशन से कार्य करता है। इसको सलाह देने के लिये एक जिला विकास बोर्ड होता है जिसमें सामूहिक योजना से सम्बन्धित सभी अधिकारी, राज्य विधान सभा के सदस्य तथा जनता के प्रतिनिधि भी होते हैं। इस बोर्ड का अध्यक्ष कलेक्टर तथा मन्त्री जिला विकास अधिकारी होता है। अन्त में, प्रत्येक प्रोजेक्ट क्षेत्र में, जहाँ विकास कार्य

चल रहा है, एक प्रोजेक्ट संचालन अधिकारी है और इसके अधीन १२५ निरीक्षक तथा ग्राम सेवक होते हैं, जो उस क्षेत्र में योजना के सम्पूर्ण संचालन के लिए उत्तर-दायी होते हैं।

योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था

भारत की सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने में अमेरिका की आर्थिक सहायता से बहुत प्रोत्साहन मिला है। योजना आयोग का यह अनुमान था कि ग्रामीण क्षेत्र की प्रत्येक योजना में ३ वर्ष में ६५ लाख रु० व्यय होगा तथा शहरी क्षेत्र में १११ लाख रु० व्यय होगा, जिनमें से क्रमशः ६·५३ लाख व १५·४५ लाख रु० अमरीकन सरकार की डॉलर सहायता से प्राप्त होगा। हाल ही में ग्रामीण क्षेत्र की योजनाओं का व्यय ६५ लाख रु० से घटाकर योजना आयोग ने ४५ लाख रु० कर दिया है। योजना काल के ३ वर्षों में इन योजनाओं पर ३२·६ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान लगाया गया था। इस समय सामुदायिक योजनाओं में केन्द्रीय तथा राज्य सरकार दोनों का ही सहयोग है। कुल व्यय के प्रारम्भिक खर्चे या अस्थायी व्यय (Non recurring) का ७५% तथा चालू खर्चे (Recurring) का ५०% केन्द्रीय सरकार देती है और शेष २५% अस्थायी व्यय तथा ५०% चालू व्यय राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है।

योजना आयोग के अनुसार इन योजनाओं की लागत इस प्रकार होगी—

१. योजनाओं की कुल लागत	१५६·२ करोड़ रुपया
(क) केन्द्रीय सरकार का हिस्सा	१०७·२ ,,
(ख) राज्य सरकारों का हिस्सा	२७·२ ,,
(ग) अल्प कालीन ऋण	२७·२ ,,
२. पंचवर्षीय योजना काल में कुल व्यय	१०१·६ ,,
(क) योजना काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय	७३·३ ,,
(ख) योजना काल में राज्य सरकारों द्वारा व्यय	१८·० ,,
(ग) अल्पकालीन ऋण	१५·३ ,,
३. चालू व्यय (Recurring)	२१·७ ,,
४. प्रारम्भिक व्यय (Non Recurring)	२१·० ,,
५. एक विकास क्षेत्र का ३ वर्ष का कुल व्यय	७·५ लाख रुपया
(क) केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय	३·२५ ,,
(ख) राज्य सरकार द्वारा व्यय	१·२५ ,,
(ग) अल्पकालीन ऋण	३·०० ,,
६. एक गहरे विकास क्षेत्र का ३ वर्ष का कुल व्यय	१५·० ,,
(क) केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय	१२·०७ ,,
(ख) राज्य सरकारों द्वारा व्यय	२·९३ ,,

(ग) अल्प कालीन ऋण

७. पंचवर्षीय योजना में निर्धारित व्यय ६०·० करोड़ रुपया

८. भारत-अमेरिका शैल्पिक सहायता समझौता के अन्तर्गत अमेरिका से प्राप्त सहायता (१९५२-५३) में १,०५,९६,०००· डालर्स

९. फोर्ड फाउंडेशन' के अन्तर्गत अमेरिका से १९५२ और १९५५ में प्राप्त सहायता ३०,२३,००० डालर्स

सामुदायिक योजना के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्य

(१) **कृषि और इससे सम्बन्धित कार्य**—इस कार्य के अन्तर्गत नई भूमि को कृषि योग्य बनाना, तालाब, नहरें, कुओं तथा नल-कूपों द्वारा सिंचाई का आयोजन करना, उत्तम बीज तथा खाद की व्यवस्था करना, कृषि के उत्तम और नवीन औजार, पशुओं की दशा में सुधार, विपणन की सुविधाओं की व्यवस्था, सहकारी समितियों की स्थापना आदि विकास के कार्य किये जाते हैं।

(२) **यातायात**—इसके अन्तर्गत योजना क्षेत्र के प्रत्येक गाँव को सड़कों द्वारा सम्बन्धित करने का उद्देश्य है। इस प्रकार की सड़कें एक गाँव से दूसरे गाँव की दिशा में आधी मील लम्बी है और इनका निर्माण ग्रामीणों के श्रम से ही हो रहा है। ये छोटी छोटी सड़कें अन्य सड़कों से मिला दी जायँगी जिनका निर्माण सरकार द्वारा हो रहा है।

(३) **शिक्षा**—इसके अन्तर्गत ग्रामीणों की सामाजिक, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा का आयोजन करना है। इनमें विद्यालयों को क्रमशः बुनियादी विद्यालयों, तथा बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामीण कारीगरों के लिए व्यवसायिक प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाते हैं।

(४) **स्वास्थ्य**—प्रत्येक योजना क्षेत्र में ३ प्राथमिक चिकित्सा की इकाइयाँ भिन्न-भिन्न विकास खण्डों में हैं। इसके अतिरिक्त एक सहायक चिकित्सा इकाई है जिसके अन्तर्गत एक अस्पताल व एक चल औषधालय है जो पूरे क्षेत्र में घूमता है। स्वास्थ्य सुधार की दृष्टि से बीमारियों की रोक पर अधिक ध्यान देने के उद्देश्य से गाँव की स्वच्छता, अच्छे पानी की व्यवस्था, मनुष्य तथा जानवरों के मलमूत्र का उचित प्रबन्ध, छूत की बीमारियों की रोकथाम, जैसे मलेरिया, हैजा, चेचक आदि तथा ग्रामीण जनता को स्वच्छ रहन-सहन तथा अच्छे भोजन के विषय में शिक्षा देने आदि के कार्य किये जाते है।

(५) **सहायक धन्धे**—इसके अन्तर्गत कुटीर तथा लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों का विकास करके गाँव के बेकार तथा अर्द्ध बेकार व्यक्तियों को काम में लगाने की व्यवस्था है। इसके लिए सामुदायिक विकास में एक निश्चित कार्यक्रम है जिसके अनुसार गाँव के ६०% व्यक्तियों को खेती और सहायक उद्योगों में, १२% को

कला, कारीगरी तथा घरेलू धंधों में, १०% को शहरों के छोटे उद्योगो में, १६% को अन्य कामों में, जैसे यातायात, डाकघर, ग्राम-शिक्षा, नाई, धोबी, मोची आदि में काम दिलाने की तथा २% व्यक्तियों को बेकार सुरक्षित रखने की योजना है।

(६) **भवन-निर्माण**—योजना के अन्तर्गत सस्ते और अच्छे घर बनाने की कला, ईंट व सीमेण्ट की व्यवस्था, पार्क व चौड़ी गलियों का निर्माण आदि कार्य हैं। जो गाँव घने बसे हैं उनमें नये स्थानों पर भवन-निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाता है।

(७) **प्रशिक्षण**—योजना को कार्यान्वित करने के लिए विभिन्न कर्मचारियों, अधिकारियों व निर्देशकों को प्रशिक्षण दिया जाता है, जिसकी अवधि ६ माह की होती है तथा इसमें योजना के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है।

(८) **सामाजिक कल्याण**—ग्रामीणों के जीवन को सुखी तथा मनोरंजक बनाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया जा रहा है। योजना क्षेत्रों में शिक्षाप्रद फिल्मों का प्रदर्शन, मनोरंजन के सामूहिक साधनों, जैसे खेल-कूद, दंगल तथा मेला आदि की व्यवस्था की जाती है।

राष्ट्रीय-प्रसार सेवा (National Extension Service)

राष्ट्रीय-प्रसार सेवा तथा सामुदायिक योजनाओं की भाँति ही ग्रामोत्थान के कार्य सम्मिलित है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि सामुदायिक योजनाओं में ग्रामीण जीवन के सभी पक्षों का विकास करना है, जबकि राष्ट्रीय प्रसार सेवा का मुख्य लक्ष्य किसानों को खेती और स्वास्थ्य आदि बातों के विषय में शिक्षा देकर उसके जीवन-स्तर को उन्नत करने में सहायता देना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं में व्यय भी कम होता है क्योंकि इसके अन्तर्गत एक योजना के लिए ७½ लाख रु० निर्धारित किया गया है जबकि सामुदायिक योजनाओं के अन्तर्गत १०० गाँव के एक विकास खंड के लिए १५ लाख रु० निर्धारित किये गये है। किन्तु इतना अवश्य है कि जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं में ग्रामीण जनता अधिक उत्साह से सहयोग देती है वे क्षेत्र सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत कर दिये जाते है। इस नियम के अनुसार सर्वप्रथम अप्रैल सन् १९५५ में १३२ प्रसार सेवा खण्ड, जो ८०·७ लाख जनसंख्या के १३,२०० गाँवों में थे, सामुदायिक विकास खण्डों मे परिवर्तित कर दिये गए हैं।

योजना आयोग के अनुसार सामुदायिक योजनाएँ प्रणाली है और राष्ट्रीय प्रसार सेवा वह क्रिया है जिसके ग्रामीण निर्माण का सफल और सर्वाङ्गीण प्रयत्न किया जा रहा है। यह सेवा योजना ग्रामीण निर्माण के लिए सभी चालू योजनाओं की अपेक्षा बहुत ही व्यापक और बहुमुखी है। नीचे से ग्रामोत्थान के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण बुनियादी योजना है। प्रसार सेवा कार्यो के निम्नलिखित मुख्य ध्येय है—

(१) ग्रामीण जनता में प्रगतिशील दृष्टिकोण का विकास।

(२) सहकारिता का प्रचार।

(३) अधिक उत्पादन।
(४) अधिक रोजगार।

प्रसार सेवा योजनाओं को अधिकारियों तथा जनता के सहयोग से कार्यान्वित किया जाता है। विकास योजनाएँ जनता की सलाह से ही बनाई जाती हैं। ग्राम पंचायतों से योजना बनाने और उनको कार्यान्वित करने में सहयोग प्राप्त किया जाता है। जिन क्षेत्रों में पंचायतें नहीं हैं वहाँ यह कार्य अन्य सामाजिक व विकास समितियों, जैसे ग्राम विकास मडल, ग्राम मंगल समिति, ग्राम सेवा सघ आदि द्वारा किया जाता है। इसके पश्चात् यह योजना विकास खण्ड की सलाहकार समिति द्वारा, जिसमें विधान सभा, लोक सभा, कृषक सहकारी समितियों आदि के प्रतिनिधि होते हैं, पास की जाती है। इस प्रकार योजना की प्रत्येक अवस्था में सरकारी अधिकारियों व जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाता है। योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को अनेक प्रकार की सहायता दी जाती है। केन्द्रीय सरकार प्रसार अधिकारियों के वेतन का आधा व्यय देती है, तथा योजना काल में १०० करोड रु० प्रतिवर्ष का अल्पकालीन ऋण, २५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष मध्याह्नकालीन ऋण व ५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष दीर्घकालीन ऋण के रूप में सहकारी समितियों द्वारा देने की व्यवस्था की है।

भारत में सर्वप्रथम २ अक्तूबर, सन् १९५३ में राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाएँ आरम्भ की गई थीं। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लगभग ८ करोड़ जनसंख्या वाले १ लाख २० हजार ग्रामों में यह सेवा कार्य करने का निश्चय किया गया था। योजना आयोग की इसके अन्तर्गत १२०० अग्रिम विकास (Pilot Projects) चालू करने की योजना थी, जिनमें ७०० क्षेत्र काफ़ी गहरे रूप से विकसित किये जाने थे। प्रत्येक क्षेत्र में लगभग ६६००० जनसंख्या के १०० गाँव सम्मिलित हैं। राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना के ९०० खण्डों को कार्यान्वित करने की योजना इस प्रकार थी—

१९५३-५४	१८०
१९५४-५५	२७०
१९५५-५६	४५०

उक्त ९०० खण्डों में से ४०० खण्डों में गहरे विकास क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया था, जिनमें से १५० क्षेत्र सन् १९५४-५५ में तथा २५० क्षेत्र सन् १९५५-५६ में आरम्भ करने को थे।

अगस्त सन् १९५४ में २४१ राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाएँ प्रारम्भ की गई थीं जिनमें से १२ योजनाएँ अग्रिम विकास योजनाओं में सम्मिलित कर ली गई हैं जिनका संचालन फोर्ड फाउन्डेशन की आर्थिक सहायता से हो रहा है। ये योजनाएँ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, विहार, उडीसा, हैदराबाद, मध्य भारत, मैसूर, पेप्सू, त्रिवांकुर-कोचीन, भोपाल, हिमाचल प्रदेश तथा विन्ध्य प्रदेश में चल रही हैं। शेष २२९

राष्ट्रीय प्रसार क्षेत्र भारत के २२ विभिन्न राज्यों में चल रहे हैं।[1]

उक्त योजनाओं के अतिरिक्त २ अक्टूबर सन् १९५४ को १८ राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों का और उद्घाटन हुआ था जिनमें से १० मद्रास में और ८ हैदराबाद में थे। देश में १३८ हितकारी प्रसार योजनाओं के अन्तर्गत भी कार्य हो रहा है जिनमें से ७८, १५ अगस्त सन् १९५४ को आरम्भ की गई थीं और शेष ६० योजनाएँ २ अक्टूबर सन् १९५४ को प्रारम्भ हुई थीं।

भौतिक परिणाम (Physical Results)

सामुदायिक योजनाओं का मुख्य ध्येय भारतीय जनता के सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करना है जिससे वे अपनी उन्नति और विकास के लिये स्वयं कार्य करना सीख सकें। यही परिवर्तन नीचे के आँकड़ों से, जिनमें अभी तक किये गये कार्यों का विवरण है, और जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के विकास के लिये किए गये हैं, पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

गत २½ वर्ष के कार्यकाल का निरीक्षण करने से विदित होता है कि सामुदायिक योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त व संतोषजनक कार्य हुआ है जिससे लोगों को और अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन मिला है।

दिसम्बर सन् १९५४ तक मुख्य क्षेत्रों में किए गये कार्यों की सूची

(१) कृषि

रासायनिक खाद के खोदे गये गड्ढे (संख्या)	६०१,७२३
उत्तम खाद का वितरण (टन)	११९,४२२
उत्तम बीजों का वितरण (टन)	४३,२००
उत्तम कृषि औजारों का वितरण (संख्या)	१०१,०७०
कृषि-प्रदर्शन (संख्या)	४३३,११७
फल व शाक-भाजी का उत्पादन (एकड़ भूमि)	१५५,५२९
गाँव की मुख्य योजनाएँ (पशुपालन) संख्या	७३८
अच्छे सांडो की सप्लाई (Pedigree Bulls) संख्या	३२५
पशुओं के टीका व चिकित्सा (संख्या)	७६,५३,४४४
कृषि योग्य भूमि बनाना (एकड़)	३९६,००९
अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई की सुविधा (एकड़)	७५९,७७६

---

[1] २२९ राष्ट्रीय प्रसार क्षेत्रों को २२ राज्यों में इस प्रकार विभाजित किया गया है—आन्ध्र ५, बिहार २०, बम्बई २२, मध्य प्रदेश ४४, मद्रास २०, उड़ीसा १२, पंजाब ८, उत्तर प्रदेश ३०, पश्चिमी बंगाल १०, हैदराबाद १०, मध्यभारत ७, मैसूर ७, पेप्सू ६, राजस्थान १५, सौराष्ट्र ३, त्रिवांकुर कोचीन ५, भोपाल ३, हिमाचल प्रदेश ४, कच्छ १, मणिपुर १, विन्ध्य प्रदेश ३।

(२) **स्वास्थ्य व सफ़ाई**	
मैला एकत्रित करने के गड्ढों का निर्माण (संख्या)	१२२,५३६
ग्रामीण शौच गृहों का निर्माण (संख्या)	२७,०६१
नालियों का निर्माण (मील)	६१६
कुओं का निर्माण (संख्या)	८,३०८
कुओं की मरम्मत (संख्या)	१५,४११
(३) **शिक्षा**	
नये विद्यालयों की स्थापना (संख्या)	५,५९०
बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित विद्यालय (संख्या)	१,६६१
प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों की स्थापना	१४,४४५
(४) **जन-संगठन**	
सामाजिक केन्द्रों की स्थापना (संख्या)	२८,६६७
जन-संगठनों की इकाइयों की स्थापना (संख्या)	२०,९५१
नई सहकारी समितियाँ (संख्या)	१४,१२६
सहकारी समितियों के नये सदस्य (संख्या)	२११,९०९
(५) **सड़क व संवाहन**	
पक्की सड़कों का निर्माण (मील)	१,१४५
कच्ची सड़कों का निर्माण (मील)	११,८८६
(६) **कला व कारीगरी**	
उत्पादन-प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना (संख्या)	२५४
(७) **गृह-निर्माण**	
ग्रामीण गृहों का निर्माण (संख्या)	११,१८८
ग्रामीण गृहों की मरम्मत (संख्या)	९६,४६६

उक्त योजनाओं के अन्तर्गत कार्यों की सफलता में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि प्रत्येक अवस्था में जन सहयोग पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुआ है। ग्रामीण जनता ने भूमि-दान, सम्पत्ति-दान और श्रमदान आदि के द्वारा अपना सहयोग प्रदान किया है। दिसम्बर सन् १९५४ तक जनता के सहयोग का मूल्य लगभग ७,४०,८०,००० रुपया आँका गया है जबकि केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने उक्त योजनाओं पर इस समय तक लगभग १३,४०,८०,००० रुपया व्यय किया है, अर्थात् सरकार के कुल व्यय का लगभग ५५% जन सहयोग द्वारा किया गया है जिससे इन योजनाओं में उसका विश्वास स्पष्ट होता है।

प्रशिक्षण कार्य

सामुदायिक योजनाओं व राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिये प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की परम आवश्यकता होती है। इसके लिये ३४ प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र देश के विभिन्न भागों में खोले गये थे। सन् १९५३

में ६ केन्द्र और खोले गये तथा एक केन्द्र हाल ही में खोला गया है। इस प्रकार आज ४४ केन्द्रो मे कर्मचारियो को प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक शिक्षा योजना के कर्मचारियों के लिये सन् १९५३ में ५ केन्द्र नीलोखेरी, हैदराबाद, गाधीग्राम, इलाहाबाद और शान्तिनिकेतन में खोले गये जिनमे ६४ मुख्य अधिकारियों तथा ४६२ सामाजिक शिक्षा संगठनकर्ताओ ने प्रशिक्षण पा लिया है और २४४ कार्यकर्ता प्रशिक्षण ले रहे हैं। हैदराबाद, राची और नीलोखेरी में तीन केन्द्र विकास अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिये खोले गये थे जिनमें १८६ अधिकारी प्रशिक्षित हो चुके थे तथा ३१ प्रशिक्षण पा रहे थे। इसके अतिरिक्त ३ केन्द्र स्वास्थ्य कर्मचारियो के लिये खोले गये जिनमें ११० कर्मचारी प्रशिक्षित हो चुके हैं।

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में ही सामुदायिक व राष्ट्र प्रसार सेवा योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए लगभग ८४००० व्यक्तियो की योजना अधिकारी, खण्ड विकास अधिकारी, ग्राम सेवक, समाज-शिक्षा प्रबन्धक, डॉक्टर, नर्स, पशू-चिकित्सक, स्टोर-कीपर, शिक्षक, सहकारी निरीक्षक, कम्पाउन्डर्स, सफाई निरीक्षक, स्त्री स्वास्थ्य अधिकारी, दाई, ओवरसियर, कला व कारीगर निरीक्षक, इञ्जीनियर आदि के रूप में, आवश्यकता होगी। द्वितीय पचवर्षीय योजना में लगभग ३।। लाख कर्मचारियों की आवश्यकता होने का अनुमान है।

गत २।। वर्षो में एक बडी सख्या में कर्मचारियों की उक्त केन्द्रो में प्रशिक्षित किया गया है। ३१ दिसम्बर सन् १९५४ तक योजनाओं के कर्मचारी इस प्रकार प्रशिक्षित हो चुके है—

प्रशिक्षित कर्मचारी (३१ दिसम्बर १९५४ तक)[1]

कर्मचारी	सख्या
ग्राम सेवक	८,०१३
समाज-शिक्षा प्रबन्धक	१,०६४
खण्ड विकास अधिकारी	६३८
कृषि-प्रसार अधिकारी	६४७
पशु-चिकित्सक	४६१
सहकारी पंचायत निरीक्षक	४७७
ओवरसियर्स (बहुधंधी)	६३९
डॉक्टर (चिकित्सक)	२३१
सफाई निरीक्षक	९१
स्त्री स्वास्थ्य अधिकारी (Lady Health Visitor)	११०
नर्स	४६४

1. Community Development Programme in India (Paper read in Asian—African Conference, Bandung Indonesia). P. 18

इन योजनाओं की सर्वांगीण उन्नति व सफलता के लिए ग्रामीण स्त्रियों व युवकों के सहयोग की भी परम आवश्यकता है। स्त्रियों को प्रत्येक कार्य में सक्रिय भाग लेना चाहिये। इसके लिए सरकार स्त्री सामाजिक शिक्षा कार्यकर्ताओं व ग्राम सेविकाओं की नियुक्ति कर रही है। ग्राम सेविकाओं तथा अन्य स्त्री कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए १ अप्रैल १९५५ को गृह अर्थशास्त्र शाखाएँ चुने हुए २५ क्षेत्रों में खोली गई है। हाल ही में 'कस्तूरबा निधि' ने भी ग्राम सेविकाओ को प्रशिक्षण देने की स्वीकृति दे दी है। ग्राम सेविकाओं की नियुक्ति में सरकार ग्राम सेवकों की पत्नियों को ही प्राथमिकता देती है क्योंकि भारत की स्त्रियाँ अभी इतनी आगे नही बढी है तथा शहर की शिक्षित महिलाएँ ग्रामों में रहकर कठिन कार्य करना भी नहीं चाहतीं। इसलिए सरकार ने ग्राम सेवकों को ही यह सुविधा प्रदान की है कि वे अपनी पत्नियो को प्रशिक्षित कराके ग्राम सेविका के पद पर नियुक्त करा सकते है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास योजनाएँ

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारत के समस्त ग्रामीण क्षेत्रो को सामुदायिक अथवा राष्ट्रीय प्रसार योजनाओं के अंतर्गत लाने के लिए ३८०० विकास खंड और स्थापित करने की योजना है। आजकल केवल ८२८ सामुदायिक व राष्ट्रीय प्रसार योजनाओं में कार्य हो रहा है। अत अतिरिक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए लगभग ३,८०,००० ग्राम सेवक तथा अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता होगी। इन कर्मचारियों के प्रशिक्षण का कार्य आज देश के विभिन्न राज्यों में केवल ५६ बुनियादी कृषि विद्यालयों तथा ४४ प्रसार प्रशिक्षण केन्द्रों में हो रहा है जो बढती हुई माँग के देखते हुए बहुत कम है। अतः द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण सुविधाओं को बढाने के लिए २५ बुनियादी कृषि विद्यालय, १६ बुनियादी कृषि विद्यालय की शाखाएँ, तथा १८ प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने तथा वर्तमान ५६ बुनियादी कृषि विद्यालयों और ४४ प्रसार प्रशिक्षण केन्द्रों का कार्यक्षमता दो पालियाँ (Double Shift) करके बढाने की योजना है। इन विद्यालयों तथा प्रशिक्षण केन्द्रों पर दोनों ही सरकारे अर्थात् केन्द्रीय और राज्य सरकारें व्यय करेंगी।

केन्द्रीय सरकार समस्त प्रारम्भिक व्यय (Non Recurring) जैसे फार्मो की कृषि-मशीन, पुस्तकें, छात्रावास तथा शिक्षकों के मकान आदि का व्यय करेगी और स्थायी व्यय (Recurring) का ५०% पाँच वर्ष तक व्यय करेगी। राज्य सरकारें उक्त विद्यालय तथा केन्द्रों के लिए भूमि की व्यवस्था, भवन निर्माण, फर्नीचर आदि पर सारा व्यय करने के अतिरिक्त स्थायी व्यय (Recurring) का ५०% व्यय करेंगी। भारत सरकार ने विभिन्न राज्यों में इस प्रकार के विद्यालय तथा केन्द्र स्थापित करने के हेतु २,६५,२१,००० रुपया निर्धारित किया है।

निरीक्षक और ग्राम सेवक एक वर्ष बुनियादी कृषि विद्यालयों मे तथा ६ महीने प्रसार प्रशिक्षण केन्द्रों में प्रशिक्षण लेंगे, अतः १८ महीने बाद योजना क्षेत्रों में कार्य करने के लिए उपलब्ध हो सकेंगे। इसीलिए भारत सरकार ने राज्य सरकारों से ऐसे विद्यालय तथा केन्द्र स्थापित करने की योजनाएँ शीघ्रातिशीघ्र भेजने का अनुरोध किया है जिससे द्वितीय योजना में सामुदायिक व राष्ट्रीय प्रसार योजनाओं को कार्यान्वित करने में अधिक विलम्ब न हो।

यद्यपि ये योजनाएँ केवल ३ वर्ष पूर्व ही चालू की गई थीं, किन्तु इनका देश भर में अपूर्व स्वागत हुआ है और योजना की प्रत्येक अवस्था में पूर्ण जन-सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः हमारा यह विश्वास है कि यदि जन-सहयोग तथा कर्मचारियों की कार्यक्षमता व लगन उचित मात्रा में मिलती रहे तो निश्चय ही भारतीय ग्रामों का पुर्निर्माण होगा जो देश के आर्थिक विकास में काफी सहायक होंगे।

अध्याय १७

सहकारिता

(CO-OPERATION)

महत्त्व व परिभाषा

सहकारिता का सिद्धान्त जीवन के सभी पक्षों-सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक व शिक्षा में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। पारिवारिक सुखी जीवन, बिना पारस्परिक सहयोग के संभव नही होता। सामाजिक उत्थान के लिये राजा और प्रजा में सहकारिता होना आवश्यक है। इसी प्रकार औद्योगिक शान्ति तथा प्रगति पूँजीपति या मालिक और मज़दूर के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है तथा विद्या की प्राप्ति तथा उन्नति भी बिना गुरु और शिष्य के सहयोग के नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को यदि 'सहकारी पशु' कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि मनुष्य के जीवन से सहकारिता की भावना को हटा दिया जाये तो संसार में सभ्यता का विनाश होकर आतंकवाद अर्थात् प्रकृति की सत्ता स्थापित हो जावे जिसमें शक्तिशाली मनुष्य ही जी सकेगा।

मेकलेगन समिति ने सहकारिता की व्याख्या करते हुए कहा था कि 'एक अशक्त तथा अकेला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सहयोग से अपनी समस्त प्राकृतिक योग्यताओं का विकास करता है। विभिन्न शक्तियों के संगठन से भौतिक उन्नति संभव हो जाती है, संगठित कार्य से आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। इन समस्त शक्तियों के सामञ्जस्य से उत्तम व्यापार, उत्तम कृषि, उत्तम जीवन की अभिवृद्धि होती है।"[१]

---

१ **सहकारिता के अर्थ और स्पष्ट करने के लिये कुछ विशेषज्ञों की परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—**

"Co-operation in its technical sense means abandonment of competition in distribution and production and the elimination of middlemen of all kinds." (Seligman)

"Every group of individuals associated to secure a common end by joint efforts may be said to Co-operate; for instance a Foot-ball team, a gang of robbers or the shareholders of a speculative Company....It indicates the association of individuals to secure

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I. L. O.) की परिभाषा के अनुसार सहकारी समिति ऐसे लोगों की संस्था है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तथा जो समान अधिकार तथा उत्तरदायित्व के आधार पर स्वेच्छापूर्वक संगठित होकर अपनी ऐसी समान आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का भार एक संस्था को सौप देते हैं, जिनको वह अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा पूर्ण सन्तुष्ट करने में असमर्थ हैं। ये लोग आपसी सहयोग से इस संस्था का प्रबन्ध करते है और समान एवं भौतिक लाभ उठाते है। इस प्रकार सहकारिता वह संगठन है जिसके अन्तर्गत अपने आर्थिक हितों की वृद्धि के लिये, समानता के आधार पर, व्यक्ति स्वेच्छा से संगठित होते है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार सहकारिता के निम्नलिखित लक्षण ध्यान देने योग्य है—(१) यह ऐच्छिक है (२) इसमें नैतिक पक्ष को उतना ही महत्व दिया जाता है जितना कि आर्थिक पक्ष को (३) इसमें लोकतन्त्रवाद की भावना विद्यमान है और (४) सहकारिता में शिक्षा-सम्बन्धी प्रभाव को विशेष महत्व दिया जाता है।

सहकारी समितियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) रेफिसन (Raiffeisen Type) तथा शुल्ज़-डेलित्ज (Schulze-Delitzch Type)। ये दोनों प्रकार की समितियाँ अपने-अपने जन्मदाताओं के नाम से सम्बन्धित है। सहकारी आन्दोलन का जन्म रेफिसन और शुल्ज़-डेलित्ज द्वारा हुआ था। रेफिसन ने अपना कार्य ग्रामों में आरम्भ किया इसलिये रेफिसन समिति के सिद्धान्तों का प्रयोग ग्रामों में संगठित की जाने वाली समितियों में किया जाता है तथा शुल्ज-डेलित्ज के सिद्धान्तों का शहरों में उपयोग होता है। पहली प्रकार की समितियों का कार्य-क्षेत्र प्रायः एक गाँव तक ही सीमित होता है और सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है तथा केवल सदस्यों को उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण दिया जाता है। इसके विपरीत शुल्ज-डेलित्ज-समितियों का कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक है व सदस्यों का उत्तरदायित्व भी

---

a common economic end by honest means; it is also essential in many forms of Cooperation that the individuals possess a personal knowldge of one another." (Strickland)

"Cooperation begins in mutual help with a view to end in a common competence." (Myreich)

"Co-operation is the act of persons voluntarily united, for utilizing reciprocally there own forces, resources or both, under their mutual management to the common profit of all." (Harric)

"It is a special form of economic organisation in which the people work together for definite business purposes under certain definite rules. The root of the Co-operative idea is a relation between business and ethics which is greater than the necessary commercial honesty of our present industrial system."

(Garden & Bren,-"Cooperation in Denmark.")

सीमित है तथा सदस्यों से प्रवेश-शुल्क भी लिया जाता है और बिना आय वाला मनुष्य इसका सदस्य नही बन सकता है।[1]

इन सहकारी समितियों को वित्त, उत्पादन, वितरण आदि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित किया जा सकता है। भारत में तो केवल साख समितियाँ अर्थात् ऋण देने वाली समितियों का ही प्रभुत्व है। परन्तु वास्तव में सहकारी आन्दोलन को देश में प्रारम्भ करने का मुख्य ध्येय भी ग्रामीण-ऋण समस्या का हल करना व ग्रामीणों को उचित ब्याज पर ऋण देने की सुविधा उत्पन्न करना ही था। अतः साख समितियों पर ही अधिक ध्यान दिया गया। इधर कुछ वर्षो से गैर-साख-समि-

१ रेफिसन व शुल्ज-डेलित्ज समितियों में निम्नलिखित अन्तर होते है:—

रेफिसन समिति	शुल्ज-डेलित्ज समिति
(१) कार्यक्षेत्र छोटा व एक ही गाँव मे सीमित है।	(१) शहरों में कार्य करती है और कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक होता है।
(२) सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित है।	(२) सदस्यों का दायित्व सीमित है।
(३) हिस्से या तो होते ही नहीं है यदि होते भी है तो बहुत थोड़ी कीमत के।	(३) कार्य आरम्भ करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है अतः अधिक मूल्य के हिस्से होते है।
(४) केवल सदस्यों को ही, वह भी उत्पादक कार्यो के लिए ही लम्बी अवधि तक के ऋण दिये जाते है।	(४) किसी भी व्यक्ति को व किसी भी कार्य के लिए थोड़े समय के लिए ऋण दिया जाता है।
(५) एक रक्षित कोष होता है जिसका धन कठिनाई के समय प्रयोग किया जाता है। लाभ सदस्यों मे या तो वितरित ही नहीं होता और होता भी है तो केवल कुछ भाग ही।	(५) रक्षित कोष न के समान ही होता है, क्योंकि लाभ सदस्यों को प्रतिवर्ष बाँट दिया जाता है।
(६) समिति के पदाधिकारी अवैतनिक होते है।	(६) पदाधिकारी वेतन पाते है।
(७) सदस्यों की आर्थिक व नैतिक उन्नति करने का ध्येय है। अतः शिक्षा का प्रचार, उन्हें आत्मनिर्भर बनाना, उनका अन्ध-विश्वास दूर करना व बुरे रीति-रिवाजों को समाप्त करना आदि कार्य भी समिति द्वारा किये जाते है।	(७) केवल आर्थिक उन्नति से सम्बन्ध रखती है तथा सदस्यों की नैतिक प्रगति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

तियों ने भी काफी प्रगति की है। सन् १९५१ के अन्त में भारत में कुल १,८१,१८९ समितियाँ थीं जिनमें से १,४९,५६८ कृषि समितियाँ तथा २८,३२८ गैर-कृषि समितियाँ थीं। सन् १९४७-४८ के बाद शहरों में भी साख समितियों ने उन्नति की और इस समय बम्बई, मद्रास और बंगाल आदि राज्यों में लगभग ८००० साख समितियाँ जिनके २०·३ लाख सदस्य हैं, १३·३६ करोड़ रु० की शेयर पूँजी, व रक्षित कोष ६ करोड़ रु० और जमापूँजी ३७ करोड़ रु० व उधार दी हुई पूँजी ५० करोड़ रु० है, उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं।

भारत में सहकारिता का विकासः—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में कृषि-ऋण समस्या का भयंकर रूप बन गया था तथा कृषक कर्जे के बोझ के कारण बहुत अधिक दबे हुए थे। इसी समय जर्मनी में सहकारिता के सिद्धान्त पर गाँवों की छोटी-छोटी बैंकों ने ऋण समस्या का हल करने में बहुत सफलता प्राप्त कर ली थी जिससे भारतीय जनता का ध्यान भी ऐसी ही बैंकों को स्थापित करने की ओर आकर्षित हुआ। अतः सन् १८९२ में मद्रास सरकार ने श्री फ्रेड्रिक निकल्सन को इस विषय पर अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में बताया कि भारत जैसे देश में सहकारिता आन्दोलन ही केवल एक ऐसा साधन है, जिससे सारी समस्यायें हल की जा सकती हैं। उनकी समस्त रिपोर्ट का सार 'रेफेसन ढूँढो' (Find Raiffeisen) इन दो शब्दों में ही निहित था। इसी समय उत्तरप्रदेश में श्री डूपरनेक्स और पंजाब में श्री एडवर्ड मेकलेगन व कैप्टेन क्रास्थवेट साख समितियों का संगठन कर रहे थे। भारत सरकार ने सन् १९०१ में सर एडवर्ड ला की अध्यक्षता में सहकारी समितियों को स्थापित करने की सम्भावनाओं पर सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने भी भारतीय परिस्थितियों के अनुसार रेफिसन सिद्धान्तों के आधार पर सहकारी समितियों की स्थापना का सुझाव रखा। १९०१ में ही अकाल आयोग ने साख-संघों की स्थापना के लिए जोर दिया। इन सब सुझावों के फलस्वरूप १९०४ में सहकारी साख-समिति अधिनियम (The Cooperative Credit Societies Act) पास किया गया, जो भारतीय सहकारी आन्दोलन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। इस कानून का मुख्य ध्येय मितव्यता, स्वयंसेवा और किसानों, कारीगरों तथा सीमित साधन प्राप्त व्यक्तियों में सहयोग की भावना को जाग्रत करना था। कानून में केवल साख समितियों को स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। ये समितियाँ ग्रामीण व नागरिक क्षेत्रों में हो सकती थीं और इनका दायित्व असीमित रखा गया था। स्थानीय सरकारों को समितियों का निरीक्षण करने व नियन्त्रण रखने के लिए एक रजिस्ट्रार नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था।

किन्तु सन् १९११ तक सहकारी आन्दोलन ने देश में कोई प्रगति नहीं की क्योंकि उक्त कानून के थोड़े समय पश्चात् ही दोष अनुभव होने लगे थे, जिससे सहकारी समितियों के कार्यों में कठिनाई हुई। ये दोष निम्नलिखित थे—

(१) कानून में केवल साख-समितियों की स्थापना ही आयोजित थी।

(२) निरीक्षण और पूँजी की पूर्ति के लिए किसी केन्द्रीय संस्था की व्यवस्था नही थी।

(३) ग्रामीण तथा शहरी समितियों का वर्गीकरण अवैज्ञानिक व असुविधाजनक सिद्ध हुआ।

(४) असीमित दायित्व वाली समिति के लाभों के वितरण पर प्रतिबन्ध होने से समितियों के कार्य में कठिनाई होती थी।

अतः इन दोषों को दूर करने के लिए सन् १९१२ में दूसरा कानून बना, जिसमें निम्न परिवर्तन किये गए थे—

(१) सहकारी आन्दोलन की गैर-साख समितियों जैसे क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा आदि के संगठन की भी अनुमति दे दी गई।

(२) निरीक्षण, अन्वेक्षण, व पूँजी की पूर्ति के लिए नवीन संगठनों की व्यवस्था की गई जैसे—(अ) प्राथमिक समितियों को सम्मिलित करने वाले संघ (Unions) जिनका मुख्य कार्य समितियों पर नियन्त्रण रखना है। (ब) केन्द्रीय बैंक (Central Banks) और (स) प्रान्तीय बैंक (Provincial or Appex Banks)। (३) पंजाब, मद्रास आदि प्रान्तों में असीमित दायित्व वाली समितियों को लाभांश (Dividend) घोषित करने की अनुमति दे दी गई। (४) सभी समितियों को लाभ का भाग शिक्षा व दान के कार्यों पर व्यय करने का अधिकार दिया गया किन्तु इसके पूर्व लाभ का $\frac{1}{4}$ भाग रक्षित कोष में रखना आवश्यक था। (४) शहरी और ग्रामीण समितियों के वर्गीकरण को समाप्त करके सीमित और असीमित दायित्व वाली समितियों में कर दिया गया।

उक्त कानूनी परिवर्तनों से देश में सहकारी आन्दोलन को काफ़ी प्रोत्साहन मिला जिसका अध्ययन करने के लिए सर एडवर्ड मेकलेगन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसके सुझाव भारतीय सहकारी आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।

मेकलेगन समिति के सुझाव

(१) सहकारिता के सिद्धान्तों का ज्ञान व सदस्यों का उचित चुनाव होना चाहिए।

(२) ईमानदारी सहकारिता का मुख्य आधार है।

(३) समिति का लेन-देन का व्यवहार केवल सदस्यों के साथ ही होना चाहिए।

(४) सट्टे के लिए ऋण नहीं दिया जाना चाहिए।

(५) ऋण लेने वाले की आर्थिक स्थिति की भलीभाँति जाँच-पड़ताल करनी चाहिए व ऋण देने के बाद भी उचित सर्तकता रखनी चाहिए।

(६) किसी भी विषय पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार पदाधिकारियों को न होकर सदस्यों को होना चाहिए।

(७) उपयुक्त रक्षित कोष बनाया जाय तथा मितव्ययता को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(८) एक सदस्य को एक ही वोट देने का अधिकार होना चाहिए।

(९) सदस्यो व पड़ौसियों के द्वारा ही समिति की पूँजी को एकत्र किया जाना चाहिए।

(१०) ऋणों का भुगतान नियमित होना चाहिए।

उक्त सुझावों के आधार पर सन् १९१९ के सुधार कानून (Reforms Act) के द्वारा सहकारिता को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। प्रान्तीय सरकारों ने कुछ वर्ष तक इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नही की। किन्तु सन् १९२५ में बम्बई सरकार ने अपना निजी सहकारी समिति कानून बनाया तथा बाद में अन्य प्रान्तो ने भी अलग-अलग कानून बनाये। इस काल में सहकारी आन्दोलन ने काफ़ी प्रगति की जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

वर्ष प्रति ५ वर्षो का औसत	समितियों की संख्या (हजारों में)	सदस्यों की संख्या (लाखो में)	कर्मवाहक पूँजी (करोड रु० में)
१९१०-११ से १९१४-१५ तक	१२	५·५	५·४८
१९१५-१६ से १९१९-२० तक	२८	११·३	१५·१८
१९२०-२१ से १९२४-२५ तक	५८	२१·५	३६·३६
१९२४-२५ से १९२९-३० तक	९४	३६·९	७४·८९

किन्तु सन् १९२९ से १९३५ तक आर्थिक मंदी एवं मूल्यों में भारी कमी के कारण सहकारी आंदोलन को भारी ठेस लगी। कुछ प्रान्तों में जैसे मध्यप्रदेश, उड़ीसा व बंगाल आदि में तो सहकारिता का लगभग अंत ही हो गया था।

किन्तु सन् १९२९ में ही समस्त सहकारी समितियों का 'प्रदेशीय समितियों बैंकों का अखिल भारतीय सम्मेलन' नामक एक संगठन स्थापित हुआ जो सहकारी आन्दोलन के विकास में एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुआ।

सन् १९३५ में रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया के स्थापित होने से सहकारी आन्दोलन को बहुत सहायता मिली। इस बैंक में एक विशेष विभाग 'कृषि साख विभाग' है जो सहकारिता को हर प्रकार से सहायता देता रहता है। सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने भारत में बहु-उद्देशीय (Multi Purpose) समितियों के महत्व पर बहुत जोर दिया था।

द्वितीय महायुद्ध काल में व युद्ध समाप्त होने के बाद सहकारी आन्दोलन के बुरे दिन समाप्त हो गये। कृषि उत्पादन के मूल्यों मे वृद्धि होने के कारण किसानो के पास पैसा हो गया था। अतः समितियों के कार्य सरलता से होने लगे। सदस्यों ने समितियों को ऋण का भुगतान करना शुरू कर दिया जिससे सहकारी बैंकों की जमा पूँजी में काफी वृद्धि हुई। सन् १९४७ में सहकारी नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने भी प्राथमिक साख समितियों में सुधार करने व बहुउद्देशीय समितियों को स्थापित करने पर विशेष जोर दिया और यह सुझाव दिया कि १० वर्ष मे मान्यता प्राप्त प्राथमिक सहकारी समितियों के कार्य-क्षेत्र में ५०% ग्राम और ३०% ग्रामीण जनता को सम्मिलित करने का प्रयत्न करना चाहिये। सन् १९४९ में 'सहकारी समिति रजिस्ट्रार सम्मेलन' तथा 'अखिल भारतीय प्रदेशीय समिति व बैंक सम्मेलन' को एक ही संगठन में विलय कर दिया गया। जिससे सरकारी व गैर-सरकारी क्षेत्रो में उचित सम्बन्ध स्थापित हो गया है। गत कुछ वर्षो में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन तथा विस्थापितों के पुनर्वास के लिए कुछ सहकारी समितियों स्थापित की गई है। युद्ध के पश्चात् विपणन, उत्पादन समितियों तथा उपभोक्ता स्टोर्स आदि ने बहुत प्रगति की है।

सहकारी आन्दोलन की वर्तमान स्थिति

सन् १९५०-५१ में भारतवर्ष में कुल १,८१,१८९ समितियाँ थी जबकि सन् १९४९-५० में १,७३,०९४ ही थीं। इसी बीच इन समितियों की सदस्य-संख्या भी १,२०,६०,००० से बढकर १,३०,७० ००० होगी अर्थात् देश की कुल आबादी का १९·१% भाग सहकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग ले रहा था। इन सब समितियो की कार्यशील पूँजी (Working Capital) भी २३३·१ करोड रु० से बढ़कर २७५·८५ करोड़ रु० हो गई। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के द्वारा भी पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली जिससे इन समितियो द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा में भी वृद्धि हुई। उदाहरणतया 'क' भाग के राज्यों में ६०·८८ करोड रु० से बढकर ७०·०८ करोड़ रु० तथा 'ख' भाग के राज्यों में १०·४९ करोड़ रु० के स्थान पर ११·७८ करोड़ रु० हो गया था। यद्यपि इन दिनों समितियों की बकाया रकम (Over Dues) में कुछ कमी अवश्य हुई थी किन्तु फिर भी भोपाल में ९९·५%, मनीपुर में ६१%, विन्ध्य प्रदेश में ५४·७% तथा जम्मू-काश्मीर में ४५% Over Dues बाकी रह गये थे।

सन् १९५०-५१ में ही सहकारी आन्दोलन की प्रगति के विषय में रिजर्व बैंक का मत था कि 'सहकारिता का आन्दोलन समस्त देश में समान रूप से प्रचलित नहीं हुआ है और न सभी स्थानों पर इसका रूप व संगठन ही समान है। कुछ राज्यों में तो प्रान्तीय बैंक हैं ही नहीं तथा जिनमें हैं, उनका पुर्नसंगठन करने की बहुत आवश्यकता है। कही-कहीं के केन्द्रीय बैंकों की दशा भी शोचनीय है। इसके अति-

रिक्त अविकसित क्षेत्रों में तो लगभग सभी स्थानों में प्राथमिक साख का संगठन बहुत ही असंतोषजनक है।

सहकारी आन्दोलन ने 'क' भाग के राज्यों में विशेष प्रगति की है और 'ख' और 'ग' भाग के राज्यों में इसका बहुत कम विकास हो पाया है। देश की समस्त प्राथमिक कृषि साख समितियों में से लगभग ४५·४% तो केवल बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश ही में है। इसीलिए रिजर्व बैंक ने यह सुझाव दिया है कि 'क' भाग के राज्यों में तो समितियों के कार्य-क्षेत्र पर व 'ख' और 'ग' भाग के राज्यों में इनकी कार्य-कुशलता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

वित्तीय रूप रेखा

जून १९५१ के अंत तक भारत की समस्त सहकारी समितियों की कार्यवाहक पूँजी लगभग २७५·८५ करोड रुपया थी जिसमें से २९% निजी धन (own funds) ४०·८% जमा धन (Deposits) तथा ऋण ली हुई पूँजी २५·६% थी, जिसमें से १५·८% सहकारी संस्थाओं से, ४·२% सरकार से व ४·३% तन्य साधनों से ऋण ली हुई थी। यह कार्यवाहक पूँजी सब प्रकार की समितियों में इस प्रकार विभक्त थी :—[1]

समिति	संख्या	कार्यवाहक पूँजी (लाख रु० में)
प्रांतीय बैंक	१५	३,४४२
केन्द्रीय बैंक व साख संघ	५०५	५,६३७
प्राथमिक कृषि साख समितियाँ	१,१५,४६२	४,०९६
प्राथमिक गैर कृषि साख समितियाँ	७,८१०	५,६७८
साख समितियों का योग	१,२३,७०२	१८,८५३
प्रांतीय गैर साख समिति	३५	८७५
केन्द्रीय गैर साख समिति	२,२०१	१,२४५
प्राथमिक कृषि गैर-साख समिति	३३,८१५	१,६५४
प्राथमिक गैर कृषि गैर साख समिति	२०,५१८	३,५२२
गैर-साख समितियों का योग	५६,५६९	७,२९६
केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक	५	७७२
प्राथमिक भूमि बंधक बैंक	२८६	६६६
भूमि बंधक बैंकों का योग	२९१	१,४३८
कुल योग	१,८०,६५२[2]	२७,५८७

१. शेष ५३७ समितियाँ निरीक्षण व शिक्षा से सम्बन्धित हैं।

2. Indian Year Book 1954-55 p. 78.

पंचवर्षीय योजना में सहकारिता की प्रगति

योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया है कि सन् १९५६ तक रिज़र्व बैंक व केन्द्रीय सरकार सहकारी समितियों को लगभग १०० करोड़ रुपये का अल्पकालीन ऋण प्रतिवर्ष दिया करेंगी। ग्रामीण साख के भारत में दो ही साधन हैं—(१) सहकारी समिति तथा (२) सरकार। सन् १९५१-५२ में १५२००० कृषि-समितियाँ थीं जिन्होंने लगभग ३७.५८ करोड़ रुपये का अल्पकालीन ऋण दिया था जब कि सन् १९४९-५० तक १४२००० समितियों द्वारा २८.५३ करोड़ रुपये का ही ऋण दिया गया था। गत दो वर्षों के समस्त भारत के आंकड़े प्राप्त नही हैं किन्तु कुछ राज्यों से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि अल्पकालीन ऋण में लगातार वृद्धि होती रही है। उदाहरणतया मध्य प्रदेश में १९५१-५२ में केवल १.५७ करोड़ रुपये का ऋण दिया गया था, जब कि सन् १९५२-५३ में २.१ करोड़ रुपया दिया गया। इसी प्रकार बम्बई में सहकारी समितियों के द्वारा सन् १९५१-५२ में ८.१५ करोड़ रुपये का ऋण दिया था और १९५३-५४ में १०.७८ करोड़ रुपये का दिया था। रिजर्व बैंक के आँकड़ों से यही प्रकृति सिद्ध होती है। १९५१-५२ और ५२-५३ में रिजर्व बैंक ने ८ प्रान्तीय सहकारी बैंकों को लगभग १२ करोड़ रु० प्रतिवर्ष दिया था, किन्तु सन् १९५३-५४ में यह ऋण १४.७ करोड़ रुपया हो गया था। इसी वर्ष आसाम, पंजाब, पैप्सू, सौराष्ट्र और हैदराबाद की प्रान्तीय बैंकों को सर्व प्रथम रिजर्व बैंक के द्वारा ऋण की सुविधा प्राप्त हुई थी। किन्तु राजस्थान, मध्य भारत, बिहार, मैसूर, त्रिवांकुर कोचीन तथा 'क' भाग के अधिकांश राज्यों में यह सुविधा आज भी प्राप्त नही है।

अभी तक सहकारी समितियों को मध्यकालीन ऋण की व्यवस्था के लिये अपनी जमा पूँजी पर निर्भर रहना पड़ता था जो अपर्याप्त होती थी और उन्हें रिजर्व बैंक व केन्द्रीय सरकार से कोई सहायता न मिलती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा ५ करोड़ रुपये की सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, जिसमें से लगभग ४ करोड़ रुपया मार्च १९५४ तक विभिन्न राज्यों में बाँट दिया गया है। रिजर्व बैंक के द्वारा भी ५ करोड़ रुपये के मध्यकालीन ऋण देने की व्यवस्था की गई है जो १.५% ब्याज की दर पर राज्यों को दिया जायेगा। केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक के द्वारा दिये गए ऋण से से ५०% सामुदायिक योजना क्षेत्रों में व राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों में दिये गए हैं। दीर्घकालीन ऋण देश में ६ केन्द्रीय व २८९ प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों द्वारा दिये जाते हैं। गत कुछ वर्षों में इस प्रकार के ऋणों में वृद्धि हुई है। इन बैंकों ने सन् १९५१-५२ में २.५१ लाख रुपये के ऋण दिये थे जब कि सन् ५०-५१ में १.३३ लाख व ४९-५० में केवल १.०१ लाख रु० का ऋण दिया था।

इसके अतिरिक्त शहरों की साख-समितियों ने भी काफी प्रगति की है विशेषतया औद्योगिक राज्यों में। इनमें शहरी बैंक, मिल मजदूरों की साख-समितियाँ

सरकारी कर्मचारियों की साख समितियाँ आदि सम्मिलित है और इनकी संख्या-लगभग ८००० है। लिफ्ट सिंचाई समितियों ने भी काफी प्रगति की है। बम्बई के किसानों ने गत तीन वर्षों में लगभग १४८ ऐसी समितियों को सस्थापित किया है और १९५३-५४ में इनकी सख्या ३०५ थी जबकि १९५०-५१ में १५७ ही थी। इनमें से १३२ समितियों द्वारा मशीनें लगा दी गई है जो २१५८० एकड़ भूमि की सिंचाई करती है। उत्तर प्रदेश मे ईट के भट्टो की समितियों ने बहुत प्रगति की है। इन समितियो का सगठन सर्व प्रथम सन् १९५० में प्रारम्भ किया गया था। इनको पर्याप्त सफलता मिली और १९५३ के अन्त तक उत्तर प्रदेश में लगभग ५१० सहकारी भट्टे हो गये थे।

सहकारी प्रशिक्षण

सहकारी आन्दोलन की मन्द गति एवं असंतोषजनक प्रगति का मुख्य कारण समितियों के अच्छे व सुयोग्य प्रबन्धकों का अभाव हो रहा है। सहकारी प्रबन्धको के उचित प्रशिक्षण के प्रबन्ध के लिए योजना में १० लाख रुपये की व्यवस्था की गई है, जिससे विभिन्न राज्यों को सहकारी शिक्षा संस्थाएँ खोलने के लिए आर्थिक सहायता दी जायगीं। सन् १९५३ में भारत सरकार व रिजर्व बैंक ने सहकारी प्रबन्धको व कर्मचारियों के उचित प्रशिक्षण की सुविधा के लिए योजना बनाने की एक केन्द्रीय सहकारी शिक्षा समिति स्थापित की थी। इसके सुझाव पर पूना में उच्च व मध्यम वर्ग के प्रबन्धकों के लिये एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया है जिसका सारा व्यय रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है। हाल ही में एक और ऐसा ही केन्द्र मद्रास में खोला गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वी, उत्तरी तथा केन्द्रीय क्षेत्रों में प्रशिक्षण केन्द्र खोलने की योजनाओं को कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये जा रहे है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उत्तर प्रदेशीय सहकारिता का विकास

राज्य सरकार प्रदेश में सहकारी आन्दोलन को बड़े पैमाने पर चलाने के लिये सहकारी समिति अधिनियम में संशोधन करने की योजना बना रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लगभग ६०,००० नए गाव अर्थात् राज्य के २५% ग्रामीण परिवार सहकारी समितियों का लाभ उठा सकेंगे। सहकारी समितियां किसानों की आवश्यकता का लगभग ४०% ऋण दे सकेंगी व सन् १९६० तक ब्याज की दर ९% से घटा कर ६½% कर दी जायगी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित जनोपयोगी कार्य करने की व्यवस्था की जा रही है।

(१) १००० शहरी ऋण समितियों का संगठन।
(२) २५ सहकारी शहरी बैंकों का निर्माण।
(३) १५ बड़े तथा ५० छोटे मालगोदामों का निर्माण।
(४) १७०० बीज गोदामों की स्थापना।

(५) १० दुग्ध संघों की स्थापना ।
(६) २ मक्खन बनाने के कारखानों की स्थापना ।
(७) २ दुग्ध चूर्ण बनाने के कारखानों की स्थापना ।
(८) रानीखेत में सहकारी औषधि बनाने के कारखाने का विकास ।
(९) २०० सहकारी कृषि समितियों का संगठन ।
(१०) राज्य गृह निगम का निर्माण ।
(११) देहातो में सहकारिता पर आधारित जीवन बीमा का समावेश ।
(१२) १० सहकारी प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना ।

अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वेक्षण संचालन समिति ने यह सुझाव दिया है किसान के अन्य आर्थिक कार्यो के साथ ग्रामीण ऋण व्यवस्था में सुधार व नति की जानी चाहिये । अतः सन् १९५५-५६ व ५६-५७ में राज्य में चार अग्रिम हकारिता योजनाएँ सर्गखेत (नैनीताल), बख्शी का तालाब (लखनऊ), मनकापुर ोंडा) तथा मोदीनगर (मेरठ) में आरम्भ की जायेंगी जिनमें प्रत्येक में ५० से १०० व तक होंगे । इन विभिन्न सहकारी योजनाओं पर २६ करोड़ रुपया व्यय करने ा निश्चय किया गया है ।

हकारी संगठन

सन् १९१९ के सुधार कानून के अनुसार सहकारिता को प्रान्तीय सरकारों अधीन कर दिया गया था । भारतीय संविधान के अनुसार भी यह राज्य सर-ारों का विषय है । अतः राज्य में सहकारिता के विकास का पूर्ण दायित्व राज्य रकार के सहकारी विभाग का होता है जो सहकारी मन्त्री के अधीन है । इस भाग का संचालन सहकारी रजिस्ट्रार द्वारा होता है । रजिस्ट्रार द्वारा राज्य रकार सहकारी आन्दोलन की गतिविधि का निरीक्षण करती है और उस पर यन्त्रण रखती है । रजिस्ट्रार के अधीन अनेक सहकारी निरीक्षक (Co-operative nspectors) होते हैं जो समितियों के कार्य का निरीक्षण करते रहते हैं और नको समय-समय पर उचित सलाह भी देते हैं । समितियों के आय-व्यय के हिसाब ताब का निरीक्षण सरकारी आडीटर्स द्वारा अनिवार्य रूप से किया जाता है ।

भारत में सहकारी समितियों का संगठन एक पिरामिड (Pyramid) के ाकार का है । सर्वप्रथम सहकारी संगठन का आधार लाखों प्राथमिक सहकारी समितियाँ । इन समितियों को आर्थिक सहायता, उचित सलाह व निरीक्षण और नियन्त्रण के लिए इन्हीं द्वारा संगठित द्वितीय श्रेणी की समितियाँ अर्थात् सहकारी संघ Unions) होते हैं । इनके ऊपर केन्द्रीय या जिला बैंक होती हैं । इन बैंकों द्वारा संगठित, प्रान्त में सबसे ऊपर प्रान्तीय बैंक होती हैं जो राज्य की समस्त समितियों में उचित सम्बन्ध बनाये रखती हैं । इस पिरामिड का सबसे ऊपरी भाग भारतीय सह-ारी संघ (Indian Co-operative Union) है जिसका प्रथम सम्मेलन सन् १९५२ में बम्बई में हुआ था । इसके सारे प्रान्तीय बैंक सदस्य हैं तथा सरकारी व गैर-

सरकारी क्षेत्रों का भी उचित प्रतिनिधित्व है। यह संघ समस्त देश के सहकारी आन्दोलन का निरीक्षण करता है तथा अखिल भारतीय नीति का निर्माण करता है।

सहकारी आन्दोलन के दोष

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहकारी आन्दोलन की प्रगति बहुत सीमित रही है तथा सामान्य रूप से वह संतोषजनक नहीं कही जा सकती। अतः भारत में सहकारिता के प्रयत्न असफल ही कहे जा सकते हैं और इस असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) सहकारी आन्दोलन अधिकांश में एकांगी रहा है। इसमें सहकारी साख पर ही अधिक ध्यान दिया गया है जबकि कृषक व अन्य व्यक्तियों की अनेक दूसरी समस्याओं को कम महत्व दिया गया है।

(२) सहकारी साख व्यवस्था साधारण कृषक के लिए बहुत महंगी है। ब्याज की दर बहुत ऊँची होने के कारण (उत्तर प्रदेश व पश्चिमी बंगाल में ऋण देने की ब्याज की दर १२ से १५% तक है) गरीब कृषक सहकारी साख का पूर्ण लाभ नहीं उठा पाता।

(३) सहकारिता की कार्य प्रणाली भी बहुत दोषपूर्ण रही है जैसे ऋण के भुगतान में अनियमितता, अधिक बकाया रकम (Overdues) दोषपूर्ण आय-व्यय का लेखा और उसका निरीक्षण, अपर्याप्त नियन्त्रण, बेनामी ऋण, झूठे ऋण, ऋण के लेन-देन में पक्षपात, साख व्यवस्था में अनुचित देरी, ऋण चुकाने की क्षमता के स्थान पर सम्पत्ति के आधार पर ऋण दिया जाना, सदस्यों का दोषपूर्ण चुनाव, सदस्यों में पारस्परिक नियन्त्रण व निरीक्षण का अभाव, सदस्यों के आपसी झगड़े, कुछ सदस्यो का अनुचित प्रभाव होने से उनके हाथों में समिति का कार्य केन्द्रित हो जाना, समिति के कार्यों में सदस्यों की अरुचि होना, पुराने ऋण को छिपाना, सहकारी समितियों व बैंकों के प्रबन्धकों का स्वार्थी व अयोग्य होना आदि।

(४) सदस्यों को सहकारिता के सिद्धान्तों से अवगत कराने के लिए जो कर्मचारी रखे जाते हैं वे बहुधा अनुभवहीन व अयोग्य होते हैं।

(५) समितियों की प्रबन्ध-समितियों व उसके अध्यक्षों को प्रायः सभी अधिकार दे दिये जाते हैं जो अपनी इच्छानुसार अपने स्वार्थ को देखते हुए समितियों का संचालन करते हैं।

(६) अध्यक्ष व अधिकारी सदस्यों द्वारा किये गए दुराचारों के प्रति उदासीन और नम्र रहते हैं और अपने कर्तव्यों को सरकारी अफ़सरों पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार बेईमानी और दुराचार का क्षेत्र बढ़ता ही जाता है।

(७) कुछ लोगों का मत है कि भारतीय सहकारी आन्दोलन वास्तव में जनता द्वारा संगठित आन्दोलन नहीं है वरन् यह सरकार की ओर से उन पर लादा गया है। राज्य सरकारों का सहकारी समितियों पर अत्यधिक नियन्त्रण रहता है। सदस्य यह सोचते हैं कि इन समितियों से लिया गया ऋण सरकारी है। इसी कारण

सदस्यों में सहकारिता की भावना नहीं रह जाती और वे सहकारिता के लाभों से वंचित रह जाते हैं।

(८) साख समितियों का असीमित उत्तरदायित्व होने के कारण भी सहकारिता की संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी है। ऐसे व्यक्ति भी, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, समितियों के सदस्य बनकर असीमित उत्तरदायित्व का खतरा मोल लेना नहीं चाहते।

सुधार के उपाय

सैद्धान्तिक रूप से निस्सन्देह सहकारिता भारतीय परिस्थितियों में सर्वथा अनुकूल है। कृषि में उन्नति करने तथा अन्य ग्रामीण समस्याओं को हल करने का निश्चित रूप से यह एक उत्तम साधन है। परन्तु उपरोक्त कारणों से सहकारिता में प्रगति संतोषजनक नहीं हुई है। अब भी सहकारिता के संगठन एवं संचालन में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। समय-समय पर अनेक विशेषज्ञों एवं समितियों ने उसके पुनर्संगठन के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक के कृषि सहकारी विभाग ने इस विषय में निम्न मुख्य सुझाव दिये हैं—

(१) समितियों द्वारा दिये जाने वाले ऋण को अल्पकालीन, दीर्घकालीन व पुराने ऋण में विभक्त कर देना चाहिए और सबका लेखा अलग-अलग सुचारु रूप से रखना चाहिए। पुराने ऋणों को किश्तों द्वारा चुकाने की व्यवस्था की जाय तथा इसी बीच कृषि सुधार के लिए किसानों को नये ऋण देने चाहिए।

(२) समितियों के पास रक्षित कोष की व्यवस्था होनी चाहिए जिसे कठिन समय में प्रयोग किया जा सके।

(३) समिति द्वारा ऋण संभवतः उत्पादक कार्यों के लिए ही देने चाहिए।

(४) प्राथमिक साख समितियों को बहुदेशीय समितियों में परिवर्तित करने के प्रयत्न करने चाहिए।

(५) अधिकारियों व प्रबन्धकों के प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(६) कृषि-उपज की विपणन के लिए सहकारिता समितियों की स्थापना होनी चाहिए।

(७) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय बैंकों को पुनर्संगठित करना चाहिए।

(८) केन्द्रीय बैंकों से व्यक्तिगत सदस्यों को धीरे-धीरे अलग करने के प्रयत्न करने चाहिए।

(९) दीर्घकालीन ऋण देने के लिए भूमि बन्धक बैंकों की अधिकतम स्थापना की जानी चाहिए।

इन उपायों के अतिरिक्त निम्नलिखित सुझाव भी महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) सहकारी समितियों में सीमित उत्तरदायित्व की योजना लागू कर देनी

चाहिये जिससे सभी श्रेणियों के व्यक्ति सदस्य बन सकें और सहकारिता आन्दोलन का तीव्र गति से प्रसार हो सके।

(२) मितव्ययिता को प्रोत्साहन देना चाहिए तथा गांव में बचत के साधनों का उपयोग करने के लिये प्रयत्न किये जाने चाहिए जिससे किसानों में रुपया बचाने की आदत पड़े और सहकारी समितियों को अधिक धन प्राप्त हो सके।

(३) राज्य सरकारों को अपना कार्यक्षेत्र सहकारी समितियों का पथ-प्रदर्शन और उनकी गतिविधि का निरीक्षण करने तक ही सीमित रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य को साक्षरता का प्रसार एवं समाचारपत्रों, रेडियो तथा व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा सहकारिता के लाभों का प्रचार करना चाहिए तथा जो समितियां सन्तोषजनक कार्य कर रही हैं उन पर से सरकारी नियंत्रण हटा लेना चाहिए।

(४) सरैया समिति ने स्त्रियों को सहकारी समितियों का अधिकतम सदस्य बनाने पर जोर दिया था तथा प्रत्येक प्रान्तीय संगठन में कम-से-कम एक स्त्री कार्य कर्त्ता को नियुक्त करने का सुझाव दिया था।

(५) सरकारी स्तर पर सब प्रान्तीय भाषाओं में सहकारिता सम्बन्धी साहित्य का निर्माण किया जाय, जिससे हर व्यक्ति समितियों के उपनियम, नियम तथा समितियों से प्राप्त होने वाले लाभों से परिचित हो सके। शिक्षा विभाग द्वारा भी यह आदेश दे दिया जाना चाहिये कि पाठ्य-पुस्तकों में छोटी कक्षाओं से ही बालकों को सहकारिता की उपयोगिता से परिचित कराया जाय। फिल्म तथा न्यूजरील विभाग को तुरन्त ही हर भाषा की सहकारी समितियों की उपयोगिता सम्बन्धी फिल्में बनाकर सूचना एवं पब्लिसिटी डिवीजन द्वारा गांव गांव में दिखाना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इस प्रकार किसान के हृदय में मिल जुल कर कार्य करने की नीति पर पूरी आस्था उत्पन्न करनी चापिये।

(६) सहकारी आन्दोलन की नींव सुदृढ़ करने में रिजर्व बैंक को बहुत जिम्मेदारी का कार्य करना होगा। वैसे तो प्रान्तीय बैंक गाँव गाँव में ऋण समितियों का जाल बिछाना और गिरवी रखने वाली समितियों का निर्माण करना आदि कार्य करेंगे, परन्तु इन बैंकों को पूरा नियंत्रण, पोषण और पूर्ण निरीक्षण की क्षमता उसी समय उत्पन्न हो सकती है जब कि रिजर्व बेक इनको शक्ति प्रदान करने वाला स्रोत बन जाय। रिजर्व बेक को भी ग्रामीण ऋण कोष के लिए ५-६ करोड़ रुपये की स्थायी पूंजी की किसी-न-किसी प्रकार व्यवस्था करनी ही होगी तथा कुछ वर्षों तक ४-५ करोड़ रुपये का वार्षिक अनुदान भी सरकारी कोष से लेना होगा, तभी तो इन ऋण समितियों में कुछ स्थायित्व आ सकेगा।

भारत में सहकारिता का भविष्य बहुत उज्वल है क्योंकि योजना आयोग ने यह साफ तौर से घोषित कर दिया है कि भारत में सहकारिता के आधार पर ही आर्थिक व्यवस्था का संगठन करना है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत

देश के प्रायः सभी राज्य सहकारिता के विकास की ओर अच्छे प्रयत्न कर रहे हैं। निस्संदेह द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारतीय सहकारी आन्दोलन संसार के किसी भी प्रगतिशील देश की अपेक्षा कम नहीं रहेगा। परन्तु इसके लिये अविलम्ब ही कुछ नये तात्कालिक सुधार करने होंगे। भले ही वित्त मंत्री को कुछ नये अनुदान स्वीकृत कराने पड़ें अथवा किसी नये बिल द्वारा रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन लाना पड़े, पर सहकारी आन्दोलन में पूरी प्रबलता, पूरी गति भरने के लिये सरकार को एक विशुद्ध एवं स्पष्ट नीति अपनानी होगी। सरकार को आडिट की जिम्मेदारी पूर्णरूपेण व पूर्ण सतर्कता से अपने हाथ में लेनी होगी तथा प्रचार के साधनों की ओर भी विशेष ध्यान देना होगा।

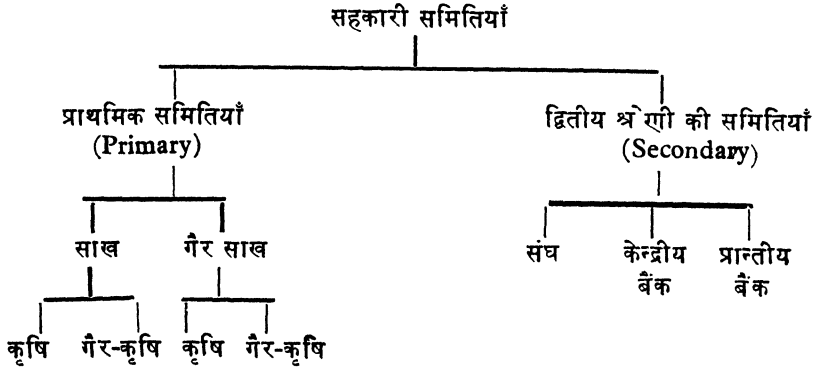
अध्याय १८

सहकारिता (क्रमशः)

(COOPERATION—CONTD)

सहकारी समितियों का वर्गीकरण

भारत में सहकारी आन्दोलन का ढाँचा निम्नलिखित रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है—



प्राथमिक समितियाँ

प्राथमिक समितियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) कृषि सहकारी शाख समितियाँ (Agricultural Cooperative Credit Societies)।

(२) कृषि सहकारी गैर साख समितियाँ (Agricultural Cooperative Non-Credit Societies)।

(३) गैर-कृषि सहकारी साख-समितियाँ (Non-Agricultural Cooperative Credit Societies)।

(४) गैर-कृषि सहकारी गैर-साख समितियाँ (Non-Agricultural Cooperative Non-Credit Societies)।

कृषि सहकारी समितियाँ (Primary Credit Societies)—

प्राथमिक साख समितियाँ—कृषि सहकारी साख समिति की स्थापना कोई

भी १० या अधिक व्यक्ति (किन्तु अधिक से अधिक १००) मिलकर कर सकते हैं। सदस्यों को समिति की स्थापना के लिये रजिस्ट्रार को प्रार्थना-पत्र भेजकर रजिस्ट्री करानी पड़ती है। इस समिति का कार्यक्षेत्र प्रायः एक गाँव तक ही सीमित रहता है, जिससे सदस्यों में परस्पर सम्पर्क और नियन्त्रण हो सके। सदस्यों का दायित्व असीमित (Unlimited Liability) होती है, जिससे सदस्यों में पारस्परिक नियन्त्रण और निरीक्षण रहता है और समिति के कार्य में शिथिलता नहीं आने पाती तथा साहूकारों को अपने ऋण डूबने का भय नहीं रहता और समिति को आवश्यकतानुसार साख प्राप्त हो जाती है।

समिति की कार्यवाहक पूँजी (Working Capital) दो प्रकार से प्राप्त होती है—(१) आन्तरिक साधन तथा (२) बाह्य साधन। आन्तरिक साधन में सदस्यों द्वारा दिया गया प्रवेश शुल्क, जमा-पूँजी तथा हिस्सा-पूँजी (Share Capital) आदि सम्मिलित होते हैं, किन्तु हिस्सा-पूँजी सभी स्थानों में न होकर केवल उत्तर प्रदेश, मद्रास व पंजाब आदि राज्यों में ही है। वाह्य साधनों में अन्य समितियों, केन्द्रीय व प्रान्तीय बैंकों, रिज़र्व बैंक, व सरकार आदि द्वारा भी पर्याप्त पूँजी, जमा व ऋण के रूप में प्राप्त होते हैं।

प्रत्येक समिति को सहकारी अधिनियम के अनुसार एक रक्षित कोष (Reserve Fund) का निर्माण करना आवश्यक है। जिन समितियों में हिस्सा पूँजी नहीं है, उन्हें अपने सभी लाभों को इस कोष में जमा करना पड़ता है तथा बिना हिस्सा पूँजीवाली समितियों को अपने कुल लाभ का २५% रक्षित-कोष में जमा करना पड़ता है। रजिस्ट्रार की आज्ञा से समिति लाभ का $\frac{1}{10}$ भाग दान सम्बन्धी कार्यों में व्यय कर सकती है। सरकार द्वारा भी समिति को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जैसे, समितियों को स्टाम्प व्यय, रजिस्ट्रेशन शुल्क और आय-कर से मुक्त कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समिति के अंशों को कुर्क नहीं किया जा सकता और इसे अन्य साहूकारों की अपेक्षा अपने ऋण की वसूली पर पूर्वाधिकार प्राप्त होता है।

साख समितियाँ अपने सदस्यों को प्रायः तीन प्रकार के कार्यों के लिए ऋण देती हैं—(१) उत्पादक कार्य (२) अनुत्पादक कार्य तथा (३) पुराने ऋण का भुगतान करने के लिए। उत्पादक ऋण भी तत्कालीन कृषि सुधार कार्यों, अल्पकालीन ऋण, सरकारी करों के भुगतान के लिये तथा भूमि में स्थायी सुधारों के लिये, दीर्घकालीन ऋण आदि प्रकार के कार्यों के लिये दिए जाते हैं। आपसी झगड़ों का निपटारा, मुकदमेबाजी को समाप्त करने के हेतु पंच-निर्णय द्वारा किया जाता है। यदि चेतावनी देने पर भी समिति अपने कार्यों में सुधार नहीं करती तो रजिस्ट्रार उसे किसी समय भी भंग कर सकता है।

समिति का प्रबन्ध जनतांत्रिक व अवैतनिक होता है। यह साधारण समिति व प्रबन्ध समिति द्वारा किया जाता है। किन्तु समिति का वास्तविक प्रबन्ध तो

प्रबन्ध-समिति के द्वारा किया जाता है । इस समिति में ५ से ९ तक सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन साधारण समिति द्वारा वार्षिक सभा में होता है । यह समिति दैनिक कार्यों के लिये उत्तरदायी होती है । इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—नये सदस्यों को प्रवेश देना, सदस्यों के ऋण के लिये प्रार्थना-पत्रों पर विचार करना व ऋण देना, सदस्यों से बकाया ऋण वसूल करना तथा उन ऋणों पर निरीक्षण रखना, समिति के लिये अनेक प्रकार की पूँजी (Funds) का निर्माण करना, मंत्री द्वारा रक्खे गये लेखों का निरीक्षण करना, आय-व्यय का लेखा रखना, रजिस्ट्रार से लिखा पढ़ी करना, आवश्यकता पडने पर साधारण सभा का आयोजन करना तथा सदस्यों व अन्य व्यक्तियों को समिति में रुपया जमा करने के प्रोत्साहित करना आदि हैं ।

साधारण समिति में सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं, जो समिति की नीति को निर्धारित करने के अतिरिक्त प्रबन्ध समिति के सदस्य चुनती है, एक वैतनिक मंत्री नियुक्ति करती है, प्रबन्ध समिति द्वारा प्रस्तुत वार्षिक स्थिति-विवरण की स्वीकृति देती है, रजिस्ट्रार व ऑडीटर्स की रिपोर्ट व आदेशों पर विचार करती है, आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों को निकालती है, साख की अधिकतम सीमाएँ निर्धारित करती है, और समिति के नियमों में संशोधन आदि करती है ।

सन् १९५०-५१ के अन्त तक १,१५,४६२ कृषि साख समितियाँ थी जिनके ५१,५३,९०७ सदस्य थे । सन् ५१-५२ में इन समितियों ने ३७·५८ करोड़ रुपया ऋण के रूप में सदस्यों को बाँटा था । कृषि साख समितियों के कार्यो के विषय में गत कुछ वर्षों के स्वतन्त्र आँकड़े प्राप्त नहीं है किन्तु हाल ही में एकत्रित किये गये आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन साख समितियों में लगातार वृद्धि हुई है । उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश में सन् १९५२-५३ में इन समितियों द्वारा २·१ करोड़ रुपये का ऋण दिया गया था जबकि ५१-५२ में यह मात्रा केवल १·५७ करोड़ रुपया थी । बम्बई में समितियों ने सन् १९५१-५२ में ८·१५ करोड़ रुपये व १९५३-५४ में १०·७८ करोड़ रुपये का ऋण बाँटा था । योजना के अन्तर्गत राज्य सरकारें इनकी संख्या बढ़ाने के अनेकों प्रयत्न कर रही हैं ।

गैर-साख समितियाँ

गैर साख समितियों का विकास सबसे पहले पश्चिमी देशों में हुआ । विशेष-कर इंगलैंड में वस्तुओं के ऋण, विक्रय और वितरण में इनको बहुत सफलता हुई । किन्तु भारत में तो साख के आधार पर ही सहकारिता प्रारम्भ हुई थी । अतः गैर साख समितियों का विकास बहुत बाद में ही हो सका । सन् १९१२ के अधिनियम में ऐसी समितियों की स्थापना करने की व्यवस्था कर दी गई थी । परन्तु भारत में निरक्षरता व औद्योगिक विकास की कमी के कारण इस प्रकार की समितियाँ अधिक प्रगति नहीं कर सकीं है । भारतीय कृषक अनन्त काल से क्रय विक्रय, के के लिये साहूकार व मध्यस्थों के ऊपर ही निर्भर रहा है । परन्तु गैर-साख समितियों ने कृषि औज़ार और यन्त्रों की व्यवस्था करके, खाद और उत्तम बीज की उचित

मूल्य पर यथासमय पूर्ति करके और कृषि पदार्थों के विक्रय के लिये सहकारी विपणन की व्यवस्था करके कृषक की उक्त निर्भरता को किसी सीमा तक समाप्त कर दिया है। द्वितीय युद्धकाल व युद्ध के पश्चात् गैर-साख समितियों का काफी विकास हुआ है क्योंकि एक तो इन्हीं दिनों में कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत अधिक हो गये थे, जिससे किसानों की आय भी बढ़ गई और वे समितियों को ऋण का भुगतान करने लगे, जिससे समितियों के पास धन हो जाने से उन्होंने अन्य कार्य करने आरम्भ कर दिये। दूसरे, आवश्यक पदार्थों को भरने से बाज़ार में कमी व चोर बाज़ारी आदि फैलने से भी शक्कर, कपड़ा, तेल, दियासलाई, अनाज आदि का वितरण करने का कार्य भी इन्हीं समितियों को सौंप दिया गया। धीरे-धीरे गैर-साख समितियाँ विभिन्न कार्यों के लिये स्थापित होती चली गई, जैसे क्रय-विक्रय, उत्पादन, समाजसेवा कार्य, गृह-निर्माण, बीमा आदि।

गत वर्षों में इन समितियों ने, विशेषकर उत्पादन समितियों ने, उल्लेखनीय प्रगति की है। खाद्यान्न की कमी होने के कारण व 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' से इन्हें काफी प्रोत्साहन मिला था। इन समितियों के अन्तर्गत अनेक कार्य आते हैं, जैसे कृषि सुधार, भूमि की चकबन्दी, सिंचाई, बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाना, फसलों का संरक्षण, सामूहिक खेती, पशुओं का पोषण आदि। किन्तु इन समितियों ने देश के विभिन्न भागों में सामान्य रूप से प्रगति नहीं की है। उत्तर प्रदेश, बंगाल, मद्रास, बम्बई, पंजाब आदि राज्यों में इन समितियों ने अच्छा कार्य किया है। इसके अतिरिक्त गैर-साख सहकारी समितियों ने जीवन सुधार या गाँव पुनर्निर्माण की ओर भी उत्तर प्रदेश व पंजाब में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। जीवन सुधार समितियों (Better Living Societies) ने जनतांत्रिक आधार पर कार्य करके सामाजिक रीति-रिवाजों पर अनुत्पादक व्यय, फिज़ूल-खर्ची, गन्दगी, मुकदमेबाज़ी की अधिकता तथा अन्य सामाजिक व आर्थिक कुरीतियों को दूर करने के अनेक प्रयत्न किये हैं। पंचनिर्णय समितियों (Arbitration Societies) ने मुकदमेबाज़ी को समाप्त करने में और जन स्वास्थ्य सुधार समितियों ने ग्रामीण क्षेत्रों की बीमारियों तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के उल्लेखनीय प्रयत्न किये हैं।

सन् १९५०-५१ में कृषि गैर-साख समितियाँ कुल सहकारी समितियों की २०% से कुछ अधिक थीं। इनकी संख्या ३३,८१५ व सदस्यों की संख्या ३३,६५,२४३ थी। उक्त समितियों में १०,७१७ क्रय-विक्रय समितियाँ, ५,९३८ उत्पादन व विक्रय समितियाँ, ११,९५६ उत्पादन समितियाँ, ५,१४२ समाज सेवा समितियाँ तथा ६२ गृह-निर्माण समितियाँ थीं। इन समस्त समितियों की पूंजी की विभाजन इस प्रकार था—

हिस्सा पूंजी (Share Capital) ४५६३·३ लाख रु०

निधियां कोष (Funds) ३४३१·२ लाख रु०

कार्यशील पूँजी (Working Capital) १६५४ लाख रु०

सन् १९५०-५१ में इन समितियों को १०६२ लाख रुपये का ऋण दिया गया था तथा इनके द्वारा ५५ करोड़ रुपये की विभिन्न वस्तुओं का विक्रय किया गया था।

बहु-उद्देशीय सहकारी समितियाँ (Multi-purpose Co-operative Societies)

भारतीय सहकारी आन्दोलन में यह एक बहुत ही विवादपूर्ण प्रश्न है कि किसान की प्रत्येक समस्या, जैसे साख, क्रय-विक्रय, वैज्ञानिक कृषि, औज़ारों, उत्तम खाद व बीज आदि के लिये अलग-अलग सहकारी समितियाँ हों जो केवल एक ही समस्या का हल कर सकें अथवा एक ही गाँव में या कुछ गाँवों को मिलाकर उक्त सभी समस्याओं को हल करने के लिये केवल एक ही समिति स्थापित की जानी चाहिए। भारत में अभी तक एक-उद्देशीय समितियों का ही प्रभुत्व रहा है किन्तु देशव्यापी मन्दी के कारण, साख समितियाँ भी अपना कार्य आशा के अनुसार न कर सकी थीं। पिछले कुछ वर्षों से एक-उद्देशीय समितियों के प्रति विरोध प्रकट किया जाने लगा है। एक विरोध तो यह है कि गाँवों में प्रत्येक कार्य के लिये भिन्न-भिन्न अनेक समितियों के प्रबन्ध व संचालन के लिये सुयोग्य व्यक्ति नहीं मिल पाते। दूसरे, भारतीय कृषक अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक संस्थाओं से सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते, क्योंकि वे अपनी सभी आवश्यकताओं, जैसे साख, क्रय-विक्रय, बीज आदि की पूर्ति एक साहूकार द्वारा करने के आदी हो गए हैं। अतः अब बहु-उद्देशीय समितियों की स्थापना पर विशेष जोर दिया जाने लगा।

बहु-उद्देशीय समितियों के गुण व दोष

गुण (Merits)

(१) यह समिति ग्रामीण सामूहिक जीवन के पुनर्संगठन के लिये बहुत उपयुक्त संस्था है, क्योंकि यह कृषक जीवन से सम्बन्धित सभी समस्याओं का हाल करने में सहायक होती है।

(२) सदस्यों का समितियों के प्रति अधिक विश्वास हो जाता है, अधिक हित होता है, साख नियंत्रित होती है और विस्तृत कार्यक्षेत्र होने से वैतनिक कर्मचारियों की सहायता से समितियों का प्रबन्ध कुशल और मितव्ययी होता है।

(३) इन समितियों द्वारा ग्रामीण जीवन में साहूकारों का हस्तक्षेप पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है क्योंकि किसान की प्रत्येक आवश्यकता इसी समिति द्वारा पूर्ण कर दी जाती है।

(४) निरक्षर व अज्ञानी कृषक के आर्थिक हितों की सुरक्षा के हेतु इन समितियों द्वारा साख व विपणन में सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

(५) इन समितियों में अनेक प्रकार के कार्यों का केन्द्रीय संचालन होने से कुशल कर्मचारियों की कम आवश्यकता होती है, अतः प्रबन्ध बहुत सस्ता होता है।

(६) एक कार्य की हानि की पूर्ति दूसरे कार्य के लाभ द्वारा की जा सकती है, अतः विस्तृत कार्यक्षेत्र होने के कारण एक-उद्देशीय समिति की अपेक्षा इन समितियों में हानि सहन करने की क्षमता अधिक होती है।

(७) बहु-उद्देशीय समितियों में सीमित दायित्व होने से सभी श्रेणियों के व्यक्ति-अमीर, गरीब, मध्यमवर्ग आदि के अधिक-से-अधिक संख्या में सदस्य बन जाते हैं, जिससे समिति की पूँजी बढ़ जाती है।

दोष (Demerits)

(१) समिति के विभिन्न कार्य कठिन होने से उसका नियंत्रण इने-गिने बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है जिसका वे दुरुपयोग कर सकते हैं। इस तरह की शक्ति का केन्द्रित हो जाना सहकारिता की भावना के विरुद्ध है।

(२) भिन्न-भिन्न कार्यों का लेखा अलग-अलग न रखकर मिश्रित रखा जाता है, अतः किसी एक कार्य विशेष की सही स्थिति सदा छिपी रहती है और उसको सरलता से ज्ञात नहीं किया जा सकता।

(३) समिति द्वारा साख के अतिरिक्त अन्य कार्य भी किये जाते हैं, इसलिए किसी एक कार्य की असफलता से अन्य कार्यों के भी असफल होने का भय रहता है।

(४) समिति का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के कारण यह संभव हो सकता है कि सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध व परिचय न हो सके जो सहकारिता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(५) जब साधारण साख समिति के संचालन के लिये सुयोग्य व्यक्तियों की कमी रहती है तो बहु-उद्देशीय समिति, जिसका संचालन अधिक कठिन है, के संचालन व प्रबन्ध के लिये सुयोग्य व्यक्ति मिलना अत्यन्त कठिन होगा।

(६) कम दर पर साख प्राप्त करने के लिये व सदस्यों में आपसी नियंत्रण और निरीक्षण के लिये समिति का दायित्व असीमित होना आवश्यक है, किन्तु गैर-साख कार्यों के लिये यह करना कठिन है। अतः इन समितियों का दायित्व सीमित होता है।

उक्त दोषों के होते हुए भी सहकारी आन्दोलन के विशेषज्ञों एवं विभिन्न जाँच समितियों ने समय-समय पर बहु उद्देशीय समितियों की स्थापना पर विशेष जोर दिया है। भारतीय रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग के अनुसार प्राथमिक साख समितियों का पुनर्संगठन करना चाहिए जिससे समिति के द्वारा ग्रामीणों से सर्वांगीण जीवन की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें। मद्रास की सन् १९४० की सहकारिता समिति के अनुसार "यदि समितियाँ अपने वर्तमान नियमों द्वारा निर्धारित सीमा तक अपना कार्यक्षेत्र फैलाती हैं तो इस सीमा के बाद समितियों का अगला कदम पूर्ण

विकसित बहु उद्देशीय समितियों में परिवर्तित होना होगा।"[1] सन् १९४६ में सहकारी आयोजन समिति ने, सन् १९४० के चौदहवें रजिस्ट्रार्स सम्मेलन में, व सन् १९४७ में अखिल भारतीय सहकारी सम्मेलन आदि में सभी ने इस प्रकार की समितियों को अधिक संख्या में स्थापित करने का सुझाव दिया था।

इन सुझावों के अनुसार सन् १९३९ के पश्चात् इस प्रकार की समितियों की संख्या में दिनों दिन वृद्धि होने लगी। सन् १९४०-४१ में इनकी संख्या उत्तर प्रदेश में २२१४, बम्बई में ७०, मध्यप्रदेश और बरार में १४, व बंगाल में ४१ थी। सन् १९४७-४८ तक इनकी संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और उत्तर प्रदेश में ये १८०००, बम्बई में ६५५, मध्यप्रदेश में १७२, बंगाल में ११६२, बिहार में ८५३ और मद्रास में ८८०२ बहुउद्देशीय समितियाँ स्थापित हो गई थी। इस प्रकार की समिति अपने केन्द्र से ५ मील चारों ओर कार्य करती है और विभिन्न कार्यों के संचालन के लिये सवैतनिक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। समिति का दायित्व सीमित होता है और यह किसान की प्रत्येक समस्या को हल करने के लिए निम्नलिखित मुख्य कार्य करती है—

(१) वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण प्रदान करके समिति भूमि बन्धक बैंक की सहायता से अपने अच्छे सदस्यों का पुराना ऋण चुकाती है।

(२) सदस्यों की कृषि उपज को सहकारिता के आधार पर बेचने की प्रेरणा देकर उत्तम व्यापार और अधिक आय की व्यवस्था करती है।

(३) उत्तम बीज देकर अच्छी फसल उगाने के लिये प्रोत्साहन देती है।

(४) सदस्यों की अन्य आवश्यक वस्तुओं को संयुक्त रूप से क्रय निर्देश प्रणाली (Indent System) द्वारा बिना जोखिम के कम मूल्य पर खरीदने का प्रबन्ध करके बचत करती है।

(५) पंच-निर्णय को लागू करके मुकद्दमेबाजी का व्यय कम कराती है।

(६) खेतों की चकबन्दी कर कृषि उपज की वृद्धि में सहायता देती है।

(७) उत्तम बीज व उन्नत यन्त्र प्रदान करती है।

(८) सदस्यों को सहायक उद्योगों में कार्य करने की सुविधा देकर प्रोत्साहित करती है।

(९) अच्छा जीवन बिताने के उपाय बताती है।

(१०) चिकित्सा सम्बन्धी सहायता देने की भी व्यवस्था करती है।

गैर कृषि सहकारिता (Non Agricultural Co-operation)

गैर-कृषि सहकारिता को भी दो भागों में विभक्त किया गया है (१) साख समितियाँ तथा (२) गैर-साख समितियाँ।

गैर-कृषि साख समितियाँ—इस प्रकार की सहकारी समितियाँ प्रायः शहरी क्षेत्रों में पाई जाती है जो शुल्जे-डेलित्ज (Shulze Delitsch)

---

१. 'भारत का आर्थिक विकास' द्वारा डी० एस० नाग, पेज २३७

के सिद्धान्तों के आधार पर संगठित की जाती हैं, अर्थात् इनके सदस्यों की संख्या कृषि समितियों की अपेक्षा अधिक होती है, दायित्व सीमित होता है, वैतनिक प्रबन्धक होते हैं तथा समिति के लाभों का बड़ा भाग सदस्यों में बाँट दिया जाता है।

ये समितियाँ विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न रूप में कार्य करती हैं। बम्बई तथा मद्रास में 'जनता बैंक" (Peoples Bank) के नाम से ये समितियाँ मध्यम वर्ग के लोगों को काफी लाभ पहुँचा रही हैं। इनका संचालन कुशलतापूर्वक होता है, सदस्यों में मितव्ययता का प्रचार करती है तथा उन्हें कम ब्याज पर ऋण भी देती है। बम्बई, पंजाब तथा मद्रास में मितव्ययता समितियाँ (Thrift Societies) तथा जीवन बीमा समितियाँ (Life Insurance Societies) हैं। इनके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी व्यावसायिक फर्मों के कर्मचारी तथा सरकारी कर्मचारियों की सुविधा के लिये बम्बई, बंगाल तथा मद्रास में इस प्रकार की समितियाँ हैं जिन्होंने गत वर्षों में अच्छी प्रगति की है। पददलित वर्गों को उन्नत करने के लिए साम्प्रदायिक समितियां भी कार्य कर रही हैं जैसे बम्बई में जूते बनाने वाले चमारों एवं बढ़ईयों की दस्तकारी समितियाँ हैं। बम्बई, कलकत्ता जैसे औद्योगिक नगरों में मिल मजदूरों की सहायतार्थ साख समितियाँ हैं जो उनमें मितव्ययता का विकास करती हैं, कम ब्याज पर ऋण देती हैं तथा उनका सामाजिक तथा शैक्षणिक विकास करने में सहायता देती है। कृषि साख समितियों की अपेक्षा ये समितियां अधिक सफल रही है, क्योंकि इनका संचालन कुशल, योग्य व शिक्षित प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है। इस समय भारत में लगभग ८००० गैर कृषि साख समितियां कार्य कर रही हैं जिनके २०३ लाख सदस्य हैं। इन समितियों की हिस्सा पूँजी (Share Capital) १३.३६ करोड़ रुपया, जमा पूँजी (Deposits) ३७ करोड़ रु० तथा ६ करोड़ रु० विभिन्न कोषों में जमा है। इन समितियों द्वारा सदस्यों को लगभग ५० करोड़ रुपये ऋण दिये जा चुके हैं। बम्बई, मद्रास तथा बंगाल जैसे औद्योगिक राज्यों में इन समितियों ने विशेष प्रगति की है। इन राज्यों के प्रायः प्रत्येक नगर में इस प्रकार की एक-एक बैंक कार्य कर रही है तथा कहीं-कहीं तो यह संयुक्त स्टाक बैंकों (Joint Stock Banks) से प्रतियोगिता भी कर रही हैं।

गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ (Non-Agricultural Non-Credit Societies)

भारत के शहरी क्षेत्रों में प्रायः गैर-साख समितियों ने ही सहकारी आंदोलन में काफी प्रगति की है। आजकल ये समितियाँ विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न रूप में कार्य कर रही हैं। सन् १९५०-५१ में गैर-कृषि गैर-साख समितियों की संख्या २०,५१८ थी जिनके लगभग २,८०,००० सदस्य थे। इनकी कार्यशील पूँजी (Working capital) ६·५२ करोड़ रुपया, हिस्सा पूँजी (Share capital) ९·४९ करोड़ रुपया तथा कोषों की पूँजी (Funds) ६·७९ करोड़ रुपया थी। इनमें मुख्य प्रकार की समितियाँ निम्नलिखित थीं—

क्रय-विक्रय समितियाँ (Purchase & Sale Societies)	८४१७
उत्पादन व विक्रय समितियाँ (Production & Sale Societies)	६४२३
उत्पादन समितियाँ (Production Societies)	८२६
समाज-सेवी समितियां (Social Service Societies)	३२०६
गृह-निर्माण समितियाँ (Housing Societies)	१६१३
बीमा समितियाँ (Insurance Societies)	२३

सहकारी उपभोक्ता भण्डार (Co-operative Consumer's Store)

भारत की अधिकांश जनता निर्धन है और उसे उचित मूल्यों पर विशुद्ध वस्तु प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। अतः उपभोक्ता भी सहकारी समितियाँ बनाकर इन कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं। उपभोक्ता समितियों की स्थापना सर्वप्रथम इङ्गलैंड के रौशडेल पाओनीयर्स के द्वारा हुई थी, जहाँ इन समितियों ने बहुत प्रगति की है। तत्पश्चात योरुप के अन्य देशों में भी ये समितियाँ अधिक जन-प्रिय होने लगीं।

भारत में भी अधिकांश उपभोक्ता समितियों की स्थापना रोशडेल पाओनीयर्स (Rochdale Pioneers) द्वारा निर्देशित सिद्धांतों पर ही हुई है जिनके अनुसार सार्वजनिक सदस्यता, जनतांत्रिक नियंत्रण, विपणन मूल्यों पर रोक, पूँजी पर निश्चित लाभ और खरीदी हुई वस्तुओ पर निश्चित लाभांश आदेशित है। इन समितियों द्वारा सदस्यों को उचित व सस्ते मूल्य पर उपभोग की वस्तुएँ प्रदान की जाती हैं तथा बड़े प्रमाण पर कार्य करने से जो लाभ होते हैं उनको सदस्यों में, उनके द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं के अनुपात में बाँट दिया जाता है। उपभोक्ता समितियाँ उपभोग्य वस्तुओं का फुटकर और थोक व्यापार करती है तथा अपने क्रेताओं को ही अपना विक्रेता बनाकर व्यापारिक व्ययों में कमी करती हैं। प्रत्येक सदस्य को उपभोक्ता भंडार का हिस्सा खरीदना पड़ता है। समस्त सदस्यों की एक साधारण सभा (General Body) होती है जो प्रबन्ध-कारिणी-समिति (Executive committee) को चुनती है। यह समिति कई उपसमितियाँ जैसे क्रयसमिति, निरीक्षण समिति, आदि बनाती है। प्रत्येक सदस्य का सीमित दायित्क (Limited Liability) होता है, वस्तुएँ उधार नहीं दी जातीं वरन् बाजार भाव में अथवा कुछ सस्ते मूल्य में नकद दामों में बेची जाती है। जब उपभोक्ता भंडार अधिक संख्या में हो जाते हैं तो वे सब मिलकर थोक सहकारी समिति (Whole Sale Society) स्थापित कर लेते हैं जो सीधे उत्पादकों से थोक भाव में वस्तुएँ खरीद लेते हैं। इस समिति का लाभ भंडारों की खरीद के अनुपात में बाँट दिया जाता है।

भारत में सहकारी आन्दोलन के आरम्भ से ही सहकारी भंडारों की स्थापना होने लगी थी, किन्तु सन् १९१४ ई० तक इन्होंने विशेष प्रगति नहीं की। प्रथम युद्ध प्रारम्भ होने से खाद्य पदार्थों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक बढ़ गये थे और वस्तुओं के मिलने में कठिनाई होने लगी थी। फलस्वरूप उपभोक्ता

भंडारों का विकस हुआ। युद्ध समाप्त होते ही ये भंडार भी समाप्त हो चले। परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने पुनः इन भंडारों को नवीन स्फूर्ति व जीवन प्रदान किया। बहुत अधिक कीमतों, अनुचित लाभों और चोर बजारी आदि के कारण उपभोक्ताओं ने सहकारिता का सहारा लिया। अतः बड़ी संख्या में उपभोक्ता भंडारों की स्थापना होने लगी। सरकार ने भी लाइसेन्स देकर तथा कन्ट्रोल की वस्तुओं का कोटा (Quota) देकर इन भंडारों को प्रोत्साहन दिया। उत्तर प्रदेश के सभी जिलों में सहकारी बिक्री संघ (Cooperative Marketing Federations) स्थापित किये गये जो बहुत सी बस्तुओं की बिक्री करते थे। उपभोक्ता भंडारों का प्रगतिशील विकास इस बात से सिद्ध होता है कि "सन् १९३८-३९ से १९४७-४८ तक इन भंडारों की संख्या आसाम में १३ से १०१३, बम्बई में २५ से ६१२, मद्रास में ८५ से १७४० तथा उड़ीसा में ९ से ३७१ हो गई थी।"[1] किन्तु यह प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि यह समस्त देश में समान रूप से नहीं हुई और अधिकांशतः यह शहरों में ही हुई है।

ट्रिपलीकेन स्टोर

मद्रास के ट्रिपलीकेन स्टोर (Triplicane Society) ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है। यह स्टोर १९०४ में स्थापित हुआ था और धीरे-धीरे प्रगति करता रहा। सन् १९३९ में इसकी ३० शाखाएँ थीं और ६१२८ सदस्य थे। किन्तु युद्धकाल में इसकी ३५ शाखायें हो गई और सदस्यों की संख्या लगभग २२००० हो गई। इस स्टोर में लगभग ७६ लाख रुपये की बिक्री प्रतिवर्ष की जाती है। इसके अतिरिक्त स्टोर के ३० डिपो थे जिनसे सर्वसाधारण को राशन मिलता था। यह स्टोर अनाज, चावल, गुड़, शक्कर, तेल, मसाला, सूखे फल, चाय, कहवा, साबुन, आटा, दाल, मक्खन, घी, बिस्कुट, मिठाई, तथा औषधियां आदि बेचता है।

इसके अतिरिक्त औद्योगिक कारखानों में उदार मालिकों की सहायता से मजदूरों के लाभ के लिये कुछ भंडार स्थापित किये गये हैं। इस प्रकार की सहकारिता ने मद्रास, बम्बई, मैसूर, आसाम, व त्रिवांकुर-कोचीन आदि प्रदेशों में अच्छी प्रगति की है।

किन्तु कण्ट्रोल प्रथा के टूटने से गत कुछ वर्षों में उपभोक्ता भंडारों के कार्यों में कुछ शिथिलता आ गई है। मद्रास जैसे राज्य में, जहाँ उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन बहुत अच्छी प्रगति कर चुका है, भंडारों की बिक्री में भारी कमी हो गई है। सन् १९५१-५२ में २३·८८ करोड़ रुपये की बिक्री की अपेक्षा सन् १९५२-५३ में केवल १६·५७ करोड़ रुपये की बिक्री हुई थी। इस कमी का एकमात्र कारण यह था कि भारत के अधिकांश भंडारों का कार्यक्षेत्र कण्ट्रोल की वस्तुओं तक ही सीमित

---

१. 'भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन' द्वारा ओमप्रकाश केला पृ०, सं० १८०

था और वे अन्य प्रकार के व्यापारों से बिलकुल ही अनभिज्ञ-से रहे थे। फलतः कन्ट्रोल के हटने से भंडारों की प्रगति में काफी ठेस लगी है।

उपभोक्ता भंडारों के विकास के सुझाव

भारत जसे निर्धन देश में उपभोक्ता भंडारों के विकास की बहुत आवश्यकता है जिसके लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं—

(१) लगभग ५,००० की जनसंख्या के लिए एक उपभोक्ता भंडार (समिति) रोशडैल के सिद्धान्तों पर स्थापित करनी चाहिये।

(२) व्यापार सचालन के लिए आवश्यक पूँजी की पूर्ति हिस्सों की पूँजी तथा केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर की जानी चाहिये।

(३) सहकारी विभाग को उपभोक्ता भंडारों की अधिकतम पूँजी व उनके द्वारा लिये जाने वाले ऋण की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये।

(४) सहकारी विभाग को प्राथमिक शहरी उपभोक्ता समितियों के संगठन के लिए विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहित करना चाहिये। इन समितियों के प्रारम्भिक ५ वर्षों का ५०% व्यय सरकार को देना चाहिये।

(५) ५० शहरी उपभोक्ता समितियों और ग्रामीण समितियों को एक केन्द्रीय समिति से सम्बन्धित कर देना चाहिए। केन्द्रीय समिति के हिस्से (Share) अन्य सदस्य समितियों द्वारा खरीदे जाने चाहिये। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय समिति के प्रारम्भिक ५ वर्षों का आधा व्यय सरकार को देना चाहिये।

(६) केन्द्रीय समितियों के कार्य से समन्वय रखने के लिये अन्तर्प्रान्तीय व्यापार की व्यवस्था के लिये और विपणन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए व उपसमितियों को सूचित करने के लिए एक प्रान्तीय उपभोक्ता समिति स्थापित करनी चाहिये और इसके प्रारम्भिक ५ वर्षों का आधा व्यय सरकार को देना चाहिये।[1]

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की गैर-कृषि गैर-साख सहकारी समितियों, जैसे सहकारी बीज स्टोर्स, लिफ्ट सिंचाई समितियाँ, सहकारी ईंटों के भट्टे, दूध समितियाँ, गृह-निर्माण समितियाँ, औद्योगिक सहकारी समितियाँ, बीमा समितियाँ आदि ने भी गत वर्षों में भारत के विभिन्न भागों में उल्लेखनीय प्रगति की है।

भूमिबन्धक बैंक (Land Mortgage Banks)

भारतीय कृषकों को अपने पैतृक ऋण चुकाने के लिए तथा कृषि भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। साधारण सहकारी समितियाँ अधिक समय के लिए ऋण देने के लिए असमर्थ हैं क्योंकि उनके साधन सीमित हैं। व्यापारिक बैंक कृषकों को किसी भी प्रकार के ऋण नही देते।

१. सहकारी नियोजन समिति, १९४६ द्वारा दिए गए सुझावों के आधार पर।

सन् १८८३ के भूमि सुधार कानून (Land Improvement Act) के अनुसार सर-कृषकों को केवल भूमि सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण देती है, जो अपर्याप्त होते हैं तथा पुराने ऋणों को चुकाने के लिए सरकार भी कोई सहायता नही देती। अतः किसानों के पुराने ऋण चुकाने तथा भूमि सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण देने के लिए एक साधन-सम्पन्न अर्थ-प्रबन्धक संस्था की आवश्यकता समझी गई, जिसकी पूर्ति के लिए जर्मनी के भूमि बन्धक बैंक के आधार पर भारत में भी भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना की गई थी। ये बैंक व्याज की दर कम करके साहूकार तथा सरकार की असंतोषजनक ऋण व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं और भूमि स्वामियों को स्थायी सुधार के लिए आर्थिक सहायता देते हैं।

अतः भूमि बन्धक बैंक वह संस्था है, जो भूमि स्वामियों की भूमि रहन रख कर, भूमि की आड़ पर अधिक समय के लिए ऋण देते है। यह बैंक मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं--

(१) **सहकारी बैंक**—यह छोटे-छोटे किसानों और भूस्वामियो के लिए अति उत्तम संस्था होते है, क्योंकि यह सदस्यों द्वारा रहन रखी सम्पत्ति की प्रतिभूति (Security) और पारस्परिक संगठन पर आधारित है। आवश्यक व्यय के लिए प्रत्येक सदस्य प्रवेश शुल्क देता है। अमरीका का फेडरल फार्म लोन बैंक (Federal Farm Loan Bank) इसी प्रकार के बैंक का एक उदाहरण है।

(२) **गैर-सहकारी बैंक**—इस प्रकार के बैक व्यापारिक तथा मिश्रित पूँजी भूमि बंधक बैंक के रूप में समस्त योरुपीय देशों में पाये जाते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य लाभार्जन करना और लाभांश घोषित करना है। इनके कार्यो पर सरकारी नियन्त्रण भी होता है, जिससे वे कर्जदारों का अधिक शोषण न कर सकें।

(३) **अर्ध-सहकारी बैंक** (Quasi Cooperative Bank)—इन बैंकों में सहकारी तथा व्यापारिक दोनों प्रकार के बैंकों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इनमें ऋण लेने वाले सदस्यों के साथ-साथ बड़े-बड़े पूँजीपतियों से अधिकतम मात्रा में पूँजी प्राप्त करने के हेतु ऋण न लेने वाले व्यक्तियों को हिस्सा लेने की अनुमति दे दी जाती है और सीमित दायित्व की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक सदस्य को एक ही वोट का अधिकार होता है तथा कम दर पर लाभांश घोषित किया जाता है। भारत में इसी प्रकार के भूमि बन्धक बैंक अधिक प्रचलित है। भूमि का स्वत्व जाँचने व रहन रखी गई भूमि का मूल्य आँकने के लिए सरकार के विशेष प्रशिक्षण प्राप्त अधिकारी होते हैं। सदस्यों को ऋण देने के पूर्व रजिस्ट्रार की अनुमति लेना आवश्यक होता है।

कार्य पद्धति

भूमि बन्धक बैंक बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, मैसूर आदि राज्यों में अच्छा कार्य कर रही हैं। यह बैंक निम्नलिखित कार्यों के लिए किसानों को दीर्घकालीन ऋण देते हैं—

(१) कृषि भूमि को रहन से छुड़ाना, (२) पैतृक ऋण चुकाना, (३) कृषि भूमि में स्थाई सुधार करना, (४) भूमि को खरीदना, (५) खेतों की चकबन्दी कराना। किन्तु व्यावहारिक रूप में ऋण केवल पैतृक ऋण को चुकाने के लिए ही दिया जाता है।

इस बैंक का प्रबन्ध एक ९ सदस्यों के मण्डल (Board) द्वारा किया जाता है, जो अवैतनिक होते है। ऋण लेने के लिए कृषक सदस्य छपे हुए प्रार्थना पत्र को भरकर तथा इसके साथ अपनी भूमि-सम्बन्धी कागजातों को नत्थी करके बैंक को देता है। बैंक के निरीक्षक व एक डाइरेक्टर द्वारा उक्त कागजातों की जाँच कर, भूमि का मूल्य, उसकी उत्पत्ति तथा कृषक की ऋण चुकाने की क्षमता की जाँच की जाती है और एक प्रमाण-पत्र दिया जाता है कि इस भूमि की एवज़ में कोई ऋण नहीं लिया गया है। तब बैंक का कानूनी सलाहकार उन कागजों का कानूनी दृष्टि-कोण से भू-स्वत्व का अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट देता है। तदुपरान्त यह सारे कागजात सहकारी विभाग के एक विशेष सब-रजिस्ट्रार के पास भेजे जाते हैं जो केवल इसी कार्य के लिए होता है और भूमि की जाँच करके अपनी रिपोर्ट देता है। बैंक की संचालक समिति इसी रिपोर्ट के आधार पर ऋण देना स्वीकार व अस्वीकार करती है। स्वीकृत प्रार्थना-पत्र भूमि बन्धक बैंकों के डिप्टी रजिस्ट्रार को भेजे जाते हैं जो अपनी सिफारिश सहित उसे केन्द्रीय-भूमि बन्धक बैंक (Central Land Mortgage Bank) के पास भेज देता है। यदि केन्द्रीय बैंक ऋण देना स्वीकार करता है तो उसकी सूचना प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंक को दे दी जाती है और यह प्रार्थी से केन्द्रीय बैंक के नाम बन्धक पत्र लिखाकर भेज देता है। केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक बन्धक पत्र पाने पर प्रारम्भिक बैंक को ऋण दे देता है और यह प्रार्थी कृषक को दे देता है। यह ऋण साधारणतया २० वर्ष के लिए दिया जाता है। प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक अपने सदस्यों की भूमि के मूल्य का २५% से ५०% तक ऋण देते है। ऋण ५००० रुपये से अधिक नहीं दिया जाता। जिस सूद पर केन्द्रीय बन्धक बक प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक को ऋण देता है उससे १% अधिक सूद पर सदस्यों को ऋण दिया जाता है। ऋणी अपने ऋण को किश्तों में चुका सकता है।

राज्य सरकारों ने भूमि बन्धक बैंकों के कार्य संचालन के हेतु अनेक सुविधाएँ दे दी है, जैसे कागजात की रजिस्ट्री में केवल आधी फीस देनी पड़ती है, भूमि का प्रमाण-पत्र लेने और २००० रुपये से कम ऋण लेने पर कोई फीस नहीं देनी पड़ती। बैंकों को गाँव के नक्शे, जिले का गजट व बन्दोबस्त के रजिस्टर मुफ्त दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋण वसूल करने के लिए उचित सुविधाएँ प्रदान करने के हेतु अनेक अधिनियम बनाये है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों का निरीक्षण भी करता हैं।

भूमि बंधक बैंकों का विकास

सर्वप्रथम इस प्रकार के बैंक सन् १९२० में पंजाब में झंग (पाकिस्तान) में स्थापित किये गये थी। इसके पश्चात् पंजाब में अन्य बैंक भी खुले परन्तु यह सफल न हो सके। कुछ आलोचकों के अनुसार भूमि हस्तान्तरण अधिनियम (Land Alienation Act) के लागू होने के कारण व मन्दी (Depression) आने के कारण अनेकों बैंक बन्द हो गये। भारतवर्ष में भूमिबन्धक बैंकों का वास्तविक आरम्भ सन् १९२९ से हुआ था जबकि मद्रास में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बेंक की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार का केन्द्रीय बैंक बम्बई में सन् १९३५ में स्थापित किया गया था। परन्तु इन बैंकों की वास्तविक प्रगति व सफलता तो केवल मद्रास और आन्ध्र राज्यों में ही हुई है। वैसे यूं तो बम्बई, सौराष्ट्र, मैसूर, कोचीन आदि राज्यों में भी इन बैंकों ने कुछ प्रगति की है। मद्रास में सन् १९४५-४६ में ११९ प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक थे जिनकी सदस्यता ८४,१२५ थी। इनके द्वारा ४३ लाख रुपये के ऋण दिये गए थे और २७ लाख रुपया वसूल किया गया था, जबकि सन् १९३८-३९ में ५९ लाख रुपया ऋण दिया गया था और केवल १० लाख रुपया वसूल हो पाया था।

भारत में आजकल ६ कन्द्रीय भूमि बन्धक और २८९ प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक कार्य कर रहे हैं, जिन्होंने गत वर्षो में इस प्रकार से ऋण दिये हैं :—[1]

वर्ष	लाख रुपया
१९४९-५०	१·०१
१९५०-५१	१·३३
१९५१-५२	२·५१

यद्यपि सन् १९५१-५२ में इन बैंकों द्वारा दिये गए ऋण में काफी वृद्धि हुई है, किन्तु फिर भी देश की आवश्यकता के दृष्टिकोण से यह मात्रा संतोषजनक नही कही जा सकती। मद्रास, बम्बई, आन्ध्र, सौराष्ट्र, कोचीन, मैसूर आदि राज्यों को छोड़कर सारे देश में कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं है।

मद्रास, सौराष्ट्र और आन्ध्र जैसे राज्यों में भी, जहां कि भूमि बन्धक बैंक काफी सफल रहे हैं, दीर्घकालीन ऋण उत्पादक कार्यों की अपेक्षा केवल पुराने ऋण को चुकाने के लिए ही दिया जाता है। बैंकों की इस प्रवृत्ति को समाप्त करने की भारी आवश्यकता है। अतः बैंकों को उत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण देना प्रारम्भ कर देना चाहिये। इस दिशा में भारत सरकार ने एक सक्रिय कदम उठाया है और हाल ही में यह नियम बना दिया है, कि राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से जितना

---

1. Five Year Plan Progress Report for 1953-54 p. 80

अनुदान मिलता है उसका ५०% भाग भूमि बन्धक बैंकों को ऋण व ऋण पत्रों के रूप में देना पड़ेगा और बैंक उस राशि को उत्पादक कार्यों के लिए ऋण के रूप में सदस्यों को देगा। इसके अतिरिक्त भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक भी ऋण पत्र खरीदकर इन बैंकों की सहायता करती हैं। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों के २०% पत्र रिजर्व बैंक द्वारा व २०% पत्र भारत सरकार द्वारा खरीदे जा सकते हैं और इस प्रकार की सहायता सन् १९५३-५४ में त्रिवांकुर-कोचीन, आन्ध्र, मद्रास व मैसूर, के भूमि बन्धक बैंकों को दी जा चुकी है।

(गौड़) द्वितीय श्रेणी की समितियाँ (Secondary Societies)

ये समितियाँ प्राथमिक अथवा प्रारम्भिक समितियों का संगठन तथा निरीक्षण करती है और उनको आर्थिक सहायता देती हैं। ये तीन प्रकार की होती है—(१) संघ, (२) केन्द्रीय बैंक, (३) और प्रांतीय बैंक (Provincial or Apex bank)

संघ (Unions)—सहकारी संघों के सदस्य केवल प्राथमिक समितियाँ ही हो सकती हैं। यह संघ जिले की अपेक्षा बहुत छोटे और सीमित क्षेत्र में कार्य करते हैं। इनका प्रबन्ध प्रारम्भिक समितियों के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। संघ केन्द्रीय बैंक तथा प्रारम्भिक समितियों के बीच एक प्रकार कड़ी की है। संघ प्रायः तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) **संरक्षित संघ** (Guaranteeing unions)—इस प्रकार के संघ अधिकतर बम्बई में है। ये संघ सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंक से ऋण दिलाते हैं और उनके लिए वचनबद्ध होते है।

(२) **निरीक्षक संघ** (Supervising unions)—वे संघ जो सदस्य समितियों के कार्यों का निरीक्षण करते है व पथ-प्रदर्शक का कार्य करते है। इस प्रकार के संघ मद्रास और बम्बई में अधिक है।

(३) **साहूकारी संघ** (Banking Union)—ऐसे संघ जो साहूकारी का कार्य करते है। ये दोनों प्रकार के कार्य अर्थात् ऋण का संरक्षण व सदस्य समितियों का निरीक्षण आदि करते हैं। इस प्रकार के संघ पंजाब में ही है। भारत में इनकी संख्या बहुत कम है क्योंकि इस प्रकार की संस्था की सफलता के लिए प्रबन्ध समिति में योग्य व प्रभावशाली व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—

१९०४ के सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार यह आशा की जाती थी कि समितियों में सदस्यों द्वारा काफी धन एकत्र हो जायेगा और उनको अपने कार्य संचालन में बाह्य आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु यह आशा निराशा में ही रही। अतः सन् १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकों का संगठन होना प्रारम्भ हुआ। यह बैंक प्राथमिक समितियों को धन

देने का कार्य करते हैं तथा अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में प्राथमिक समितियों की कार्यशील पूँजी की वृद्धि व कमी को सही और सन्तुलित करने में सहायता देते है। समितियों को धन देने के अतिरिक्त यह बैंक अमानत स्वीकार करती हैं, बिलों को उगाहती हैं, चैक भुनाते हैं व कुछ राज्यों में अचल सम्पत्ति के विरुद्ध व्यक्तियों को भी ऋण देते है। प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय बैंक होता है। केन्द्रीय बैंक भी दो प्रकार के होते है—

(१) **शुद्ध** (Pure Central Bank)—इन बैंकों के सदस्य केवल प्राथमिक समितियाँ ही हो सकती है और इनमें व्यक्तिगत सदस्यता नही होती। इस प्रकार का बैंक वास्तव में आदर्श सहकारी केन्द्रीय बैंक होता है। इनकी नीति का निर्धारण व प्रबन्ध सब कुछ सहकारी समितियों द्वारा ही होता है। इनको बैंकिंग यूनियन्स (Banking Unions) भी कहते है।

(२) **मिश्रित बैंक** (Mixed Central Bank)—मिश्रित बैंकों में समितियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी सदस्य बन सकते है। इस प्रकार के बैंकों को अधिक धन प्राप्त हो सकता है तथा उनको अनुभवी व्यापारियों व मध्यम वर्ग के सदस्यों की सलाह भी प्राप्त हो सकती है। भारत में इसी प्रकार के केन्द्रीय बैंक अधिक है।

केन्द्रीय बैंक के सभी सदस्यों की एक साधारण सभा होती है जो संचालक-मंडल के संचालकों को चुनती है। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार होता है। मंडल के संचालकों की संख्या १० से २५ तक होती है। संचालको द्वारा एक कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन किया जाता है जो एक मैनेजर की सहायता से बैंक को सुचारु रूप से चलाती है। संचालक अवैतनिक होते है। कहीं-कही प्रधान (Chairman) सरकारी कर्मचारी होता है। उदाहरणतः उत्तर प्रदेश में जिलाधीश ही इस बैंक का प्रधान होता है।

केन्द्रीय बैंक की कार्यशील पूँजी हिस्सापूँजी, रक्षितकोष, जमा तथा ऋण के द्वारा एकत्रित होती है। प्रत्येक हिस्से का मूल्य ५० से १०० रु० तक होता है। समितियाँ अपने ऋण के अनुपात से हिस्से खरीदती हैं। कानून के अनुसार प्रत्येक सीमित दायित्व वाले केन्द्रीय बैंक को २५% लाभ रक्षित कोष में जमा करना पड़ता है तथा शेष लाभ हिस्सेदारों में बाँट दिया जाता है। भारत के अधिकांश राज्यों में ६% लाभ हिस्सेदारों में बाँटा जाता है, पर कहीं-कहीं ६% से १०% भी वितरित किया जाता है। रक्षित कोष के अतिरिक्त कोई-कोई बैंक इमारत, बहीखाता, लाभ-हानि के सन्तुलन के लिये विशेष कोष जमा करती है। प्राथमिक समितियों से ली जाने वाली ब्याज की दर व बैंकों में जमा (Deposits) पर दी जाने वाली ब्याज की दर में २% से ५% तक का अन्तर होता है।

बैंक के आय-व्यय की जाँच सरकारी आडीटर्स (Auditors) द्वारा की जाती है तथा निरीक्षण रजिस्ट्रार और सहकारी विभाग के कर्मचारियों द्वारा किया जाता

है। जिन राज्यों में प्रान्तीय बैंक हैं वहाँ उनके मैनेजर व संचालक (Director) भी केन्द्रीय बैंकों का निरीक्षण करते हैं।

सन् १९५०-५१ में भारत में कुल ५०५ केन्द्रीय बैंक थे, जिनके ७५९ दफ्तर थे। उनकी हिस्सा पूँजी (Share Capital) ४०३·९ लाख रु०, रक्षित कोष (Reserve Fund) २४२·२ लाख रु० अन्य कोष (Funds) १४१·१ लाख रु० व कार्यशील पूँजी ५६३७ लाख रु० थी।

इन बैंकों के व्यक्तिगत सदस्यों की संख्या ९९,५९२ थी व बैंक व समिति सदस्यों की संख्या १,०७,४८२ थी। इन बैंकों ने ७६० लाख रुपया व्यक्तिगत सदस्यों को ऋण दिया था व समितियों और बैंकों को ७५२४·१ लाख रुपया दिया था तथा १४१३ लाख रुपया उत्पादक कार्यों में लगा रखा था।

प्रान्तीय अथवा सर्वोपरि बैंक (Provincial or Appex Banks)

यह बैंक प्रान्त के सहकारी साख संगठन के शिखर पर होता है। यह केन्द्रीय बैंकों के लिए वही कार्य करता है जो केन्द्रीय बैंक प्राथमिक समितियों के लिए करता हैं। विभिन्न प्रान्तों में इन बैंकों की सदस्यता भी विभिन्न प्रकार की है। पंजाब और बंगाल को छोड़कर अन्य सब प्रान्तीय बैंकों में सहकारी समितियां व व्यक्ति दोनों ही सदस्य हो सकते है। उक्त दो प्रान्तों में केवल केन्द्रीय बैंक व सहकारी साख समितियाँ ही प्रान्तीय बैंक की सदस्य हो सकती हैं। मद्रास के प्रान्तीय बैंक में केवल केन्द्रीय बैंक ही सदस्य बन सकते हैं, प्राथमिक साख समितियाँ नहीं। अतः अधिकांश प्रान्तीय बैंकों के सदस्य केन्द्रीय बैंक व व्यक्ति दोनों ही बन सकते हैं।

यह सर्वोपरि बैंक केन्द्रीय बैंकों की आर्थिक व्यवस्था व कार्य संचालन की व्यवस्था करतीं हैं। एक ओर तो यह व्यवसायिक बैंकों (Commercial Banks) व सामान्य द्रव्य बाजार (General Money Market) मे सम्बन्धित होती हैं और दूसरी ओर साख समितियों व केन्द्रीय बैंकों से। इस प्रकार प्रान्तीय बैंक इन दोनों प्रकार की संस्थाओं के बीच एक प्रकार की शृंखला का कार्य करता है। यह केन्द्रीय बैंकों को द्रव्य-सम्बन्धी व अन्य सुविधाएँ प्रदान करता है। प्राथमिक समितियों का इससे सीधा सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु जहाँ केन्द्रीय बैंक नहीं होते, वहाँ यह प्राथमिक समितियों की भी व्यवस्था करती है। कृषि-सम्बन्धी ऋण के लिए प्रान्तीय बैंकों द्वारा ही रिज़र्व बैंक से पूँजी प्राप्त की जाती है। यह बैंक अन्य बैंकिंग कार्य भी करते हैं तथा केन्द्रीय बैंकों को पूँजी प्रदान करने के अतिरिक्त अपनी अतिरिक्त पूँजी (Surplus Fund) को स्वयं या मिश्रित पूँजी वाली बैंकों द्वारा व्यापार में लगाते है। इस सर्वोपरि बैंक के संचालन में सहकारी संस्थाओं का ही प्रमुख भाग होता है हालांकि व्यक्तिगत हिस्सेदार भी संचालक मण्डल में होते हैं। इन बैंकों की कार्यशील पूँजी का निर्माण हिस्से की पूँजी, सदस्य बैंकों से शुल्क, शहरी व ग्रामीण समितियों से प्राप्त जमा के रूप में धन तथा और दूसरे प्रकार के अग्रिम ऋण से

होता है। ये बैंक तीनों प्रकार की जमा (Deposits) अर्थात् चालू (Current), बचत (Savings) तथा मुद्दती (Fixed) स्वीकार करते हैं। इन्हें स्टेट बैंक (भारतीय राज्य बैंक) तथा रिज़र्व बैंक से भी आर्थिक सहायता मिलती रहती है।

प्रान्तीय बैंक केन्द्रीय बैंकों व प्राथमिक साख समितियों को ऋण देते हैं, जिनसे फिर व्यक्तिगत ऋण प्राप्त होता है। इनका केन्द्रीय बैंकों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इन बैंकों को भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में संचित कोष रखना पड़ता है तथा स्टेट बैंक आदि से अधि-विकर्ष (Over Draft) का प्रबन्ध रखना पड़ता है, जिससे उनकी कार्यप्रणाली लोचदार हो जाय।

रिजर्व बैंक की 'मान्य सूची' पर इन बैंकों के नाम लिखे होते हैं तथा इन बैंकों को भी अन्य अनुसूचित बैंकों को मिलने वाली सभी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

सन् १९५१-५२ व १९५२-५३ में रिज़र्व बैंक ने आठ प्रान्तीय बैंकों को १२ करोड़ रुपये का ऋण दिया तथा सन् १९५३-५४ में १४·७ करोड़ रुपये का ऋण देने का निश्चय किया था। इस वर्ष प्रथम बार आसाम, पंजाब, पैप्सू, सौराष्ट्र और हैदराबाद के प्रान्तीय बैंकों ने रिज़र्व बैंक की इस सुविधा का लाभ उठाया था किन्तु बिहार, मध्यभारत, मैसूर, राजस्थान और त्रिवांकुर कोचीन तथा 'ग' खण्ड के अधिकांश राज्यों के सर्वोपरि बैंकों को अभी तक रिज़र्व बैंक से इस प्रकार की सहायता नहीं प्राप्त हो सकी है।

गत १५ वर्षों में भारत में प्रान्तीय बैंकों ने विशेष प्रगति की है। भारी संख्या में अमानतें आने से इनकी कार्यशील पूँजी में पर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु सहकारी समितियों की माँग इस पूँजी के पूर्ण व उचित उपयोग के लिए पर्याप्त नहीं है। ऋण भुगतान भी संतोषजनक रहे हैं। अतः इन बैंकों ने अपनी अतिरिक्त पूँजी स्वीकृत सरकारी जमानतों तथा सहकारी समितियों के व्यापारिक व अन्य सहकारी कार्यों में लगा दी, जैसे प्रान्तीय बैंकों ने छोटे सहकारी संघों को मिलाकर उन्हें पूँजी की सहायता दी, कन्ट्रोल की वस्तुओं को बेचा, जिससे चोर-बाजारी बहुत कम हो गई थी तथा खाद्यान्न व अन्य-अन्य आवश्यक वस्तुओं का वितरण किया।

सन् १९५०-५१ में भारत में कुल १५ प्रान्तीय बैंक थे, जिनकी १२७ शाखाएँ थीं। इन बैंकों के व्यक्तिगत सदस्यों की संख्या ८२६६ तथा बैंक व सहकारी समिति सदस्यों की संख्या १२६६६ थी। इन प्रान्तीय बैंकों की हिस्सेदारी पूँजी (Share Capital) १५७·९८ लाख रुपया, रक्षित कोष (Reserve Fund) ११०·५ लाख रुपया, डूबे ऋण की राशि (Bad Debt Reserves) ५१·४ लाख रुपया, अन्य कोष (Other Funds) ५९·८८ लाख रुपया, व कार्यशील पूँजी (Working Capital) ३४४२·०७ लाख रुपया थी। इन बैंकों ने ७७२·९० लाख रुपये का ऋण व्यक्तियों को दिया था व ३४४०·४ लाख रुपये का ऋण सहकारी

बैंकों व समितियों को दिया था तथा ११४३ लाख रुपया अन्य कार्यों में लगा (Investment) रखा था। विभिन्न प्रान्तों में ऋण लेने व देने की ब्याज की दर भिन्न-भिन्न थी।[1]

1. The Indian Year Book 1954-55, P. 77.

अध्याय १६

कुटीर व लघु स्तरीय उद्योग

(Cottage and small Scale industries)

उद्योगों का वर्गीकरण

उद्योगों को प्रायः तीन भागों में विभक्त किया जाता है जैसे :

(१) विशाल स्तरीय उद्योग (Large Scale Industries)

(२) लघुस्तरीय उद्योग (Small Scale Industries)

(३) कुटीर उद्योग (Cottage Industries)

साधारणतः लोग यह समझते है कि जो उद्योग विद्युत शक्ति द्वारा चालित बड़ी बड़ी मशीनों द्वारा चलाये जाते है, वे विशाल स्तरीय है और जिन उद्योगों में हाथ से कार्य होता है वे कुटीर उद्योग कहाते है। ऐसा समझना गलत है। वस्तुतः यह एक प्रकार का रिवाज सा हो गया है कि जो उद्योग फैक्ट्री नियम के अन्तर्गत नही आते, उन्हें लोग 'कुटीर उद्योग' व 'लघुस्तरीय उद्योग' कहने लगते है। योजना आयोग के अनुसार "कुटीर और लघुस्तरीय उद्योगों में अन्तर जानने के लिये कोई निश्चित व सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है और विभिन्न परिभाषाओं को उनके उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए अपनाया जाता है।" वित्त आयोग (Fiscal Commission, 1949-50) के अनुसार यदि कोई कारीगर स्वयं अथवा अपने समस्त परिवार की सहायता से मुख्य धन्धे के रूप में अथवा सहायक धन्धे के रूप में किसी वस्तु का उत्पादन करता है, तो उसे कुटीर उद्योग कहते है। अतः सामान्य रूप से कुटीर उद्योग पूर्णतः अथवा प्रधानतः कारीगर के परिवार की सहायता से मुख्य या सहायक धन्धे के रूप में चलाया जाता है। किन्तु लघुस्तरीय उद्योग की यह विशेषता कि उद्योग कारीगर के घर में नहीं चलाया जाता तथा इसके उत्पादन के साधन भी सीमित होते हैं। इन उद्योगों में साधारणतया १० से ५० तक श्रमिक कार्य करते हैं। अतः लघु-उद्योग स्तरीय सवैतनिक श्रमिकों की सहायता से चलाये जाते हैं। कुटीर व लघु-स्तरीय दोनों ही प्रकार के उद्योगों में शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार उद्योगों का भेद केवल आकार तथा सवैतनिक श्रमिकों के उपयोग ही से जाना जा सकता है। कुटीर व लघुस्तरीय उद्योग नगर तथा ग्राम दोनों ही स्थानों पर चलते हैं ग्रामों में कुटीर उद्योग प्रायः कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित होते हैं तथा ग्रामोद्योग के

नाम से पुकारे जाते है जैसे गुड़ और चमड़े का उद्योग। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में यह उद्योग मुख्य अथवा सहायक धन्धे के रूप में ही चलाये जाते हैं। किन्तु नगरों में प्रायः कारीगरों के यह मुख्य धन्धे ही होते है जैसे कर्घा उद्योग, ऊन उद्योग, रेशम के कीड़ों का पालन, गुड़, तेल व ताले आदि के उद्योग। इन उद्योगों के भी दो वर्ग होते हैं: (१) हस्तकला के उद्योग जैसे बनारसी साड़ी, कढ़ाई, पीतल, सिल्क उद्योग आदि जो परम्परागत कलाकौशल का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा जिनके श्रमिक व कारीगर अपने काम में विशेष रूप से दक्ष होते हैं। (२) अन्य उद्योग।

कुटीर व लघुस्तरीय उद्योगों का आर्थिक महत्व

आधुनिक युग में कुटीर व छोटे उद्योग धन्धे प्रत्येक देश के आर्थिक संगठन में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखते है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में भी विशाल स्तरीय उद्योगों के साथ-ही-साथ कुटीर व छोटे उद्योगों का वहाँ की आर्थिक व्यवस्था में मुख्य स्थान है। अमेरिका में व्यापारिक संस्थाओं में ९२.५% छोटे व्यवसायों की संस्थाएँ है, जिनमें देश के ४५% श्रमिक कार्य करते है। फ्रांस में ९९% से भी अधिक औद्योगिक संस्थाओं में १०० से कम श्रमिक कार्य करते है। जर्मनी की १२.६% जन संख्या दस्तकारी व शिल्पकला पर ही जीवन निर्वाह करती है। जापान की ५३% जनसंख्या कुटीर उद्योगों पर निर्भर रहती है। इंगलैड में ५ से ३० श्रमिकों वाले कारखाने वहाँ की २९% जन संख्या को धन्धा प्रदान करते हैं। भारत में भी औद्योगिक जनसंख्या का ९०% भाग इन्हीं कुटीर व छोटे उद्योगों पर निर्भर रहता है। तथा यहाँ के लगभग २ करोड़ व्यक्ति निम्नलिखित कुटीर व छोटे उद्योगों में लगे हुए हैं—

उद्योग का नाम	धन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या (लाखों में)
कपड़ा	५०
चमड़ा	२४
लकड़ी	२०
धातु	४०
पौटरी, सिरेमिक्स, टाइल्स, ईंट आदि	२०
रासायनिक पदार्थ, बनास्पति तेल आदि	१०
खाद्यान्न	२०
कपड़े की सिलाई व प्रसाधन (Toilets)	११
अन्य उद्योग (सर्राफा, खिलौना निर्माण आदि)	६
योग	२०१

गत वर्षों में भारत में भूमि पर जनसंख्या के भार में निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ६९.८% भारतीयों का मुख्य धन्धा कृषि है। प्रति व्यक्ति के पास यहाँ पर औसतन १.५ एकड़ भूमि है व सारे खेतों में ७०% खेत ५ एकड़ से कम हैं तथा बहुत से तो १ एकड़ से भी कम हैं। अतः भारत में दो बातों की अधिक आवश्यकता है। एक तो भूमि पर जनसंख्या का भार कम करना तथा दूसरे कृषि पर निर्भर व्यक्तियों के लिए अन्य धन्धों की व्यवस्था करना। उक्त दोनों बातें कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास पर ही निर्भर हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषक वर्ष में लगभग १६५ दिन बेकार रहते है तथा इन दिनों को व्यर्थ की गप्पों, मुकद्दमेबाजी तथा विवाह-शादियों में ही नष्ट कर देते है, अतः भारत में भी जापान फ्रांस, इटली आदि देशों की भांति कुटीर व छोटे उद्योगों का शीघ्रातिशीघ्र विकास अति आवश्यक है।

कुटीर उद्योगों के विकास से कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार होने के साथ ही साथ सरकार की आय में भी वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त प्राचीन हस्तकला की उन्नति होगी तथा ग्रामों में पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ेगा और यदि उद्योग फैले हुए हों तो बड़े-बड़े विशाल औद्योगिक नगरों में अत्यधिक घनी आबादी व नैतिक पतन जैसे दोष भी दूर हो जायेंगे।

इसके अतिरिक्त देश में बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या का हल करने के लिये कुटीर व छोटे उद्योगों का विकास करना अति आवश्यक है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारत में ६ से ९ करोड़ तक की मनुष्य शक्ति (Man Power) व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। विशाल स्तरीय उद्योग श्रम की बचत के साधन है और बहुत थोड़ी संख्या में व्यक्तियों को खपा सकते हैं। यातायात, सेवा, व्यापार, बैंकिंग आदि उद्योगों के विकास के लिये अधिक समय की आवश्यकता है। अतः इन परिस्थितियों में निस्सन्देह कुटीर और लघुस्तरीय उद्योगों का विकास ही एकमात्र साधन है, जिसमें देश के बेकार लोगों की बड़ी मात्रा खपाई जा सकती है क्योंकि इन उद्योगों में 'श्रम प्रधान' प्रणाली का प्रयोग होता है। कुटीर उद्योगों की सस्ती तथा मोटी वस्तुएँ लाखों गरीब व्यक्तियों की, जो मिलों द्वारा उत्पादित उत्तम किस्म का माल खरीदने में असमर्थ हैं, आवश्यकताओं को पूर्ण करती है। व्यक्तिगत पसन्द की वस्तुओं का उत्पादन केवल कुटीर उद्योग एवं दस्तकारी द्वारा ही किया जा सकता है। अतः कुटीर एवं छोटे उद्योगों का विकास परम आवश्यक है, परन्तु यह बात बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाँवों में अधिकांश ऐसे ही कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए जो कृषि से सम्बन्धित हों और जिनका संचालन इतना साधारण हो कि भारतीय ग्रामीण सरलता से सीख सकें तथा जिनमें अधिक पूँजी की आवश्यकता न हो। संक्षेप में इन उद्योगों को वास्तव में सहायक व्यवसाय के के रूप में विकसित करना चाहिए।

वर्तमान प्रमुख कुटीर उद्योग

यद्यपि कालान्तर में भारतीय उद्योगों का विभिन्न कारणों से काफ़ी पतन हो चुका है, किन्तु इनका सर्वनाश न हो सका और उनमें से आज भी बहुत से उद्योग न केवल भारत के अतीत के गौरव के अवशेष और वर्तमान गर्व के कारण है, वरन् भारत की जनसंख्या के लगभग २ करोड़ व्यक्तियों को जीविका का साधन प्रदान करते है। प्रमुख वर्तमान उद्योगों में कर्घा उद्योग, खादी, रेशम, चमड़ा, धातु, ऊनी वस्त्र, लकड़ी, मोजे व बनियान बुनना, पीतल व कलई के बर्तन, खेल का सामान, ताले, चूड़ी व शीशे का सामान, लाख, सोने और गोटे का काम आदि उद्योग नगरों में चल रहे हैं। इनके अतिरिक्त ग्रामोद्योगों में कपडा बुनना, आटा पीसना, धान कूटना, चटाई बनाना, घानी का तेल, लोहारी, बढईगीरी, कुम्हारगीरी, चमड़ा तथा हल्का चमड़ा बनाना, टोकरी बनाना, गुड़, खांडसारी, मधुमक्खी-पालन, डेरी फार्मिंग आदि उद्योग प्रमुख हैं।

कुछ मुख्य कुटीर उद्योगों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

हाथ करघा उद्योग—दी काटन टैक्सटाइल टैरिफ बोर्ड (१९३२) के अनुसार करघों की संख्या १९,८४,९५० थी और १९३१ की जनगणना के अनुसार २५,७५,००० लोग, सूती, रेशमी कपड़ा बुनने और कातने में लगे हुये थे। यद्यपि आज के युग नें पीरार्ड की यह बात सत्य नहीं रही कि "केप आफ गुड होप से चीन तक का प्रत्येक नर-नारी भारतीय करघों से बने कपड़ों से सिर से पैर तक ढका होता है", लेकिन इसका भविष्य आज भी उज्ज्वल है। सूती मिलों की प्रतियोगिता से इसकी रक्षा करने के विचार से सूती मिलों से उत्पन्न कपड़े पर शुल्क लगाया गया है। आज भी करघा उद्योग भारत के कपड़े के कुल मांग का एक तिहाई भाग पूरा कर रहा है। इसके दो क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ कोई प्रतियोगिता नहीं है। मोटा कपड़ा मिलें नहीं बनातीं। गाँव वालों की आवश्यकता ये कर्घे ही पूरा करते हैं। दूसरा क्षेत्र है जहाँ वैयक्तिक दक्षता दिखाने का प्रश्न आता है। भारतीय मिलें अत्यन्त महीन और बारीक और खूबसूरत कपड़ा नहीं बना सकतीं। यह क्षेत्र करघा उद्योग के लिये सर्वथा सुरक्षित है। कर्घे मिल का बना सूत उपयोग न कर हाथ कते सूत का उपयोग करें और सूत के लिये मिलों पर निर्भर न रहें, इसके लिये प्रयत्न किया जा रहा है। 'अम्बर चर्खे' का प्रचार करने का एक उद्देश्य यह भी है। यदि यह परीक्षण सफल हुआ तो कर्घे से बने कपड़े की कीमत कम हो जायगी और करघों को निरन्तर सूत मिलता रहेगा।

खादी का स्थान इससे अलग है। इसको सरकारी संरक्षण प्राप्त है। इसके साथ राष्ट्रीय भावनाएँ भी हैं। किन्तु इन सबसे बढकर इसे जीवित रखने वाली बात इसकी अन्तर्निहित अपनी शक्ति है। यूरोप और अमेरिका की सूती व रेशमी मिलें उतना बारीक और महीन सूत नहीं कात सकतीं, जैसा कि भारत के कतवैये हाथ से

कात सकते हैं। अँगुलियों और हाथ की यह दक्षता और कुशलता ही आज तक खादी को जीवित रखे हुए हैं।

करघों द्वारा तैयार महीन कपड़ा मलमल कहलाता है। कढा हुआ मलमल जैसे रूमाल, दुपट्टा, पगड़ी आदि कसीदा कहलाता है। चित्रित मलमल 'जमदानी' के नाम से प्रसिद्ध है, सूती साड़ी, यूनानी-कपड़ा व पलंगपोश ये प्रसिद्ध हैं। जमदानी की विशेषता यह है कि कपड़ा बुनते हुये ही बुनावट में ही चिकन और जीरदोजी का काम किया जाता हैं। सतरंजी भी सुन्दर बनाई जाती है।

वस्तुतः करघा उद्योग सूती मिलों का प्रतियोगी नहीं है, बल्कि निम्न कारणों से उसका पूरक है।

(१) यह विशेष प्रकार की वस्तुएँ पैदा करता है, जो कि मिलों में नहीं बुनी जा सकती;

(२) यह एक निश्चित अंक से नीचे और ऊपर का सूत बरतता है, जिसका उपयोग मिलों में नहीं होता;

(३) मिलों द्वारा उत्पन्न अधिक सूत की यह खपत करता है और उसका निर्यात करने की आवश्यकता नहीं होती;

(४) मुख्यतः यह ग्रामोद्योग है। अतः यह स्थानीय मांग को पूरा करता है और इसके साथ छोटे पूँजीपतियों, बुनकरों और गाँव के अन्य मजदूरों को काम देता है; और

(५) शिक्षित और सच्चे युवक कार्यकर्ताओं को काम करने के लिए विशाल क्षेत्र प्रदान करना है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि करघों द्वारा बुनी दरियाँ और खेसों की मजबूती और टिकाऊपन में मिल में बनी दरियों और खेसों मुकाबला नहीं कर सकती।

ऊनी उद्योग—भारत के प्रायः सब भागों में भेडे पाली जाती हैं। अतः किसी न किसी रूप में ऊनी माल भी सारे देश में बनाया जाता है। साधारणतः पहाड़ी भेड़ों का ऊन अधिक अच्छा होता है और इस कारण उनसे बना माल भी अधिक अच्छा और कीमती होता है। ऊनी कर्घे उद्योग लगभग ४०,००० लोगों को युद्धकाल में रोजगार देता था।

मुगल शासन-काल में ऊनी गलीचे बनाने का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मुगल साम्राज्य के बाद इसकी माँग घट गई। यद्यपि विदेशों की माँग ने इसको जीवित रखा, लेकिन यह उद्योग पुनः अपनी पुरानी वैभवावस्था को फिर प्राप्त नहीं कर सका।

ऊनी दरियां बनाने का काम भी किया जाता है। कुछ जेलों में भी यह उद्योग चालू है। राजस्थान में इसको पुनः आगे बढ़ाया जा रहा है और प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

अंग्रेजों के इस देश में आने से पहले काश्मीर और पंजाब के बने शालों की बड़ी धूम थी। मुगल शासक भी इस उद्योग के विकास में बहुत रस लेते थे। १८३० के भयंकर अकाल ने इस उद्योग पर भयंकर आघात किया। इस आघात के बाद यह उद्योग पुनः नहीं पनप सका। यूरोप में शालों की माँग बढ़ने के कारण यह उद्योग जीवित रहा। लेकिन यह माँग सदा एक-सी नहीं रही। लेकिन काश्मीर सरकार ने पुनः शाल-उद्योग के विकास की ओर ध्यान दिया है और इसके लिए देश के अन्दर ही क्षेत्र तैयार किया जा रहा है।

ऊन की बनी एक और वस्तु कम्बल प्रसिद्ध है। ये कम्बल गाँव वालों के वास्ते बिछौने, बरसात में छाते, सर्दी में ओवरकोट और सफर में बिस्तर-बन्द का काम देते हैं। बीकानेर, मुजफ्फरनगर, मिर्जापुर, गया आदि के कम्बल विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं। कम्बल भेड़ पालने वाले गड़रिये या किसान अपने खाली समय में बनाते हैं। निर्यात की दृष्टि से यह उद्योग महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन इस काम में बहुत लोग लगे हुए हैं। मिलों से इसकी कोई प्रतियोगिता नहीं है। कम्बल या कामली बनाने में जिस मोटे ऊन का उपयोग किया जाता है, उसका मिलों में उपयोग नही हो सकता, अतः इस क्षेत्र में प्रतियोगिता का कोई प्रश्न नहीं है। महायुद्ध में सेना को कम्बलों की बड़े परिमाण में आवश्यकता थी और वह ऊनी करघों द्वारा पूरी की गई। इस कारण से इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला।

रेशम—रेशम उद्योग भारत के बंगाल, काश्मीर और मैसूर इन तीन प्रदेशों तक ही विशेषरूप से सीमित है। इस उद्योग के चार भाग हैं और ये चार भाग अलग अलग हैं—(१) शहतूत के पेड़ उगाने वाले, (२) रेशम के कीड़े पालने वाले, (३) रेशम साफ करने वाले और सूत कातने वाले और (४) रेशमी कपड़ा बुनने वाले। रेशम के समान ही टसर, एंडि और मूंगा के भी कीड़े पाले जाते हैं और इनके सूत से कपड़ा बनाया जाता है। इनसे बना कपड़ा घटिया किस्म का होता है। टसर, मूँगा, एँडी किस्म का रेशम आसाम और बिहार में बहुतायत से होता है। हाथ से रेशमी कपड़ा बुनने का उद्योग मालदा (मुर्शिदाबाद), भागलपुर, बनारस और काश्मीर में मुख्यतः केन्द्रित है। राष्ट्रपिता गाँधीजी और चर्खा-संघ के द्वारा इस उद्योग को पिछले वर्षों में बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है। अनेक प्रादेशिक सरकारों द्वारा भी इस उद्योग को आर्थिक सहायता दी गई है। जापानी रेशम और नकली रेशम (रायन) के मुकाबिले इसको सरकारी संरक्षण प्राप्त हैं।

लाख उद्योग—ग्राम-उद्योग में लाख एक महत्वपूर्ण उद्योग है। इसका संग्रह करने से किसानों और वन-प्रदेशों में रहने वालों का जीवन कुछ जीने योग्य बन गया है। हरेक गाँव में बढ़ई, मोची, चमड़ा कमाने वाले और छकड़ा बनाने वाले रहते हैं और ये सब लाख का उपयोग प्रतिदिन किसी-न-किसी रूप में करते हैं। ये लोग रंगने और वार्निश करने का काम भी लाख से लेते हैं। यूरोप में रंगीन लाख ने पेंट और तेल की जगह ले ली है। सुनार और ठठेरे धातु में कड़ापन लाने

के लिए लाख की मिलावट करते है। कुम्हार, जिल्दसाज, और स्मोकिंग पाइप बनाने वाले भी लाख का इस्तेमाल करते है। जवाहरात बनानेवाले सोने व चाँदी के आभूषणों में खाली जगह भरने के लिए इसका उपयोग करते है। स्प्रिट वार्निश बनाने के काम में भी यह आती है। इसी कारण से अमेरिका और यूरोप में इसकी बड़ी मांग है। मुहर लगाने में भी लाख का उपयोग अधिकता से होता है। ग्रामोफोन के रिकार्ड बनाने में भी इसका उपयोग होता है। बिजली के अवरोधक तैयार करने में भी इसका उपयोग किया जाता है। इससे सहज में लाख का महत्व समझा जा सकता है। लाख में एक प्रकार से भारत का एकाधिकार है। यद्यपि हिन्द चीन भी लाख उत्पन्न करता है। पर उसकी लाख घटिया होती है।

लाख कई किस्म की होती है। कुसुम्ब वृक्ष की सर्वोत्तम होती है और पलाश पेड़ की हीन दर्जे की होती है। शुद्ध लाख का उपयोग चूड़ी बनाने में किया जाता है। किन्तु लाख का संग्रह करने वाले लोग गरीब हैं। इनको लाख उपजाने वाले कीड़ों को पालने का प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है। फिर ये लोग संगठित नही और बाजार भाव से भी परिचित नहीं रहते। इस कारण मूल उत्पादकों को इस उद्योग का जितना लाभ मिलना चाहिए था, उतना लाभ नहीं मिल रहा है।

शहद—मधु या शहद भोजन और औषधि दोनों दृष्टियों से उपयोगी है, अनेक स्थानों—कुर्रम घाटी—में तो चीनी की जगह शहद का ही प्रयोग होता है। धार्मिक-कृत्यों में भी मधु का प्रयोग होता है। 'मधुपर्व' इसके बिना सम्भव ही नही। इसका घर-घर उत्पादन करना सम्भव है। लेकिन इस ओर अभी तक विशेष प्रयास नहीं किया गया। आज भी यह उद्योग मुख्यतः वनवासी लोगो के हाथ में है। ये लोग शहर और मोम दोनों निकाल कर बेचते हैं। लेकिन अब 'खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड ने इस उद्योग को संगठित करने और इसका प्रसार करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया है। इसके प्रयत्नों से मद्रास, बम्बई, उत्तरप्रदेश, पंजाब, मैसूर, त्रिवांकुर कोचीन और कुर्ग में अच्छी प्रगति हुई है। २० से ३० गाँवों के ऊपर एक उपकेन्द्र बनाया गया है। महाबलेश्वर में इसका प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था की गई है।

धान कूटने का उद्योग—आज के युग में भी ढेकी या ऊखल-मूसल से धान कूटने का उद्योग भारत के गाँव-गाँव में प्रचलित है। इस प्रक्रिया से देश में कुल उत्पन्न चावल का ६५ प्रतिशत तैयार होता है और शेष ३५ प्रतिशत ही मिलों द्वारा तैयार होता है। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि पत्थर की चक्कियों द्वारा धान से चावल तैयार किया जाय। इससे धान अधिक मात्रा में निकलेगा और तूस या पीऊ शुद्ध रूप में निकलेगा। प्रथम नियोजनकाल में लगभग ५०,००० चक्कियाँ लगाने और उनको आर्थिक सहायता देने की योजना बनाई गई थी।

गुड़-खांडसारी और ताड़-गुड़—गुड़ का उद्योग भारत का बहुत पुराना उद्योग है और चीनी-मिलें भी इसको अपने स्थान से नहीं हटा सकी हैं। गुड़ बनाने के कोल्हू मगर ऐसे नहीं है जिनके द्वारा गन्नों का सारा रस निकल आए। इसलिए

प्रथम नियोजन-काल में सुधरे और उत्तम ढंग के लगभग १००,००० कोल्हू लगाने की योजना बनाई गई थी। गाँवों में शक्कर भी बनाई जाती है और जिस पद्धति से यह तैयार की जाती है उसको 'खांड़सारी' कहते हैं। शक्कर या बूरा चीनी के समान सफेद हो इसके लिए बराबर प्रयत्न किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त प्रथम पंचवर्षीय नियोजन-काल में ताड़ और खजूर के रस से भी गुड़ बनाने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। बंगाल में वर्षों से ताड़ के रस से गुड़ बनाया जा रहा है। प्रयत्न यह था कि ताड़ से गुड़ का उत्पादन बढ़ाकर ८०,००० टन तक पहुँचा दिया जाय।

नीम के तेल से साबुन बनाना—निमौली सर्वथा व्यर्थ जाती है और नीम-सदृश वृक्ष के फल का कोई उपयोग नहीं होता। गर्म मुल्क के लिए नीम का तेल और नीम के तेल का बना साबुन रोग-निवारण और शरीर-शुद्धि की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। 'खादी व ग्राम उद्योग बोर्ड' के प्रयास से नीम के तेल का साबुन बड़े पैमाने पर हाथ से बनाया जाने लगा है। प्रथम पंचवर्षीय नियोजन काल के वास्ते में योजना भी बनाई गई थी कि १२६० मन नीम का तेल और ७२ टन नीम का साबुन प्रतिवर्ष तैयार किया जाय।

चमड़ा—चमड़ा रंगने, खाल को शुद्ध करने और जूते आदि बनाने का उद्योग भारतीय गाँवों का एक अत्यन्त पुराना उद्योग है। मशक, कुफिआं, चरस, घोड़े का साज-सामान, डुग्गी, तबला, मृदंग, मंदार, चमड़े की पेटियाँ और थैले बनाने, चमड़ा रंगने आदि के काम में बहुत लोग लगे हुए हैं। गाँव वाले आज भी बूट और चप्पलें न पहनकर देशी जूते पहनते हैं। मोची आज भी गाँव का एक आवश्यक सदस्य है और जूते बनाने की बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ अभी भी उसको अपने स्थान से अपदस्थ नहीं कर सकीं हैं। गाँवों में मरे पशु की खाल निकालने और उसको शुद्ध एव परिष्कृत कर चमडा बनाने, चमड़े को कमाने और रंगने का काम आज भी बहुत कुछ हाथों द्वारा ही किया जाता है। प्रथम पंचवर्षीय नियोजन-काल में भीम रोचियों की सहायता की गई है और खादी व ग्राम उद्योग बोर्ड ने पहले-पहले भी जिन दस-उद्योगों की रक्षा और विकास पर अपनी शक्ति के केन्द्रित करने का निश्चय किया कि उनमें चमड़ा उद्योग एक है।

दियासलाई बनाने का उद्योग—कुटीर उद्योग के रूप में दियासलाई बनाने का काम जारी किया गया है। उत्पादन मंत्री श्री के० सी० रेड्डी के अनुसार अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बार्ड के तत्वावधान में हाथ से दियासलाई बनाने के ३७ कारखाने १९५६ में चल रहे थे। इनमें से बम्बई और सौराष्ट्र में १४, हैदराबाद में ११, मध्यभारत में ८, उत्तर प्रदेश में दो और पश्चिमी बंगाल और त्रिवांकुर-कोचीन में एक-एक फैक्टरी चल रही थीं, इनकी प्रतिदिन की उत्पादन क्षमता लगभग ४५ ग्रुस (६४८० दर्जन) दियासलाई थीं। इसके अतिरिक्त भी जहाँ-तहाँ हाथ से दियासलाई बनाने के कारखाने देश में चल रहे हैं।

बाँस का काम और टोकरी बुनना—बाँस का पौधा देश का एक अत्यन्त उपयोगी पौधा है। बाँस के अनेक उपयोग हैं। जैसे—शहतीर, छड़ी, लाठी, मूठ, चटाई, छत छाता, हाथ का पंखा, छाता, कुर्सी-मेज, तेल भरने के लिए बरतन बनाना, तीर-कमान आदि बनाना। गाँवों में 'घोरामी' बाँस कत्तलें और खपचियाँ काटकर उनको जोड़कर झोंपड़ी का छप्पर ऐसा ढाल बनाता है जिससे बरसात का सारा पानी बह जाय और छप्पर में न समाय। बाँस की शहतीरों पर पुआल और ताड़ व खजूर के पत्ते रखकर छप्पर बना लिया जाता है। खपरैल का उपयोग सम्पन्न व्यक्ति ही करते हैं, गरीब लोग नहीं।

बाँस की बनी टोकरियाँ बहुत मजबूत होती हैं। ईंटें ले जाने का काम इन से लिया जाता है। बाँस बुनने का काम अधिकतर डोम लोग करते हैं। ये लोग श्मशान-घाट के पास रहते हैं और टोकरी बुनने का काम ये खाली समय में करते हैं। चीन, जापान और बर्मा के समान यहाँ अति-कलापूर्ण एवं सुन्दर बाँस की वस्तुएँ बनाने की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। अभी इस उद्योग के विकास की बहुत गुञ्जाइश है।

चूड़ी बनाना—फ़िरोजाबाद की कांच की बनी चूड़ियों के सब जगह फैल जाने पर भी लाख की चूड़ियां हाथ से बनाने का उद्योग चल रहा है और गाँवों में कुल, वधुएँ लाख की चूड़ियाँ बड़े चाव से पहनती हैं।

घोंघा-कौड़ी से भी देश के अनेक भागों में बहुत सुन्दर-सुन्दर चूड़ियाँ बनाई जाती हैं। नवविवाहिता कुल-वधुएँ इनको पहनना सौभाग्य का चिन्ह मानती हैं। ये बहुत कीमती भी होती हैं। ढाका के एक जमींदार ने ३०० रु० मिलने पर भी अपने घर में रखी घोंघे की बनी चूड़ी देने से इन्कार कर दिया था।

धातु का काम—ठठेरा, कसेरा घर के लिए आवश्यक बर्तन बनाता है। ये बर्तन पीतल, काँसा, तांबा आदि के होते हैं। विभिन्न धातुओं से थाल, थालियाँ, प्याले, चम्मच, तश्तरियाँ, डिब्बियाँ आदि तैयार किए जाते हैं और आज भी यह उद्योग ग्रामोद्योग बना हुआ है।

सोना, चाँदी के आभूषण भी लघु परिमाण का उद्योग है। सुनार की दक्षता, क्षमता, उसका अनुभव और कौशल विभिन्न प्रकार के गहनों को बनाने में प्रदर्शित होता है। इस देश की स्त्रियों को गहने पहनने का शौक भी बहुत है।

मत्स्य पालन—नाव खेने के समान मछली पालने, मछली पकड़ने का उद्योग कुछ जातियों तक सीमित है। जैसे पश्चिमी बंगाल में भल (झाल), तियर (राजवंशी), कैवर्त (जेले), कराल, निवारी, चकलाई, माही-फरोश। मछुए लोगों के अलावा अन्य लोग भी मछली पकड़ने का काम करते हैं। अभी इस देश में समुद्र से मछली पकड़ने का उद्योग बड़े पैमाने पर शुरू हो चुका है। अन्यथा इससे पहले यह पूर्ण रूप से ग्रामोद्योग था। कुछ लोग दूसरे पेशे के रूप में या सहायक पेशे के रूप में आराम से समय काटते हैं। देश के पूर्वी भाग के लोगों के आहार का यह एक आवश्यक भाग है। चावल भोगी पौष्टिक तत्व मछली से ही प्राप्त करते हैं। गाँवों और कस्बों

में जोहड़, तालाब और पोखर वर्षा के पानी से भर जाते हैं। इस समय इनमें मछलियाँ भी छोड़ दी जाती हैं और उनको उनमें बढ़ने दिया जाता है। ये गदले पानी की सफाई के ख्याल से भी बहुत उपयोगी है। बरसात के दिनों में जब चारों ओर जल ही जल होता है, डोंगी पर बैठकर जाने के सिवाय जब कहीं आना-जाना सम्भव नहीं होता। बाल, युवा, वृद्ध सभी लोग दिन-भर मछली पकड़ने में लगे रहते हैं। बंगाल के गाँवों का यह दृश्य वस्तुतः देखने योग्य होता है।

मछली पकड़ने के लिए अनेक चीजें जैसे झरनी, चलनी, जाल, आदि का प्रयोग किया जाता है। मछुओं की राय है कि 'कपास जाल, (सूती कपड़े का बुना) सन या जूट से बने जाल की तुलना में अधिक मजबूत होता है। गाँव के मछुए मछली पकड़ने के लिए बाँस का बेड़ा बनाते हैं या छोटी-छोटी नौकाओं का उपयोग करते हैं और उस पर सवार होकर बड़ी दूर नदियों तक वे चले जाते हैं। लेकिन वे तुम्बी अधिक पसन्द करते हैं। आम तौर पर प्रचलित जालों मे पारा जाल, चाबी जाल, झाकी जाल, बेरा जाल, रक्षा जाल, धर्म जाल, चाँदी जाल, खादी जाल, कोन जाल आदि अधिक प्रसिद्ध हे।

एफ.ए.ओ. की ओर से मत्स्य पालन उद्योग को दृढ़ आधार पर स्थापित करने का बड़ा उद्योग किया जा रहा हैं। उसका मत यह है कि मछुए सहकारी समिति बनालें और एँजिन चालित किश्तियों द्वारा दूर समुद्र के हृदय तक से मछली पकड़कर लावें। पंचवर्षीय नियोजनों में भी मत्स्य-पालन की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। भारत के विशाल समुद्र-तट को देखते हुए इस उद्योग के विकास की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं और इसका आज ठीक-ठीक अनुमान करना भी सम्भव नहीं है।

मिट्टी के बरतन—चीनी-मिट्टी के बर्तन घरों में तेजी से प्रवेश करते जा रहे हैं, लेकिन इनकी अत्यधिक वृद्धि हो जाने पर और घर-घर में इनके छा जाने पर भी मिट्टी के बर्तनों और कुम्हार के अस्तित्व का लोभ शायद ही कभी किया जा सके। मिट्टी के बर्तन गाँवों में ही नहीं शहरों में भी कुछ ऐसी आवश्यकताएं पूरी करते है, जो अन्य तरह से सम्भव नहीं और रीफ्रेजेटर भी उसको पूरा नहीं कर सकता। मिट्टी के ये आवश्यक बर्तन हैं :—

(१) सुराहियां—गर्मियों में ठंडे पानी के लिए इनका इस्तेमाल किया जाता है। इनमें रखा पानी न केवल ठण्डा होता है, बल्कि सुस्वादु और मीठा भी होता है।

(२) घड़ा, कलश, मटका।

(३) तश्तरियाँ, प्यालियाँ, सकोरा।

(४) चिलम।

(५) कुओं में डालने के लिए घेरे।

देश के किसी भी भाग में चले जाइए। इनके आकार-प्रकार शक्ल-सूरत और बनावट में कोई अन्तर नहीं मिलेगा। इनकी एकरूपता महत्वपूर्ण है और इनका

सौन्दर्य शिक्षाप्रद एवं विशेषरूप से बोधक है। पानी खींचने का घड़ा हो, दूध गरम करने की कड़ाही हो या चावल पकाने की हाँडी या हँडिया हो, यदि ये मिट्टी के हैं तो ये सर्वत्र एक से ही मिलेंगे। और यदि कुछ अन्तर आया है तो बहुत कम।

मिट्टी के वर्तन बनाने के समान छप्पर छाने के लिये खपरैल और मकान बनाने के लिए ईंटें बनाना भी ग्रामोद्योग में सम्मिलित है। गाँव वाले गाँव में ही आवश्यकता होने पर मिल-जुलकर भट्टा बना लेते हैं। लेकिन खपरैल और ईंटें बनाने का काम अधिकतर सहायक उद्योग के रूप किया जाता है। कुम्हार का लेकिन यह मुख्य उद्योग है।

कुटीर उद्योगों की कठिनाइयाँ

भारतीय कुटीर उद्योगों का अध्ययन यह प्रकट करता है कि वह सुखद स्थिति में नहीं है। कुछ उद्योग तो बिलकुल ही मर चुके हैं, कुछ अन्य मृतप्राय हैं और कुछ पानी पर तिनके के समान संघर्ष कर रहे हैं। इन उद्योगों की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

१. कच्चा माल मिलने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं, क्योंकि इन उद्योगों को अक्सर उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिनका बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादन होता है। कर्घा उद्योग बहुत कुछ सूती मिलों द्वारा उत्पादित सूत पर निर्भर है। द्वितीय महायुद्ध के समय सूत मिलने में बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि जितना सूत उत्पादित होता था, उसका अधिकांश मिलों द्वारा उपयोग कर लिया जाता था। उस समय तक अधिकांश मिलें सूत की कताई के साथ-साथ उसकी बुनाई भी करती थीं। केवल कताई करने वाली मिलों की संख्या बहुत कम थी। कर्घा उद्योग को अधिक सूत उपलब्ध कराने के लिए अब कुछ और कताई मिलों की स्थापना की गई है। इसी प्रकार चमड़े का कार्य करने वाले को चमड़े का अभाव रहता है। जो चमड़ा उसे मिलता भी है वह बहुत घटिया किसम का होता है।

२. कुटीर व छोटे उद्योगों में प्राचीन पद्धति से व पुराने ढंग के औज़ारों से कार्य किया जाता है, जिनकी वर्तमान समय में बहुत कम उपयोगिता रह गई है। इस कारण इनका उत्पादन कम मात्रा में और घटिया किस्म का होता है।

३. तैयार माल के विपणन-सम्बन्धी भी अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। मिलों और कारखानों में बने सामान की अपेक्षा कुटीर उद्योग द्वारा उत्पादित माल में अधिक समय और श्रम लगता है। इस कारण वह महंगा होता है, अतः उसकी विक्री मुश्किल होती है। काशमीर के शाल और बनारस के सिल्क जैसे कीमती समान की खपत तो और भी कम होती जा रही है, क्योंकि राजाओं और जमींदारों की अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही है। जनता की क्रयशक्ति में कमी होने के कारण कीमती वस्तुओं की माँग घट रही है।

४. अनुसन्धान और प्रशिक्षण का पूर्णतया अभाव रहा है। निरक्षरता और अज्ञानता के कारण कारीगर नये आविष्कारों का लाभ नहीं उठा पाता। वह अधिक मेहनत करता है, लेकिन उसका उत्पादन-स्तर नीचा ही रहता है।

५. कुटीर उद्योगों की एक बहुत बडी कठिनाई उचित मात्रा में वित्त का अभाव है। मशीन और आवश्यक औजार खरीदने के लिए दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही कच्चा माल खरीदने, मजदूरी आदि के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। छोटे उत्पादक अधिकतर गरीब है, उनके पास कोई जमा पूँजी नहीं होती है। ऋण के बदले आवश्यक जमानत वे नहीं दे पाते। साथ ही ऐसे उत्पादकों की आवश्यकताएँ भी कम होती है और इन्हें अधिक धन की जरूरत नहीं होती, इसलिए बड़े उद्योगों को आर्थिक सहायता देने वाले व्यवसायी बैंक इनको ऋण इत्यादि देने में कोई लाभ नहीं समझते। बहुत कम ऐसी संस्थाएँ है, जो इन्हें ऋण देती हैं। इन उत्पादकों को अधिकतर गाँव के साहूकारों और कारखानादारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ये इन्हें बहुत दिक्कत से और अधिक ब्याज पर ऋण देते हैं। कारखानादार इन्हें इस शर्त पर ऋण देता है, कि उत्पादित माल उसी को बेचा जायगा। उत्पादित माल की कीमत ऋण देते समय ही तय कर ली जाती है। इससे उत्पादक को उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

६. रेल-विभाग माल भेजने में माल किराया (Freight Charges) अच्छी दर से वसूल करता है। रेल-विभाग कुटीर उद्योगों को किसी भी प्रकार की सुविधा नही देता है। अधिक खर्च से उत्पादित वस्तुओं पर अधिक रेल-भाड़ा पड जाने के कारण वे और महंगी हो जाती हैं।

७. विदेशी माल और आन्तरिक मशीन द्वारा उत्पादित माल से स्पर्धा में भी बहुत बड़ी कठिनाई है। बड़े स्तर के उद्योगों द्वारा उत्पादित माल सस्ता पड़ता है, देखने में भी अधिक नफीस होता है। उसके मुकाबले में कुटीर उद्योग द्वारा उत्पादित महंगे माल का बिकना कठिन होता है।

८. कच्चा माल मंगाने और उत्पादित माल भेजने पर चुंगी देनी पड़ती है।

सुधार के उपाय

कुटीर उद्योगों को पुनः जीवित करने और उनकी दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है, कि इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सोच-समझकर एक विस्तृत योजना बनाई जाय। इस दशा में निम्न उपायों का प्रयोग हो सकता है—

१. साधारण तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रचार करना चाहिए। ग्रामों में प्रारम्भिक शिक्षा के साथ-साथ कला-कौशल की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से राज्य सरकारें, इस ओर विशेष रूप से जागरूप हो गई हैं और अनेक ऐसी संस्थाएँ कायम की गई हैं, जो मजदूरों को औद्योगिक शिक्षा देती हैं। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है, कि आम जनता को इस ओर रुचि नहीं है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि उचित शिक्षा और प्रचार के द्वारा जनता में इस ओर उत्साह का संचार किया जाय।

२. कुटीर उद्योग के कारीगरों को अच्छे व सुधरे हुए औजारों की सुविधा देनी चाहिए। बिहार में उन्नत औजारों का इस्तेमाल दिखाने के लिए निर्देशक नियुक्त किये गए हैं। उत्तर प्रदेश में भी इस ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

३. इन उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं के विज्ञापन और विक्रय की उचित व संगठित व्यवस्था करना चाहिये। आवश्यकता इस बात की है कि बाज़ार में उत्पादित माल की माँग बढ़ाई जाय और उचित कीमत वसूल की जाय। माँग तभी बढ़ सकती है जब या तो निर्यात किया जाय या बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के बदले इनका उपभोग किया जाय। कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित माल की अमरीका, इंगलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि देशों में माँग बढ़ाई जा सकती है। इन देशों में पहले भी यह माल निर्यात होता रहा है और वहाँ से दस्तकारी की वस्तुओं एवं कलापूर्ण सामान की माँग आती रही है। परन्तु इन देशों को बड़ी मात्रा में एक साथ और नमूने के सामान माल की आवश्यकता है। अतः माल के श्रेणीकरण और प्रचार के लिए सहकारी विक्रय समितियों का संगठन आवश्यक हैं। आन्तरिक उपभोग के लिए देश में सिवाय थोड़े स्थानों को छोड़कर सामान बेचने की कोई उचित व्यवस्था नहीं है। यदि लखनऊ के उत्तर प्रदेश आर्ट तथा क्रेफ्ट इम्पोरियम जैसी संस्थाएँ इस देश में स्थापित हो जायँ तो बहुत लाभ हो।

४. सहकारिता का सिद्धान्त लागू करना चाहिए। कारीगरों एवं दस्तकारों को सहकारी समितियों में संगठित हो जाना चाहिए। ये समितियाँ अपने सदस्यों के लिए आवश्यक मात्रा में कच्चा माल खरीदें और तैयार माल बेचें। ये समितियाँ अपने सदस्यों के लिए उचित शिक्षा एवं अच्छे औजारों का भी प्रबन्ध कर सकती हैं। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए विशेष ज़ोर दिया था। हमारे देश में इस प्रकार की समितियाँ बहुत थोड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। मद्रास और बम्बई में देश के अन्य भागों की अपेक्षाकृत इनका प्रचार अधिक है। १९४७-४८ में मद्रास में ऐसी ६५९ समितियाँ थीं, जिनकी कार्यशील पूँजी (Working Capital) १०७ लाख रुपया थी। इसी वर्ष बम्बई में २११ ऐसी समितियाँ थीं, जिनकी कार्यशील पूँजी ३२·५९ लाख रु० थी। उत्तर प्रदेश में ऐसी ५५० प्रारम्भिक एवं ३८ केन्द्रीय समितियाँ इस वर्ष थीं, जिनकी कार्यशील पूँजी केवल १५·१६ लाख रुपया थी। १९४७-४८ के बाद भी इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई है।

५. इन वस्तुओं के प्रचार के लिए औद्योगिक प्रदर्शनियाँ आयोजित करना। कुटीर उद्योगों में बहुत थोड़ी पूँजी से छोटे स्तर पर कार्य होता है, अतः इस द्वारा उत्पादित वस्तुओं के प्रचार की कोई व्यवस्था नहीं हो पाती है। सरकार एवं सहकारी समितियों को चाहिए कि औद्योगिक प्रदर्शनियों द्वारा इस प्रकार के माल के प्रचार एवं विक्रय का प्रयत्न करें। पिछले कुछ वर्षों में उत्तर प्रदेश के लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर आदि बड़े नगरों में इस प्रकार की औद्योगिक प्रदर्शनियाँ आयोजित की गई हैं।

६. विदेशी माल व आन्तरिक मशीनों द्वारा उत्पादित माल से की स्पर्धा से संरक्षण। बड़े मशीन उद्योग द्वारा उत्पादित माल के मुकाबले में छोटे कुटीर उद्योगों के माल के विक्रय में बहुत कठिनाई होती है। अतः मुक्त वाणिज्य (Free Trade)

में छोटे उद्योगों का टिका रहना कठिन हो जाता है। इस दिशा में यह माँग की गई है, कि धोतियों और साड़ियों का उत्पादन केवल कर्घा उद्योग द्वारा किया जाय। मिलों पर ऐसा प्रतिबन्ध लागू करने से जनता की असुविधाएँ बढ़ जायँगी और सूती मिलों को हानि उठानी पड़ेगी। अतः पूर्ण रूप से ऐसा प्रतिबन्ध लागू करना तो कठिन है, और आंशिक रूप में सरकार ने इस माँग को माना भी है। राज्य सरकारें छोटे पैमाने के और कुटीर-उद्योगो पर कम कर लगाने की नीति अपना रही हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में खाण्डसारी चीनी पर मिल द्वारा उत्पादित चीनी की अपेक्षा कम कर लगता है। पंचवर्षीय आयोजना में भी यह सुझाव दिया गया है, कि छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगों का विकास करने के लिए बड़े उद्योगों पर कर (Cess) लगाया जाय। सूती मिलों पर इस प्रकार ६½ करोड़ रुपया एकत्र करने के लिए तीन पाई प्रति रुपये के हिसाब से कर भी लगाया गया है, ताकि कर्घा उद्योग का विकास किया जा सके।

७. सरकार द्वारा ऋण एवं अनुदान देने की व्यवस्था होनी चाहिए। अधिकतर ग्रामीण कारीगरों को ऋण लेने के लिए गाँव के महाजन पर निर्भर रहना पड़ता है। कहीं-कहीं पर सहकारी समितियाँ भी ऋण देती है, पर उनकी संख्या नगण्य है। गाँव का महाजन बहुत ऊँची दर पर ऋण देता है एवं अन्य प्रकार से भी कर्ज़दार का बुरी तरह शोषण करता है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने अधिक संख्या में सहकारी ऋण समितियाँ स्थापित करने पर ज़ोर दिया है। औद्योगिक आयोग ने सुझाव दिया था, कि उद्योगों के निर्देशक (Director of Industries) को छोटे-छोटे ऋण देने चाहिए। उसने यह भी सुझाव दिया कि कारीगरों को उधार-क्रय-रीति (Hire Purchase System) पर भी औजार आदि दिये जायँ। राज्य सरकारों को इस ओर विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए।

८. छोटे और कुटीर उद्योगो के सामने बिजली और यातायात के अभाव की भी समस्या है। इनकी स्थिति सुधारने के लिए सस्ती बिजली और सस्ते यातायात की सुविधा देना भी ज़रूरी है।

कुटीर उद्योग व राजकीय नीति

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में भारतीय उद्योगों को राज्य का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था जिसके कारण ये उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे थे। किन्तु ब्रिटिश-राज्य-काल में विदेशी सरकार ने इन उद्योगों के प्रति उपेक्षा की नीति अपनाई जिससे इनका पतन होता चला गया। बीसवीं शताब्दी में सन् १९३० ई० के बाद ही इन उद्योगों का विकास करने के लिए राज्य द्वारा सक्रिय कार्य किये गये हैं। सर्वप्रथम सन् १९३४ के 'अन्तर्प्रान्तीय उद्योग सम्मेलन' की सिफारिशों के अनुसार भारत की केन्द्रीय सरकार ने कर्घा-उद्योग के विकास के लिए आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया था। तदुपरान्त बम्बई की 'आर्थिक व औद्योगिक जाँच समिति' ने बुनियादी शिक्षा पर जोर दिया। औद्योगिक आयोग ने भी कुटीर उद्योगों के विकास

के लिये महत्वपूर्ण सिफारिशें की थीं। १९३५ में प्रत्येक प्रान्त (राज्य) में 'उद्योग विभाग' की स्थापना की गई थी जो आज तक कुटीर उद्योगों के विकास का कार्य कर रहे हैं। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत की राष्ट्रीय सरकार ने सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में स्पष्ट रूप से कुटीर उद्योगों के महत्व को स्वीकार किया था। इसी आधार पर केन्द्रीय उद्योग तथा सप्लाई मन्त्रालय के द्वारा 'कुटीर तथा लघुस्तरीय उद्योग सचिवालय' की स्थापना की गई थी। योजना आयोग ने भी इन उद्योगों के महत्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम पंचवर्षीय योजना में इनको प्रमुख स्थान दिया है। राज्य सरकारें भी विभिन्न प्रकार से कुटीर व लघु उद्योगों का विकास करने का प्रयत्न करती हैं। सरकार के द्वारा व्यक्तियों को ५००० रु० का ऋण व २००० रु० का अनुदान तथा सहकारी समितियों को अधिकतम १०,०००रु० का ऋण व ६००० रु० का अनुदान दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य और औद्योगिक निगमों द्वारा दीर्घकालीन ऋण भी दिये जाते हैं।

प्रशिक्षण की सुविधा भी सरकार द्वारा प्रदान की जाती है। उदाहरण-तया उत्तरप्रदेश में सन् १९५१-५२ में ५२ ऐसी औद्योगिक संस्थाएँ थीं जिनको सरकारी सहायता दी जाती थी तथा २४ राजकीय टेक्नीकल और औद्योगिक संस्थाएँ थीं। इन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल की बिक्री का भी उचित प्रबन्ध सरकार के द्वारा किया जाता है। इस समय देश में २२ भंडार-गृह (Emporia) कार्य कर रहे हैं, जिनमें यह माल बेचा जाता है। इन वस्तुओं का प्रचार करने के लिए समय-समय पर औद्योगिक प्रदर्शनियाँ की जाती हैं। विदेशों में इनका प्रचार करने के लिये कई स्थानों पर सरकार द्वारा 'शोरूम' (Show Rooms) खोल दिये गये हैं। विदेशों में स्थित व्यापार आयुक्त (Trade Commissioners) व राजदूत (Ambassadors) भी वहाँ पर भारतीय कुटीर उद्योग की वस्तुओं का प्रचार कराने का प्रयत्न करते हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर व छोटे उद्योगों का विकास

योजना आयोग ने इन उद्योगों के आर्थिक महत्व को ध्यान में रखते हुए, अपनी योजना में महत्वपूर्ण स्थान दिया है तथा इनके विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये थे।

(१) कुछ विशेष वस्तुओं का उत्पादन केवल कुटीर उद्योगों के लिये ही सुरक्षित करना।

(२) विशाल स्तरीय उद्योगों की तत्कालीन उत्पादन शक्ति को न बढ़ाना।

(३) बड़े-बड़े उद्योगों पर कर लगाना।

(४) कच्चे माल की उचित प्राप्ति की उचित व्यवस्था करना।

(५) विभिन्न अनुसंधान कार्यों का समन्वय करने की व्यवस्था तथा कुटीर उद्योगों की अनेकों समस्याओं से सम्बन्धित अनुसंधान के लिए एक ग्रामीण शिल्प विज्ञान निकेतन (Institute for Village Technology) की स्थापना करना।

(६) राज्य सरकारों द्वारा इन उद्योगों की वित्तीय तथा विक्रय की कठिनाइयों

में आर्थिक सहायता देना तथा क्रय करते समय कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को प्राथमिकता देना।

कुटीर व लघुस्तरीय उद्योगों के विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा १५ करोड़ रुपया तथा राज्य सरकारों द्वारा १२ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई थी और योजनाकाल में इन उद्योगों द्वारा २० लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को प्रतिवर्ष अल्पकालीन धन्धा तथा ३६ लाख व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार दिलाने का लक्ष्य बनाया गया था।

योजना के अन्तर्गत १० उद्योगों जैसे—ग्रामीण तेल उद्योग, नीम के तेल से साबुन बनाने का उद्योग, धान कूटने, ताड़ का गुड़ बनाने, खांडसारी बनाये, चमड़ा उद्योग, ऊनी कम्बल बनाने, कागज बनाने, मधुमक्खी-पालन तथा दियासलाई बनाने आदि के उद्योगों के विकास की योजना बनाई गई थी।

प्रथम योजना की प्रगति

केन्द्रीय योजनाएँ—कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास कार्यों पर केन्द्रीय सरकार द्वारा १५ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था थी, जिसमें से सन् १९५१-५२ में १४·३ लाख रु० १९५२-५३ में २९·३ लाख रु० व १९५३-५४ में ७९·९ लाख रु० व्यय किया गया है जिसका विवरण इस प्रकार है—

व्यय की प्रगति (हजार रुपये में)

	१९५१-५२ प्रत्यक्ष (Actuals)	१९५२-५३ प्रत्यक्ष (Actuals)	१९५३-५४ संशोधित (Revised)
१. खादी उद्योग	२००	९००	१९७१
२. कर्घा उद्योग	१४	६३३	६३४८
३. ग्रामोद्योग	५९	७३	२१८८
४. दस्तकारी	४५०	२६०	११५३
५. भिन्न कुटीर उद्योग	१४२	२७०	१३२३
६. लघु स्तरीय उद्योग	५५७	७९०	३३२५
योग	१४३२	२९२६	७९८९

इसके अतिरिक्त सन् १९५३-५४ से मिल के कपड़े पर सन् १९५३ के कपड़े पर अतिरिक्त उत्पादन कर अधिनियम (Additional excise duty on Cloth Act, 1953) के अनुसार ३ पाई प्रतिगज कर लगने लगा है, जिससे लगभग ६ करोड़ रु० प्रतिवर्ष एकत्र होने की आशा है, इस धन से खादी व कर्घा उद्योगों को आर्थिक सहायता की जाने लगी है।

आजकल कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास की योजनाएँ कुछ केन्द्रीय संगठनों द्वारा ही संचालित की जाती हैं। इन संगठनों को स्थापित करने में काफी समय लग गया, जिसके कारण विकास कार्य बड़ी मन्द गति से हुए हैं। केन्द्रीय संगठन इस प्रकार हैं—

(१) अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड (All India Khadi and Village Industries Board)।

(२) अखिल भारतीय कर्घा बोर्ड (All India Handloom Board)।

(३) अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड (All India Handicraft Board)।

(४) केन्द्रीय सिल्क बोर्ड (Central Silk Board)।

इनके अतिरिक्त हाल ही में एक 'कोयर बोर्ड' (Coir Board) और स्थापित किया गया है। इन संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) **अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड**—इस बोर्ड की स्थापना जनवरी, सन् १९५३ में भारत सरकार द्वारा की गई थी। गत दो वर्षों मे ही इस बोर्ड ने कुटीर व ग्रामोद्योगों के विकास के लिये औद्योगिक प्रशिक्षण, मशीनरी की पूर्ति, वैज्ञानिक सलाह, विपणन, उत्पादन आदि सम्बन्धी कितनी ही योजनाओं का निर्माण किया और उनको कार्यान्वित किया है। बोर्ड का संचालन एक केन्द्रीय दफ्तर (Central office), वर्गीय दफ्तर (Zonal offices) व ग्रामीण प्रबन्धकों (Village Organisers) द्वारा होता है। इस बोर्ड के आधार पर अधिकांश 'क' और 'ख' खण्ड के राज्यों में ऐसे बोर्ड स्थापित हो गये हैं।

बोर्ड ने सन् १९५३-५४ में खादी उद्योग का विकास सम्बन्धी योजनाओं पर १९७·२ लाख रु० व्यय किया है, जिसका फल यह हुआ कि खादी का उत्पादन बढ़ गया। सन् १९५२ में केवल ७१ लाख रु० के मूल्य की खादी उत्पन्न हुई थी जबकि सन् १९५३ में १३६ लाख रु० की खादी उत्पन्न हुई। खादी की बिक्री बढ़ाने के लिये ग्राहकों को ३ आना प्रति रुपया कमीशन दिया जाता है, जिसका भुगतान भारत सरकार द्वारा होता है। बिक्री हुई खादी के कुल मूल्य पर ३ आना रुपया के हिसाब से सरकार रुपया दे देती है। बोर्ड ने निम्न ९ प्रमुख ग्रामोद्योगों, जैसे नीम के तेल का साबुन बनाना, ग्रामीण तेल उद्योग, धान कूटना, चमड़ा उद्योग, हाथों द्वारा कागज बनाना, मधु-मक्खी पालन, दियासलाई बनाना, आटा चक्की, व मिट्टी के बर्तन आदि के उद्योगों, का विकास कार्य भी हाथ में ले रखा है और इन पर बोर्ड ने सन् १९५३-५४ में २१·९ लाख रुपया व्यय किया था।

(२) **अखिल भारतीय कर्घा बोर्ड**—यद्यपि यह बोर्ड अक्टूबर सन् १९५२ में स्थापित हुआ था, किन्तु सितम्बर १९५३ तक यह कर्घा उद्योग की समस्याओं को हल करने में सुचारु रूप से कार्य न कर सका था, इसीलिये कर-कोष से ३०४·५ लाख रुपयों में से १९५३-५४ में केवल ६३·५ लाख रुपया ही व्यय किया जा सका था। बोर्ड का मुख्य ध्येय बुनकर सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता देना है। इसी बोर्ड के अन्तर्गत एक केन्द्रीय विपणन संगठन (Central Marketing Organi-

sation) की स्थापना की गई है, जिसकी शाखाएँ मद्रास, बम्बई और बनारस में हैं, तथा एक विशेष डिज़ाइन विभाग (Special Design Section) भी खोल दिया गया है। विदेशी बाजारों में कर्घे का कपड़ा खपाने के लिये एक योजना को कार्यान्वित करने की अनुमति भी दे दी गई है।

(३) **अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड**—दस्तकारी बोर्ड नवम्बर सन् १९५२ में स्थापित किया गया था। इसने विभिन्न राज्यों द्वारा निर्मित दस्तकारी उद्योगो के विकास की योजनाओं को स्वीकृति दे दी है। इन योजनाओं पर सन् १९५२-५३ में २.६ लाख रु० व सन् १९५३-५४ में ११·५ लाख रु० व्यय किया गया था। अधिकांश व्यय बोर्ड द्वारा चुने हुए उद्योगों, जैसे चीनी के बर्तनों का उद्योग, खिलौने बनाने व चटाई बुनने का उद्योग आदि, जिनके तत्कालिक विकास की आवश्यकता है, पर किया गया था। इस समय देश के विभिन्न भागों में २२ भण्डार-गृह (Emporia) कार्य कर रहे हैं और नई दिल्ली में एक दस्तकारी अजायवघर (Handicrafts Museum) खोलने का निश्चय कर लिया गया है। बोर्ड ने भारत व विदेशों मे दस्तकारी की वस्तुओं का प्रचार करने के हेतु अनेक प्रदर्शनियाँ आयोजित की हैं।

(४) **केन्द्रीय सिल्क बोर्ड**—वास्तव में सिल्क बोर्ड की स्थापना सन् १९४८ में ही हो चुकी थी, किन्तु यह सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर रहा था। अतः सितम्बर सन् १९५२ में और अधिक प्रतिनिधित्व देने के लिए, व भारत के समस्त सिल्क उद्योग को इस बोर्ड के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से इसका पुनर्संगठन किया गया। राज्य सरकारों की योजनाओं की जाँच करने के लिए बोर्ड ने एक शिल्प विकास समिति (Technical Development Committee) नियुक्त की है। सन् १९५३-५४ में इस बोर्ड को सरकार द्वारा १३·२३ लाख रुपये का अनुदान दिया गया था।

लघु-स्तरीय उद्योग

सन् १९५३-५४ से पूर्व एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार विभिन्न राज्यों में लघुस्तरीय उद्योगों के विकास कार्य किये जाते थे, जिनके लिए भारत सरकार द्वारा ऋण व अनुदान दिये जाते थे। यह धन प्रशिक्षण अनुसन्धान, निरीक्षण, सहकारी समितियों की स्थापना, मशीनरी खरीदना आदि के कार्यों पर व्यय होता था। सन् १९५१-५२ में ५·६७ लाख रु० व १९५२-५३ में ७·९० लाख रु० इस प्रकार व्यय किया गया था। परन्तु सन् १९५३-५४ में १० चुने हुए उद्योगों के विकास की योजना बनाई गई और राज्य सरकारों को इनके लिए ३२·२५ लाख रु० देने की व्यवस्था की गई थी। यह उद्योग इस प्रकार हैं—जूता व चमड़ा उद्योग, चमड़ा बनाना, शीशे का सामान बनाना, कटलरी, साइकिल के पुर्जे बनाना, ताले, बढ़ईगीरी और लकडी, लोहारी, खेल के सामान, दियासलाई, चीनी के बर्तन, रस्सी बटना आदि।

इसके अतिरिक्त लघुस्तरीय व मध्यमस्तरीय उद्योगों के विकास के लिए और अधिक आर्थिक सहायता देने के लिए सन् १९५३-५४ में राज्य वित्तीय-निगम (State

Financial Corporations) की स्थापना की गई थी। १ मार्च, सन् १९५४ तक ६ राज्यों—जैसे पंजाब, सौराष्ट्र, त्रिवांकुर-कोचीन, बम्बई, हैदराबाद, और पश्चिमी बंगाल में इन निगमों की स्थापना हो चुकी थी। यह निगम १ करोड़ रु० की पूँजी से स्थापित किये गये थे, जिसका १० से २०% तक भाग रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा दिया गया था। इसी प्रकार का निगम उत्तर प्रदेश में कानपुर में सन् १९५५ में स्थापित किया गया है।

फोर्ड फाउन्डेशन और भारतीय कुटीर उद्योग

फोर्ड फाउन्डेशन के अन्तर्गत नवम्बर, १९५३ में विशेषज्ञों के एक अन्तर्राष्ट्रीय दल ने कुटीर व लघुस्तरीय उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन व उनको हल करने के सुझाव देने के लिए भारत का दौरा किया था। दल ने मार्च १९५४ में भारत सरकार के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—

(१) भारत के छोटे उद्योगों के विकास में हर प्रकार की सहायता देने के लिए चार प्रादेशिक सेवा संस्थाएँ (Regional Institutes of Technology) विभिन्न स्थानों पर स्थापित की जानी चाहिए।

(२) एक विपणन सेवा निगम (Marketing Service Corporation) स्थापित करना चाहिए जो कुछ समय बाद उक्त सेवा संस्थाओं में मिला दिया जाय।

(३) सरकारी माँग को पूरा करने के हेतु उत्पादन का संगठन करने के लिए एक लघुस्तरीय उद्योग निगम (Small Scale Industries Corporation) स्थापित किया जाना चाहिए।

दल की प्रथम सिफारिश को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है और जुलाई, १९५५ तक बम्बई, मदुरा (मद्रास), कंठराज (पं० बंगाल), और फरीदाबाद (दिल्ली) में चार बहु-उद्देशीय सेवा संस्थाएँ स्थापित करने का निश्चय कर लिया है। हैदराबाद, त्रिवांकुर-कोचीन, बिहार और उत्तर प्रदेश में इनकी शाखाएँ खोली जायँगी। यह संस्थाएँ उत्पादन के नये तरीके लोकप्रिय बनाने, सुधरे हुए औजारों को प्रचलित करने, औद्योगिक प्रशिक्षण देने, तथा माल की बिक्री की व्यवस्था करके छोटे उद्योगों को विकसित करने का प्रयत्न करेंगी। इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ लोगों को छोटी मशीनें और औज़ार किस्तों पर खरीदने की सुविधा भी देगी। इनके संचालन के लिए भारत सरकार ने १७ करोड़ रु० का अनुदान देने का निश्चय किया है। संस्थाओं व इनकी शाखाओं के कार्यों का समन्वय वाणिज्य और आयोग मन्त्रालय के विकास कमिश्नर (छोटे उद्योग) के द्वारा होगा।

राज्यों की योजनाएँ—योजना में राज्य सरकारों द्वारा छोटे उद्योगों के विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए ११·९४ करोड़ रु० की व्यवस्था की थी, जिसमें से प्रथम तीन वर्षों में केवल ३·९४ करोड़ रु० ही व्यय किया गया। इसका ५०% भाग तो उत्तर प्रदेश, मद्रास. उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान, भोपाल और पंजाब ने ही व्यय किया है।

सरकार द्वारा वित्तीय सहायता

सन् १९५३-५४ के प्रारम्भ में भारत सरकार ने खादी उद्योग व अन्य ग्रामोद्योगों के विकास के लिए लगभग १,३९,९०,९००० रुपये का अनुदान (Grants) देने का निश्चय किया था तथा सन् १९५४-५५ में इस कार्य के लिए ५·३१ करोड़ रुपया देने का निश्चय किया है। इसके अतिरिक्त कर्घा उद्योग पर अलग से ५ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की थी।

सन् १९५५-५६ में भारत सरकार ने 'ग' खंड के राज्यों को छोटे व ग्रामोद्योगों के विकास के लिए १७,८१,००० रुपये का ऋण देने की व्यवस्था की है, जो इस प्रकार है—दिल्ली १० लाख रु०, विंध्यप्रदेश ३·७५ लाख रु०, अजमेर १ लाख रुपये, त्रिपुरा ६९ हजार रु०, कच्छ ५७ हजार रु०, भोपाल ५० हजार रु०, हिमाचल प्रदेश ५० हजार रु०, कुर्ग ४० हजार रु०, मनीपुर ४० हजार रुपये। इसके अतिरिक्त राजस्थान सरकार को चार विद्युतशक्ति द्वारा चालित लोहे, टीन, व ढलाई के वर्कशाप खोलने के लिये ६१,७१० रु० का अनुदान व ४८ हजार रुपये का ऋण किया गया है। ऋण का रुपया मशीनरी आदि खरीदने में व्यय होगा। जूता और चमड़े की अन्य वस्तुओं के उद्योग के विकास के लिए राजस्थान को २४ हजार रु० का अनुदान व २१,१५० रु० ऋण दिया गया है। इसी प्रकार दिल्ली राज्य की परिवार-कल्याण सहकारी औद्योगिक समिति को हाथ से दियासलाई बनाने का कारखाना स्थापित करने के लिए १ लाख रु० का ऋण व १५ हजार रु० का अनुदान दिया गया है। अनुदान का कुछ भाग स्त्री मजदूरों के प्रशिक्षण पर व्यय किया जायगा। मध्य भारत को राज्य में लकड़ी के उद्योग की उन्नति के लिए ७३,५०० रु० का अनुदान मिला है। उड़ीसा सरकार को राज्य में बढ़ईगीरी व लोहारी उद्योग के विकास के लिए २० हजार रु० का ऋण दिया गया है आन्ध्र को ४७५० रु० का अनुदान चित्तूर जिले में शीशे की चादर बनाने के लिए प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने को मिला है, तथा अखिल भारतीय दस्तकारी अजायबघर (All India Handicrafts Museum) के लिए सामान खरीदने के लिए अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड को २५ हजार रुपये का अनुदान दिया गया है।

बिहार को मई, सन् १९५५ में भारत सरकार ने कर्घा उद्योग के विकास के लिए १७१६० रु० का अनुदान तथा २१ लाख रु० का ऋण दिया है। ऋण का रुपया बुनकर सहकारी समितियों को कार्यशील पूँजी प्रदान करने के कार्य में लगाया जावेगा। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल को ८६७५० रु० का ऋण बुनकर समितियों के लिए दिया गया है। ४७,९८१ रु० का अनुदान मद्रास राज्य को मद्रास में एक ब्लीचिंग, फिनिशिंग व कलेन्डरिंग कारखाना खोलने के लिए दिया गया है। उत्तरप्रदेश को सिल्क कर्घा उद्योग के लिए १० हजार रु० का अनुदान मिला है।

अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड को हाल ही में ७ लाख रु० का अनुदान अपने अन्तर्गत समस्त खादी केन्द्रों को उनकी उत्पत्ति व बिक्री के अनुसार

आर्थिक सहायता देने के लिए दिया गया है। कताई के प्रोत्साहन के लिए बोर्ड को २५ हजार रु० व्यय करने की अनुमति दे दी गई है तथा बोर्ड को 'महीन सूत कताई' के लिए ३२४३ रु० अलग से दिया गया है।

केन्द्रीय सिल्क बोर्ड को रेशम के कीड़े पालने के उद्योग को विकसित करने के हेतु १,४२,०५० रु० अनुदान का मिला है जिसमें से ८७,६९० रु० जम्मू व काश्मीर को, २६,४४० रु० मध्य भारत को, २५,९२० रु० मैसूर को तथा २ हजार रु० पंजाब को मिलेगा।

ताड़ गुड़ (Palm Gur) उद्योग के विकास के लिए भारत सरकार ने खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड को १ लाख रु० का अतिरिक्त अनुदान दिया गया है, जो उन संस्थाओं को, जो इस उद्योग से सम्बन्धित है बाँट दिया जायगा। बोर्ड की सिफारिश पर मद्रास को १,६०,११० रु० व त्रिवाँकुर-कोचीन को २२,६०० रु० के अनुदान अपने-अपने राज्यों में ताड़ गुड़ योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए दिये गये हैं।

जम्मू व काश्मीर सरकार को ८ हजार रु० का अनुदान व १०,८८० रु० का ऋण ग्राम चमड़ा उद्योग के ४ कारखाने खोलने को दिया गया है। बोर्ड को नासिक के खादी विद्यालय पर अधिकतम १४,७५० रु० व्यय करने का अधिकार दे दिया गया है।

उक्त अनुदान व ऋण के अतिरिक्त भारत सरकार ने मई सन् १९५५ में छोटे तथा ग्रामोद्योगों के विकास के लिए और अतिरिक्त अनुदान व ऋण देना स्वीकार कर लिया है। इस कार्य के लिए मद्रास को २ लाख ५० हजार रु०, हैदराबाद को २,२२,८५० रु०, पश्चिमी बंगाल को २ लाख रु०, उड़ीसा को १ लाख ७५ हजार रु०, पंजाब को १ लाख ५० हजार रु०, आन्ध्र को १ लाख रु०, जम्मू और काश्मीर को ५० हजार रु० का ऋण दिया गया है।

उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद की औद्योगिक सहकारी समिति लिमिटेड को इलाहाबाद में दियासलाई के २१ कारखाने खोलने के लिये ६१००० रु० का अनुदान दिया है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश को १,७०,००० रु० का ऋण भी दिया गया है। पश्चिमी बंगाल को सितम्बर १९५४ में जो १,८९,६६८ रु० का अनुदान दिया गया था, उसकी वकाया रकम को भी व्यय करने की अनुमति दे दी गई है। अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड को २,६०,५०० रु० का ऋण व १२,६१,६७५ रु० का अनुदान देना स्वीकार किया है जो न खाने योग्य तेलों से साबुन बनाने के उद्योग के विकास में व्यय होगा। बोर्ड को खादी संम्बन्धी अनुसंधान कार्य करने वाले व्यक्तियों एवं संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के लिये ५०,००० रु० और दिया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर व छोटे उद्योग

अखिल भारतीय खादी व ग्रामोद्योग बोर्ड ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास के लिए एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनु-

सार योजना के अन्त तक इन उद्योगों पर १४२·७६ करोड़ रु० व्यय किया जायगा तथा ८८·५८ लाख व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार तथा ८०,००० व्यक्तियों को अल्प-कालीन धन्धा प्रदान किया जा सकेगा। इस कार्यक्रम में सूती कपड़ा, ऊन, चावल की हथकुटाई, घानी का तेल, चमड़ा, गुड़, खांडसारी, दियासलाई, साबुन, हाथ से बना कागज आदि के उद्योग सम्मिलित हैं।

इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास योजना प्रशासन ने विभिन्न राज्यों में कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास के लिये २६ पाइलट प्रोजेक्ट (Pilot projects) स्थापित करने की एक योजना बनाई है जिसका मुख्य ध्येय कुटीर उद्योगों को विकसित करके बेरोजगारी की समस्या की हल करना है इस योजनाओं का संचालन उक्त प्रशासन द्वारा किया जायगा। ये प्रोजेक्टस ऐसे स्थानों पर खोले जाने चाहिये जहाँ पर कुटीर व छोटे उद्योगों को विकसित करने के सभी साधन प्राप्त हों। एक सामुदायिक योजना खण्ड के अन्तर्गत ३०० गाँव होंगे, जो १५ क्षेत्रों (Groups) में विभक्त होंगे और प्रत्येक क्षेत्र में लगभग २० गाँव होंगे। प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत गाँवों में कुटीर उद्योगों के विकास कार्यक्रम बनाने के लिए एक समिति होगी जो लोगों का सहयोग प्राप्त करेगी और उनको कुटीर उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देगी। खण्डस्तरीय अर्थात् योजना खण्ड की मुख्य समिति इन क्षेत्र समितियों के कार्य का समन्वय करेगी। इन बिकास योजनाओं के कार्यान्वित होने से अन्य अखिल भारतीय बोर्डों के कार्यों का समन्वय होकर अधिक तेजी से कुटीर व छोटे उद्योगों के विकसित होने की सम्भावना की जाती है।

योजना आयोग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास कार्यों पर लगभग २०० करोड़ रु० व्यय करने का प्रस्ताव किया है। इन कार्यों का मुख्य लक्ष्य देश में बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या को कम करके लोगों को रोजगार प्रदान करना व उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer goods) का उत्पादन करना होगा। आयोग ने इस विकास योजना की रूपरेखा बनाने के लिये एक पांच सदस्यों की समिति नियुक्त की है जो प्रथम योजना में ग्रामोद्योगों व छोटे उद्योगों की योजना की व्यवस्था व इसी विषय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा की गई सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योगवार विकास योजना बनायेगी और राज्यवार इन उद्योगों के विकास के लिए साधन-स्रोतों के उपयोग की संभावनाओं पर प्रकाश डालेगी। यह योजना निम्नलिखित लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए निर्माण की जायगी—

(१) योजना की अवधि में मांग की उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में जो वृद्धि होगी वह ग्रामोद्योगों तथा छोटे उद्योगों द्वारा की जायेगी।

(२) इन उद्योगों द्वारा रोज़गार की जो व्यवस्था होगी वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाये।

(३) इन उद्योगों में उत्पादन व विक्रय की व्यवस्था मुख्यतः सहकारिता पर आधारित होगी।

उत्तर प्रदेश में छोटे उद्योगों को विकास योजना के अन्तर्गत ब्रिटेन तथा अन्य विदेशों में संगठित औद्योगिक बस्तियों के आधार पर औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates) कानपुर तथा आगरा में स्थापित की जाये इन बस्तियों में नये छोटे उद्योगों को स्थापित व विकसित करने के लिए बने हुए भवन, बिजली, तथा अन्य सार्वजनिक सुविधाएँ छोटे उद्योगपतियों को उपलब्ध की जा सकेंगी। एक संचालन समिति द्वाराऐसी बस्तियों की स्थापना के लिये एक विस्तृत योजना का निर्माण हो रहा है।

कर्वे समिति के सुझाव

योजना आयोग द्वारा नियुक्त कर्वे समिति जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर डी० जी० कर्वे थे, ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विभिन्न लघु तथा ग्रामोद्योगों, विशेषतः हाथ कर्घा एवं खादी, हाथ से धान कूटना, बनस्पति तेल, चमड़े के जूते, चमड़े का रंगना, गुड़ और खाँड, दियासलाई, तथा अन्य उद्योग, दस्तकारी, रेशम के कीड़े पालना और नारियल के रेशे आदि उद्योगों के विकास के लिए २५९·६१ करोड़ रु० की व्यवस्था करने का सुझाव दिया है, जिसमें से २५·२५ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार और २३४·३६ करोड़ रु० राज्य सरकारों द्वारा व्यय करना चाहिए। इस धन को निम्नलिखित प्रकार से व्यय करने का भी सुझाव दिया है।

उद्योग	व्यय (करोड़ रु०)
हाथ कर्घा द्वारा सूती कपड़े की बुनाई	८०
खादी बुनाई	२३
रेशम की बुनाई	५
ऊन की बुनाई	५
ग्रामोद्योग	४७
छोटे उद्योग	६५
दस्तकारी	११
रेशम के कीड़े पालना	६
नारियल के रेशे का उद्योग	२
प्रशासन, प्रशिक्षण एवं गवेषण	१५

समिति का अनुमान है कि उक्त विकास कार्यों के फलस्वरूप ३० लाख व्यक्तियों को अधिक कार्य, १० लाख व्यक्तियों को सामयिक कार्य और ५ लाख व्यक्तियों को पूरा कार्य प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार कुल ४५ लाख बेकारों को रोज़गार दिया जा सकेगा। समिति के अन्य महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) योजना-काल में कपड़े की बढ़ी हुई माँग को हाथ कर्घे द्वारा बुने हुए कपड़े से पूरा किया जाना चाहिये, अर्थात् हाथ कर्घा निर्मित वस्त्र का उत्पादन १५५ करोड गज (१९५५-५६) से बढ़कर द्वितीय योजना के अन्त तक ३२० करोड़ गज़ हो जाना चाहिए।

राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति—*

कारखाना	उत्पत्ति	वास्तविक उत्पादन १९५१-५२	१९५३-५४	१९५५-५६ तक का लक्ष्य
१. भारतीय टेलीफोन उद्योग	क. टेलीफून सं०	२१६२८	४००००	५०-०००
	ख. एक्सचेंज लाइन्स सं०	११०००	१५०००	२००००
२. सिंदरी खाद कारखाना	अमोनियम सल्फेट (टन)	३४८००	२,४९,०००	३,१५,०००
३. चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी	इंजनों की सं०	१७	६४	१००
४. हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि.	जहाज़ जी. आई. टी.	१०२०८	१०२६०	१५८१८
५. सवारी गाड़ी के डिब्बे	सं०	५४२	६०४	४,३८०
६. मैसूर लोहा व इस्पात वर्क्स	१ पिग आइरन (००० टन)	२३०	५२६	१००·०
	२: स्टील फिनिश्ड (००० टन)	३०·५	३२०	९००
	३ सीमेंट (०००टन)	५७०	६८·०	९००
७. गवर्न्मेंट इलेक्ट्रिक फैक्टरी, बंगलौर	ट्रान्सफार्मरस (KVIA)	३६५३४	३४९९३	८००००
८ यू. पी. गवर्न्मेंट प्रेसीज़न इन्स्ट्रूमेन्ट फेक्टरी	पानी के मीटर (स०)—		७०००	१२०००
	माईक्रास्कोप्स (सं०)—		८६	५००

इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत नये कारखाने स्थापित करने का कार्य भी जारी रहा। उड़ीसा में रुरकेला नामक स्थान में लोहा और इस्पात फैक्ट्री में (Iron-Steel Factory) स्थापित करने की पूरी तैयारी हो चुकी है। यह कारखाना जर्मन कम्पनी क्रुप डेमाग के सहयोग से स्थापित होगा और इसमें ३३ करोड़ रु० की पूंजी के लगने का अनुमान है। बेतार के तार तथा अन्य बिजली के सामान बनाने का कारखाना जापान की एक कम्पनी के सहयोग से ७ करोड़ रु० की लागत से मैसूर में स्थापित होगा। निजी क्षेत्र में भी इसी प्रकार उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है और निम्नलिखित नये कारखाने खोले गये हैं—

* Five Year Plan Progress Report For 1953-54 P. 151-152.

कारखाने का नाम	वार्षिक उत्पादन शक्ति
बलारपुर पेपर एण्ड स्ट्रॉ बोर्ड मिल्स	८००० टन
जयपुर उद्योग लि० (सीमेंट फैक्टरी)	१६५००० टन
ग्वालियर रेयन सिल्क मेन्यूफैक्चरिंग कं० लि०	२८००० गाठें
सोदेपुर ग्लास वर्कस	२१६०० टन
६ सूती मिलें	३२६०८ तकुये और ३५० करघे
विस्तार योजनायें	**अतिरिक्त वार्षिक उत्पादन शक्ति**
श्री दिग्विजय सीमेंट कं०	१००,००० टन
स्टील करपोरेशन आफ बंगाल	७५००० टन फिनिश्ड स्टील
टी आई. साइकिल्स आफ इंडिया	साईकिल के विभिन्न भागो का उत्पादन
एलकली एण्ड कैमीकल कारपोरेशन	२५०० टन कास्टिक सोडा
२८ सूती मिलें	६११०० तकुए
सीरपुर पेपर मिल्स	१०००० टन कागज़
रोहतास इंडस्ट्रीज	७००० टन कागज और दफ्ती

(प्रथम योजना के अन्तर्गत हुई उद्योगो की प्रगति परिशिष्ट १ मे दी गयी तालिका मे देखिये।)

वर्तमान दशा—उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतन्त्रता के पश्चात देश में औद्योगिक उत्पादन बराबर बढता ही जा रहा है। १९४७ में औद्योगिक उत्पादन का सूची अंक ९७ २ था, जो १९५४ में (जो वर्ष के स्वतंत्रता के बाद औद्योगिक दृष्टि से सबसे अच्छा रहा) बढ़कर १४६·५ तक पहुच गया। १९५५ मे भी इसी प्रकार वृद्धि हुई और अप्रैल १९५५ तक का उत्पादन सूची अक १५८ था। इस प्रकार भारत के उद्योग व्यापार में आज स्थिरता आ गई है और देश उपभोग्य सामग्री के क्षेत्र मे भी स्वावलम्बी होता जा रहा है। गत वर्षों में इजिनियरिंग उद्योगो ने काफी प्रगति की है। इस्पात के सामान ढालने वाले कारखानों और भट्टियो में पूरी क्षमता से उत्पादन होरहा है। ट्रासफार्मर उद्योग बराबर प्रगति कर रहा है। डिज़िल इजन बनाने का उद्योग जो स्वतन्त्रता से कुछ पूर्व ही आरम्भ हुआ था, अब कई गुना बढ़ गया है।

साइकिल और सिलाई की मशीनों का योजना का लक्ष्य शीघ्र ही पूरा हो जायेगा। जूट और वस्त्र बुनने की मशीनों के निर्माण करने के प्रयत्न भी जारी है। इनके अतिरिक्त १०—१२½ इंच सेटर की ढलाई की मशीनें, मोटर से चलने वाले बेंच ग्राइडर, कारबाइड टिप, पानी से बचाव करनेवाला कागज आदि बहुत वस्तुओ का उत्पादन देश मे प्रथम बार आरम्भ किया गया है। मोटर-गाड़ियो का उत्पादन बढ़ रहा है और मोटरो के कई प्रकार के पुर्जे भी यही बनने लगे है। मोटर साइकिल

1. Progress Report for 1953-54 P. 158.

केन्द्रिय व प्रान्तीय उद्योग विभाग स्थापित करने चाहिये। (३) औद्योगिक शिक्षा व टेकनीकल प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करनी चाहिये। (४) श्रमिकों के लिये हितकारी कार्यों की व्यवस्था होनी चाहिये। (५) उद्योगों को सरकार द्वारा प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये और यातायात की सुविधायें भी उपलब्ध होनी चाहियें।

उक्त सुझावों के कार्यान्वित होने से पूर्व ही सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' के अन्तर्गत युद्ध सामग्री के निर्माण, रक्षा एवं नियंत्रण के लिये १९१७ ई० में एक 'भारतीय युद्ध सामग्री बोर्ड' (Indian Munition's Board) की स्थापना की। युद्ध सामग्री के निर्माण व पर्याप्त पूर्ति के लिये इस बोर्ड द्वारा जो नीति अपनाई गई, इससे भारतीय उद्योगों को बहुत प्रोत्साहन मिला और सूत, जूट, लोहा व इस्पात, चमड़ा, ऊन, कागज़, काँच, सीमेंट, रँग व वार्निश, तेल, रासायनिक पदार्थ व इंजीनियरिंग आदि उद्योगों का काफ़ी विकास हुआ।

सन् १९२० तक तो भारतीय उद्योग व व्यापार में काफ़ी उन्नति होती रही। परन्तु एक ओर तो विदेशी मशीनों के आयात से देश में उत्पादन तो बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर लोगों की क्रयशक्ति लगातार कम होने के कारण मांग कम होती जा रही थी। अतः ऐसी स्थिति में घोर आर्थिक मंदी का काल शुरू हो गया जो सरकार की चलार्थ नीति और उसके द्वारा विनिमय दर में तीव्र चढ़ाव उतार के कारण और भी अधिक दीर्घकालीन और गम्भीर होगया और लगभग सन् १९२९ से १९३९ तक वस्तुओं के मूल्य बहुत कम रहे। ऐसी दशा को देखकर सरकार ने अधिकांश भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकार संरक्षण प्राप्त होने, कच्चे माल के सस्ता होने, सस्ती मशीनों के आयात होने तथा मजदूरी कम होने के कारण औद्योगिक उत्पादन काफ़ी बढ़ा और प्रायः सभी उद्योगों, जैसे सूत, जूट, लोहा व इस्पात, चीनी, कागज़, सीमेंट आदि ने कुछ प्रगति की।

सन् १९३७ में देश में कांग्रेस के लोकप्रिय मंत्रिमंडल बने और मंत्रियों ने उद्योगों के विकास की ओर ध्यान दिया। नेता जी श्री सुभासचन्द्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस प्रान्तों के उद्योग मंत्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किया गया। जिसने देश की आर्थिक समस्याओं का हल करने के लिये औद्योगीकरण पर बहुत बल दिया। अतः १९३८ में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' बनी। जिसके अन्तर्गत कई उप-समितियों की नियुक्ति हुई। इन समितियों ने भारी रसायन, इंजीनियरिंग, मशीन, मोटर, बिजली के यंत्र व औज़ार आदि का उत्पादन करनेवाले उद्योगों के विकास पर बहुत बल दिया। परन्तु देश की राजनैतिक परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय योजना समिति का कार्य बन्द होगया।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया और देश की आर्थिक स्थिति ने एकदम पलटा खाया। उत्पादन तथा बिक्री में फिर वृद्धि हुई, मूल्य बढ़े, उत्पादकों और व्यापारियों को भारी लाभ हुए, नई कम्पनियों की स्थापना एवं पुरानी कम्पनियों का विस्तार हुआ तथा मित्र राष्ट्रों और भारत सरकार की माँग में बड़ी मात्रा में वृद्धि होने के कारण सभी उद्योगों व व्यवसायों में बहुत उन्नति हुई। इसके अतिरिक्त

भारत सरकार ने उद्योग पतियों को यह आश्वासन दिया कि युद्ध के पश्चात् नये उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के सब प्रयत्न किये जायेंगे। सन् १६४० ई० में उद्योगों की नई उत्पादन विधियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सलाह देने के लिये एक औद्योगिक व वैज्ञानिक अनुसन्धान बोर्ड (Board of Industrial and Scientific Research) की स्थापना हुई। 'बेविन स्कीम' के अन्तर्गत कुछ भारतीयों को विशेष औद्योगिक प्रशिक्षण के लिये इंगलैंड भेजा गया तथा युद्धकाल में लगभग ४०० प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये जहाँ लोगों को टैक्नीकल प्रशिक्षण दिया गया। युद्धोत्तर समस्याओं की पुनरावृत्ति को रोकने के विचार से १६४१ में ही एक 'युद्धोत्तर पुनर्निर्माण समिति' की नियुक्ति कर दी गई और इसकी उपसमितियों ने श्रम, छंटनी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, कृषि आदि की सम्भावित युद्धोत्तर समस्याओं पर विचार किया। भारतीय अर्थ-शास्त्रियों के सहयोग से एक अन्य सलाहकार समिति की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय युद्धकाल में भारतीय उद्योगों ने काफी प्रगति की। कुछ नये उद्योग एक माध्यमिक स्तर पर प्रारम्भ किये गये जैसे धातु उद्योगों में डीजिल इंजन, पम्प, साइ-किल तथा सिलाई की मशीनें इत्यादि, रासायनिक उद्योगों में सोडा एश, कास्टिक सोडा, क्लोराइन तथा सुपर फासफेट इत्यादि। इंजीनियरिंग, औषधियाँ व तरल पदार्थ तथा कटलरी आदि के उद्योग भी स्थापित किये गये।

सन् १६४५ में युद्ध समाप्त हो गया और नई-नई समस्याएं उत्पन्न हो गईं। युद्धोत्तर काल में माँग गिरने से औद्योगिक उत्पादन कम होने लगा था और कुछ समय तक तो कपड़ा, चीनी, लोहा, सीमेंट आदि का देश में महान संकट रहा। उत्पादन की लागत बढ़ गई थी। कच्चे माल के मूल्य बढ़ने लगे थे तथा युद्ध से क्षत-विक्षत, तथा अपनी निजी समस्याओं में व्यस्त अन्य देशों से मशीनें व अन्य आवश्यक सामान मिलना बहुत कठिन था। भारत का भुगतान संतुलन (Balance of Payments) भी असंतुलित हो गया था। १६४६-४७ के साम्प्रदायिक दंगों और देश के विभाजन से स्थिति और भी बिगड़ गई। देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होने से भी कुछ प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि नये शासक अनुभवहीन थे तथा वे विभाजन से उत्पन्न कठिन समस्याओं में व्यस्त थे। राष्ट्रीयकरण की आशंका, नवीन कर, कंट्रोल-नीति तथा विदेशी विनियम की कठि-नाईयों के कारण उद्योगपति शंकित हो गये थे और अपनी पूंजी लगाना नहीं चाहते थे। चोर बाजारी बहुत बढ़ गई। मूल्य बढ़े हुए थे और उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पा रहा था। वास्तव में एक अजीब-सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय सरकार ने देश के औद्योगिक विकास की ओर ध्यान आकर्षित किया और दिसम्बर सन् १६४७ में एक औद्योगिक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें औद्योगिक विकास के उपायों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया। ६ अप्रेल, सन् १६४८ को भारत सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति से भारतीय उद्योगों के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ और इसी के कारण देश में वास्तविक औद्योगिक-विकास हो सका है और आज भारत का संसार के औद्योगिक क्षेत्र में आठवां स्थान है।

सन् १६४८ की औद्योगिक नीति :—

भारत सरकार ने 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' (Mixed Economy) के सिद्धान्त के आधार पर अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की और इसमें राष्ट्रीयकरण की समस्या को विशेषरूप से शामिल किया । इस नीति के अनुसार सरकार ने उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया । पहिले वर्ग में युद्धास्त्रों अर्थात् हथियार और गोला बारूद का उत्पादन, अणुशक्ति का उत्पादन व नियंत्रण, रेल आदि जिनमें सारा स्वामित्व व नियंत्रण सरकार के ही हाथों में होगा । इस व्यवस्था में सरकार को कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि पहिले से ही इन सभी उद्योगों पर राज्य का ही अधिकार था । द्वितीय वर्ग के उद्योगों में कोयला, लोहा व इस्पात, वायुयान व जलयानों का निर्माण, टेलीफून, बेतार व तार के यन्त्रों का निर्माण, पैट्रोल आदि खनिज तेल आदि को सम्मिलित किया गया । इन उद्योगों के विकास का दायित्व सरकार का ही था, पर आवश्यकता पड़ने पर सरकार वैयक्तिक उद्योग पतियों की सहायता ले सकती थी । तीसरे वर्ग में सभी शेष उद्योग हैं, जिनको वैयक्तिक उद्योगपतियों के हाथ में छोड़ दिया गया । परन्तु इस वर्ग में भी सरकार को अधिकार था कि किसी समय भी आवश्यकता पड़ने पर, हस्तक्षेप कर सके और इन उद्योगों को भी अपने हाथों में ले सके ।

इस नीति का वैयक्तिक उद्योगों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । पूंजीपति बजाय प्रोत्साहित होने के हतोत्साहित हुए । राष्ट्रीयकरण के भय से उनका साहस समाप्त हो गया और उद्योगों में उनकी कोई रुचि नहीं रही । इसका फल यह हुआ कि उत्पादन घट गया, पूंजी निर्माण कम होगया, और औद्योगिक क्षेत्र में कुछ-कुछ मंदी आने लगी । इस नीति में राष्ट्रीयकरण की बात पूर्णतया असफल रही और भारत सरकार को इसमें परिवर्तन करना पड़ा । सन् १६५१ के उद्योग विकास और नियमन अधिनियम (Industries Development and Regulation Act) में सरकार ने राष्ट्रीयकरण की कोई चर्चा नहीं की और उद्योगों के तीन वर्गों के विभाजन को भी शामिल नहीं किया ।

सन् १६५१ का उद्योग (विकास व नियमन) अधिनियम—

सरकार ने यह निश्चय किया कि यह अधिनियम उन ३७ उद्योगों में लागू होगा जिनमें १ लाख रु० से अधिक की पूंजी लगी हुई है । इस अधिनियम की प्रमुख धारायें ये है :—

(१) अधिनियम में उल्लिखित ३७ उद्योगों को एक निश्चित समय के अन्दर अनिवार्य रूप से रजिस्ट्री करानी होगी ।

(२) किसी भी नये मिल या औद्योगिक संस्था को खोलने अथवा वर्तमान मिल को बढ़ाने के लिये सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना होगा ।

(३) यदि उचित कारण के अभाव में किसी भी अनुसूचित उद्योग का उत्पादन कम हो जाय या निम्नकोटि का हो जाय तो राज्य को यह अधिकार होगा कि वह सारे उद्योग को या उसके किसी भाग को ५ वर्ष के लिये किसी व्यक्ति, बोर्ड या विकास परिषद को सौंप दे ।

(४) यदि कोई उद्योग सरकारी आदेशों व नियमों का पालन न करेगा तो उसका प्रबन्ध सरकार स्वयं अपने हाथों में ले लेगी।

सरकार को उक्त कार्यों में सलाह देने के लिये इस अधिनियम में एक केन्द्रीय सलाहकार समिति (Central Advisory Council) की व्यवस्था की गई, जिसमें उद्योग, श्रम तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि सदस्य होंगे और इनकी संख्या ३० से अधिक न होगी। ८ मई सन्, १९५२ से अधिनियम लागू होने पर केन्द्रीय सलाहकार समिति स्थापित कर दी गयी है जिसमें अध्यक्ष सहित २६ सदस्य हैं और वाणिज्य एवं उद्योगमंत्री इसके अध्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त उद्योग, उपभोक्ताओं तथा राज्य के बीच समन्वय करने के लिये इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी अनुसूचित उद्योग व उद्योगों के समूह के लिये विकास परिषदें (Development Councils) स्थापित करने की व्यवस्था है। इन परिषदों में राज्य, उद्योग और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि सदस्य होंगे। इन परिषदों का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक है तथा इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:—

(१) उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करना, उत्पादन के कार्यों में समन्वय करना तथा समय-समय पर उद्योगों की प्रगति की समीक्षा करना।

(२) श्रम की बरबादी को दूर करने के लिये कुशलता के मान निश्चित करना।

(३) अधिकतम उत्पादन करने, उत्पादन-व्यय को कम करने, तथा उत्पादित वस्तुओं की कोटि में सुधार करने के लिये सुझाव देना।

(४) कच्चे माल की उचित मूल्यों में प्राप्ति तथा तैयार माल के विक्रय का प्रबन्ध करना।

(५) औद्योगिक एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों को प्रोत्साहन देना और ज्ञातव्य आँकड़े (Statistical Data) एकत्र करना।

(६) श्रमिकों के उचित प्रशिक्षण व अन्य व्यवहारिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।

उक्त विकास परिषदों की स्थापना व संचालन के लिये सरकार ने उद्योगों की उत्पादित वस्तुओं के मूल्य पर दो आना प्रति रुपया की दर से शुल्क लगाने की व्यवस्था की है। बड़े रासायनिक उद्योगों एवं इंजन और पम्प उद्योग की विकास परिषदों ने अप्रैल सन् १९५३ से कार्य करना शुरू कर दिया है। तत्पश्चात गत दो वर्षों में अन्य उद्योगों की विकास परिषदें भी स्थापित कर दी गई हैं, जो सुचारु रूप से कार्य कर रहीं हैं और देश के औद्योगिक विकास में उचित सुझाव देकर व ठोस कार्य करके अच्छा हाथ बटा रहीं हैं।

परन्तु १९५१ के अधिनियम के लागू होने के केवल एक वर्ष पश्चात ही सरकार को इसमें संशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः १९५३ में इसमें अनेक संशोधन करके इसको और अधिक विस्तृत और बड़ा रूप दे दिया है।

उद्योग (विकास व नियमन) संशोधन अधिनियम, १९५३

इस अधिनियम की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(१) यह अधिनियम ३७ उद्योगों के स्थान पर ४३ उद्योगों पर लागू होगा।

(२) किसी भी उद्योग पर सरकार बिना सलाहकार परिषद से पूछे ही अधिकार कर सकती है।

(३) संशोधित नियम के अनुसार किसी भी अनुसूचित उद्योग पर सरकार ५ वर्ष से अधिक भी अधिकार रख सकती है।

(४) सरकारी कारखानों को नई वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ करने के लिये लाइसेन्स लेने की आवश्यकता न होगी।

(५) उद्योगों पर अधिकार कर लेने के पश्चात उनके संगठन की शर्तों व नियमावलि (Memorandum aud Aritcles of Association) को मानने के लिये सरकार बाध्य न होगी और इनको रद्द भी कर सकेगी।

उक्त संशोधन से सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के उद्योगों का विस्तार और भी अधिक हो गया है तथा निजी उद्योगपतियों को बड़ी ठेस पहुँची है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक प्रगति—

योजना आयोग ने भी भारत सरकार की सन् १९४८ वाली मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति को भावी औद्योगिक विकास के लिये आधार रूप में स्वीकार किया है और प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि और तत्सम्बन्धी विकास के पश्चात उद्योगों को दूसरा स्थान दिया। योजना के अन्तर्गत राजकीय तथा निजी उद्योग-क्षेत्र में विकास करने की व्यवस्था की गई थी। राजकीय क्षेत्र के विकास का सारा उत्तरदायित्व सरकार पर रखा गया और निजी क्षेत्र में उद्योगों के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये हैं। योजनाकाल में राजकीय उद्योगों के विकास पर १७० करोड़ रु० अर्थात कुल लागत का ८·४% व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। योजना आयोग ने विभिन्न उद्योगों को निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम दिया था—

(१) सूती वस्त्र, जूट, चीनी, साबुन, बनस्पति, रंग व वार्निश आदि उद्योगों में लगी हुई पूंजी व क्षमता का पूर्णतया उपयोग करना।

(२) लोहा व इस्पात, एलमूनियम, सीमेंट, खाद, रसायन और मशीनों के औजार आदि बनानेवाले उद्योगों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना।

(३) जिन उद्योगों को आरम्भ करने के लिये पर्याप्त पूंजी लगाई जा चुकी है, उन्हें पूर्ण करना।

(४) भारतीय साधनों को ध्यान में रखते हुए औद्योगिक ढांचे को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये नये उद्योगों को स्थापित करना।

योजनाकाल के प्रथम तीन वर्षों में राजकीय व निजी दोनों ही में क्षेत्रों पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक विकास हुआ है और उत्पादन बढ़ा है, जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति—*

कारखाना	उत्पत्ति	वास्तविक उत्पादन १९५१-५२	१९५३-५४	१९५५-५६ तक का लक्ष्य
१. भारतीय टेलीफोन उद्योग	क. टेलीफून सं०	२१६२८	४००००	५०-०००
	ख. एक्सचेंज लाइन्स सं०	११०००	१५०००	२००००
२. सिंदरी खाद कारखाना	अमोनियम सल्फेट (टन)	३४८००	२,४९,०००	३,१५,०००
३. चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी	इंजनों की सं०	१७	६४	१००
४. हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि.	जहाज़ जी. आई. टी.	१०२०८	१०२६०	१५८१८
५. सवारी गाड़ी के डिब्बे	सं०	५४२	६०४	४,३८०
६. मैसूर लोहा व इस्पात वर्क्स	१. पिग आइरन (००० टन)	२३०	५२६	१००·०
	२: स्टील फिनिश्ड (००० टन)	३०·५	३२·०	९०·०
	३. सीमेंट (०००टन)	५७·०	६८०	९०·०
७. गवर्न्मेंट इलेक्ट्रिक फैक्टरी, बंगलौर	ट्रान्सफार्मरस (KVIA)	३६५३४	३४९९३	८००००
८. यू. पी. गवर्न्मेंट प्रेसीज़न इन्स्ट्रूमेन्ट फेक्टरी	पानी के मीटर (सं०)—		७०००	१२०००
	माईक्रास्कोप्स (सं०)—		८६	५००

इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत नये कारखाने स्थापित करने का कार्य भी जारी रहा। उड़ीसा में रुरकेला नामक स्थान में लोहा और इस्पात फैक्ट्री में (Iron-Steel Factory) स्थापित करने की पूरी तैयारी हो चुकी हैं। यह कारखाना जर्मन कम्पनी क्रुप डेमाग के सहयोग से स्थापित होगा और इसमें ३३ करोड़ रु० की पूंजी के लगने का अनुमान है। बेतार के तार तथा अन्य बिजली के सामान बनाने का कारखाना जापान की एक कम्पनी के सहयोग से ७ करोड़ रु० की लागत से मैसूर में स्थापित होगा। निजी क्षेत्र में भी इसी प्रकार उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है और निम्नलिखित नये कारखाने खोले गये हैं—

* Five Year Plan Progress Report For 1953-54 P. 151-152.

कारखाने का नाम	वार्षिक उत्पादन शक्ति
बलारपुर पेपर एण्ड स्ट्रॉ बोर्ड मिल्स	८००० टन
जयपुर उद्योग लि० (सीमेंट फैक्टरी)	१६५००० टन
ग्वालियर रेयन सिल्क मेन्यूफैक्चरिंग कं० लि०	२८००० गांठें
सोदेपुर ग्लास वर्कस	२१६०० टन
६ सूती मिलें	३२६०८ तकुये और ३५० करघे
विस्तार योजनायें	**अतिरिक्त वार्षिक उत्पादन शक्ति**
श्री दिग्विजय सीमेंट कं०	१००,००० टन
स्टील करपोरेशन आफ बंगाल	७५००० टन फिनिश्ड स्टील
टी. आई. साइकिल्स आफ इंडिया	साईकिल के विभिन्न भागों का उत्पादन
एलकली एण्ड कैमीकल कारपोरेशन	२५०० टन कास्टिक सोडा
२८ सूती मिलें	६११०० तकुए
सीरपुर पेपर मिल्स	१०००० टन कागज़
रोहतास इंडस्ट्रीज	७००० टन कागज़ और दफ्ती

(प्रथम योजना के अन्तर्गत हुई उद्योगों की प्रगति परिशिष्ट १ में दी गयी तालिका में देखिये।)

वर्तमान दशा—उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतंत्रता के पश्चात देश में औद्योगिक उत्पादन बराबर बढ़ता ही जा रहा है। १९४७ में औद्योगिक उत्पादन का सूची अंक ९७·२ था, जो १९५४ में (जो वर्ष के स्वतंत्रता के बाद औद्योगिक दृष्टि से सबसे अच्छा रहा) बढ़कर १४६·५ तक पहुंच गया। १९५५ में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई और अप्रैल १९५५ तक का उत्पादन सूची अंक १५८ था। इस प्रकार भारत के उद्योग व्यापार में आज स्थिरता आ गई है और देश उपभोग्य सामग्री के क्षेत्र में भी स्वावलम्बी होता जा रहा है। गत वर्षों में इंजिनियरिंग उद्योगों ने काफ़ी प्रगति की है। इस्पात के सामान ढालने वाले कारखानों और भट्टियों में पूरी क्षमता से उत्पादन होरहा है। ट्रांसफार्मर उद्योग बराबर प्रगति कर रहा है। डिज़िल इंजन बनाने का उद्योग जो स्वतन्त्रता से कुछ पूर्व ही आरम्भ हुआ था, अब कई गुना बढ़ गया है।

साइकिल और सिलाई की मशीनों का योजना का लक्ष्य शीघ्र ही पूरा हो जायेगा। जूट और वस्त्र बुनने की मशीनों के निर्माण करने के प्रयत्न भी जारी हैं। इनके अतिरिक्त १०—१२½ इंच सेंटर की ढलाई की मशीनें, मोटर से चलने वाले बैंच ग्राइंडर, कारबाइड टिप, पानी से बचाव करनेवाला कागज़ आदि बहुत वस्तुओं का उत्पादन देश में प्रथम बार आरम्भ किया गया है। मोटर-गाड़ियों का उत्पादन बढ़ रहा है और मोटरों के कई प्रकार के पुर्जे भी यहीं बनने लगे हैं। मोटर साइकिल

1. Progress Report for 1953-54 P. 158.

प्रौर स्क्रूटरो (लम्ब्रेटा) का निर्माण भी गतवर्ष से शुरू कर दिया गया है।

चीनी व सीमेंट के कारखानों की कुछ मशीनें भारत में ही बनने लगी हैं। सीसे, रेडियो, बिजली के पंखे, बिजली की मोटरें, छींट के करघे, बैटरी, बिजली के बल्ब, ग्रस्टवस्टस की चादर और सूत आदि के उद्योगों का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ रहा है। सूती कपड़े का उत्पादन तो योजना के लक्ष्य से भी आगे बढ़ गया है तथा कपड़े की खपत और विदेशों को निर्यात में वृद्धि हुई है। अखबारी कागज भी प्रयोगात्मक रूप में बनने लगा है।

कास्टिक सोडा, चालन मद्यसार, दियासलाई, झलाई में काम आनेवाली गैस, शीशे की चादरें, सिगरेट, टायर, ट्यूब, पानी से बचाव करनेवाले कपड़े, रेलों में काम आनेवाली रबर की वस्तुएं आदि बनाने वाले उद्योगों ने भी अच्छी प्रगति की है। सुपर फास्फेट, अमोनियम सल्फेट, वाईक्रोमेट, कपड़े धोने का पाउडर, साबुन, रंगरोगन, द्रव्य क्लोरीन, ग्लीसरीन, प्रयोगशालाओं में काम आने वाले शीशे का सामान और टाइलों आदि के उत्पादन में अवश्य कुछ कमी हुई है। पर इसका कारण या तो मांग की कमी है अथवा कारखानों की मरम्मत या सुधार है।

सन् १६५६ की नई औद्योगिक नीति—

वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय औद्योगिक नीति के मूल उद्देश्य अधिक उत्पादन, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था और राष्ट्रीय आय का उचित बंटवारा आदि हैं। इसलिये बुनियादी उद्योगों, छोटे उद्योगों व कुटीर एवं ग्रामोद्योगों के लिये विस्तृत योजना बनाते समय इन उद्देश्यों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है। भारत सरकार ने इन सभी उद्देश्यों के आधार पर मई १६५६ में अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की है। यद्यपि बुनियादी तौर पर यह नीति सन् १६४८ की औद्योगिक नीति के सिद्धान्तों पर ही आधारित है, फिर भी गत ८ वर्षों में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए इसमें अनेक सुधार किये गये हैं। इस नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों की सीमाएं स्पष्ट शब्दों में निर्धारित कर दी गई है और देश की अर्थ-व्यवस्था में छोटे पैमाने के, कुटीर व ग्रामोद्योगों को विशेष महत्व दिया गया है।

१६५६ की नई औद्योगिक नीति में, भारत में 'समाजवादी ढंग की व्यवस्था' के स्थापित करने के उद्देश्य से, सार्वजनिक (Public) और सहकारी (Cooperative) क्षेत्रों के महत्व पर अधिक जोर दिया गया है। इस नीति के अन्तर्गत भारतीय उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया है। (१) प्रथम श्रेणी में वे उद्योग हैं जिनके भावी विकास की जिम्मेदारी सरकार की होगी। (२) दूसरी श्रेणी में वे उद्योग हैं जो क्रमशः सरकारी होते जायेंगे तथा इस श्रेणी के अन्तर्गत सरकार भी नये उद्योग स्थापित करेगी। इसके साथ ही नीजी उद्योग भी, सरकार के इस प्रयास में, सहयोग प्रदान करेंगे। (३) तीसरी श्रेणी में बचे हुए सभी उद्योग हैं जिनका भावी विकास निजी क्षेत्र द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक किया जायेगा। निजी क्षेत्र में भी औद्योगिक सहकारी समितियों को स्थापित करने पर अधिक बल दिया गया है।

नई नीति के अन्तर्गत सरकार ने कुटीर उद्योग, ग्रामोद्योग व छोटे पैमाने के

उद्योगों के विकास की व्यापक व्यवस्था की है क्योकि इन उद्योगों के विकास से बड़े पैमाने पर रोजगारों की व्यवस्था होगी, राष्ट्रीय आय का उचित बटवारा सम्भव हो सकेगा तथा पूंजी और कार्य कौशल के उन साधनों का भी प्रयोग हो सकेगा जो अन्यथा बेकार रह सकते है। यद्यपि सरकार कुटीर व ग्रामोद्योगों को आर्थिक सहायता देती रहेगी परन्तु राज्य की नीति का मुख्य लक्ष्य यही रहेगा कि विकेन्द्रित क्षेत्र स्वावलम्बी बन सकें और उनका विकास बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के साथ एकीकृत हो। इस कार्य के लिये उद्योगों में अभिनवीकरण और आधुनीकीकरण करना होगा, परन्तु यह सुधार इस तरह होंगे जिससे बेरोजगारी में वृद्धि न हो सके।

कुटीर उद्योगों व ग्रामोद्योगों के विकास में भी सहकारिता के महत्व पर अधिक वल दिया गया है। इसके अतिरिक्त भविष्य में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों या उन भागों का, जहाँ रोजगार के साधन पैदा करने की आवश्यकता है, पहिले विकास होगा।

अन्त में नई नीति के अर्न्तगत 'सत्ता के विकेन्द्रीकरण' पर भी अधिक जोर दिया गया है क्योंकि उद्योगों का अत्यधिक केन्द्रीकरण न केवल समाज और व्यक्ति की निजी बुद्धि का ही हनन करता है वरन् राष्ट्रीय यातायात पर भी अनावश्यक भार डालता है। इसके अतिरिक्त सरकार ने सार्वजनिक उद्योगों के लिए 'अधिकतम स्वतन्त्रता' का प्रस्ताव किया है।

उक्त नीति में अधिक उत्पादन, राष्ट्रीय आय का उचित बटवारा और पूर्ण-रोजगार आदि मूल सिद्धान्तों का पूर्ण अनुकरण किया गया है। आजकल काम सीखे हुए कुशल व्यक्तियों को रोजगार देने का प्रश्न है। इस दिशा में अत्यधिक शीघ्रता से बढ़ती हुई सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकताओं तथा ग्रामोद्योगों के विकास के लिये व्यवस्थापकों और प्राविधिक कार्यकर्त्ताओं को सरकारी नौकरियाँ दी जा रही है। इसके अतिरिक्त निरीक्षकों की कमी दूर करने, सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण की योजना निर्माण करने तथा विश्वविद्यालयों व अन्य संस्थाओं में व्यापार संचालन की प्रशिक्षा देने की व्यवस्थायें की जा रही है। अतः हमें पूर्ण आशा व विश्वास है कि इस नई औद्योगिक नीति को भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग का समर्थन प्राप्त होगा व इससे देश में तीव्रगति से औद्योगीकरण हो सकेगा और यह नीति भारत में समाजवादी ढंग की व्यवस्था (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना में बहुत सहायक होगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग—

द्वितीय योजना का सबसे महान् उद्देश्य देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना है। साथ ही दूसरा उद्देश्य देश का तीव्रगति से उद्योगीकरण करना है तथा इस प्रक्रिया में बुनियादी उद्योगों के विकास पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। देश का आर्थिक विकास पूंजीनिर्माण की गति पर ही निर्भर होता है। पूंजी निर्माण कोयला, बिजली, लोहा व इस्पात, भारी मशीनें, भारी रासायनिक पदार्थ और भारी उद्योगों के उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर होता है। अतः नई उत्पादक सामग्रियों के

उद्योग मुख्य रूप से राजकीय क्षेत्र में ही विकसित किये जायेंगे और गैर सरकारी क्षेत्र पर बुनियादी उद्योगों, जैसे सीमेंट, रसायनिक पदार्थ आदि के विकास का दायित्व बना रहेगा। औद्योगिक विकास के लिये योजना में निर्धारित राशि का अधिकांश भाग तीन इस्पात कारखानों, राजकीय क्षेत्र में कोयला-उत्पादन में विकास, भारी विद्युत सामग्री के कारखाने और कई दूसरी विचाराधीन योजनाओं में ही लगेगा।

योजना के प्रारूप में कुल ७२०० करोड़ रु० के व्यय की व्यवस्था की गई है। इसमें से ४,८०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र के विकास के लिये है। जिसमें से उद्योग और खनिजों के लिये ८९० करोड़ रु० निर्धारित किये गये है।

निजी क्षेत्र के २४०० करोड़ रु० में से ५७५ करोड़ रु० की उद्योगों के लिये व्यवस्था की गई है। भारत सरकार ऋण और कच्चे माल देकर तथा विक्रय सम्बन्धी अनेक सुविधायें देकर निजी क्षेत्र की सहायता करेगी। इस क्षेत्र के लाभ को सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में तथा सरकारी बोर्डों और सीक्यूरिटियो में लगाने के लिये प्रोत्साहित किया जायेगा। सट्टेबाजी और मुनाफेखोरी को समाप्त करने के प्रयत्न किये जायेंगे। इस क्षेत्र का निर्देशक सिद्धान्त व्यक्तिगत लाभ तथा साधनों पर नियन्त्रण न होकर समाज सेवा होगा। निजी क्षेत्र के प्रायः सभी उद्योगों के विस्तार करने या उनमें नये कारखाने स्थापित करने की योजना भी सम्मिलित है।

अध्याय २१

भारतीय वृहत् उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग

(Cotton Textile Industry)

आर्थिक महत्व—

प्राचीनकाल से ही भारत के औद्योगिक विकास में सूती वस्त्र उद्योग का विशेष महत्व रहा है। सूती वस्त्र उद्योग देश का सबसे बड़ा और प्रथम उद्योग है जिसने गत १०० वर्षों में अद्वितीय प्रगति की है। इस प्रगति के कारण न केवल भारत में पिछले ५० वर्षों से होने वाला वस्त्र का आयात ही बन्द हुआ है वरन् भारत संसार के उन महान देशों के स्तर पर पहुंच गया है जो वस्त्र का निर्यात करते हैं और आज विश्व में अमेरिका के बाद भारत को इस उद्योग के उत्पादन में द्वितीय स्थान प्राप्त हो गया है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है[1]—

विभिन्न देशों में वस्त्र का उत्पादन १९५४

देश	वस्त्र उत्पादन (१० लाख गज में)
अमेरिका	९८१२·२
इंगलैंड	१९९३ ६
जापान	३०४६·०
जर्मनी	२५२४·०
इटली	११५०·८
भारत	५०२५·०

(भारतीय उत्पादन में लगभग १६०० मिलियन गज वह वस्त्र सम्मिलित नहीं है, जो हाथ कर्घों (Handloams) और कुटीर उद्योगों द्वारा बनाया जाता है।)

आजकल भारत में कुल ४६१ सूती वस्त्र मिलें हैं, जिनमें लगभग ३३५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष के मूल्य का कपड़ा बनाया जाता है। इस उद्योग में लगभग ११ करोड़ रु० का कोयला, विद्युत व अन्य तैलादि (Lubricants) पर और २८ करोड़ रु० रंग और पैकिंग के सामान पर प्रतिवर्ष व्यय होता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय व राज्य सरकारों को इस उद्योग पर विभिन्न कर लगाकर करीब ४० करोड़ रु० वार्षिक की आय होती है। भारतीय संगठित वृहत उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग ही सबसे अधिक

1. See the Journal of Industry of Trade (Special Industry Supplement) November 1955 P. 125.

व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करता है। आजकल इसमें लगभग ७ लाख ५० हजार व्यक्ति लगे हैं, जिनको लगभग ८० करोड़ रु० प्रतिवर्ष वेतन स्वरूप दिये जाते हैं।

गत ५० वर्षों की प्रगति तो इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि सन् १९०४ में सूती वस्त्र उद्योग में केवल ५० लाख तकुए (Spindles) और ४२,६३३ कर्घे (Looms) थे, इनकी संख्या सन् १९५५ में ११४·२५ लाख तकुए और ६·२० लाख कर्घे हो गई है। इसी प्रकार सन् १९०४ में वस्त्र का औसत उत्पादन ४३·४ करोड़ गज था जबकि १९५५ में ५०० करोड़ गज के होने का अनुमान है। उद्योग की इस प्रगति का वस्त्र-व्यापार पर भी बहुत प्रभाव पड़ा है। गत ५० वर्षों में वस्त्र का आयात १८०·६ करोड़ गज से घटकर केवल ६० लाख गज प्रति वर्ष रह गया है जबकि भारतीय वस्त्र की विदेशों में मांग बढ़ने से, निर्यात १६·८ करोड़ गज से ७९·२ करोड़ गज प्रतिवर्ष हो गया है। योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९५५-५६ तक का वस्त्र उत्पादन लक्ष्य ४७० करोड़ गज निर्धारित किया था। परन्तु उद्योग में अनेक सुधारों व अनुकूल परिस्थितियों के कारण इतनी तीव्र गति से प्रगति हुई कि प्रथम योजना के समाप्त होने से १½ वर्ष पूर्व ही अर्थात १९५५-५६ की जगह सन् १९५४ में ही निर्धारित लक्ष्य की सीमा को पार कर ५००·२ करोड़ गज वस्त्र का उत्पादन किया गया था।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सूती वस्त्र उद्योग का भारतीय अर्थ व्यवस्था में व संगठित उद्योगों में कितना महत्वपूर्ण स्थान है।

उद्योग का संक्षिप्त इतिहास

भारत का सूती वस्त्र उद्योग प्राचीन काल से ही संसार में बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका था, तथा १७वीं और १८वी शताब्दी में चीन, मिश्र आदि विदेशों को भारी मात्रा में सूती वस्त्र निर्यात किया जाता था, परन्तु लंकाशायर में वस्त्र उद्योग के स्थापित होने व विदेशी सरकार की प्रतिकूल नीति के कारण प्राचीन लघुस्तरीय वस्त्र उद्योग का १९वीं शताब्दी के मध्यान्ह तक ह्रास हो गया।

यद्यपि आधुनिक ढंग के सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना का प्रथम प्रयास सन १८१८ में बंगाल में किया गया था परन्तु उद्योग का वास्तविक आरम्भ तो सर कावसजी दावर द्वारा सन १८५१ में बम्बई में एक बुनाई की मिल स्थापित करने से हुआ। इस मिल ने १८५४ में कार्य करना शुरू किया था। इसके बाद सन १८६१ में रनछोरलाल छोटालाल रँहटीवाला ने 'शाहपुर-मिल्स' के नाम से दूसरे सूती मिल की स्थापना की। तदुपरान्त १८६६ में 'कैलिको मिल्स' की स्थापना हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे सूती मिलों की संख्या में वृद्धि होती रही। परन्तु अधिकांश मिलों की स्थापना बम्बई में ही हुई क्योंकि यहाँ की भौगोलिक व आर्थिक स्थिति इस उद्योग के बहुत अनुकूल थी। कच्चे माल की उपलब्धि, पूंजी की प्रचुरता, बैंकों की सुविधा, पर्याप्त व सस्ता श्रम, नम जलवायु, यातायात की सुविधाओं तथा आयात-निर्यात की सम्भावनाओं के कारण प्रारम्भ से ही बम्बई में सूती वस्त्र-उद्योग का केन्द्रीकरण हो गया। और सन १८७९ तक केवल बम्बई में ५६ सूती मिलें खुल गईं, जिनमें

१४.५३ लाख तकुए और १३ हजार कर्घे थे। परन्तु सन १८७७ के बाद से ही सूती उद्योग का विकेन्द्रीकरण होने लगा और अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर, कानपुर, कलकत्ता, मद्रास, मदुरा, भोपाल, अजमेर, दिल्ली, पंजाब, मैसूर, हैदराबाद इत्यादि नगरों में अनेक सूती मिल खुल गये, क्योंकि इन स्थानों में सस्ता श्रम, कच्चे माल की प्रचुरता, शक्ति की उपलब्धि, बाजार की निकटता तथा यातायात आदि की सुविधाएं प्राप्त थीं। उत्तरी भारत में भी गत ५० वर्षों में अनेक सूती मिलों की स्थापना हुई है।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक अनेक कारणोंवश सूती वस्त्र उद्योग को बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिससे उद्योग में कुछ प्रगति न हो सकी। इनमें से प्रमुख कठिनाइयां ये थीं—१९०५ के बाद जापान और सुदूरपूर्व के देशों को होनेवाले सूत-निर्यात का बन्द होना—भारतीय वस्त्र के इंगलैंड में आयात पर आयात-कर बढाना—भारत में ही वस्त्र उत्पादन पर उत्पादन कर (Excise Duty) का लगाना—फैक्टरी अधिनियम बनने से वस्त्र उत्पादन की लागत का बढ़ना आदि।

परन्तु १९१४-१८ के प्रथम युद्ध काल में इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला। सूती सामान की सैनिक आवश्यकताओं के कारण सरकार ने मिलों को उत्पादन बढ़ाने में काफी सहायता देकर प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त जहाजों की कमी के कारण आयात की कमी तथा आयात किए हुए वस्त्र के मूल्यों में वृद्धि होने से देश के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। फलतः सूती मिलें सामर्थ्य से अधिक कार्य करने लगीं, मिल मालिकों को बहुत लाभ हुआ और उद्योग में लगी पूंजी में भी बहुत वृद्धि हो गई।

लेकिन यह प्रगति जितनी शीघ्र और आकस्मिक हुई उतनी ही शीघ्र समाप्त भी हो गई। वस्त्र की कम मांग, अधिक मूल्य, मजदूरों की व्यापक हड़तालें, उत्पादन कर, विदेशी प्रतिस्पर्धा में वृद्धि खासतौर से जापान से, विदेशी विनिमय की दरों में परिवर्तन आदि कारणों से उद्योग को बहुत कठिन समय देखना पड़ा। इन कठिनाईयों के कारण उद्योग को भारी क्षति हुई और समय-समय पर उद्योग को बचाने के लिए सरकारी संरक्षण की मांग की गयी। सन १९२७ में टैरिफ बोर्ड ने संरक्षण कर लगाने की मांग की परन्तु सरकार ने भारत आनेवाली कपड़े की मशीनों के आयात कर को घटाने के अलावा कुछ नहीं किया। बाद में सूत के आयात पर ६ पैसा प्रति पौंड आयात कर १९३३ तक के लिए लगा दिया गया। इसके उपरान्त १९३० में वस्त्र उद्योग (संरक्षण) एक्ट बना, जिसके अनुसार ब्रिटिश आयातों पर १५% व अन्य देशों के आयातों पर २०% कर लगाये गए। मार्च १९३१ में ये कर ५% और बढ़ा दिये गये और इसी वर्ष अक्तूबर में बढ़े हुए कर के २५% का एक और अतिरिक्त शुल्क (Surcharge) लगा दिया गया। इसी प्रकार १९३४ में एक नया वस्त्र उद्योग (संरक्षण) एक्ट पास हुआ। जिसकी अवधि १९३९ तक रखी गयी। द्वितीय युद्धकाल में संरक्षण की अवधि बार बार बढ़ाई गई और १९४७ में हर प्रकार का संरक्षण समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार भारतीय उद्योग को २० वर्ष तक संरक्षण मिलता रहा। यद्यपि इस संरक्षण नीति में अथेकों दोष थे। परन्तु फिर भी यदि यह संरक्षण प्राप्त न होता, तो कदाचित वस्त्र-उद्योग की रक्षा न होती और यह बरबाद हो जाता।

द्वितीय युद्धकाल में फिर से सूती वस्त्र उद्योग का विकास होने लगा क्योंकि वस्त्र की घरेलू व विदेशी मांग प्रथम युद्ध की भांति बहुत बढ़ गई थी। जापान से आयात भी बिलकुल बन्द हो गया था। १९४३ में वस्त्र का मूल्य भी बहुत अधिक बढ़ गया था और देश भर में वस्त्र का अभाव हो गया था। फलतः इस काल में भी मिल मालिकों ने भारी लाभ कमाये और उद्योग का भी विकास किया। अन्त में सरकार ने सूती वस्त्र पर नियन्त्रण लगा दिया और वस्त्र का राशनिंग कर दिया। इस प्रकार वस्त्र के उत्पादन व विक्री पर नियन्त्रण लगा दिया गया। कपड़ों पर मूल्य की व इसके बेचने की अन्तिम तारीख की मुहर लगा दी जाती थी। इससे वस्त्र का संग्रह व चोर बाजारी कुछ हद तक हो गई और उपभोक्ताओं को कुछ सहायता मिली। परन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण से अनेक प्रकार की बुराइयां पैदा हो गई और जनता को वस्त्राभाव में अनेक कष्ट हुए। स्वतन्त्रता के बाद स्वर्गीय बापू जी के आग्रह पर सरकार ने वस्त्र पर से नियन्त्रण हटा लिया परन्तु उद्योग में ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गईं कि १९४६ में फिर इसको लगा दिया गया। १९४९ में रुपये के अवमूल्यन (Devaluation) और कोरिया के युद्ध के कारण कपास तथा सशीनों के मूल्य फिर बढ़ गये। नियंत्रण की सख्ती के कारण उद्योगपति भी असन्तुष्ट थे। १९५० में हड़तालों के कारण कपास और श्रम की कठिनाइयां फिर उत्पन्न होने लगी। १९५२ की मंदी यद्यपि अस्थायी थी, किन्तु इससे उत्पादन कम हो ही गया और अनेक मिलों को बन्द कर दिया गया और श्रमिकों की छटनी हुई।

इसके उपरान्त १९५२ के मध्यकाल से ही उद्योग की स्थिति फिर सुधरी और उत्पादन में भी वृद्धि होने लगी और सन १९५४ में ही १९५५-५६ का वस्त्र उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति और विकास निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

सूती वस्त्र उद्योग का विकास

वर्ष	मिलों की संख्या	तकुओं की संख्या (लाख)	करघों की संख्या (लाख)	श्रमिकों की संख्या (लाख)
१९००	१९३	४९·४५	०·४०	१·६१
१९१४	२७१	६७·७८	१·०४	२·६०
१९३६	३७९	९८·५७	२·००	४·१७
१९४२	३९६	१००·२६	२·००	४·८०
१९४८	४२२	१०४·३३	२·०२	४·७६
१९५५	४६१	११४·२५	६·२०	७·५०

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सूती वस्त्र उद्योग

योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में सूती वस्त्र उद्योग के विकास का कार्यक्रम दो आधारों पर निर्धारित किया था। (१) भारत पर्याप्त मात्रा में वस्त्र का निर्यात करता रहे और (२) देश के आन्तरिक उपभोग के लिये पर्याप्त मात्रा में कपड़ा

मिलता रहे। उद्योग के विकास का भार निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया। आयोग ने १९५५-५६ तक के लिये सूत उत्पादन का १६४० मिलियन पौंड और वस्त्र उत्पादन का ४७०० मिलियन गज का लक्ष्य निर्धारित किया। योजना काल में करघा उद्योग का विकास करने के उद्देश्य से बुनाई के नये मिल स्थापित न करने का सुझाव दिया गया है और सूती मिलों को केवल कताई के लिये स्थापित किया जा सकता है। उक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने में ८ या ९ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान लगाया गया था।

निजी क्षेत्र में सूती वस्त्र उद्योग ने सबसे अधिक प्रगति की है। सन् १९५४ में ५०,००० लाख गज वस्त्र उत्पादन हुआ, जो पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य से भी अधिक था क्योंकि योजना के अन्तर्गत १९५५-५६ तक का लक्ष्य ४७७९० लाख गज वस्त्र का उत्पादन करना निश्चित किया गया था। योजना के अन्तर्गत सूत और वस्त्र के उत्पादन की प्रगति नीचे की तालिका में दिखाई गई है।[1]

इकाई	वार्षिक उत्पादक शक्ति		वास्तविक उत्पादन			
	१९५०-५१	१९५५-९६ (लक्ष्य)	१९५०-५१,	५३-५४,	५४-५५,	५५-५६ लक्ष्य
सूत लाख पौं०	१६,८९०	१७२२०	१७९०	१५२०९	१५७७०	१६४००
वस्त्र लाख गज (पिलका)	४७,४४०	४७२९०	३७१८०	४९०६०	५०४६०	४७०००

भारतीय सूती वस्त्र के निर्यात व्यापार को बढ़ाने के सुझाव देने के लिये भारत सरकार ने अक्टूबर, १९५४ में 'सूती वस्त्र निर्यात प्रोत्साहन समिति' (Cotton Textile Export Promotion Council) की स्थापना की। समिति के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं।

(१) विदेशी बाजारों का अध्ययन करना।

(२) व्यापारिक शिष्ट मंडलों को विदेशों में भेजना।

(३) सूती वस्त्रों के निर्यात का उच्च स्तर बनाये रखना।

समिति ने गत १½ वर्ष में काफी अच्छा कार्य किया है।

सूती वस्त्र कोष समिति (Cotton Fund Textile Committee) ने इसी वर्ष एक निरीक्षणालय की स्थापना की है जो भारत से निर्यात किये जाने वाले सामान का निरीक्षण करेगा जिससे उसमें कुछ मिलावट न की जा सके और विदेशों की ऐसी शिकायतें भी कम हो सकें।

कर्वे-कानूनगो समिति के सुझाव
(Karve-Kanungo Textile Enquiry Committee)

भारत सरकार ने गन् १९५२ में उक्त समिति मिलों और शक्ति से व हाथ से चलने वाले करघों की विभिन्न समस्याओं पर रिपोर्ट देने के लिये नियुक्त की थी। इसने सन् १९५४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। समिति ने अनुमान लगाया है कि

1. The Journal of Industry & Trade'Nov., 1955 P. 24

भारत का वर्तमान कपड़े का प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उपभोग १६ गज से बढ़कर १९६०-६१ में १७ गज हो जायेगा और सम्भव है कि राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि होने से यह उपभोग २२ गज हो जाये। फलतः आगामी वर्षों में कपड़े की मांग की वृद्धि को ध्यान में रखकर समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

(१) सूती वस्त्र की बढ़ती हुई मांग को शक्ति-चालित व अच्छे प्रकार के हस्त-चालित कर्घों द्वारा उत्पादित कपड़े से पूरी करनी चाहिये।

(२) नये बुनाई के मिलों को स्थापित करने की भविष्य में आशा न मिलनी चाहिये।

(३) सादे कर्घों के स्थान पर ५००० स्वचालित (Automatic) कर्घों की स्थापना करनी चाहिये, जिससे २० वर्ष में देश में सादे कर्घों के स्थान पर स्वचालित कर्घे ही कार्य कर सकें।

(४) आजकल के १२ लाख हस्तचालित कर्घों को शक्तिचालित कर्घों में बदल देना चाहिये।

(५) १९६० तक उत्पादन के कुछ अंश को हस्तचालित व शक्तिचालित कर्घों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये।

समिति के अनुसार सन् १९५५-५६ में कुल ६६५०० लाख गज कपडे का उत्पादन होने का अनुमान है, जिसमें से मिलों के द्वारा केवल ५०००० लाख गज कपड़ा बुना जायेगा और १४५०० लाख गज हस्तलिखित कर्घों द्वारा व २००० लाख गज रजिस्टर्ड शक्ति-चालित कर्घों द्वारा बुना जायेगा। सन् १९६०-६१ तक संम्भवतः ९२००० लाख गज कपड़ा बुना जाने लगेगा, अर्थात् सन १९५५-५६ से २५५०० लाख गज अधिक बुना जायेगा। अतः समिति के अनुसार इस वृद्धि को हस्तचालित व शक्तिचालित कर्घों द्वारा ही करना चाहिये, ताकि अधिक से अधिक लोगों को रोजगार मिल सके।

भारत की नई सूती वस्त्र नीति

हाल ही में भारतीय सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति की घोषणा की गई है, जिसमें कुल वस्त्र का उत्पादन लक्ष्य ८४० करोड़ गज रखा गया है और १८·५ गज प्रति व्यक्ति वस्त्र का उपभोग व ४० करोड़ जनसंख्या के अनुमानित आधार पर १०० करोड़ गज निर्यात के लिये और ७४० करोड़ गज घरेलू भाग के लिये निर्धारित किया है। वर्तमान उत्पादन ६८४७ करोड़ गज है, अर्थात १५५·३ करोड़ गज की और वृद्धि करनी होगी। यह वृद्धि उद्योग के उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न भागों द्वारा की जायेगी। नीति के अन्तर्गत मिलों द्वारा ३५·३ करोड़ गज, विद्युत द्वारा चलने वाले करघों द्वारा २०·० करोड़ गज और हाथ करघों द्वारा १०० करोड़ गज अतिरिक्त कपड़ा आगामी वर्षों में बुना जायेगा। इसके अतिरिक्त इस नीति की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(१) उक्त स्तर तक वस्त्र का उत्पादन बढ़ाने के लिये २० लाख तकलियों के लाइसेंस रद्द करके, २१ लाख अतिरिक्त तकलियों को चलाने के लिये केवल उन लोगों को लाइसेंस दिये जायेंगे, जो इन्हें शीघ्र ही चालू कर सकें, जिससे बढ़ती हुई सूत की

मांग की पूर्ति हो जाय ।

(३) सूती वस्त्र मिलों को १४,६०० स्वचालित करघों के लगाने की आशा इस शर्त पर दी गई है कि इनका सारा उत्पादन, जो लगभग ३५ करोड़ गज प्रति वर्ष होगा, निर्यात कर दिया जायेगा ।

(३) हाथ-करघा क्षेत्र में बुनकर सहकारी समितियों से द्वारा ३५००० विद्युत करघे लगाये जायेंगे ।

(४) नीति में अम्बर चर्खे को विशेष महत्व दिया गया है । अम्बर चर्खो से काते हुए सूत से हाथ करघों द्वारा ३० करोड़ गज कपड़ा बुना जायेगा ।

नीति की आलोचना—

(१) यह नीति वर्तमान स्थिति में अनुपयुक्त होने के अतिरिक्त, वस्त्र के वितरण की दृष्टि से भी गलत मालूम होती है । यद्यपि ३५ करोड़ गज वस्त्र का अतिरिक्त उत्पादन निर्यात के लिये ह ीरखा गया है फिर भी घरेलू मांग के लिये मिल द्वारा उत्पादित कपड़े में ३५ करोड़ गज की वृद्धि हो रही है ।

(२) निर्यात बाजार में आजकल एक तो प्रतियोगिता बड़ी तीव्र है और दूसरे सभी देशों में राष्ट्रीयता का जोर है । ऐसी परिस्थिति में आगामी २ वर्षों में भारतीय निर्यात ३५ करोड़ गज बढ़ जावेगा, इसमें बहुत सन्देह है । इसके अतिरिक्त घरेलू माँग की पूर्ति करने वाले कपड़े पर उत्पादन कर लगाने से ही हाथ करघों या विद्युत करघों की मिलों की तुलना में, अयोग्यता समाप्त नहीं हो सकती । फलतः प्रतियोगिता की दृष्टि से कमजोर क्षेत्र कमजोर ही रहेंगे ।

(३) नीति के अनुसार जो नई कताई मिलें खुलेंगी, वे ऐसे स्थानों में होंगी, जहाँ पर कपास पैदा होती हो और जहाँ हाथ करघा व बुनकर केन्द्रित है । ऐसी परिस्थितियों में अम्बर चरखे को कड़ी प्रतियोगिता का सामना पड़ेगा, जब कि सरकार ने वहां पर उनके स्वाभाविक विकास की आशा की है ।

(४) इस नीति का हाथ करघा उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव होगा । आगामी २ वर्षों में ३५ हजार विद्युत करघे स्थापित किये जावेंगे, जिससे एक ओर तो बुनकर और उनके परिवार विस्थापित हो जावेंगे और दूसरी ओर हाथ करघा उद्योग की जड़ें ही हिल जावेंगी ।

नीति के लाभ—

उक्त दोषों के होते हुए भी इस नीति से निम्नलिखित लाभ होंगे ।

(१) अम्बर चरखा व नई सूती मिलों के बीच के राजनैतिक मतभेद फिलहाल समाप्त हो जावेंगे ।

(२) इस नीति का भारतीय सूती वस्त्र के निर्यात व्यापार पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योकि सुचालित करघों की सहायता से लगभग १०००० लाख गज कपड़ा निर्यात के लिये प्राप्त हो सकेगा ।

(३) नई नीति के फलस्वरूप ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में प्रबन्ध तथा मजदूरी के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार होने की सम्भावना है ।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में सूती वस्त्र उद्योग

उद्योग के वर्तमान उत्पादन व भविष्य की आवश्यकताओं को, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, ध्यान में रखते हुए द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत वस्त्र उत्पादन में १९६०-६१ तक २४ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है अर्थात् वस्त्र का उत्पादन, जिसके १९५५-५६ में ६८५०० लाख गज होने का अनुमान है १९६०-६१ के अन्त तक ८५००० लाख गज हो जावेगा।

बृहत् उद्योग

LARGE SCALE INDUSTRIES

जूट उद्योग (Jute Industry)—

महत्व—भारत के बुनाई उद्योगों में जूट उद्योग का सूती कपड़े के उद्योग के बाद द्वितीय स्थान है। यह एक सुसंगठित व केन्द्रित उद्योग है, जिसमें लगभग ७० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। (३० करोड़ रु० अचल पूजी व ४० करोड़ रु० कार्यशील पूंजी) और २७२,३४२ श्रमिक कार्य करते हैं। यह मुख्यतः निर्यात का उद्योग है जो देश के कुल निर्यात व्यापार का $\frac{1}{3}$ व्यापार करता है। अभी तक भारत को इस उद्योग का एकाधिकार प्राप्त था। अमेरिका सबसे अधिक मात्रा में जूट निर्मित मालों का भारत से आयात करता है, अतः डालर प्राप्ति के लिये पटसन का निर्यात मुख्य और आवश्यक साधन है। १९४६–४७ से १९५१–५२ तक पटसन निर्मित मालों के आयात से ८५५ करोड़ रुपये का वैदेशिक विनिमय भारत को प्राप्त हुआ था।

पटसन की समस्त मिलों का ८५% केवल पश्चिमी बंगाल में हुगली नदी के किनारे कलकत्ता से ३५ मील ऊपर तथा २५ मील नीचे की ओर लगभग ६० मील लम्बे और २ मील चौड़े क्षेत्र में स्थित है, तथा शेष १५% मिलें मद्रास, बिहार, उत्तर-प्रदेश, रायगढ़ आदि में हैं। पश्चिमी बंगाल के मिलों में उद्योग के श्रमिकों के लगभग ९२·५% श्रमिक कार्य करते हैं। उद्योग के सारे मजदूरों में ८९·६% पुरुष हैं,१०·३% स्त्री तथा ·०९०% बच्चे हैं। उत्तरप्रदेश और बिहार में स्त्री श्रमिकों का अनुपात कम है। अन्यथा मध्यप्रदेश में यह २१·४% है, आन्ध्र में २५·१% तक पश्चिमी बंगाल में १०·४% है।

जूट उद्योग का विकास—प्राचीन काल में भारत में जूट का उद्योग कुटीर उद्योग के रूप में प्रचलित था। सन् १७९५ से १८३० तक टाट के टुकड़ों का भारी मात्रा में विदेशों को निर्यात होता था। किन्तु १८३५ में डन्डी में शक्ति-संचालित करघों का आविष्कार हो जाने से भारत का कुटीर उद्योग नष्ट होने लगा और यहां के कच्चे जूट की मांग बढ़ने लगी, जिससे जूट उत्पादन को और अधिक प्रोत्साहन मिला।

भारत में संगठित रूप में यह उद्योग १९वीं शताब्दी के मध्य में स्काच साहस और पूंजी के द्वारा स्थापित किया गया था। श्री जार्ज आकलेंड को सन् १८५४ में पश्चिमी बँगाल में सिरामपुर के समीप रिशरा में सर्वप्रथम जूट मिल खोलने का श्रेय प्राप्त है। आकलेंड ने डन्डी से मशीनें मंगाकर यह मिल चालू किया था। किन्तु २ वर्षों

तक इस मिल में केवल ८ टन सुतली प्रतिदिन तैयार की जा सकी थी। अतः १८५७ में हाथ करघे लगा दिये गये, जिससे बोरे बुनना शुरू हुआ तथा १८५९ में पहिला शक्ति-संचलित करघा लगाया गया। परन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह मिल बन्द कर देना पड़ा था।

सन् १८५९ में दूसरी मिल की स्थापना 'बोर्नियो' कम्पनी द्वारा की गई, जिसमें प्रारम्भ से ही शक्ति संचालित करघे व अन्य मशीनें लगाई गईं और कताई व बुनाई दोनों ही कार्य होने लगे थे। ५ वर्षों में ही इस मिल ने अपनी क्षमता दुगुनी करली और प्रथम १३ वर्षों में ही लगी हुई पूंजी से दुगुना लाभ कमा लिया। इसके पश्चात सन् १८६० में दो मिलें और १८६६ में एक मिल और खोली गई। इन सब मिलों में ९५० करघे थे और उत्पत्ति का अधिकांश भाग अमेरिका को निर्यात किया जाता था। तेजी के कारण १८६८ से १८७३ तक इन मिलों ने भारी लाभ कमाया और १५ से २५% तक लाभांश बांटे। अतः अन्य उद्योगों की पूंजी भी इसी ओर आकर्षित होने लगी और १८७४ में ५ व १८७५ में ८ नई मिलें और खोली गईं। अब कलकत्ता जूट उद्योग का एक विशाल केन्द्र बन गया। मिलों की संख्या बढ़ने से उत्पादन में भी बहुत वृद्धि हुई। करघों की संख्या १२५० से बढ़कर ३५०० हो गई। डन्डी, जहां से अन्य देशों को जूट निर्यात किया जाता था, का उद्योग चौपट होगया और वहां की मिलें लगभग बन्द ही हो गईं। इधर बंगाल में कच्चे जूट के एकाधिकार, यातायात के सुन्दर साधन, कोयले की खानों की समीपता तथा सस्ते श्रम के कारण यह उद्योग निरंतर बढ़ता ही चला गया। किन्तु मन्दी आने के कारण अगले ७ वर्षों में अर्थात् १८७५ से ८२ तक केवल १ मिल खुली। किन्तु भारत और बरमा के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड व अमेरिका आदि देशों में यहां के माल की मांग बढ़ने के कारण जूट उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला और १८८२–८५ तक ५ नई मिलें और खुल गई। इसी समय उद्योग की समस्याओं को हल करने व देखभाल करने के लिये सन् १८८४ में भारतीय जूट मिल संघ' (Indian Jute Mills Association) की स्थापना की गई। जिसने कार्य-शील घंटों में कमी करके कुछ काल तक के लिये १०% बोरे बनाने के करघों को बन्द कर दिया था।

सन् १८९५ तक जूट मिलों की संख्या २९ होगई, जिनमें से २६ कलकत्ता में थे और करघों की संख्या १०,००० होगई। १८९६ से १९०० तक १० नई मिलें और खुलीं तथा करघे १५००० होगये। इसप्रकार जूट उद्योग का निरंतर विकास होता रहा और १९१३–१४ तक भारत में ६४ मिलें स्थापित हो चुकीं थी। इस समय तक भारतीय जूट मिलों के प्रबन्ध में भी बहुत सुधार हुआ। इसके अतिरिक्त मशीनों में सुधार, निर्यात में वृद्धि, मिलों के आकार का विस्तार तथा कच्चे पाट की पूर्ति में उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई थी।

१९१४–१८ के प्रथम महायुद्ध काल में व उसके उपरान्त इस उद्योग के विस्तार व विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला। बोरों, सुतली तथा टाट की युद्धकाल में बहुत मांग बढ़ी, जिससे कच्चे जूट के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और भारत में ही उसकी

खपत होने लगी। युद्ध-काल में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं की १३८·८ करोड़ बोरे, १० लाख पौंड सुतली तथा ७१·३ करोड़ पौंड टाट की मांग को पूरा किया गया। इसी बीच जूट मिलों को लाभ भी बहुत हुआ। उदाहरणतः मिलों के शुद्ध लाभ १९१५ में ५८%, १९१६ में ७५%, १९१७ में ४९% और १९१८ में ७३% थे।

किन्तु युद्ध समाप्त होते ही जूट के सामान की मांग बहुत कम होगई। आर्थिक मन्दी के कारण उद्योग को संकट का सामान करना पड़ा। १९१९ में मिल संघ ने कार्यशील घंटों में कमी करने का निश्चय किया और १९२९ तक संघ के सदस्य मिलों ने सप्ताह में केवल ४ दिन ही कार्य किया। पर जब उत्पादन में कमी से भी कोई लाभ न हुआ, तो १९२४ में मिलों ने 'कोई विस्तार न करने' का निश्चय कर लिया। किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी उद्योग में उन्नति होती रही। १९१४, से १९२९–३० तक मिलों की संख्या ७० से ९८, करघों की ३८,३७९ से ५३,९०० और तकुओं की ७,९५,५२८ से ११,४०,४३५ होगई थी।

१९२९ की 'विश्व मन्दी' के कारण जूट उद्योग में भी भीषण संकट उत्पन्न हो गया। फसल अच्छी होने से कच्चे जूट की पूर्ति बढ़ गई, जिससे मूल्य बहुत कम हो गये। जौलाई, १९२९ में अपने कच्चे माल के भंडारों को समाप्त करने के लिये कार्य-अवधि ५६ घंटे से ६० घंटे प्रति सप्ताह कर दी गई। इससे मिल निर्मित पदार्थों में वृद्धि होने के कारण उनके मूल्य और भी कम हो गये। अतः जूट मिल संघ ने कार्य अवधि के घंटे कम करने का निश्चय किया और १९३१ में ६० से ४० घंटे प्रति सप्ताह कर दिये तथा १५% करघों को बन्द कर दिया, जो १९३८ तक चलता रहा।

द्वितीय महायुद्ध व उसके उपरान्त—

१९३९ में भारत में १०७ मिलें थीं, जिनमें से ९८ बंगाल में, ३ बिहार, ३ उत्तरप्रदेश, २ मद्रास तथा १ मध्यप्रदेश में थी। अब मोटे बोरों की जगह हैसियन कपड़ा (टाट) बुना जाने लगा था। द्वितीय युद्ध छिड़ने से विदेशी माँग के बढ़ने से हैसियन, बोरे तथा अन्य जूट के सामानों के लिये सरकार की भारी माँग, तथा मूल्यों में वृद्धि के कारण उत्पादन और मूल्यों में भारी सट्टेबाजी से तेजी हुई। अतः कार्य-अवधि पर से रोकथाम हटाकर सब मिलें पूरी क्षमता से ६० घंटे प्रति सप्ताह कार्य करने लगीं। परन्तु अगस्त, सन् १९४० के पश्चात माँग गिरने से फिर संकट उत्पन्न हुआ और फलस्वरूप कार्य अवधि के घंटे कम करके ४५ कर दिये गये और मास में केवल ३ सप्ताह कार्य होने लगा। किन्तु यह स्थिति भी बहुत दिन न चल सकी और मई सन् १९४२ में कार्य अवधि ५४ घंटे कर दी गई, परन्तु १७% करघों को बन्द कर दिया गया।

सन् १९४२ में भारत सरकार ने कोयले की कमी, यातायात की कमी, शक्ति की कमी, विदेशी माँग में कमी के कारण कोयले और यातायात के संरक्षण के लिये जूट मिल संघ को उद्योग के अभिनवीकरण (Rationalisation) का सुझाव दिया। किन्तु मिलों को वर्तमान परिस्थिति का सामना करने को स्वतन्त्र छोड़ दिया था। १९४३ में कोयले की भारी कमी के कारण कुछ मिलों ने स्वतः कार्य बन्द कर दिया

और जुलाई के अन्तिम सप्ताह में सभी मिलें बन्द रहीं। इसके अतिरिक्त जूट मिलों ने अभिनवीकरण की एक नई योजना लागू कर दी, जिसके अनुसार खर्च में बचत करने के लिये कोयले के केन्द्रीय भंडार (Central Coal Dumps) स्थापित किये गये और कोयले की उपलब्ध मात्रा की पूर्ति को नियंत्रित किया गया। बाद में एक 'संग्रह योजना' भी लागू की गई, जो १ जौलाई १९४४ से मार्च १९४६ तक लागू रही।

विभाजन का प्रभाव—

देश के राजनैतिक विभाजन के कारण जूट उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। भारत जो अब तक विदेशों को जूट का निर्यात किया करता था, स्वयं कच्चे जूट के लिये पाकिस्तान पर निर्भर रहने लगा, क्योंकि भारत में केवल २८% जूट उत्पादन वाले क्षेत्र आये और शेष ७२% पाकिस्तान में चले गये। किन्तु जूट की सारी मिलें भारतवर्ष में ही रह गईं। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया, जिससे १९४९-५० तथा ५०-५१ मे भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार रुक गया। फलस्वरूप पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल न मिलने के कारण कुछ मिलें तो बन्द ही कर देनी पड़ी व कुछ मिलों मे कार्य अवधि कम कर दी गई। अतः भारत सरकार ने जूट उद्योग के विकास तथा कच्चे माल की आत्म निर्भरता प्राप्त करने के लिये विशेष प्रयत्न करने शुरू कर दिये, जिसका फल यह आ कि कच्चे जूट के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

वर्तमान स्थिति—

सन् १९५३ में भारत की जूट मिलों की संख्या ११६ थी, जिनमें २,७२,३४२ श्रमिक कार्य कर रहे थे। भारत में मुद्रा के अवमूल्यन करने के समय से ही भारतीय मिलों को कच्ची जूट का मिलना कठिन हो गया, जब कि सन् १९५० में कोरिया में युद्ध की परिस्थितियों के कारण जूट के सामान की माँग बहुत बढ़ गई। अतः अन्य देशों में जूट उद्योग का विकास होने लगा और जूट के सामान बड़ी मात्रा में बनाये जाने लगे, जिसके कारण भारतीय जूट उद्योग को धक्का लगा। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान ने भारत को भेजी जाने वाली कच्ची जूट का अधिक मूल्य लेने का निश्चय कर लिया जिससे प्रतिस्पर्धा और भी बढ़ गई। फलस्वरूप भारत सरकार ने मई सन् १९५२ में निर्यात-कर घटा दिया और उसे हैसियन पर ७५० रु० टन से २७५ रु० प्रति टन तथा बोरों पर ३५० रु० से १७५ रु० प्रति टन कर दिया। तदुपरान्त १ मार्च १९५३ से बोरों पर निर्यात कर १७५ रु० से घटाकर ८० रु० प्रति टन कर दिया है। अमेरिका की माँग बढ़ाने के भी प्रयत्न किये गये हैं।

यद्यपि सन १९५२ में जूट निर्मित मालों के उत्पादन में वृद्धि हुई थी क्योंकि इस वर्ष ९,८३,८१० टन माल उत्पन्न हुआ था जब कि सन १९५१ में ८,८९,४११ टन ही हुआ था, किन्तु फिर भी इनके मूल्य में कमी हुई। सन १९५१ में इस माल का मूल्य २१२,४२ करोड़ रु० था जब कि १९५२ के माल का मूल्य १७०·७७ करोड़ रु० ही रह गया। सन १९५३ जूट उद्योग के लिये बहुत ही संकट का वर्ष था क्योंकि कच्चे जूट का प्रदाय की वृद्धि के अनुपात में उत्पादन नहीं बढ़ सका और मार्च १९५३

तक भारत में जूट निर्मित माल का भंडार १,३८,७९७ टन हो गया था। अतः मिलों ने ४८ घंटों की जगह ४२½ घंटे ही कार्य करना शुरू कर दिया और १२½% करघों को बन्द कर दिया। इससे उत्पादन घट गया और निर्यातों में ७% तथा देशी उपभोग में १७% की कमी हो गई। इसीलिये सरकार ने निर्यात करों में उक्त कमी की थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—योजना आयोग ने जूट उद्योग के विकास के लिये कोई विशेष योजना की व्यवस्था नहीं की, और मौजूदा मिलों की ही स्थिति को ठोस और मजबूत बनाने का निश्चय किया गया। आयोग के मतानुसार आज भारतीय जूट मिलों की अधिकतम क्षमता तक कार्य लेने की आवश्यकता है, और इसके लिये उन्हें कच्ची जूट की व्यवस्था करनी होगी। अतः योजना का लक्ष्य उत्पादन शक्ति-निर्यात में वृद्धि करना है। १९५०-५१ में ८,५८,००० टन उत्पादन शक्ति थी, जो १९६५-५६ में १२ लाख टन हो जानी चाहिये तथा निर्यात ६,५०,००० टन से बढ़कर १० लाख टन होना चाहिये। योजना का कार्यक्रम निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट है —

वर्ष	वार्षिक उत्पादन शक्ति (लाख टन)	उत्पादन (लाख टन)	निर्यात (लाख टन)
१९५०–५१	१२·००	८·५८	६·५०
१९५२–५३	१२·००	१०·००	८·२५
१९५५–५६	१२·००	१२·००	१०·००

योजना के अन्तर्गत कच्चे जूट का उत्पादन २०·९ लाख गांठों तक बढ़ाने की व्यवस्था की गई थी। इसके लिये विभिन्न राज्यों में दुहरी फसल, सुधरे खेती के ढग, उत्तम बीज व खाद का वितरण, सिंचाई की उचित व्यवस्था तथा आर्थिक सहायता देकर जूट का उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन कार्यों के लिये योजना में राज्य सरकारों के सहायतार्थ ५० लाख रुपये की व्यवस्था की गई थी, जिसमें से १९५३-५४ तक ३४ लाख रु० व्यय किया जा चुका है। योजना की सफलता निम्न-लिखित तालिका से स्पष्ट है[1]—

वर्ष	जूट उत्पादन क्षेत्र (लाख एकड़)	जूट उत्पादन (४०० पौड की लाख गाठें)
१९५०-५१	१४·११	३२·८
१९५१-५२	१९·५१	४६·८
१९५२-५३	८·१७	४६·१
१९५३-५४	११·९६	३१·३

फरवरी १९५३ में सरकार ने विशेषज्ञों की एक जांच समिति नियुक्त की थी, जिसके अनुसार अच्छी किस्म की जूट के उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिये और इसके लिये राज्य सरकारों को जूट बीज अधिनियम (Jute Seed Act) बनाना चाहिये और कुछ क्षेत्र केवल अच्छी किस्म की जूट के लिये ही निश्चित कर देने चाहियें। इसके

1. Five Year Plan Progress Report for 1953-54 Page 54.

अतिरिक्त भारत में और कोई नई जूट मिल नहीं खोलनी चाहिये। सरकार ने उक्त सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है और इन्हें शीघ्र ही कार्यान्वित करेगी।

उद्योग की समस्याएं

भारतीय जूट उद्योग की इस समय तीन प्रमुख समस्याएं हैं—(१) अच्छी किस्म की व सस्ती कच्ची जूट का अभाव, (२) उत्पादन लागत में कमी अर्थात मशीनों का अभिनवीकरण (Rationalisation) तथा (३) विदेशी प्रतिस्पर्धा (Foreign Competetion)।

पहली समस्या को हल करने के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारें विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। गत वर्षों में कच्ची जूट का उत्पादन काफी बढ़ चुका है तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत और भी बढ़ जाने की आशा है। उत्पादन व्यय कम करने के लिए जूट उद्योग में अभिनवीकरण की योजना लागू करना आवश्यक है। विदेशों की भाति यहाँ पर भी मिलों में कही टेक्निकल कुशलताओं (Technical Efficiency) का प्रयोग किया जाना चाहिए। किन्तु अभिनवीकरण की योजना लागू करने में दो बड़ी कठिनाइयां हैं। एक तो यह कि आधुनिक मशीनों के लगाने में ४०–४५ करोड़ रुपए की आवश्यकता होगी और दूसरे लगभग ४० हजार श्रमिक बेरोजगार हो जायेंगे। दूसरी कठिनाई तो सूती कपड़े के उद्योग की भांति दूर की जा सकती है किन्तु पहिली कठिनाई तो वास्तविक है क्योंकि वर्तमान समय में इतनी बड़ी धनराशि उपलब्ध कर सकना कठिन है। परन्तु फिर भी भारत की कुछ मिलों में अधुनिक मशीनों का प्रयोग आरम्भ कर दिया गया है। सन १९५३ तक नई मशीनों पर लगभग ६ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है। विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए सरकार को अपनी नीति बदलना चाहिए और निर्यात कर को समाप्त कर देना चाहिए अथवा समय-समय पर पुनरीक्षण करके उसे वस्तुओं के मूल्यों व विदेशी मांग के अनुरूप कर देना चाहिए। विदेशों की मांग का अध्ययन करने की व्यवस्था करना चाहिए कार्य अवधि ४८ घंटे और १२½% करघों पर से प्रतिबन्ध हटा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारतीय जूट निर्मित माल की विदेशी बाजारों में लोकप्रिय बनाने के लिए खूब प्रचार करना चाहिए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी पटसन का उत्पादन ४० लाख गांठों से बढ़ाकर ५० लाख गांठों तक कर देने की योजना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन् १९६०-६१ तक १९५५-५६ के उत्पादन की तुलना में लगभग २५% वृद्धि हो जायेगी।

चीनी उद्योग (SUGAR INDUSTRY)

महत्व—भारतवर्ष के संघटित बड़े उद्योगों में चीनी उद्योग का सूती कपड़े के उद्योग के बाद दूसरा स्थान है। इस उद्योग के विकास ने भारत से लगभग १६ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष का बाहर जाना रोक दिया है, क्योंकि भारत को बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से चीनी का आयात करना पड़ता था। भारत संसार का प्रथम चीनी उत्पादक है, जहां संसार की कुल गन्ने की पैदावार का २६% गन्ना उत्पन्न होता है। इस

उद्योग का विकास अपनी द्रुतगति के लिये भारत के औद्योगिक इतिहास में अद्वितीय है। देश में प्रतिवर्ष लगभग १०० करोड़ रुपये से अधिक मूल्य की चीनी व गुड़ का उत्पादन होता है। इस समय देश में चीनी बनाने वाली कुल १६८ मिलें हैं, जिनमें १६० मिलें गन्ने से चीनी बनाने वाली तथा ८ मिलें गुड़ से चीनी बनाने वाली हैं, जो देश में इस प्रकार विस्तृत हैं :—

राज्य	गन्ने से चीनी बनाने वाली मिलों की संख्या[1]	गुड़ से चीनी बनाने वाली मिलों की संख्या	योग
पश्चिमी बंगाल	४	×	४
बिहार	३०	२	३२
उत्तर प्रदेश	७२	२	७४
पंजाब	१	१	२
उड़ीसा	२	×	२
मद्रास	१६	२	१८
बम्बई	१५	×	१५
'ग' खण्ड के राज्य (Part 'C' States)	२	१	३
काश्मीर	१	×	१
पेप्सू	२	×	२
मैसूर	१	×	१
मध्यभारत	६	×	६
राजस्थान	२	×	२
हैदराबाद	३	×	३
सौराष्ट्र	१	×	१
त्रिवांकुर कोचीन	१	×	१
विंध्य प्रदेश	१		१
	१६०	८	१६८

भारतीय चीनी उद्योग में लगभग ६० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है, जिसमें २० करोड़ रुपए को अचल तथा ४० करोड़ रुपए की चल पूंजी है तथा इसमें १,३५,००० श्रमिक कार्य करते हैं। उत्तर प्रदेश व बिहार की अर्थ व्यवस्था चीनी उद्योग से विशेषतया सम्बन्धित है, क्योंकि भारतीय चीनी उत्पादन का ७५% भाग इन्हीं दो राज्यों में उत्पन्न होता है।

उद्योग का विकास

१५ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक चीनी उद्योग अच्छी दशा में फल-फूल रहा था और बड़ी मात्रा में चीनी का निर्यात किया जाता था। १९ वीं शताब्दी में भी चीनी का निर्यात होता था। सन् १८३५-३६ में ७१८४ टन, १८३९ ४० में

1 Indian Year Book 1954-55, P 209

२६६१३ टन व १८३६ से १८४७ तक ५६३७३ टन चीनी इंगलैंड को निर्यात की गई थी। किन्तु १६वीं शताब्दी के अन्त में भारत में मारीशस तथा जावा आदि से भारी मात्रा में चीनी का आयात होने लगा, जिससे भारतीय उद्योग की दशा बड़ी खराब होगई तथा सरकारी सहायता प्राप्त योरोपीयन चीनी की आयातों में मूल्य गिर जाने के कारण भारतीय-उद्योग अलाभप्रद हो गया था। १८७५-१६०० के बीच केवल उत्तर प्रदेश में ही १८० गुड़ से चीनी बनाने वाली मिलें बन्द हो गईं थी। विदेशी प्रतिस्पर्धा के कारण चीनी उद्योग का संहार होने लगा था, और इसीलिये गन्ने की खेती भी कम होने लगी थी।

भारत में आधुनिक चीनी उद्योग की वास्तविक नींव १८६६ में पड़ी थी, जब भारत सरकार ने चीनी के आयात पर भारी कर लगा दिया और उत्तरी भारत में सर्वप्रथम १६०३ में आधुनिक ढंग की चीनी मिलें खोली गईं। १६०३ के पश्चात यह उद्योग मन्द गति से प्रगति करता रहा, किन्तु वास्तव में १६३१-३२ तक चीनी उद्योग की दशा अत्यन्त शोचनीय ही बनी रही। स्वतन्त्र विदेशी प्रतिस्पर्धा, गन्ने से कम चीनी की प्राप्ति, गन्ने की खराब किस्म तथा कम उपज, सीरे की कम उत्पत्ति, गन्ना पेरने के अकुशल तथा हानिकारक ढंग, चीनी मिलों में गन्ने की कम मात्रा में प्राप्ति, तथा भारी पूजीगत व्ययों के कारण ही इस उद्योग की ऐसी दशा थी।

अतः चीनी उद्योग का वास्तविक विकास १६३१-३२ में, भारत सरकार द्वारा इस उद्योग को १५ वर्ष का संरक्षण (Protection), प्राप्त होने पर ही हुआ है। संरक्षण-प्राप्ति के पश्चात उद्योग का द्रुतगति से दृढ़ विकास होने लगा और चीनी की आयात कम होती गईं तथा १६४१-४८ तक प्रायः समाप्त सी हो गई। सन् १६३१-३२ में जब चीनी उद्योग को संरक्षण प्राप्त हुआ था, तब भारत में कुल ३२ चीनी मिलें थी और उनका उत्पादन १,५८,५८१ टन था। किन्तु ४ वर्ष में ही इस उद्योग का इतना विकास हुआ कि १६३६-३७ में मिलों की संख्या ३२ से बढ़कर १३७ हो गई और उत्पादन १२,३०,६०० टन था, जो अनुमानित उपभोग की मात्रा ११,५०,००० टन से भी अधिक था। अधिक उत्पादन के कारण चीनी का मूल्य गिरने लगा था। अतः अनियमित प्रतिस्पर्धा, अतिरिक्त उत्पादन और लाभों में भारी कमी को रोकने के लिये ६० मिलों की सदस्यता से १६३७ में चीनी संघ (Sugar Syndicate) स्थापित किया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य उद्योग का संगठन व विकास करना था। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ते ही भारतीय चीनी उद्योग पर संकट आ गया।

अप्रैल १६४२ से चीनी की भारी कमी के कारण भारत सरकार ने चीनी के वितरण व मूल्यों पर नियंत्रण किया और बाद में उत्पादन पर भी नियंन्त्रण लागू कर दिया। नगरों में चीनी की राशनिंग चालू की गयी। चीनी नियंत्रक के द्वारा चीनी व गन्ने का मूल्य निर्धारित किया जाता था, वही कोटा निश्चित करता था व चीनी के आवागमन पर नियन्त्रण कर विभिन्न प्रान्तों को चीनी की मात्रा निश्चित करता था। गन्ने की स्थिति में सुधार करने के लिये सन् १६४४ में एक भारतीय केन्द्रीय गन्ना समिति (Indian Central Sugar Cane Committee) की स्थापना की गई।

कोयम्बटूर का गन्ना केन्द्र, करनाल का गन्ना उपकेन्द्र तथा दिल्ली की भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद आदि गन्ने तथा इसकी उत्पत्ति, बीमारी, विपणन, निर्माण आदि बातों पर अन्वेषण करते हैं। कानपुर की Sugar Technological Institute तथा लखनऊ से पांच मील दूर भद्रक का Sugar Technology तथा Sugar cane Research Institute जो एशिया में सबसे बड़ा केन्द्र है, चीनी मिलों को मशीनरी, निर्माण विधि, यांत्रिक नियंत्रण में सुधार आदि के विषय में उचित सलाह देते है तथा Sugar Technology में प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करते है।

१९४४-४५ में तथा इसके पश्चात भारत में चीनी का उत्पादन कम होता चला गया। १९४६-४७ में आयात न होने के कारण देश में चीनी का घोर अभाव हो गया। २१ चीनी की मिलें कार्य नहीं कर पाई थीं। कुछ मिलों को बहुत हानियां हुई थीं व कुछ को सरकारी नकद सहायता भी देनी पड़ी थी। चीनी के अभाव के कारण देश में चोर बाजारी बहुत बढ़ गई और ५ गुने अधिक मूल्य पर चीनी विकने लगी।

विभाजन के उपरान्त

१९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप अविभाजित भारत के चीनी उत्पादन का ९७·९% भाग भारत को व २·१% भाग पाकिस्तान को प्राप्त हुआ, अर्थात भारत में १३७ चीनी मिलें रहीं, जिनकी उत्पादन शक्ति ९०१६९० टन थी। सन १९४८ में निर्यात पर से भी रोक हटा ली गई किन्तु भारतीय चीनी के अधिक मूल्य होने के कारण विदेशों में उसकी खपत न हो सकी। स्वर्गीय महात्मा गांधी के अनुरोध से १० दिसम्बर १९४७ को भारत सरकार ने चीनी व गुड़ के मूल्यों, वितरण, आवागमन आदि पर से नियंत्रण हटा लिया और केवल विदेशों को निर्यात पर कोटा नियंत्रण रखा। १९४८ में चीनी का उत्पादन बढ़ने के कारण सरकार ने चीनी संघ की सलाह से चीनी का मूल्य ३५।≡) मन निश्चित किया और गन्ने का मूल्य उत्तर प्रदेश में १।) मन से बढ़ा कर २) मन कर दिया। १९४९ में चीनी संघ ने ५०००० टन चीनी चोरी से पाकिस्तान को अधिक मूल्य पर भेज दी और व्यापारियों ने चीनी का भंडार छिपाकर जमा कर लिया, जिससे देश भर में चीनी का संकट उत्पन्न होगया। टैरिफ बोर्ड की सिफारिश के अनुसार १९५० में चीनी संघ को समाप्त कर दिया।

६ अक्टूबर सन १९५० को भारत सरकार ने चीनी और गुड़ पर नियंत्रण लागू किया। परन्तु गुड़ और खांड़सारी का मूल्य महंगा होने के कारण चीनी मिलें पर्याप्त मात्रा में गन्ना प्राप्त न कर सकीं और चीनी का उत्पादन कम होगया। इसी वर्ष सरकार द्वारा उद्योग का संरक्षण भी समाप्त कर दिया गया। १९५०-५१ में भारत सरकार ने 'Free Sugar' नामक एक योजना चलाई, जिसके अनुसार प्रत्येक चीनी मिल अपना अधिकतम कोटा उत्पन्न करने के बाद अपनी फालतू चीनी को खुले बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक बेच सकती थी। इस योजना के कारण चीनी उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिला और फलस्वरूप १९५०-५१ में चीनी का उत्पादन १२ लाख टन हुआ तथा १९५१-५२ में यह १४·९ लाख मन होगया, जो प्रथम पंचवर्षीय योजना के १९५५-५६ के उत्पादन लक्ष्य से भी अधिक था। अगले वर्ष यद्यपि उत्पादन

कम होकर केवल १२.९७ लाख टन ही रह गया था, किन्तु फिर भी यह मात्रा सामान्य उत्पादन की मात्रा से अधिक थी।

चीनी उद्योग की समस्याएं—भारतीय चीनी उद्योग की प्रधान समस्या चीनी के मूल्य अधिक होने की है। इस बढ़े हुए मूल्य के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं:—

(१) प्रति एकड़ गन्ने की कम उत्पत्ति व निम्न कोटि।
(२) प्रतिमन गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी का बनना।
(३) गन्ने का मूल्य अधिक होना।
(४) उत्पादन संबन्धी अन्य लागतों की अधिकता।
(५) श्रमिकों के ऊंचे वेतन।
(६) उत्पत्ति का पूर्ण उपयोग न होना।
(७) उत्पादन-कर का असंगत होना।

भारत में चीनी का प्रतिव्यक्ति उपभोग अन्य देशों की तुलना में बहुत कम हैं। चीनी और गुड़ मिलाकर भारत में प्रति व्यक्ति औसतन ३० पौंड का उपभोग है, जब कि अमेरिका में केवल चीनी का उपभोग ९७ पौड, इंगलैड में १६० पौंड व आस्ट्रेलिया में ११६ पौंड है। इसी प्रकार भारत में गन्ने से केवल ९·५०% चीनी प्राप्त होती है, जब कि आस्ट्रेलिया में १४·३३%, फारमोसा में १२·९३%; पेरु में १२·३३%, क्यूबा में १२·२५%, मारीशस में १२·०८% और जावा में ११·५०% चीनी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त गन्ने की उत्पत्ति भी प्रतिएकड़ बहुत कम है और गन्ना भी अच्छी कोटि का नहीं होता। उद्योग का विस्तार भी उचित रूप से नहीं हुआ है। अधिकांश चीनी मिलें उत्तरप्रदेश और बिहार में ही स्थित है, जहां देश की ७५% चीनी का उत्पादन होता है। अतः नई मिलों को उन प्रदेशों में स्थापित करना चाहिये, जहां गन्ने की उत्पत्ति अधिक हो व कोटि भी उत्तम हो, जैसे मद्रास आदि दक्षिणी प्रदेश। यातायात की सुविधाओं का विकास भी आवश्यक है। चीनी का ऊँचा मूल्य कम करने के लिये गन्ने की खोई व सीरे जैसी उपोत्पत्ति का कागज़, दफ्ती, सोख्ता, खाद तथा आल्कोहल आदि बनाने में आर्थिक उपयोग करना चाहिये। चीनी पर अतिरिक्त कर तथा उत्पादन कर से प्राप्त धन का बहुत बड़ा भाग उत्तरप्रदेश और बिहार में गन्ने की किस्म और उपज बढ़ाने के बजाय अन्य मदों पर व्यय कर दिया जाता है जो अनुचित हैं। जिन चीनी मिलों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिल पाता, उनका गन्ने के क्षेत्रों में स्थानान्तर करना चाहिये। गन्ने की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने व उसकी किस्म अच्छी करने के लिये सिंचाई, उत्तम खाद, अच्छा बीज तथा आर्थिक सहायता आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। अन्त में चीनी उद्योग का अभिनवीकरण भी बहुत आवश्यक हैं।

पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग—

केन्द्रीय सरकार ने योजना के अन्तर्गत २० नयी मिलों को विभिन्न प्रदेशों में स्थापित करने की व्यवस्था की थी, यद्यपि इनमें से कुछ मिलें बन चुकीं हैं। किन्तु गन्ने के अभाव तथा मशीनों के ऊंचे मूल्यों और उनके मिलने की कठिनाई के कारण

ये संन्तोषजनक प्रगति नहीं कर सकीं हैं। योजना के अन्तर्गत चीनी उद्योग के विकास की रूप-रेखा इस प्रकार से थी :—

	१९५०–५१	१९५५–५६
वार्षिक उत्पादन शक्ति	१५ लाख टन	१५·५ लाख टन
वास्तविक उत्पादन	११·२ लाख टन	१५ लाख टन
चीनी मिलों की संख्या	१५८	१७८

योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा कुछ राज्य-सरकारों को आर्थिक अनुदान भी दिये गये हैं, जिनसे उन राज्यों में उद्योग का विकास किया जा रहा है। उत्तरप्रदेश को इसी उद्देश्य के लिये ५ लाख रुपया मिला है। भारत सरकार ने हाल ही में 'राष्ट्रीय उत्पादन केन्द्र' (National Productivity Centre) की स्थापना की है, जहां नवीन प्रकार के साधनों व विधियों द्वारा उत्पत्ति व आय को बढ़ाने का प्रदर्शन और परीक्षण करने की व्यवस्था है। उत्तरप्रदेश के बिजनौर जिले में धामपुर नामक राष्ट्रीय उद्योगशाला के कारखाने में लखनऊ की Sugar cane Research Institute ने कानपुर के Indian Institute of Sugar Technology के संचालक के निरीक्षण में यह प्रदर्शन किया था कि उन्नत साधनों से किस प्रकार गुड़ और खांडसारी के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

वर्तमान स्थिति—

१९५४–५५ के लिये गन्ने के अन्तिम प्राक्कलन के अनुसार १९५५–५६ में गन्ना ३९,३२,००० एकड़ भूमि में बोया गया है और ५,४६,४८००० टन उत्पादन की सम्भावना थी, जब कि ५,६०,००,००० टन गन्ना उत्पन्न हुआ है क्योंकि कृषकों ने इस वर्ष अमोनियम सलफेट के उत्तम खाद का प्रयोग किया था।

इसी प्रकार चीनी का उत्पादन भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। सन् १९५१-५२ में १४·८३ लाख टन चीनी का उत्पादन हुआ था। १९५३–५४ में १०·१७ लाख टन चीनी उत्पन्न हुई थी और १९५४–५५ में १६ लाख टन उत्पादन होने का अनुमान है। मई १९५५ के अन्त तक १६० मिलें चालू थीं, और १५,७०,००० टन चीनी उत्पन्न हो चुकी थी।

१९५४–५५ में चीनी की कुल प्राप्ति जिसमें गत वर्ष का बचा हुआ भंडार आयात और आयातित खांड़ से बनाई गई चीनी भी शामिल है, २३,७०,००० टन होने की संभावना है। जब कि भारत में कुल उपभोग १७ लाख टन से अधिक होने की आशा नहीं है, अतः भारतीय चीनी मिल संघ ने सरकार को सुझाव दिया है कि विदेशों में खरीदी गई चीनी, जो अभी तक भारत में नहीं आई उसे विदेशों में ही बेच देनी चाहिये। सरकार को आयातित चीनी की बिक्री भी रोक देनी चाहिये, जिससे देशी चीनी बिक सके तथा विदेशी चीनी सुरक्षित भंडार के रूप में रखनी चाहिये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग—

योजना आयोग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग के विकास की योजनायें बनाने का कार्य चीनी विकास परिषद (The Development Council For

Sugar Industry) को सौंप दिया है। द्वितीय योजना का चीनी उत्पादन का लक्ष्य २२.५ लाख टन रखा गया है और चीनी मिलों की उत्पादन शक्ति २० लाख टन से बढ़ाकर २५ लाख टन करने का लक्ष्य है। योजना के अन्तर्गत चीनी उत्पादन की वृद्धि के लिये ऐसी मिलों को जो पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिल पाने के कारण बन्द पड़ी हैं, अथवा जो उचित स्थानों पर स्थित नहीं हैं, पुर्नसंगठित व पुर्नवासित करने की योजनाएं भी है। योजना के अन्तर्गत चीनी उत्पादन की वृद्धि के क्रम जारी रखने के लिये भारत सरकार ने २१ नई चीनी मिलें खोलने के लाइसेंस देने की व्यवस्था की है। सहकारिता के आधार पर २ कारखाने पेप्सू और बम्बई राज्यों में खोले जायेंगे और प्रत्येक पर लगभग ७५ लाख रुपया व्यय होगा, तथा ८ कारखाने पंजाब में खोले जायेंगे। इनमें उन स्थानों को प्राथमिकता दी जायेगी, जहाँ के लोग कम-से-कम ३० लाख रुपया हिस्सा पूंजी (Share Capital) के रूप में एकत्र कर लेंगे।

इसके अतिरिक्त गन्ने का उत्पादन बढ़ाने व उसकी किस्म अच्छी करने के प्रयत्नों के लिये केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ४० लाख रुपये का ऋण व ३० लाख रुपये का अनुदान देगी। गन्ने का मूल्य बजाय गन्ने की तौल के, उसकी मिठास के आधार पर निश्चित करने का प्रयत्न किया जायेगा, जिससे कृषक उत्तम कोटि का गन्ना उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे। मिठास के आधार पर ही गन्ने का श्रेणीकरण भी किया जायेगा। भारत सरकार द्वारा एक विशेषज्ञों का दल विदेशों में चीनी उद्योग के विकास का अध्ययन करने के लिये भेजा जायेगा।

किन्तु यदि चीनी उत्पादन के इस ऊंचे स्तर को कायम रखना है तथा द्वितीय योजना के २२·५ लाख टन के उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करना है, तो चीनी मिलों को गन्ने की प्राप्ति भी अनवरत रूप से होती रहनी चाहिये। इसके अतिरिक्त चीनी की माँग व खपत में भी वृद्धि होना आवश्यक है। इसके लिये लोगों के आहार में भी परिवर्तन होना चाहिये, जिससे वे चीनी का अधिक उपयोग कर सकें।

कोयला उद्योग

(COAL INDUSTRY)

वर्तमान स्थिति—आधुनिक युग में कोयला बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु है। यह सर्वप्रधान औद्योगिक ईधन है। प्रत्येक देश के उद्योग कोयले क्षेत्रों के आस पास ही पनपते हैं। देश की शक्ति का अनुमान ही आजकल वहाँ पर प्राप्त होने वोले कोयले की मात्रा से लगाया जाता है।

ससार में कोयला उत्पादन में भारत का आठवाँ स्थान है। सन् १९४९ में कोयले का उत्पादन ३ करोड़ १४ लाख टन था, जो कि इंगलैंड का १/१५ और अमेरिका का १/२० भाग ही था। मात्रा के साथ-साथ गुण में भी भारतीय कोयला अन्य देशों के कोयले की अपेक्षा निम्नकोटि का है।

भारत के मुख्य कोयला क्षेत्र रानीगंज और गिरडीह हैं। ८३२ खानों में से रानीगंज (२९३) तथा झरिया (३९८) में ही ७०% खानें है, जिनमें से कुल कोयले

का लगभग ८०% कोयला प्राप्त होता है। भारतीय कोयले का ८२% भाग तो केवल बिहार और पश्चिमी बंगाल की खानों से ही प्राप्त होता है तथा शेष खानें मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, हैदराबाद, विन्ध्यप्रदेश, आसाम और राजस्थान आदि राज्यों में पाई जाती है।

सन् १६५१ में कोयला उद्योग में लगभग ३,४०,००० श्रमिक कार्य करते थे, जिनकी संख्या में सन् १६४१ की अपेक्षा ५८% वृद्धि हो गई थी। अतः इससे स्पष्ट है कि कोयला उद्योग युद्ध व इसके उपरान्त निरन्तर प्रगति करता रहा है यही बात कोयले के गत वर्षों में उत्पादन वृद्धि से सिद्ध होती है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

कोयले का उत्पादन—

वर्ष	उत्पादन (मिलियन टन)[1]	मूल्य (लाख रुपये)[2]
१६४६	२६·२७	—
१६४८	२६·८२	—
१६५०	३२·३०	४६६८
१६५२	३६·३०	५३६२
१६५३	३५·६८	—
१६५४	३७·००	—
१६५५-५६	३७·५०	—
१६६०-६१लक्ष्य	६०·००	—

सन् १६५४ में कोयले का मासिक औसत उत्पादन ३०,६४००० टन था। किंतु १६५५ में और अधिक बढ़ गया, क्योंकि जनवरी १६५५ में ३१,५३,००० टन तथा फरवरी में ३२,४६,००० टन कोयले का उत्पादन हुआ था। अतः आजकल भारत में लगभग ३७० लाख टन कोयला उत्पन्न होता है। जिसमें से २६०·६ लाख टन बिहार और पं० बंगाल की खानों से, और ३०·५ लाख टन मध्यप्रदेश की खानों से तथा शेष हैदराबाद, विंध्यप्रदेश, उड़ीसा व आसाम की खानों से निकाला जाता है।

कोयले का कोष—

भारतीय भूगर्भ निर्वेक्षण (The Geological Survey of India) के अनुसार गैर-कोकिंग कोयला (Non-Coking Coal) लगभग ३६६५ करोड़ टन है जो भविष्य में सहस्रों वर्ष काम आ सकेगा। इसमें से ३७११ करोड़ टन केवल गोंडवाना क्षेत्र की खानो में ही है। धातु कोयला संरक्षण समिति (The Metallurgical Coal Conservation Committee) के अनुसार उत्तम कोटि का कोकिंग कोयला (Selected

1. Indian Year Book 1954—55 P. 215
2. Five Year Plan Progress Report for 1953—54, P. 225

Grade) ३२९६ लाख टन है। प्रथम श्रेणी का कोयला (Grade 1st Quality) ३९५७ लाख टन और द्वितीय श्रेणी का (Grade 2nd Quality) ४५१ लाख टन है। परन्तु समिति का यह भी विचार है कि कोकिंग कोयले को खानों से बिलकुल खाली करने, मिश्रण तथा धुलाई (Stowing, Blending And Washing) के बाद २०० करोड़ टन तक अच्छी किस्म का कोकिंग कोयला प्राप्त हो सकता है।

कोयला संबन्धी सभी समस्याओं को ठीक से हल करने के लिये सरकार ने एक 'कोयला परिषद्' (Coal Board) की स्थापना की है जो खान-मालिकों को कोकिंग कोयले को खान से निकालने, मिश्रण व धुलाई के लिये मजबूर करती हैं और उद्योग में आधुनिक मशीनों के प्रयोग द्वारा अभिनवीकरण भी कराती है।

कोयले का व्यापार—

भारतीय कोयले का उपयोग देश के सब भागों में स्थित कारखानों में होता है किन्तु भारतीय उद्योगों के पिछड़े होने के कारण कोयले की अधिक मांग नहीं है और फलस्वरूप देश में प्रति व्यक्ति कोयले का उपभोग कनाडा जैसे देश के उपभोग का $\frac{1}{10}$ भाग तक भी नहीं है। उत्पादित कोयले का लगभग ४०% भाग विभिन्न उद्योगों की मिलों द्वारा इस्तैमाल होता है। परन्तु बम्बई जैसे अधिक दूरी पर स्थित उद्योग-क्षेत्रों के लिये यातायात व्यय बहुत बढ़ जाता है अतः वहां पर दक्षिणी अफ्रीका से कोयला आयात करना अथवा जल विद्युत का प्रयोग करना ही लाभकारी होता है। सबसे अधिक कोयला भारतीय रेलों द्वारा प्रयोग किया जाता है। कोयले के केन्द्रित होने के कारण कोयला उद्योग में 'यातायात की रुकावट' (Transport Bottleneck) एक स्थाई सी समस्या होगई है। जिससे एक ओर तो उद्योगपतियों को आर्थिक हानि होती है और दूसरी ओर कोयले के अभाव में बहुत सी मिलें या तो कार्य अवधि कम कर देती हैं अथवा बन्द हो जाती हैं।

सन् १९२६ से पूर्व भारतीय कोयला भाप के आधार पर बेचा जाता था। किन्तु इस वर्ष कोयले के श्रेणी करण करने के लिये एक भारतीय कोयला श्रेणी करण मंडल (Indian Coal Grading Board) की स्थापना हुई। इस कार्य के लिये केवल ७० खानों में उचित एवं आवश्यक मशीनों का प्रयोग होता था और शेष में श्रमिकों द्वारा किया जाता था। सन् १९४४ में कोयले के उत्पादन व वितरण को नियंत्रित करने के लिये एक 'खान नियंत्रण आदेश' (Colliery Control Order) जारी किया गया था। परन्तु १९५२ के मध्य से ही विदेशों में भारतीय कोयले की मांग बहुत कम हो गई और खानों पर ही बहुत मात्रा में कोयला एकत्र होने लगा। अतः खान स्वामियों को सरकारी मूल्य से कम मूल्य पर ही कोयला बेचना पड़ा।

कोयले का निर्यात व्यापार भी दो कारणों से पिछड़ा हुआ है—(१) स्थल यातायात के ऊंचे व्यय कोयला वालों के ही मत्थे पड़ते हैं। (२) समीपवर्ती देशों में औद्योगिक विकास का न होना। फिर भी प्रति वर्ष भारत से इंगलैण्ड, अदन, पाकिस्तान, सीलोन, बर्मा, सिंगापुर, हांगकांग, जापान, मिस्र, आस्ट्रेलिया आदि देशों को कोयले का निर्यात किया जाता है। गत वर्षों में कोयले का निर्यात इस प्रकार हुआ था :—

वर्ष	निर्यात किये गये कोयले की मात्रा (हजार टन)
१९५०-५१	३३९५·९
१९५१-५२	१९६२८·०
१९५२-५३	२६६०५·४
१९५४	२०२१·९

सरकारी नीतिः—भारत में खानों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के दृष्टिकोण से किया जाता है। खानों के स्वामी पुरानी खानों में कोयला छोड़कर नई खानों को खोदना शुरू कर देते हैं क्योंकि गहराई बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन कम होता जाता है और उत्पादन व्यय बढ़ता जाता है। इस प्रकार बहुत-सा कोयला खानों में व्यर्थ ही छोड़ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की अवस्था बड़ी दयनीय रहती थी। अतः २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही सरकार ने इस ओर सक्रिय कदम उठाये और 'फैक्ट्री कानून' की भांति खानों के लिये भी सन् १९०१ में नियम बना दिये। इसके पश्चात सन् १९२३, १९४८, १९४९, १९५२ में भी अन्य खान नियम पास किये गये। सन् १९४९ के नियमानुसार कोयले की खानें २० वर्ष की लीज पर दी जाती हैं। सरकार यदि चाहे तो एक ही व्यक्ति को एक बार और २० वर्ष के लिये लीज दे सकती है। लीज-स्वीकृति के राज्य सरकारों द्वारा प्रमाणपत्र आवश्यक है। भूमि के ऊपर तथा नीचे कार्य करने की अवधि ४८ घंटा प्रति सप्ताह है किन्तु श्रमिक से भूमि के ऊपर ९ घंटा और नीचे ८ घंटा प्रतिदिन से अधिक कार्य नही करा सकते। इस नियम में श्रमिकों के हित की अन्य बातें भी सम्मिलित हैं।

१९५२ के कोयला खान (संरक्षण व सुरक्षा) कानून (Coal Mines Conservation and Safety Act) के अन्तर्गत भारत सरकार को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त है :—

(१) कोयले की खानों की सुरक्षा व कोयले के संरक्षण के लिये कार्यक्रम बनाना और उसे कार्यान्वित करना।

(२) 'कोयला परिषद' को कोयला उद्योग की समस्याओं को सुलझाने का अधिकार देना।

(३) कोयला और कोक के उत्पादन पर उत्पादन कर लगाना।

(४) कोयला-उद्योग को कुशलता पूर्वक चलाने के लिये और नियंत्रित करने के लिये नियम बनाना।

इस प्रकार कोयला-उद्योग उत्पादन, वितरण, मूल्य निर्धारण व वेतन आदि के दृष्टिकोण से पूर्णतया सरकार द्वारा नियंत्रित है।

अभिनवीकरण (Rationalisation)

कोयला उद्योग में कोयले की छोटी-छोटी खानों को सम्मिलित करके एक बड़ी इकाई का रूप देने, उत्तम कोटि के कोयले का संरक्षण करने और खानों में आधुनिक-

तम नशीनों का उपयोग करने के लिये अभिनवीकरण की योजना लागू करना आवश्यक है। इस उद्योग में कोयला काटने, उसे खानों से बाहर निकालने तथा नियत स्थान तक पहुँचाने में मशीनों का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु इस दिशा में भारत में मशीनों का प्रयोग नाम मात्र ही को किया जाता है। १९४४ में कोयला निकालने की २१० मशीनें थी जिनसे २१ लाख टन कोयला निकाला जाता था। १९५१ के मध्य में ११८ खानों में कुल ३७४ कोयला काटने वाली मशीनें थीं जिनसे कुल उत्पादन का ५% कोयला निकाला जाता था अर्थात ५ लाख ९० हजार टन कोयला प्रति माह निकाला जाता था। इसके अतिरिक्त ९ मशीनें कोयला लादने वाली थीं जिनमें से २ खराब पड़ी थीं तथा १९ मशीनें कोयला खानों से कोयले को नियत स्थान तक ढोने वाली थीं। हाल ही में टाटा कम्पनी ने अपनी पश्चिमी बोकारो की कोयले की खानों में कोयला धोने की मशीनें लगाई हैं, जो कोयला उद्योग के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण घटना है।

सन १९५० में कोयला समिति ने यह सुझाव दिया था कि कोयला उद्योग में मशीनों के प्रयोग द्वारा ही कोयले का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और भविष्य में देश के औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। इसके लिये सारी खानों में एक साथ ही मशीनें लगाने की आवश्यकना नहीं है वरन धीरे-धीरे एक निश्चित अवधि में एक-एक खान में मशीनें लगानी चाहिये। हो सकता है कि मशीनें लगाने से कुछ श्रमिक बेरोजगार हो जावें पर इस भय से उनके प्रयोग को टालना नही चाहिये, क्योंकि मशीनों के प्रयोग से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होंगे। मशीनों को सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिये कोयले की छोटी-छोटी खानों को कम से कम १० हजार टन प्रति मास उत्पादन करने वाली एक इकाई के रूप में पुर्नसंगठित कर देना चाहिये तथा मशीनों का भारत में ही निर्माण होना चाहिये जिससे वे सस्ते मूल्य में उपलब्ध हो सकें।

पंचवर्षीय योजना

प्रथम योजना के अन्तर्गत भारत सरकार ने सन् १९५३ में एक कोयला समिति भारत में कोयला धोने की मशीनें लगाने के विषय में सलाह देने के लिये नियुक्त की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया कि कोयले की कोटि में निरंतर गिरावट को रोकने के लिये शीघ्र से शीघ्र कोयला धोने की मशीनें लगा देनी चाहियें। समिति की राय में विभिन्न खानों में अलग-अलग मशीनें लगाने की अपेक्षा धुलाई की केन्द्रीय व्यवस्था अधिक लाभकारी सिद्ध होगी।

हैदराबाद में राज्य सरकार की ओर से सिंगरेनी क्षेत्र की कोयले की खानों में मशीनें लगाने का व उत्पादन बढ़ाने के लिये राज्य सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न किये जा रहे थे। इन प्रयत्नों को चालू रखने के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना में राज्य सरकार ने ९६ लाख रुपये की व्यवस्था की थी। योजना का लक्ष्य उत्पादन में वृद्धि करना है और ऐसा अनुमान है कि योजना के अन्त तक कोयले का उत्पादन १० लाख टन मे बढ़कर १५ लाख टन व सन १९५८ तक २० लाख टन हो जायेगा। योजना काल में

इन कार्यों पर कम्पनी ने ३७·२५ लाख रु० व्यय करने की स्वयं व्यवस्था करली है और राज्य सरकार ने अपने १९५३-५४ के बजट में ३२·१९ लाख रु० की व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) से भी ऋण लेने का निश्चय किया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी कोयले के उत्पादन में ५८% वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। सन १९५५-५६ में ३८० लाख टन कोयला उत्पन्न होने का अनुमान है और १९६०-६१ के अन्त तक यह उत्पादन ६०० लाख टन तक बढ़ाने के प्रयत्न किये जायेंगे।

अध्याय २२

औद्योगिक श्रम

(INDUSTRIAL LABOUR)

श्रम का महत्त्व—

प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक प्रगति में श्रमिक वर्ग का विशेष महत्व होता है, क्योंकि प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होते हुये भी बिना कुशल, सुरक्षित, एवं संगठित श्रमिकों के आर्थिक विकास का होना असम्भव होता है। अतः राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करने के साथ ही वहां के श्रमिक वर्ग की समस्याओं का अध्ययन करना अति आवश्यक है।

भारत में मन्द गति से औद्योगिक विकास होने के कारण श्रमिक वर्ग का महत्व व उसकी समस्याओं ने धीरे-धीरे ही जनता और सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इसलिये भारत में श्रमिकों की समस्यायें योरोपीय देशों के श्रमिकों की समस्याओं की भाँति बहुत कठिन नहीं है। भारतीय उद्योगों का विकास १९वीं शताब्दी के मध्यात्त से होना प्रारम्भ हुआ। इसी बीच ग्रामीण उद्योगों के पतन, जनसंख्या की वृद्धि, भूमि का विभाजन, बड़े उद्योगों के विकास आदि के कारण भारतीय श्रमिक वर्ग की स्थापना हुई क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में लोग ग्रामों को छोड़कर नौकरी की खोज में नगरों में आये और उनको नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होना पड़ा। उधर विदेशी सरकार की औद्योगिक नीति और पूंजीपतियों की स्वार्थपरता के कारण बीसवी सदी के आरम्भ तक श्रमिकों का शोषण होता रहा। इसकाल में श्रमिकों के साथ अमानुषिक व्यवहार होता था। उनके जीवन, स्वास्थ्य और कुशलता की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। न्यूनतम वेतन के बदले १६ से १८ घंटे प्रतिदिन नारकीय वातावरण में काम करना पड़ता था। उनकी नौकरी मिलने में काफ़ी कठिनाइयां होती थीं क्योंकि भरती करने का कोई विशेष नियम नहीं था और उनको सदैव अपने मालिकों की दया पर रहना पड़ता था क्योंकि वे चाहे जिस समय बिना किसी अपराध और उचित कारण से नौकरी से हटाये जा सकते थे। बच्चों व स्त्रियों के लिये भी कोई व्यवस्था नहीं थी। फलतः व्यभिचार ज़ोरों पर था।

श्रमिकों की ऐसी दुर्दशाओं की ओर समय-समय पर कुछ समाज सुधारकों का ध्यान आकर्षित हुआ। जिन्होंने सरकार को इनकी दशाओं में सुधार करने के लिये सुझाया। परन्तु वास्तव में प्रथम महायुद्ध के पश्चात ही भारतीय श्रमिकवर्ग में कुछ

चेतना आई और वह अपनी दुर्दशाओं और अधिकारों के प्रति जागरुक हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण भी इसको बल मिला। अतः सरकार ने भी उनकी सुरक्षा और हितों के लिये विभिन्न श्रम विधानों का निर्माण किया। फलस्वरूप आज का भारतीय श्रमिक वर्ग काफ़ी सुरक्षित और संगठित है। श्रमिकों की दशाओं में भी स्वतंत्रता के बाद बहुत से सुधार किये गये हैं, जिससे न केवल उनको नारकीय जीवन से छुटकारा मिला है बल्कि उनके जीवन की सुरक्षा सुख और शांति में वृद्धि हुई है जिससे उनकी कार्यक्षमता में दिन-प्रति-दिन प्रगति हो रही है। इनका भविष्य बहुत ही उज्वल है क्योंकि राष्ट्रीय सरकार द्वारा उनके लिये अनेक व्यवस्थायें की जारही हैं, जिससे श्रमिकों ग़रीबी दूर होगी और उनका जीवनस्तर काफ़ी ऊँचा हो जायगा।

भारतीय श्रम के लक्षण—

(१) भारतीय श्रम की मांग और पूर्ति में एक भयंकर असंगति है।

(२) अधिकांश श्रमिक प्रवासी हैं क्योंकि वे ग्रामीण उद्योगों के अभाव में, वर्ष में लगभग ४ महीने अपने गाँवों में बेकार रहते हैं। अतः इन दिनों रोज़गार की तलाश में वे शहरों में आ जाते हैं और कृषि कार्यों के प्रारम्भ होते ही फिर अपने गाँव में वापिस चले जाते हैं। फलतः इन श्रमिकों में स्थायित्व संगठन और कुशलता का अभाव रहता है।

(३) भारतीय श्रमिक वर्ग अशिक्षित, अंधविश्वासी, ऋणी व शोषित वर्ग है।

(४) यहाँ के श्रमिकों में संगठन का अभाव है।

(५) भारतीय श्रमिकों में गत कुछ वर्षों से मिल मालिकों और पूंजीपतियों के प्रति द्वेष की प्रवृत्ति पैदा हो गई है।

(६) श्रमिकों को वेतन बहुत कम मिलता है जिसके कारण उनका जीवन स्तर बहुत नीचा है।

भर्ती के तरीके—

श्रमिकों के नियुक्ति करने के कोई नियम व निश्चित व्यवस्था नहीं थी लोगों को नौकरी पाने में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तक श्रमिकों की नियुक्ति मुक्कदम या नायकों द्वारा होती थी जो तरह-तरह से श्रमिकों को परेशान किया करते थे। नौकरी पाने के लिये नायक को बड़ी-बड़ी घूस देनी होती थी। इसके अतिरिक्त नौकरी मिलने के बाद मज़दूरों को अपनी तरक्की वेतन, आर्थिक सहायता व औद्योगिक शिक्षा के लिये इन नायकों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। परन्तु धीरे-धीरे श्रमिकों में जागृति आई और उन्होंने इस प्रथा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। मिल मालिक संघ ने विभिन्न स्थानों पर श्रमिकों को नियुक्त करने के लिये मंडलों की स्थापना की जिससे इस दिशा में कुछ सुधार तो अवश्य हुआ, लेकिन श्रमिकों की कठिनाइयाँ पूर्णतः दूर नहीं हुई। इसके पश्चात् श्रमिकों की नियुक्ति के लिये श्रम अधिकारियों (Labour Officers) को नियुक्ति किया गया। लेकिन इस व्यवस्था में भी घूसखोरी, भाइचारा, सिफारिश आदि का जोर रहा। इन सब बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से सरकार ने काम दिलाऊ दफ्तर (Employment Exchanges)

स्थापित किये जिनके द्वारा मजदूरों की नियुक्ति संबन्धी सब कठिनाइयों का निवारण हो गया है। आज सभी श्रमिकों की भर्ती इन काम दिलाऊ दफ्तरों द्वारा की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को काम दिलाऊ दफ्तर में जाकर नाम लिखाना पड़ता है अर्थात् अपने को रजिस्टर कराना पड़ता है। उधर प्रत्येक मिल और कारखाना अपनी, श्रमिकों की आवश्यकताओं की सूचना इस दफ्तर में भेजता है, जिसके आधार पर काम दिलाऊं दफ्तर श्रमिकों की योग्यता अनुसार उनको मिलों में भेज देता है। मिल मालिकों को इन्हीं श्रमिकों में से नियुक्ति करनी पड़ती है। वे ऐसे लोगों की नियुक्ति नहीं कर सकते जो ऐसे दफ्तर में रजिस्टर्ड नहीं होते।

श्रम की कार्यक्षमता (Efficiency of Labour)

जिस प्रकार राष्ट्र के आर्थिक विकास में श्रमिकों का प्रमुख स्थान है। उसी प्रकार औद्योगिक विकास व उत्पादन की वृद्धि के लिये श्रमिकों की कार्यक्षमता बहुत ही महत्वपूर्ण है। श्रम की वास्तविक पूर्ति और औद्योगिक उत्पादन श्रमिकों की संख्या के अतिरिक्त उनकी कार्यक्षमता पर भी निर्भर होते हैं। श्रम की कार्यक्षमता एक तुलनात्मक शब्द है। किसी कार्य को एक सी ही परिस्थिति में जल्दी और अधिक मात्रा में तथा अच्छी प्रकार से करने को ही कार्यक्षमता कहते हैं। अतः जब यह कहा जाता है कि अमुक श्रमिक दूसरे श्रमिकों से अधिक कुशल है तो इसका अर्थ यह है कि वह एक सी ही परिस्थितियों में अन्य श्रमिकों की अपेक्षा थोड़े समय में अधिक और उत्तम कार्य कर सकता है।

उक्त परिभाषा के अनुसार भारतीय श्रमिक योरोपीय श्रमिकों की अपेक्षा कम कुशल हैं। सर एलेक्जेन्डर मैकरावर्ट ने औद्योगिक आयोग के समक्ष अपनी गवाही में बताया था कि योरोपीय श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा ३½ गुना अधिक कुशल है अर्थात कार्य करता है। सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुसार लंकाशायर का एक श्रमिक भारत के २·६७ श्रमिकों के बराबर कार्य करता है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जापान में एक कुशल श्रमिक २४० तकुओं को, इंगलैंड में ५४० से ६०० तकुये व अमेरिका में ११२० तकुये चलाता है जबकि भारतीय श्रमिक केवल १८० तकुये चला पाता है। यही नहीं, भारतीय बुनकर केवल दो कर्घों से ४ कर्घे तक चलाता है, जबकि अन्य देशों में १६, ३२ और ३४ करघे तक प्रति व्यक्ति चलाता है। परन्तु भारत में अधिक श्रमिकों के लगाने का कारण उनकी अकुशलता नहीं बल्कि उनका सस्ता होना है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की अपेक्षा कुछ हद तक अकुशल कहे जा सकते हैं परन्तु उतने नहीं जैसा कि उक्त आंकड़ों से विदित होता है। भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के लिये वे स्वयं तो कम जिम्मेदार हैं और अधिक जिम्मेदारी तो मिल मालिकों और सरकार की ही रही है क्योंकि यदि श्रमिकों से अच्छी दशाओं में कार्य लिया जाय तो वे अधिक कार्यशील रहते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय श्रमिकों को बहुत ही बुरे वातावरण में १६ से १८ घंटे तक कार्य करना पड़ता था। उन्हें बहुत कम वेतन मिलता था। उनके स्वास्थ्य, हितों

तथा रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। ऐसी परिस्थितियों में उनका अकुशल होना स्वाभाविक था।

श्रमिकों की अकुशलता के कारण—

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के अनेकों ऐसे कारण हैं, जिनका उत्तरदायित्व स्वयं श्रमिकों का न होकर अन्य बातों का है। जलवायु, अस्वास्थ्य, अशिक्षा, अज्ञान, अन्धविश्वास आदि बातों का भी उनकी कुशलता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। श्रमिकों की अकुशलता के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं।

(१) **जलवायु**—भारतीय जलवायु श्रमिकों की कुशलता में बहुत हद तक बाधक है। उष्णता के कारण श्रमिक भारी काम व अधिक देर तक काम करने में असमर्थ हैं। विशेषकर सूती वस्त्र उद्योग में श्रमिकों के अकुशल होने का उत्तरदायित्व जलवायु की उष्णता ही है।

(२) **दुर्बल स्वास्थ्य**—भारतीय श्रमिकों को अनेक कारणोंवश पर्याप्त व संतुलित भोजन नहीं मिल पाता जिससे अधिकांश श्रमिक अस्वस्थ्य रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके निवास स्थान की बुरी दशायें और दूषित वातावरण का भी उनके स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बीमार होने पर वे इलाज की उचित व्यवस्था भी नहीं कर पाते और उनका स्वास्थ्य गिर जाता है शक्ति क्षीण हो जाती है और फलतः उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है।

(३) **श्रमिकों का प्रवासी होना**—(Migration) अधिकांश श्रमिक गांवों से ही आते हैं। जब फसल कटने के बाद लोग बेकार हो जाते हैं तो वे परिवार के दूसरे सदस्यों को छोड़कर नौकरी की तलाश में नगरों में चले आते हैं। दो चार महीने तक विभिन्न उद्योगों में काम करने के पश्चात वे फिर खेती करने के लिये गाँव में वापिस आ जाते है इस प्रकार श्रमिकों का आवागमन लगा रहता है जिससे उनमें स्थायित्व नही आता और कोई विशेष कार्य में प्रवीण भी नही हो पाते।

(४)**अल्प वेतन** (Low Wages)—मनुष्य की आय के ऊपर ही उसका जीवन-स्तर, खान-पान, निवास-स्थान व अन्य बातें निर्भर करती है परन्तु भारतीय श्रमिकों को इतने कम वेतन मिलते हैं जिनसे न तो वे अच्छे व पर्याप्त भोजन की व्यवस्था कर पाते है और न अच्छे घर शिक्षा व अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध कर पाते है। इन सब अव्यवस्थाओं के कारण वे अकुशल हो जाते है।

(५) **रहन-सहन का निम्नस्तर**—(Low Standard of Living) वेतन की कमी के कारण श्रमिकों का रहन-सहन भी बहुत ही निम्न स्तर का रहता है। असंतुलित भोजन के साथ-साथ श्रमिकोंको अच्छे वातावरण में रहना नहीं मिल पाता। उनके घर इतने छोटे और गन्दे होते है कि उनमें किसी का स्वस्थ रहना असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त वस्त्र आदि की व्यवस्था भी उचित रूप से नहीं हो पाती। इस तरह उनके निम्न जीवन स्तर का भी कुशलता पर प्रभाव पड़ता है।

(६) **अशिक्षा**—भारतीय श्रमिक अशिक्षित होने के कारण नई-नई मशीनों पर काम करना नहीं सीख पाते। उनके लिये सामान्य शिक्षा और शैल्पिक प्रशिक्षण

(Technical Tranining) आदि के अवसर भी प्राप्त नहीं होते। अतः उनकी अज्ञानता के कारण, कार्यक्षमता कम हो जाती है।

(७) **अधिक काम करने के घंटे**—(Long Hours of Work) प्रायः श्रमिकों को कारखानों के दूषित वातावरण में ८ या १० घंटे प्रतिदिन लगातार काम करना पड़ता है जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त विश्राम व अन्य सुविधाओं की व्यवस्था के अभाव में श्रमिक मन से कार्य नहीं करते। फलतः उनकी कार्यक्षमता गिर जाती है।

(८) **श्रमिकों की अनुपस्थिति**—(Labour Absenteeism) अधिकांश श्रमिक वर्ष में कई महीने कारखानों में अनुपस्थिति रहते हैं, जिसका न केवल उत्पादन पर ही बुरा प्रभाव पड़ता है बल्कि उनकी कम आयु होने से जीवन स्तर व कार्यक्षमता दोनों ही गिर जाते हैं। गत वर्षों में श्रमिकों के वेतन व भत्ते आदि बढ़ने से उनकी अनुपस्थिति बढ़ गई है। इस अनुपस्थिति का उनकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभावपड़ता है।

(९) **श्रमिकों का ऋणी होना**—(Indebtedness) भारत के अधिकांश औद्योगिक नगरों में श्रमिकों का लगभग २ तिहाई भाग ऋण ग्रस्त होता है, जिसके कारण वह जीवन भर अपने ऋण से मुक्त नहीं हो पाता और अधिक कठिनाइयों का सामना करता है। ऋणग्रस्त होने से भी उनकी कार्यक्षमता कुछ हद तक कम हो जाती है।

(१०) **निवास स्थान की असुविधा**—(Bad Housing) नगरों में आकर श्रमिकों को दूषित वातावरण में व घनी आबादी के क्षेत्रों में बने हुए छोटे-छोटे घरों में रहना पड़ता है, जिससे श्रमिकों का स्वास्थ्य तो खराब होता ही है इसके साथ-साथ उनके परिवार के साथ न होने के कारण उनमें बहुत-सी बुरी आदतें जैसे मद्यपान, कुसंगति, व्यभिचार, जूआ इत्यादि पड़ जाती हैं, जिनसे उनका शरीर दुर्बल हो जाता है और कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है।

उक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं जिनका श्रमिकों की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। भारत में ऐसे कारखानों की संख्या कम नहीं है जहाँ कि कार्य दशायें निम्नस्तर की हैं, मशीनें घिसी और पुरानी हैं, वस्तु के उत्पादन में अच्छे कच्चे माल का प्रयोग नहीं किया जाता, प्रबन्ध अयोग्य व अनुभवहीन व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में श्रमिकों का अकुशल होना स्वाभाविक ही है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि की जा सकती है। यदि उद्योगपति उदारतापूर्ण व्यवहार करें और कार्य करने की परिस्थितियों को श्रमिकों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करें तो उनकी कार्यकुशलता के बढ़ने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। इस दिशा में मिल मालिकों के अतिरिक्त सरकार के भी कुछ कर्तव्य हैं। सरकार को श्रम विधान द्वारा श्रमिकों के लिये उचित न्यायपूर्ण वेतन, अच्छे और खुले हुए घर, कार्य अवधि में कमी, मिलों के अन्दर के वातावरण में सुधार, मशीनों का नवीनीकरण, श्रमिकों के स्वास्थ्य और चिकित्सा तथा सुरक्षा आदि की व्यवस्था करना आदि आवश्यक है। इन सुधारों के साथ-ही-साथ

श्रमिकों को अपनी प्रवृति में परिवर्तन करना चाहिये और मन लगा करके तल्लीनता-पूर्वक कार्य करना चाहिये। ऐसी परिस्थितियों के होने पर निस्सन्देह ही भारतीय श्रमिक संसार के किसी भी उन्नत देश के श्रमिकों के समान ही बन सकते हैं।

गत वर्षों में राष्ट्रीय सरकार द्वारा श्रमिकों की दशा सुधारने के उद्देश्य से कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। जिनमें सन् १९४८ का फैक्टरी अधिनियम व १९५४ का संशोधित अधिनियम, गृह निर्माण योजना, सामाजिक बीमा योजना आदि सम्मिलित की जा सकती हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उद्योगपतियों के व्यवहार में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। अब केवल श्रमिकों को ही मालिकों के प्रति द्वेष भावना को दूर करने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर निश्चय ही उनकी कार्यक्षमता की वृद्धि होगी जिससे न केवल उनके वेतन और रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा होगा बल्कि औद्योगिक उत्पादन में भी वृद्धि होगी और इस प्रकार राष्ट्र का आर्थिक विकास तीव्र गति से होगा।

श्रम विधान (Labour Legislation)

१७ वीं और १८ वीं शताब्दी में भारतीय श्रमिक वर्ग का पूंजीपतियों के हाथों बराबर शोषण होता रहा। मज़दूरों की नौकरी की सुरक्षा की कोई व्यवस्था न थी। उनको गंदे और अपर्याप्त घरों में नारकीय जीवन बिताना पड़ता था, बड़ी कठिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता था, १२ से १८ घंटे प्रतिदिन तक अंधेरे और हवा-रहित स्थानों में कार्य करना पड़ता था, उनके स्वास्थ्य, चिकित्सा, व दुर्घटानाओं से रक्षा करने की कोई व्यवस्था न थी। स्त्री व बच्चों को न्यूनतम वेतन दिया जाता था। ऐसी दशा में भारत के मजदूरों को अपने मालिकों की दया पर निर्भर रहना पड़ता था। परन्तु धीरे-धीरे श्रमिक वर्ग में जागृति हुई और उन्होंने सरकार का ध्यान अपनी दुर्दशाओं की ओर आकर्षित किया। सन् १९२६ में श्रम संगठन अधिनियम के बनने से मजदूरों में काफी चेतना आई। तत्पश्चात 'रायल श्रम कमीशन' के सुझाओं के आधार पर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने अनेक नियम बनाये, जिनसे श्रमिकों की दशा में काफी सुधार हुआ। इसके पूर्व सन् १९१९ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation) की स्थापना हुई, जिससे भारत में श्रमिक आन्दोलन को अधिक प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप १९२३ में खान संम्बन्धी अधिनियम (Indian Mines Act) तथा श्रमिक प्रतिफल अधिनियम (Worksmens Compensation Acts) पास हुए। सन् १९३२ में श्रम झगड़ा अधिनियम (Trade Dispute Act) पास हुआ जो १९३४ में संशोधित कर दिया गया। सन् १९४८ में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act) पास हुआ और उसमें सन् १९५०, ५१, व १९५३ में संशोधन किये गये। इसी प्रकार उद्यानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए सन् १९५१ में उद्यान श्रम अधिनियम (Plantation Labour Act) पास किया गया। यातायात के उद्योगों के कर्मचारियों के हित के लिए भी अनेक नियम बने हैं। रेलवे कर्मचारियों के लिए भी सर्वप्रथम १८९० में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय रेलवे अधिनियम (Indian Railways Act) पास किया था जिसमें क्रमशः १९३०, १९५०, व १९५१ मेंसंशो-

धन किये गए हैं। मोटर यातायात के कर्मचारियों के लिए भी सन् १९३९ में मोटर गाड़ी अधिनियम (Motor Vehicles Act) पास हुआ जिसमें सन् १९४३, १९५०, व १९५१ में संशोधन किया गया। बन्दरगाहों के कर्मचारियों के लिए सन् १९४८ में डाक श्रमिक अधिनियम पास हुआ।

उक्त अधिनियमों के अतिरिक्त नौकरी की सुरक्षा, श्रमहितकारी कार्य श्रमिकों के घर, आदि के सम्बन्ध में और श्रमिकों को अनेक प्रकार के लाभ दिलाने के सम्बन्ध में जैसे प्रावीडेन्ट फन्ड, प्रसूति लाभ, अंग-भंग होने का लाभ आदि विभिन्न कानून बनाये गये साथ ही साथ दूकानों के कर्मचारियों और खेतिहर मजदूरों के हितों के लिए भी कुछ नियम बने हैं। केन्द्रीय सरकार के द्वारा बनाये गये अधिनियमों के अतिरिक्त विभिन्न राज्य सरकारों ने भी श्रम सम्बन्धी कानून बनाये हैं। प्रमुख श्रम सम्बन्धी कानूनों का वर्णन निम्नलिखित है।

भारतीय श्रम अधिनियमों का विवरण

फैक्टरी अधिनियम १८८१ :—(Factory Act 1881)

लंकाशायर के उद्योगपतियों के आन्दोलन, के फलस्वरूप, जिसका, उद्देश्य ऊपर से तो भारतीय श्रमिकों के लाभ पहुँचाने का था पर वास्तव में भारत के सूती वस्त्र उद्योगपतियों को नुकसान पहुँचाना था, सन् १८७५ में बम्बई सरकार ने एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की, जिसके सुझाव के आधार पर भारत का प्रथम फैक्टरी अधिनियम सन् १८८१ में पास किया गया इसकी प्रमुख धारायें निम्नलिखित हैं।

(१) यह अधिनियम शक्ति प्रयोग करने वाले और १०० श्रमिकों से अधिक कार्य करने वाले कारखानों में लागू होगा।

(२) सात वर्ष से कम आयु के बालकों की नियुक्ति नहीं होगी।

(३) सात से १२ वर्ष की आयु के बालकों से ८ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम न लिया जा सकेगा।

(४) दिन में १ घंटे का विश्राम और महीने में ४ दिन का अवकाश अनिवार्य कर दिया गया।

(५) स्थानीय सरकारों का यह कर्तव्य बना दिया गया कि वे इसका निरीक्षण करें कि अधिनियम का ठीक प्रकार से पालन किया जा रहा है अथवा नहीं और इसके लिए वे कारखाने में निरीक्षकों की नियुक्त करें।

इस अधिनियम से सभी श्रमिकों को लाभ नहीं हुआ क्यों इसमें स्त्रियों और वृद्ध श्रमिकों के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके अतिरिक्त यह अधिनियम सभी कारखानों में लागू नहीं होता था इस प्रकार बहुत से श्रमिक इसके लाभों से वंचित रहते थे। अतः सन् १८९१ में दूसरा फैक्टरी अधिनियम पास किया गया जिसमें निम्नलिखित परिवर्तन किये गये।

फैक्टरी अधिनियम १८९१ (Factory Act 1891)—

(१) यह नियम उन सभी कारखानों में जिनमें शक्ति का प्रयोग होता था

और कम-से-कम ५० व्यक्ति काम करते थे लागू हुआ। लेकिन स्थानीय सरकारों को २० कर्मचारियों वाले कारखानों पर भी लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

(२) ९ वर्ष से कम आयु वाले बालकों की नियुक्ति पर रोक लगा दी गई।

(३) ९ वर्ष से १४ वर्ष की आयु के बालकों से अधिक-से-अधिक ७ घंटे प्रतिदिन काम लिया जा सकता था।

(४) स्त्रियाँ या बालक किसी भी कारखाने में रात्रि के ८ बजे से प्रातः ५ बजे तक कार्य नहीं कर सकते थे।

(५) स्त्रियों के कार्य के घंटे ११ नियत किये गये। जिनमें १½ घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया।

(६) पुरुषों के लिये ½ घंटा प्रतिदिन का विश्राम और सप्ताह में १ दिन की छुट्टी अनिवार्य करदी गई।

(७) कारखानों की दशाओं में सुधार, सफ़ाई, रोशनी तथा निरीक्षण की भी व्यवस्था करदी गई।

फैक्टरी अधिनियम १९११ (Factory Act 1911)—

बम्बई की मिलों में सन् १९०५ में विद्युत शक्ति का प्रयोग शुरू होने से दिन-रात काम होने लगा जिससे श्रमिकों के कार्य करने के घंटों में वृद्धि होगई। कलकत्ते की जूट मिलों में भी श्रमिकों से अधिक घंटे कार्य लिया जाने लगा। लंकाशायर के उद्योगपति भारतीय श्रमिकों की दुर्दशा का प्रचार कर रहे थे। इन सब बातों के कारण समाज सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों ने श्रमिकों की दयनीय दशाओं की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया था। फलस्वरूप सन् १९०८ में एक श्रम आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने अपनी रिपोर्ट में पिछले सभी नियमों को रद्द करके, उक्त बातों को ध्यान में रखकर, एक दूसरा कानून बनाने का सुझाव दिया। अतः सन् १९११ में एक फैक्टरी कानून बनाया गया जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित सुधार हुए—

(१) इस नियम को उन सभी कारखानों में लागू किया, जिनमें शक्ति का प्रयोग होता था और कम-से-कम २० श्रमिक कार्य करते थे। ४ माह से कम कार्य करने वाले मौसमी कारखानों पर भी यह कानून लागू किया गया।

(२) बालकों के लिये आयु-प्रमाण पत्र देना तथा उनके लिये ६ घंटे प्रतिदिन की कार्य अवधि अनिवार्य कर दी गई।

(३) पुरुषों के लिये १२ घंटा प्रतिदिन की कार्य अवधि और एक घंटा प्रतिदिन का विश्राम नियत कर दिया गया।

(४) स्त्रियों के रात्रि में काम करने पर रोक लगा दी गई व उनके लिये ११ घंटा प्रतिदिन व १½ घंटे का विश्राम नियत कर दिया गया।

(५) पारी-प्रथा वाले कारखानों को छोड़कर किसी कारखाने में प्रातः ५ बजे से पूर्व व सायं ७ बजे के बाद किसी भी श्रमिक से कार्य नहीं लिया जा सकता था।

(६) श्रमिकों के स्वास्थ्य व शारीरिक सुरक्षा की अधिक व्यवस्था की गई और कारखानों के निरीक्षण को अधिक कठोर और प्रभावपर्ण बना दिया गया।

धन किये गए हैं। मोटर यातायात के कर्मचारियों के लिए भी सन् १९३९ में मोटर गाड़ी अधिनियम (Motor Vehicles Act) पास हुआ जिसमें सन् १९४३, १९५०, व १९५१ में संशोधन किया गया। बन्दरगाहों के कर्मचारियों के लिए सन् १९४८ में डाक श्रमिक अधिनियम पास हुआ।

उक्त अधिनियमों के अतिरिक्त नौकरी की सुरक्षा, श्रमहितकारी कार्य श्रमिकों के घर, आदि के सम्बन्ध में और श्रमिकों को अनेक प्रकार के लाभ दिलाने के सम्बन्ध में जैसे प्रावीडेन्ट फन्ड, प्रसूति लाभ, अंग-भंग होने का लाभ आदि विभिन्न कानून बनाये गये साथ ही साथ दूकानों के कर्मचारियों और खेतिहर मजदूरों के हितों के लिए भी कुछ नियम बने हैं। केन्द्रीय सरकार के द्वारा बनाये गये अधिनियमों के अतिरिक्त विभिन्न राज्य सरकारों ने भी श्रम सम्बन्धी कानून बनाये हैं। प्रमुख श्रम सम्बन्धी कानूनों का वर्णन निम्नलिखित है।

भारतीय श्रम अधिनियमों का विवरण

फैक्टरी अधिनियम १८८१ :—(Factory Act 1881)

लंकाशायर के उद्योगपतियों के आन्दोलन, के फलस्वरूप, जिसका, उद्देश्य ऊपर से तो भारतीय श्रमिकों के लाभ पहुँचाने का था पर वास्तव में भारत के सूती वस्त्र उद्योगपतियों को नुकसान पहुँचाना था, सन् १८७५ में बम्बई सरकार ने एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की, जिसके सुझाव के आधार पर भारत का प्रथम फैक्टरी अधिनियम सन् १८८१ में पास किया गया इसकी प्रमुख धारायें निम्नलिखित हैं।

(१) यह अधिनियम शक्ति प्रयोग करने वाले और १०० श्रमिकों से अधिक कार्य करने वाले कारखानों में लागू होगा।

(२) सात वर्ष से कम आयु के बालकों की नियुक्ति नहीं होगी।

(३) सात से १२ वर्ष की आयु के बालकों से ८ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम न लिया जा सकेगा।

(४) दिन में १ घंटे का विश्राम और महीने में ४ दिन का अवकाश अनिवार्य कर दिया गया।

(५) स्थानीय सरकारों का यह कर्तव्य बना दिया गया कि वे इसका निरीक्षण करें कि अधिनियम का ठीक प्रकार से पालन किया जा रहा है अथवा नहीं और इसके लिए वे कारखाने में निरीक्षकों की नियुक्त करें।

इस अधिनियम से सभी श्रमिकों को लाभ नहीं हुआ क्यों इसमें स्त्रियों और वृद्ध श्रमिकों के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके अतिरिक्त यह अधिनियम सभी कारखानों में लागू नहीं होता था इस प्रकार बहुत से श्रमिक इसके लाभों से वंचित रहते थे। अतः सन् १८९१ में दूसरा फैक्टरी अधिनियम पास किया गया जिसमें निम्नलिखित परिवर्तन किये गये।

फैक्टरी अधिनियम १८९१ (Factory Act 1891)—

(१) यह नियम उन सभी कारखानों में जिनमें शक्ति का प्रयोग होता था

और कम-से-कम ५० व्यक्ति काम करते थे लागू हुआ। लेकिन स्थानीय सरकारों को २० कर्मचारियों वाले कारखानों पर भी लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

(२) ९ वर्ष से कम आयु वाले बालकों की नियुक्ति पर रोक लगा दी गई।

(३) ९ वर्ष से १४ वर्ष की आयु के बालकों से अधिक-से-अधिक ७ घंटे प्रतिदिन काम लिया जा सकता था।

(४) स्त्रियाँ या बालक किसी भी कारखाने में रात्रि के ८ बजे से प्रातः ५ बजे तक कार्य नहीं कर सकते थे।

(५) स्त्रियों के कार्य के घंटे ११ नियत किये गये। जिनमें १½ घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया।

(६) पुरुषों के लिये ½ घंटा प्रतिदिन का विश्राम और सप्ताह में १ दिन की छुट्टी अनिवार्य करदी गई।

(७) कारखानों की दशाओं में सुधार, सफ़ाई, रोशनी तथा निरीक्षण की भी व्यवस्था करदी गई।

फैक्टरी अधिनियम १९११ (Factory Act 1911)—

बम्बई की मिलों में सन् १९०५ में विद्युत शक्ति का प्रयोग शुरू होने से दिन-रात काम होने लगा जिससे श्रमिकों के कार्य करने के घंटों में वृद्धि होगई। कलकत्ते की जूट मिलों में भी श्रमिकों से अधिक घंटे कार्य लिया जाने लगा। लंकाशायर के उद्योगपति भारतीय श्रमिकों की दुर्दशा का प्रचार कर रहे थे। इन सब बातों के कारण समाज सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों ने श्रमिकों की दयनीय दशाओं की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया था। फलस्वरूप सन् १९०८ में एक श्रम आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने अपनी रिपोर्ट में पिछले सभी नियमों को रद्द करके, उक्त बातों को ध्यान में रखकर, एक दूसरा कानून बनाने का सुझाव दिया। अतः सन् १९११ में एक फैक्टरी कानून बनाया गया जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित सुधार हुए—

(१) इस नियम को उन सभी कारखानों में लागू किया, जिनमें शक्ति का प्रयोग होता था और कम-से-कम २० श्रमिक कार्य करते थे। ४ माह से कम कार्य करने वाले मौसमी कारखानों पर भी यह कानून लागू किया गया।

(२) बालकों के लिये आयु-प्रमाण पत्र देना तथा उनके लिये ६ घंटे प्रतिदिन की कार्य अवधि अनिवार्य कर दी गई।

(३) पुरुषों के लिये १२ घंटा प्रतिदिन की कार्य अवधि और एक घंटा प्रतिदिन का विश्राम नियत कर दिया गया।

(४) स्त्रियों के रात्रि में काम करने पर रोक लगा दी गई व उनके लिये ११ घंटा प्रतिदिन व १½ घंटे का विश्राम नियत कर दिया गया।

(५) पारी-प्रथा वाले कारखानों को छोड़कर किसी कारखाने में प्रातः ५ बजे से पूर्व व सायं ७ बजे के बाद किसी भी श्रमिक से कार्य नहीं लिया जा सकता था।

(६) श्रमिकों के स्वास्थ्य व शारीरिक सुरक्षा की अधिक व्यवस्था की गई और कारखानों के निरीक्षण को अधिक कठोर और प्रभावपूर्ण बना दिया गया।

१९२२ का फैक्टरी अधिनियम (Factory Act 1922)—

प्रथम महायुद्ध-काल में औद्योगिक क्रियाओं तथा श्रमिकों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। पूंजीपतियों को भारी लाभ हुए जिनमें से श्रमिकों को कुछ न मिलने के कारण, उनमें भारी असंतोष फैला और विभिन्न प्रकार की श्रमिक समस्याएं पैदा होने लगीं। इसका फल यह हुआ कि मिल मालिक और श्रमिकों के पारस्परिक संबन्ध बिगड़ने लगे। ऐसी परिस्थितियों में देश में एक नये श्रम विधान की गहन आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः सन् १९२२ में एक नया फैक्टरी अधिनियम पास किया गया। जिसमें निम्नलिखित मुख्य सुधार किये गये।

(१) अन्य कानूनों की भांति यह भी २० से अधिक श्रमिकों वाले तथा शक्ति द्वारा चालित कारखानों में लागू किया गया। परन्तु स्थानीय सरकारों को, १० श्रमिकों वाले कारखानों में चाहे उनमें शक्ति का प्रयोग होता है या नहीं, लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

(२) १२ वर्ष से कम आयु के बालकों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी। बालकों के लिये ६ घंटे की कार्य अवधि नियत होगई और हर ४घंटे कार्य करने के बाद १½ घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया।

(३) बालक और स्त्रियाँ प्रातः ५ बजे से पूर्ध और सायं ७ बजे के बाद कार्य नहीं कर सकते।

(४) व्यस्क श्रमिकों के लिये ६० घंटे प्रति सप्ताह और ११ घंटे प्रतिदिन की कार्य-अवधि नियत की गई। सप्ताह ६ दिन से अधिक का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ६ घंटे कार्य करने के बाद १ घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया।

(५) कार्य अवधि के अतिरिक्त अधिक कार्य (Overtime work) करने पर १½ गुना वेतन दिया जायेगा।

(६) श्रमिकों के स्वास्थ्य और सुरक्षा की और अधिक व्यापक व्यवस्था बना दी गई, तथा निरीक्षण के लिये पूरे समय कार्य करने वाले निरीक्षकों की नियुक्ति की गई।

इस अधिनियम में आवश्यकतानुसार सन् १९२३, १९२६ और १९३१ में छोटे-मोटे पतिवर्तन किये गये, परन्तु अधिनियम की मूल धारायें पहिले जैसी ही रहीं।

१९३४ का फैक्टरी अधिनियम (Factory Act 1934)—

अभी तक के जितने अधिनियम बने वे ठीक प्रकार से लागू नहीं किये गये और अनेक महत्वपूर्ण धाराओं को कार्यान्वित करने में ढिलाई बरती गई। फलतः श्रमिकों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। श्रम संगठन दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। यहां के श्रमिकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रस्तावों से और भी प्रेरणा मिल रही थी। अतः भारत सरकार ने श्रम समस्याओ का अवलोकन करने के लिये सन् १९२९ में एक रायल श्रम आयोग (Royal Labour Commission) की नियुक्ति की जिसने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग के सुझावों के आधार पर सन् १९३४ में एक नया अधिनियम बना, जिसको देश में

१ जनवरी १९३५ से लागू कर दिया गया था। इस अधिनियम की प्रमुख धाराएं निम्नलिखित थीं—

(१) इस अधिनियम के अनुसार कारखानों को दो भागों में विभक्त किया गया—(१) मौसमी (Seasonal) जो वर्ष में १८० दिन से कम कार्य करते थे तथा (२) निरन्तर (Perennial) जो वर्ष भर या वर्ष में ६ माह से अधिक कार्य करते थे।

(२) मौसमी कारखानों के श्रमिकों के लिये कार्य अवधि ११ घंटे प्रतिदिन व ६० घंटा प्रतिसप्ताह तथा निरन्तर। कारखानों के श्रमिकों के लिए १० घंटा प्रतिदिन व ५४ घंटे प्रतिसप्ताह नियतकिये गये।

(३) १२ से १५ वर्ष की आयु के बालकों के लिये ५ घंटे प्रतिदिन की कार्य अवधि निश्चित कर दी गयी। इसके अलावा १५ से १७ वर्ष की आयु के बालकों का एक तृतीय वर्ग बनाया गया, जिनको वयस्क श्रमिकों के काम के उपयुक्त न समझा जाने पर बालक समझा जायेगा और इनको वयस्क होने पर अपनी वयस्कता का डाक्टरी प्रमाण-पत्र देना होगा।

(४) इस अधिनियम के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रसार का सिद्धान्त (Spread Over of Work) लागू किया गया जिसके अनुसार व्यस्क श्रमिकों के लिये लगातार काम करने की अवधि १३ घंटा और बच्चों की ६½ घंटा करदी गई।

(५) अतिरिक्तकार्य (Overtime Work) के लिये वेतन के १½ गुने की व्यवस्था होगई।

(६) स्त्रियों के लिये कार्य अवधि १० घंटे प्रतिदिन करदी गई और वे तथा बालक सायं ७ बजे के बाद व प्रातः ६ बजे के पूर्व कार्य नहीं कर सकते थे।

(७) श्रमिकों के लिये कारखानों में विश्राम-गृह, स्त्रियों व बालकों के कमरे, सुरक्षा, स्वास्थ्य, शीतलता आदि की भी व्यवस्था करदी गई।

(८) प्रान्तीय सरकारों को निरीक्षक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। इस निरीक्षका का कार्य मिलों के प्रबन्धकों को मिल के अन्दर के दोषों को दूर करने के निर्देश देना व उनका पालन कराना था।

१९३५ में इस नियम के लागू होने के बाद ही विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन कर लिये। भारत सरकार ने भी १९३६, ४०, ४१, ४४, ४५, ४६ तथा १९४७ में इसमें संशोधन किये। १९४६ के संशोधन के अनुसार निरन्तर कारखानों में कार्य अवधि घटाकर ४८ घंटे प्रति सप्ताह व ९ घंटे प्रतिदिन व मौसमी कारखानों में ५४ और १० घंटे कर दिये गये। अतिरिक्त कार्य का वेतन दो गुना कर दिया गया। १९४७ के संशोधन के अनुसार २५० से अधिक श्रमिकों वाले सभी कारखानों में जलपान-गृहों (Canteens) का प्रबन्ध करना अनिवार्य कर दिया गया।

१९४८ का फैक्टरी अधिनियम (Factory Act 1948)

१९३४ के अधिनियम में भारी कमियाँ रह गईं थीं। स्वास्थ्य, सुरक्षा और अन्य श्रम हितकारी कार्यों की व्यवस्था बहुत असंतोषजनक थी। अतः स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने श्रमिकों की दशा में सुधार करने के ध्येय से १९३४ के अधिनियम की अनेक बुराइयों को दूर करते हुए एक नया अधिनियम २३ सितम्बर १९४८ को बनाया और १ अप्रैल १९४९, से देश भर में लागू कर दिया। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सुधारों की व्यवस्था की गई थी—

(१) यह अधिनियम १० या इससे अधिक श्रमिकों वाले एवं शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी कारखानों में तथा २० या अधिक श्रमिकों वाले ऐसे कारखाने जिनमें शक्ति का प्रयोग नहीं होता, लागू किया गया।

(२) राज्य सरकारों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे बिना श्रमिकों की संख्या व शक्ति के प्रयोग का ध्यान किये हुए किसी भी कारखाने पर इस अधिनियम को लागू कर सकती है। परन्तु वे इस अधिनियम को उन कारखानों में लागू नहीं कर सकेंगी जिनमें बाहरी श्रमिकों से काम न लेकर एक ही परिवार के सदस्य कार्य करते हैं।

(३) इस नियम के अन्तर्गत मौसमी और निरन्तर कारखानों में कोई अन्तर नहीं रखा गया।

(४) प्रत्येक कारखाने की रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर दिया गया। कारखाने के मालिक को इसे चालू करने से पूर्व इसका विस्तृत विवरण प्रधान निरीक्षक के पास भेजना होता है।

(५) इस नियम में श्रमिकों के स्वास्थ्य, सफाई आदि की विशेष व्यवस्था की गई। गर्मियों में ठंडे पानी तथा शीतल वायु, सफाई, पीकदान, स्नानागार, शौचालय, मूत्रालय, मशीनों को ढ़ककर रखने की, बाढ़ लगाने, बिजली से बचाव, स्त्री, पुरुषों के अलग विश्रामगृह, शिशु गृह, जलपान गृह, प्राथमिक चिकित्सा, आदि की विशेष व्यवस्थाएँ कर दी गई हैं। सन् १९४९ के पहले के कारखानों में ३५० घनफुट स्थान तथा इस वर्ष के बाद के सभी नये कारखानों में ५०० घन फुट स्थान का होना अनिवार्य कर दिया गया। इसके अतिरिक्त ऐसे कारखानों में, जहाँ ५०० से अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, मालिकों को राज्य सरकार की सलाह से एक हितकारी अफसर (Welfare Officer) नियुक्त करना होगा।

(६) कार्य अवधि ९ घंटे प्रतिदिन व ४८ घंटे प्रति सप्ताह नियत कर दी गई। कार्य का प्रसार अधिकतम १०½ घंटे तक हो सकता है। ५ घंटे कार्य करने के पश्चात ½ घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया है। अतिरिक्त कार्य का वेतन साधारण वेतन से दूना होगा।

(७) १४ वर्ष से कम आयु के बालक नियुक्त नहीं किये जा सकेंगे। १४ वर्ष से १८ वर्ष के बालकों को कार्य करने की शारीरिक समर्थता का डाक्टरी प्रमाण पत्र देना होगा जो केवल १ वर्ष तक मान्य होगा। बालक और स्त्रियाँ सायं ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक कारखानों में कार्य न कर सकेंगी।

(८) सप्ताह में १ दिन की छुट्टी के अतिरिक्त श्रमिकों की छुट्टियों के नियम भी बना दिये गये। इनके अनुसार व्यस्क मजदूरों को एक वर्ष तक निरन्तर काम करने के बाद, प्रति २० दिन काम करने पर १ दिन की छुट्टी और वर्ष में कम-से-कम १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था कर दी गई। बालकों को एक वर्ष में १४ दिन की सवैतनिक छुट्टी मिल सकती है।

(९) प्रबन्धकों के लिये मिल में होनेवाली प्रत्येक दुर्घटना की व श्रमिक की बीमारी की सूचना मुख्य फैक्टरी निरीक्षक को देना अनिवार्य कर दिया गया है।

(१०) इस अधिनियम की धाराओं की अवज्ञा करनेवाले प्रबन्धकों को उचित दंड देने की भी व्यवस्था कर दी गई है।

यद्यपि यह अधिनियम पिछले सभी अधिनियमों से अधिक व्यापक तथा पूर्ण था फिर भी लागू होने के बाद सन् १९४९, १९५०, १९५१ व १९५४ में इसमें उचित संशोधन किये जा चुके हैं।

खान-अधिनियम (Mines Acts.)

सर्व प्रथम सन् १९०१ में भारत सरकार ने खानों में कार्य करनेवाले श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये एक अधिनियम बनाया जिसके अनुसार खानों में काम करने की परिस्थितियों को नियमित कर दिया गया और इन परिस्थितियों के निरीक्षण की भी उचित व्यवस्था कर दी गई। इसके अनुसार खनिज प्राप्ति के लिये २० फीट की गहराई तक को 'खान' घोषित कर दिया गया। परन्तु इस अधिनियम में श्रमिकों की कार्य करने की अवधि को निश्चित नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त और भी कई कमियों के कारण यह अधिनियम श्रमिकों की दशाओं में विशेष सुधार नहीं कर सका। अतः सन् १९२३ ई० में एक दूसरा अधिनियम बनाया गया। जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्थायें की गई।

(१) बिना गहराई का विचार किये हुए खनिज प्राप्ति के साधनों को 'खान' घोषित कर दिया गया।

(२) भूमि के ऊपर कार्य करने वाले मजदूरों के लिये सप्ताह में (६ दिन) ६० घंटे और खान के अन्दर काम करनेवाले मजदूरों को ५४ घंटे नियत कर दिये गये। परन्तु प्रतिदिन कार्य करने की अवधि निश्चित नहीं की गई।

(३) तेरह वर्ष से कम आयु के बालकों से खान के अन्दर काम नहीं कराया जा सकता था।

इस अधिनियम में भी एक प्रमुख कमी यह रही कि इसके अन्तर्गत स्त्रियों के खान के अन्दर काम करने पर कोई रोक नहीं लगाई गई। परन्तु फिर भी १९०१ के अधिनियम की तुलना में इस अधिनियम से अधिक सुधार होने की आशा बँधी। लेकिन समय के परिवर्तन के साथ-साथ इस अधिनियम की कमियाँ महसूस होने लगीं अतः १९२८ में इसको संशोधित किया गया। इसके उपरान्त सन् १९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभा व श्रम आयोग के सुझावों के आधार पर सन् १९३५ में इस अधिनियम में फिर निम्नलिखित परिवर्तन किये गये।

आसाम को भेजे जाने वाले मजदूरों के लिए एक नियंत्रित क्षेत्र में एक विशेष मार्ग नियत कर दिया गया था और इनके खान-पान, घर, व अन्य सुविधाओं का ध्यान रखने की जिम्मेदारी सरकार की कर दी गई।

(२) सोलह वर्ष से कम आयु के बालक आसाम के बगीचों में कार्य नहीं कर सकते। वे केवल अपने माता-पिता के साथ ही आसाम जा सकते थे। इसी प्रकार किसी भी विवाहित स्त्री को बिना उसके पति की आज्ञा के आसाम भेजने में कोई व्यक्ति सहायता नहीं कर सकता था।

(३) तीन वर्ष तक आसाम के बगीचों में कार्य करने के बाद प्रत्येक मजदूर को मालिक के व्यय से अपने घर लौटने का अधिकार दे दिया गया। इस व्यय में केवल मार्ग का ही नहीं बल्कि भोजन इत्यादि का व्यय भी सम्मिलित होता था।

(४) इस अधिनियम के अन्तर्गत, प्रशासन सम्बन्धी कार्य के लिए एक प्रवासी-श्रमिक अधिकारी (Controller of Emigrant Labour) की नियुक्त की व्यवस्था की गई जिसका कर्तव्य श्रमिकों की भर्ती और उनके स्वदेश जाने का प्रबन्ध आदि करना था। इस अधिकारी पर किये जाने वाले व्यय की पूर्ति के लिए सरकार ने बगीचे के मालिकों पर आसाम आने वाले प्रति श्रमिक पर ६ रुपया की दर से कर लगाने की व्यवस्था की। यह कर सन् १९५०-५१ में घटाकर ३ रुपया प्रति मजदूर कर दिया गया।

१९५१ का उद्यान श्रम अधिनियमः—(Plantation Labour Act 1951)

इस विधान के अनुसार बगीचो के मजदूरों के लिए निम्न लिखित बातों की व्यवस्था की गई है।

(१) यह अधिनियम जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों के चाय, कहवा, रबड़, सिनकोना आदि के उन सभी बागों पर जिनमें कम से ३० मजदूर कार्य करते हो और जिनका क्षेत्रफल २५ एकड़ से कम न हो, साधारणतया लागू किया गया है। परन्तु राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से इस अधिनियम को किसी भी क्षेत्र पर लागू कर सकती हैं।

(२) श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा. व अन्य हितों की व्यापक व्यवस्था की गई है। मालिकों को उनके लिए गर्मियों में पीने का ठंडा पानी, शौचालय, मूत्रालय, प्राथमिक चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना अनिवार्य कर दिया गया है। १५० मजदूरों से अधिक वाले बागों में जलपान गृह को और ५० से अधिक स्त्रियों वाले बागों में उनके बच्चों के लिए शिशु गृहों की व्यवस्था की गई है।

(३) राज्य सरकारों की देखरेख में बगीचों में ही मजदूरों के गृह निर्माण बगीचों के मालिकों के द्वारा कराने की व्यवस्था है।

(४) ३०० से अधिक मजदूरों वाले बागों में उनके हितों का ध्यान रखने लिए एक हितकारी अफसर की व्यवस्था है।

(५) बारह वर्ष से कम आयु वाले बालकों की नियुक्ति पर रोक लगा दी ग १५ से १८ वर्ष की आयु वाले किशोरों को नियुक्ति के समय अपनी शारीरिक समर्थ

का प्रमाण पत्र देने की व्यवस्था की गई। काम करते समय भी इस प्रमाण पत्र को रखना अनिवार्य कर दिया गया।

(६) इस अधिनियम के अन्तर्गत, वयस्क श्रमिकों के लिए ५४ घंटे प्रति सप्ताह और बालक तथा किशोरों के लिए ४० घंटे प्रति सप्ताह की कार्य अवधि नियत कर दी गई। ५ घंटे कार्य करने के बाद आधे घंटे का विश्राम अनिवार्य कर दिया गया। कोई भी व्यक्ति बारह घंटे से अधिक काम नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त स्त्री और बच्चे सायं ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक बागों में कार्य नहीं कर सकते।

(७) अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरों को सवेतन छुट्टी की भी व्यवस्था कर दी गई है। वयस्क मजदूरों को २० दिन काम करने पर व बालक और किशोरों को १५ दिन काम करने पर १ दिन की छुट्टी मिल सकती है। और यह छुट्टियां ३० दिन तक संग्रहित की जा सकतीहैं। इसके अतिरिक्त बीमारी के काल में डाक्टर का प्रमाण पत्र देने पर मजदूरों को भत्ता तथा स्त्रियों के बच्चा होने के दिनों भी भत्ता देने की भी व्यवस्था की गई है।

यातायात-श्रम सम्बन्धी अधिनियम(Transport Labour Legislation)

यातायात उद्योग में काम करने वाले मजदूरों की दशा सुधारने के लिये सर्वप्रथम सन् १८९० में भारतीय रेलवे अधिनियम पास किया गया जिससे रेलवे कर्मचारियों को बड़ा लाभ हुआ। सन् १९३० में इस अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये और रेलवे वर्कशापों को छोड़कर अन्य सभी कर्मचारियों पर लागू कर दिया गया। इसके उपरान्त सन् १९३१ और १९५१ में इस नियम में और संशोधन किये गये।

रेलवे कर्मचारियों के अतिरिक्त जलयान (Shipping) कर्मचारियों के लिये भी सर्वप्रथम सन् १९३२ में 'भारतीय व्यवसायी जलयान अधिनियम' (Indian Merchant Shipping Act) पास किया गया जिसमें सन् १९४९ और १९५१ में अनेक संशोधन किये गये हैं। इस प्रकार इस अधिनियम को अधिक विस्तृत और उपयुक्त बना दिया गया है। और इसके अन्तर्गत वेतन के भुगतान, अतिरिक्त वेतन, नाविका की स्वास्थ्य रक्षा, उन पर अनुशासन व अधिनियम के उल्लंघन पर उचित दंड आदि की व्यवस्था की गई है।

इसी प्रकार बन्दरगाह में डाक (Dock) पर काम करने वाले मजदूरों के लिये भी, जो बिल्कुल अरक्षित थे, सर्वप्रथम सन् १९०८ में 'भारतीय बंदरगाह अधिनियम' (Indian Ports Act) बना जिसमें १९२२ और १९३१ में संशोधन हुये। इसके उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ और शाही आयोग की शिफारिसों पर सन् १९३४ में 'भारतीय डाक श्रमिक अधिनियम' बनाया गया। परन्तु अनेक कारणों वश यह अधिनियम १९४८ तक लागू नहीं किया जा सका। मार्च सन् १९४८ में डाक पर काम करने वाले मजदूरों की दशाओं में सुधार करने के लिये भारत सरकार ने डाक श्रमिक अधिनियम बनाया। इसके उपरान्त २७ जनवरी १९५१ को भारत सरकार ने बम्बई डाक कर्मचारियों की नौकरी के नियम बनाने की योजना प्रकाशित की। इसी तरह कलकत्ता और मद्रास के डाक श्रमिकों के लिये क्रमशः अक्टूबर १९५१ व मार्च

१९५२ में योजनायें बनादी गई हैं जिनको कार्यान्वित करने के लिये तीनों बंदरगाहों में एक-एक मंडल की स्थापना की गई है ।

अन्य श्रम विधान (Other Labour Legislation)

उक्त अधिनियमों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी श्रमिकों के हित के लिये समय-समय पर अनेक अधिनियम बने जिनमें से बम्बई का दूकानों तथा व्यापारिक संस्थाओं के लिये विधान १९३६ का वेतन भुगतान अधिनियम, १९४८ का न्यूनतम वेतन अधिनियम, १९५० का न्यायपूर्ण अधिनियम, श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम व औद्योगिक आंकड़ों के नियम प्रमुख हैं इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है ।

दूकान तथा व्यापारिक संस्थाओं सम्बन्धी अधिनियम

सर्व प्रथम सन् १९३९ में बम्बई सरकार ने दूकानों तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं के श्रमिकों के लिये एक अधिनियम बनाया जिसके अनुसार ८½ घंटा प्रतिदिन की कार्य अवधि और ५ घंटे कार्य करने के बाद ½ घंटे का विश्राम नियत कर दिया गया और सप्ताह में एक दिन की सवेतन छुट्टी घोषित की गई । मनोरंजन के स्थानों में मजदूरों की कार्य अवधि १० घंटा प्रतिदिन कर दी गई । सन् १९४० में बंगाल, सिन्ध और पंजाब की प्रांतीय सरकारों ने १९४७ में मध्यप्रदेश बरार, उत्तर प्रदेश की राज्य सरकारों ने इसी प्रकार के अधिनियम (Shop Acts) बनाये । प्रत्येक राज्य में श्रमिकों की कार्य अवधि, विश्राम दूकान खोलने और बन्द करने का समय, सवेतन छुट्टी और साप्ताहिक छुट्टी की अलग-अलग व्यवस्थायें की गई हैं ।

१९३६ का वेतन-भुगतान अधिनियम (Payment of Wages Act1936)

यद्यपि इस अधिनियम को भारत के सभी बड़े उद्योगों में लागू करने की आवश्यकता थी फिर भी अभी तक यह केवल भारतीय रेलों और बड़े-बड़े उद्योगों में ही लागू होता है । इसके अंतर्गत श्रमिकों को वेतन देने का अधिकतम समय एक वर्ष नियत किया गया है । अधिनियम के अनुसार १००० से कम श्रमिकों वाले कारखानों में मजदूरों को सातवे दिन के समाप्त होने के पहले ही वेतन दे देने की व्यवस्था की गई । और १००० से अधिक मजदूरों वाले कारखानों मे १० वे दिन के समाप्त होने तक वेतन दिया जा सकता है । काम करते समय मशीनरी आदि के नुकसान का भुगतान श्रमिकों के वेतन से काटा जा सकता है । इसके अतिरिक्त जुर्माना, किराया, कर, प्रावीडेंट फंड बीमा, आदि की कटौती भी वेतन में की जा सकती है । परन्तु वस्तु के निर्माण में छीजन या अन्य क्षति के लिये कोई कटौती नहीं हो सकती । जुर्माने की अधिकतम सीमा दो पैसा रुपया है और जुर्माने द्वारा प्राप्त धन प्रबंधकों द्वारा केवल श्रम हितकारी कार्यों पर ही व्यय किया जा सकता है ।

श्रमिकोंकी क्षति पूर्ति का अधिनियम (Workmens Compensation Act)

सन् १९२३ के पूर्व तक मजदूरों की क्षति पूर्ति के लिये कानून तो अवश्य थे परन्तु उनको ठीक प्रकार से पालन नहीं किया जाता था और श्रमिकों को काम करने में मृत्यु या अन्य दुर्घटनाओं के प्रगट होने पर इनको कुछ मुआविजा आदि देने की व्यवस्था केवल नाम मात्र की ही थी । अतः सन् १९३३ में सर्वप्रथम क्षतिपूर्ति सम्बन्धी

अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार कारखानों के अंदर किसी भी प्रकार की दुर्घटना से मजदूरों को क्षति होने पर मालिकों द्वारा उचित मुआविजा दिये जाने की व्यवस्था की गई। प्रबन्धकों को प्रत्येक दुर्घटना की सूचना श्रम कमिश्नर को देनी होती है और साथ ही क्षति पूर्ति के लिये धन भी जमा कर दिया जाता है। अधिनियम के अनुसार श्रमिकों की दुर्घटना से मृत्यु होने पर, अस्थायी अंग भंग होने पर तथा स्थायी कष्ट होने पर मुआविजा देने की व्यवस्था की गई थी जिसका विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया गया है।

दुर्घटना से क्षति	मुआवज़े की निश्चित रकम		
	१०) मा० से कम आय वाले श्रमिकों को	५०) से ६०) मा० वाले श्रमिकों को	२००) से अधिक पाने वालों को
१. मृत्यु	५००)	१८००)	४०००)
२. स्थायी अंग-भंग	७००)	२५२०)	५०००)
३. अस्थायी अंग-भंग या कष्ट	मासिक वेतन का १½ गुना भाग (ठीक होने तक)	१५) माह० (ठीक होने तक वेतन के अतिरिक्त)	३०) माह० (ठीक होने तक वेतन के अतिरिक्त)

उक्त अधिनियम में समय-समय पर संशोधन किये जा चुके है। यद्यपि सामाजिक बीमा अधिनियम के लागू होने से इसका महत्व कम हो गया है परन्तु फिर भी उन स्थानों पर, जहाँ सामाजिक बीमा अभी लागू नही किया गया, यह अधिनियम लागू होता है।

न्यूनतम वेतन अधिनियम (Minimum Wages Act)

भारतीय श्रमिकों के शोषण के कारण, उनका जीवन स्तर सदा से बहुत ही गिरा हुआ रहा। इनके न्यून जीवन स्तर को ऊँचा करने की देश में बहुत दिनों से आवश्यकता थी। परन्तु उक्त अधिनियमों में श्रमिकों के न्यूनतम वेतन को नियत करने की कोई व्यवस्था नही की गई थी। सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभा (International Labour Conference) ने सन् १९२८ में न्यूनतम वेतन की व्यवस्था करने का प्रस्ताव पास किया। तदुपरान्त शाही श्रम आयोग ने भी सन् १९३१ में न्यूनतम वेतन निर्धारित करने की जोरदार सिफारिश की। पर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक इस दिशा में विदेशी सरकार द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही राष्ट्रीय सरकार ने देश के शोषित मजदूर वर्ग के उद्धार करने के उद्देश्य से सन् १९४८ में न्यूनतम वेतन अधिनियम पास कर दिया था। यह अधिनियम १००० श्रमिकों से अधिक वाले कारखानों में लागू किया गया। परन्तु यह क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा क्योंकि ऐसे अनेकों कारखाने हैं जहाँ १००० श्रमिकों से कम कार्य करते हैं जिनको बहुत कम वेतन मिलता है और जिनके साथ अमानुषिक व्यवहार भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस नियम के अन्तर्गत निरीक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। कृषि

श्रमिकों की भी यही दशा है। अतः योजना आयोग के अनुसार इस अधिनियम में अभी बहुत सुधार की आवश्यकता है।

न्यायपूर्ण वेतन अधिनियम (Fair Wage Act)

न्यूनतम वेतन अधिनियम की भाँति न्यायपूर्ण वेतन अधिनियम का लागू करना भी अति आवश्यक है। सन् १९४७ में न्यायपूर्ण वेतन नियम के विषय में सरकार के समक्ष एक प्रस्ताव रखा गया था। फलतः भारत सरकार ने सन् १९५० में एक विधेयक इस सम्बन्ध में संसद के समक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु इसकी सुनवाई १९५१ के लिये स्थगित कर दी गई थी। विधेयक के अनुसार उचित वेतन न्यूनतम वेतन से कुछ अधिक और जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक वेतन से कुछ कम माना गया था। परन्तु न्यायपूर्ण वेतन का अर्थ उस वेतन से होना चाहिये जो श्रमिक की कार्य कुशलता बनाये रखने, जीविका निर्वाह के अतिरिक्त मर्यादा बनाये रखने और तदुपरान्त कुछ बचत के लिये पर्याप्त हो। न्यायपूर्ण वेतन का नियत करना भी तो एक बड़ी समस्या है। यह राष्ट्रीय आय, उद्योगों की उत्पादन शक्ति, श्रम की कार्य क्षमता, शिक्षा, अनुभव आदि बातों के आधार पर नियत किये जाने चाहिये। इस विषय में योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये है।

(१) श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय आय का उचित अंश मिलना चाहिये तथा इसके प्रति उदारता दिखाकर, श्रमिकों के न्यूनतम जीवन स्तर के लिये वेतन का भान स्थिर रखना चाहिये।

(२) विभिन्न उद्योगों में कार्य-भार का वैज्ञानिक निर्धारण होना चाहिये।

(३) न्यूनतम अधिनियम को कठोरता से लागू करना चाहिये।

(४) लाभ-हिस्सेदारी की योजनाओं को उचित आधार पर बनाकर कार्यान्वित करना चाहिये।

(५) त्रिदलीय संगठन के साथ-साथ स्थायी वेतन मण्डल की स्थापना करनी चाहिये।

(६) श्रमिको के लिये प्रावीडेन्ट फन्ड (Provident Fund) अनिवार्य होना चाहिये।

भारत सरकार को योजना आयोग के उक्त सुझावों के आधार पर न्यायपूर्ण वेतन अधिनियम शीघ्र-से-शीघ्र पास करके लागू कर देना चाहिये। इससे निश्चय ही श्रमिकों का बहुत उद्धार होगा और द्वितीय योजना के प्रमुख उद्देश्य (भारत में समाजवादी समाज की स्थापना) को प्राप्त करने में बहुत सहायक होगा।

श्रम हितकारी कार्य (Labour Welfare Activities)

साधारणतया श्रम-हितकारी कार्यो के कई अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ लोग तो मिल मालिकों द्वारा अपनी इच्छा से श्रमिकों की नौकरी की सर्वोत्तम दशा बनाने के लिये किये गये कार्यों को ही श्रम-हितकारी कार्य कहते हैं। लेकिन आमतौर से इन कार्यों के अर्न्तगत श्रमिकों के स्वास्थ्य सुधार, सुरक्षा, साधारण कल्याण तथा कार्य क्षमता को बढ़ाने के सभी प्रयत्न सम्मिलित किये जाते हैं। श्रम-हितकारी कार्यों को

दो भागों में विभक्त किया जाता है : (१) वे कार्य जो कारखाने के अन्दर श्रमिकों के हित के लिये किये जाते है तथा (२) कारखाने के बाहर के कार्य ।

श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि करने एवं उनकी अनेक समस्याओं का हल करने के लिये श्रमहितकारी कार्य बहुत ही आवश्यक है । खासतौर से भारत में, जहाँ के मज़दूरों की हालत बहुत खराब है, जो अकुशल, अस्वस्थ, अशिक्षित और अत्यन्त गरीब हैं, श्रमहितकारी कार्यों का पश्चिमी देशों की तुलना में और भी अधिक महत्व है । बम्बई वस्त्र श्रमिक जांच समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Connmittee) के अनुसार श्रमिकों की कार्य कुशलता उनके स्वास्थ्य, घर, भोजन तथा वस्त्रों पर बहुत कुछ निर्भर है और इन सब में श्रम हितकारी कार्यों द्वारा सुधार किया जा सकता है । इन कार्यो के अन्तर्गत उनकी शिक्षा, खेल-कूद, स्वास्थ्य, घर आदि की सुविधाएं सम्मिलित है । इन कार्यो का प्रभाव शीघ्र ही होता है। मालिक और मज़दूर में शोषण के स्थान पर सहयोग की भावना उत्पन्न होती है और वे ठीक प्रकार से कार्य करने लगते है । इस प्रकार उनकी कार्य कुशलता भी काफ़ी बढ़ जाती है । श्रम हितकारी कार्य केन्द्रीय व राज्य सरकार मिल मालिक श्रमिक संघ तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा किये जा सकते है। श्रम हितकारी कार्यो में निम्नलिखित कार्य सम्मिलित किये जा सकते है —

(१) श्रमिकों के लिये मनोरंजन के वे साधन जुटाना, जिनको वे स्वयं नहीं जुटा सकते ।

(२) श्रमिकों व उनकी संतान के लिये शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना ।

(३) श्रम संबन्धी समस्याओं के विषय में श्रमिकों को उचित शिक्षा देना ।

(४) श्रम की कार्य कुशलता बढ़ाने के प्रयत्न करना ।

भारत में श्रम हितकारी कार्य—

बीसवीं सदी से पूर्व भारतीय श्रमिकों का पूजीपतियों द्वारा खूब शोषण होता रहा । सरकार ने इनकी दशा सुधारने के हेतु फैक्टरी नियम समय-समय पर बनाये । परन्तु द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने तक भारत में श्रम हितकारी कार्यो को अधिक महत्व नही दिया जाता था । द्वितीय युद्धकाल में और इसके उपरान्त सरकार द्वारा बहुत से श्रम हितकारी कार्य प्रारम्भ किये गये और स्वतंत्रता के पश्चात तो राष्ट्रीय सरकार ने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये ठोस क़दम उठाये और अपनी नयी श्रमनीति में श्रम हितकारी कार्यो को विशेष महत्व दिया। सन् १९४८-४९ में सरकार ने एक श्रम हितकारी कोष स्थापित किया और इसमें १ लाख रु० का अनुदान दिया । इस कोष से उन संस्थाओं को, जो श्रम हितकारी कार्य करने में संलग्न थीं, आर्थिक सहायता दी जाती थी । सन् १९४८ और १९५२ के फैक्टरी विधानों में इन कार्यो का विशेष रूप से आयोजन किया गया है । वास्तव में भारत में श्रम हितकारी कार्यो का प्रारम्भ सरकार द्वारा ही हुआ । परन्तु आज तो सरकार व श्रमिक संघों के अतिरिक्त अनेक बुद्धिमान मिल मालिक जैसे B. I. C. कानपुर, दिल्ली क्लाथमिल, बिन्नीमिल मद्रास और तथा अन्य सामाजिक संस्थाएं भी इन कार्यों में हाथ बंटा रही हैं । कोयले की व अन्य खानों में

श्रम हितकारी कोष तथा बड़े-बड़े मिलों में प्रावीडेन्ट कोष स्थापित किये गये हैं। प्रत्येक बड़े मिल में नियमानुसार एक श्रम हितकारी अफसर श्रमिकों के हित की देखभाल करने के लिये नियुक्त होता है। मिलों में जलपानगृह, विश्रामगृह, स्नानगृह, मूत्रालय, शौचालय, वाचनालय आदि की व्यवस्था होती है।

राज्य सरकारों द्वारा श्रम हितकारी कार्य

बम्बई—सन् १९३९ में बम्बई सरकार ने प्रथम श्रम हितकारी केन्द्र बम्बई नगर के मज़दूरों के लिये स्थापित किया और उस वर्ष इस केन्द्र पर १, २०,००० रु० व्यय किया। तत्पश्चात इस केन्द्र के लिये वार्षिक सरकारी अनुदान बढ़ती गई। सन् १९५३ में राज्य सरकार ने १४ सदस्यों का एक बम्बई श्रम हितकारी बोर्ड स्थापित किया जो राज्यभर के हितकारी केन्द्रों का संचालन करता है। आज कल इस बोर्ड के अन्तर्गत लगभग ५४ केन्द्र हैं। जिनमें से ५ 'अ', ११ 'ब', ३६ 'स' और २ 'द' श्रेणी के हैं। 'अ' श्रेणी के केन्द्रों में खेल के साधन, अखाड़े, तैरने के तालाब, बच्चों को खेलने के मैदान, मनोरंजन, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था है। 'ब' श्रेणी के केन्द्रों में भी लगभग यही सब व्यवस्था है, परन्तु कम मात्रा में हैं। 'स' श्रेणी के केन्द्रों में केवल कमरे में खेलने वाले खेलों (Indoor games) की ही व्यवस्था है तथा 'द' श्रेणी के केन्द्रों में केवल मैदान में खेले जाने वाले खेलों (Out-door games) की व्यवस्था है। बम्बई राज्य में विभिन्न श्रम हितकारी कार्यों के सुचारु रूप से होने के कारण, यहां के मज़दूरों की कुशलता में काफ़ी वृद्धि हुई है व उनकी आर्थिक एवं सामाजिक दशा में भी उल्लेखनीय सुधार हुआ है।

उत्तरप्रदेश—

उत्तरप्रदेश में श्रम हितकारी केन्द्रों का इतिहास सन् १९३७ से प्रारम्भ हुआ। जब कि यू.पी. सरकार ने सर्वप्रथम कानपुर में ४ श्रम हितकारीकेन्द्रों की स्थापना की। जभी से श्रम हितकारी कर्यो में खूब प्रगति होती रही विशेषत: स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय सरकार में इस दिशा में भारी कदम उठाये। फलस्वरूप सन् १९५५ में समस्त उत्तरप्रदेश में हितकारी केन्द्रों की संख्या ४४ थी। इन केन्द्रों को 'अ', 'ब' और 'स' तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है तथा इनमें, शिक्षा, खेल-कूद, स्वास्थ्य, औषधि, सिलाई की शिक्षा, मनोरंजन के साधन आदि की व्यवस्था है। १९३७ में इन कार्यों पर केवल १०००० रु० व्यय करने की व्यवस्था थी जो सन् १९५५–५६ में ८ लाख ८२ हज़ार ६ सौ रु० की हो गई। उत्तरप्रदेश में श्रम हितकारी कार्यों की दृष्टि से कानपुर नगर का विशेष महत्व है। यहाँ पर केन्द्रों की संख्या १५, सबसे अधिक है। सन् १९५४ में कानपुर में दो श्रम हितकारी केन्द्र और खोले गये थे। इनके अतिरिक्त यहां पर श्रमिकों के लिये सरकारी श्रम हितकारी तपैदिक अस्पताल भी है। प्रत्येक 'अ' और 'ब' केन्द्रों में लगभग २१,४०० रु० और 'स' केन्द्रों में १५०० रु० प्रतिवर्ष व्यय किया जाता है।

अन्य राज्य—

बम्बई व उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्य सरकारों ने भी श्रमिकों की दशा

सुधारने में काफ़ी हाथ बटाया है और श्रम हितकारी केन्द्रों की स्थापना की है। इस समय पं० बंगाल में २५, सौराष्ट्र में २०, बिहार, हैदराबाद और त्रिवांकुर-कोचीन, प्रत्येक में ३ तथा मैसूर में २ केन्द्र कार्य कर रहे है। मध्यप्रदेश सरकार ने ८ श्रम हितकारी केन्द्र विभिन्न औद्योगिक नगरों में खोलने का निश्चय किया है, जिनमें से २ नागपुर में, १ अकोला में और १ जबलपुर में खोले जा चुके हैं।

मिल मालिकों द्वारा श्रमहितकारी कार्य—

यद्यपि भारत के अधिकांश पूंजीपति श्रम हितकारी कार्यो पर व्यय करना व्यर्थ एवं फिजूल खर्ची समझते हैं। फिर भी कुछ विद्वान् और दूरदर्शी मिलमालिकों ने कई जगह इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है जैसे कानपुर में ब्रिटिश इन्डिया कारपोरेशन ने, देहली के देहली क्लाथ मिल में, मद्रास, अहमदाबाद, शोलापुर, बम्बई आदि के विभिन्न मिलों में खूब श्रम हितकारी कार्य किये जा चुके है। इसके अतिरिक्त भारतीय जूट मिल एसोसिएशन और भारतीय चाय एसोसिएशन ने भी श्रमिकों के हित के कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया है। सूती वस्त्र मिलों में मालिको की ओर से जलपानगृह, पुस्तकालय, विद्यालय, रेडियो, खेल-कूद व मनोरंजन की व्यवस्था है। श्रमिकों के लिये औषधालय भी है, जहाँ से उनको मुफ्त दवा मिलती है, स्त्री-मजदूरों के लिये विशेष सुविधाओं का प्रबन्ध है।

कुछ मिलों में मालिको और श्रमिको के सहयोग से सहकारी समितियाँ स्थापित हुई है। जहाँ से मजदूर सदस्यो को कम व्याज पर रुपया उधार मिल सकता है। इसी प्रकार भारतीय जूट मिल एसोसिएशन के निर्देशन में अनेक जूट मिलों में श्रमहितकारी कार्यों कीं व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त सन् १९४८ के फैक्टरी विधान के अनुसार थोड़े बहुत श्रमहितकारी कार्य तो सभी मिलों में करने पड़ते है।

श्रम संघ द्वारा हितकारी कार्य—

सरकार और मिल मालिकों के अतिरिक्त स्वयं श्रमिको ने अपने हित के लिये श्रमिक संघों द्वारा अनेक कार्यो में हाथ बंटाया है। यद्यपि श्रमिक संघों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है, फिर भी इन्होंने बहुत से श्रमिक हितकारी कार्य किये है। अहमदाबाद में सूती मिल मजदूर संघ, कानपुर में सूती मिल मजदूर सभा, रेलवे कर्मचारी सभा और अन्य श्रमिक संघों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। अहमदाबाद का सूती मिल मजदूर संघ अपनी आय का लगभग ६५ प्रतिशत भाग श्रम हितकारी कार्यों पर व्यय करता है, जिनके अन्तर्गत श्रमिकों के लड़के लड़कियों के लिये रात और दिन की पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायाम, स्वास्थ्य, खेलकूद आदि की व्यवस्था की जाती है। इन कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिये संघ के २५ निरीक्षक है जो श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने में सहायता देते है।

कानपुर में सूती मिल मजदूर सभा व अन्य श्रमिक संघों ने श्रमिकों की सहायता के लिये सहकारी समितियों की एवं पाठशालाओं की व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त अन्य आर्थिक हित के कार्य भी किये जाते हैं जैसे—श्रमिकों की नौकरी की रक्षा करना, (Bonus) दिलवाना, मिल-मालिकों द्वारा शोषण रोकना, रहने के लिये घर की व्यवस्था

करना आदि है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आज भारत का श्रमिक वर्ग भी काफी जागृत हो चुका है और अपने अधिकारों की मांग करने में पूर्णतया सचेत है। केन्द्रीय व राज्य सरकारों, मिल-मालिकों व श्रमिक सँघों ने अनेक श्रम हितकारी कार्यो में हाथ बँटाया है व भविष्य के लिये इन कार्यों की प्रगति की योजना बनाने में संलग्न है। इससे यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि यह सब कार्य जारी रहे और श्रमिकों ने उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया तो अवश्य ही एक ओर तो श्रमिक की आर्थिक दशा सुधरेगी और दूसरी ओर उत्पत्ति में वृद्धि होगी। जिससे देश का कल्याण हो सकेगा।

सामाजिक बीमा (Social Security)

पाश्चात्य देशों में सामाजिक बीमे का बहुत अधिक महत्व है। इसके अन्तर्गत श्रमिक की सारी जिम्मेदारी बीमे के द्वारा सरकार के ऊपर आ पड़ती है। भारत में औद्योगीकरण व अन्य परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त होता जा रहा है। आज प्रत्येक व्यक्ति को नौकरी या पेशे की तलाश में अपना घर छोड़कर बाहर बसना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की कठिनाइयों में हाथ बंटाना बड़ा कठिन है इसीलिए यहाँ पर भी सामाजिक बीमे का महत्व बढ़ता जा रहा है। यहां के श्रमिकों को बहुत कम वेतन मिलता है जो उनके खाने भर के लिए अपर्याप्त होता है इसके अतिरिक्त बीमारी, बेरोजगारी, बुढ़ापा व अन्य ऐसी सामाजिक कठिनाइयाँ हैं जिनका सामना करना उनके लिए एक भारी समस्या बन जाती है। अपर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने से उनका शरीर दुर्बल हो जाता है और कम आयु में ही शक्ति क्षीण होने लगती है और बीमारी भी शीघ्र होती है। बीमारी की अवस्था में छुट्टी नही मिलती और अगर मिलती भी है तो अवैतनिक मिलती है। ऐसी स्थिति में एक ओर तो इलाज में खूब खर्च होता है और दूसरी ओर उसको वेतन नही मिलता और फलस्वरूप ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अधिकाँश श्रमिकों की नौकरी अस्थाई होती है। नौकरी छूट जाने पर उनके सामने सिवाय ऋण लेने के और कोई चारा नहीं रहता है। मिलों में काम करते समय यकायक दुर्घटना से मृत्यु हो जाने से अथवा अंगभंग हो जाने से श्रमिक व उसके परिवार को जीवन भर कष्ट उठाना पड़ता है इन सब समस्याओं के कारण भारत में सामाजिक बीमे की गहन आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और इस दिशा में भारत सरकार ने उल्लेखनीय कदम उठाये हैं और कुछ वर्ष पूर्व देश के कुछ प्रमुख नगरों में सामाजिक बीमे की एक योजना को कार्यान्वित किया था। गत वर्षों में इस योजना का विस्तार होता रहा है। यदि यह योजना सम्पूर्ण देश में लागू कर दी जाए तो निःसन्देह भारतीय श्रमिकों के जीवन में एक नई लहर और एक नई उमंग आ जाय।

श्रमिक राजकीय बीमा योजना (Employees State Insurance Scheme)

श्रमिक राजकीय बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) भारतीय संसद द्वारा अप्रैल, १९४८ में पास किया गया जिसमें बीमारी और काम के

समय लगी चोट आदि के सम्बन्ध में अनिवार्य राजकीय बीमा, स्त्री कर्मचारियों को प्रसूति सहायता, स्वास्थ्य रक्षा आदि की व्यवस्था की गई है। इस योजना को एक निगम द्वारा कार्यान्वित किया गया है जिसमें ३८ सदस्य हैं जो केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार मिल मालिक, व श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्पताल और दवादारू की व्यवस्था का व्यय राज्य सरकार को देना होता है व शेष व्यय केन्द्रीय सरकार मिल मालिक व श्रमिकों द्वारा पूरा किया जाता है। यद्यपि इस अधिनियम को अप्रैल सन् १९५० में लागू कर देना था परन्तु उत्तर भारतीय मिल मालिक सभा ने कुछ आपत्ति प्रगट करते हुए अनेक सुझाव रखे जिनके आधार पर सन् १९५१ में कुछ संशोधन किये गये। तत्पश्चात् २४ फरवरी १९५२ को प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने श्रमिक राजकीय बीमा योजना का कानपुर में उद्घाटन किया।

सर्वप्रथम यह अधिनियम कानपुर के ८० हजार मजदूर व दिल्ली में ४०००० मजदूरों की रक्षा के हेतु लागू किया गया। सन् १९५५ के अन्त तक लगभग २०,००-००० मजदूरों के लिए देश के निम्नलिखित औद्योगिक नगरों में यह अधिनियम लागू कर दिया गया था।[1]

नगर	लागू करने का दिनाक	श्रमिकों की संख्या जो इस योजना के अन्तर्गत आते हैं।
कानपुर	२४ फरवरी १९५२	८००००
दिल्ली	,, ,, ,,	४००००
पंजाब (७ नगरों में)	१७ मई १९५३	३५०००
नागपुर	११ जौलाई १९५४	२००००
बम्बई	२ अक्टूबर १९५४	४,२५,०००
मध्यभारत (४ नगरों में)	२३ जनवरी १९५५	५२०००
कोयम्बटूर	,, ,, ,,	३६०००
हैदराबाद (सिकन्दराबाद)	१ मई १९५५	१८०००
कलकत्ता व हावड़ा जिला	१४ अगस्त १९५५	२,३६०००
आन्ध्र (७ नगरों में)	९ अक्तूबर १९५५	१७०००
मद्रास	२० नवम्बर १९५५	५२०००

तत्पश्चात् १४ जनवरी, १९५६ को यह अधिनियम लखनऊ, आगरा और सहारनपुर के १५० कारखानों पर जिनमे लगभग २०००० श्रमिक कार्य करते हैं लागू कर दिया गया है।

यह अधिनियम शक्ति प्रयोग करने वाले सभी कारखानों में जिनमे कम-से कम २० श्रमिक हैं, लागू होता है और इसके अन्तर्गत वे सभी श्रमिक आ जाते हैं जिनकी आय ४०० रु० माहवार से कम है। अधिनियम का संचालन एक निगम द्वारा होता है। योजना का व्यय केन्द्रीय राज सरकार व स्वय श्रमिकों और मिल मालिकों द्वारा

1. Annual Review of Activities 1955

किया जाता है। श्रमिक अपने वेतन के अनुसार चन्दा देते हैं परन्तु वे श्रमिक जिनका वेतन १) प्रतिदिन से कम होता है, कुछ चन्दा नहीं देते। लेकिन मिल मालिकों को कुल श्रमिकों के वेतन बिल (Wages Bill) का ७५% भाग चन्दे के रूप में देना होता है। अभी तक लगभग २ करोड़ १३ लाख रु० चन्दे के रूप में प्राप्त हुआ है, जिसमें से १७४ लाख रु० मिल मालिकों ने और ३९ लाख रु० श्रमिकों ने दिया है।

राजकीय बीमा योचना से लाभ

इस अधिनियम के लागू होने से श्रमिक वर्ग की आर्थिक व सामाजिक दशा में बहुत सुधार हुआ है। इनको उक्त योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते है परन्तु यह ६ माह तक चन्दा देने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकते है।

१—बीमारी के लिये नकद लाभ (Sickness and Cash Benefit) यदि श्रमिक ६ माह तक चन्दा देने के पश्चात् बीमार पड़ जाता है तो उसका इलाज मुफ्त किया जाता है और बीमारी के काल में उसके वेतन का $\frac{५}{६}$ भाग दिया जाता है। बीमारी के लिये नकद सहायता १ वर्ष में अधिक से अधिक ५६ दिन के लिये दी जा सकती है अर्थात ८ सप्ताह तक वेतन सहित छुट्टी मिल सकती है।

२—प्रसूति लाभ (Maternity Benefit) अधिनियम के अनुसार स्त्री कर्मचारियोंको प्रसूति लाभ दिया जाता है। शिशु जन्म के ६ सप्ताह पूर्व और ६ सप्ताह पश्चात् तक १२ आना प्रतिदिन के हिसाब से अथवा उनके प्रतिदिन वेतन के ५० प्रतिशत भाग, जो भी अधिक हो, दिया जाता है।

३—अंगभंग होने के लाभ (Disablement Benefit) मिल में कार्य करने के समय में अक्सर दुर्घटनायें होती रहती है जिनसे श्रमिक घायल हो जाते है। ऐसी घटनाओं में योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को नकद सहायता दी जाती है जो दो प्रकार की होती है। अस्थाई (Temporary Benefit) व स्थाई (Permanent Benefit)। यदि श्रमिक चोट लगने से अथवा अग भंग होने से कुछ ही दिनों के लिये बेकार होता है तो अच्छे होने तक उसको प्रतिदिन के वेतन का ५०% भाग दिया जाता है। यदि दुर्घटना से श्रमिक का सदैव के लिये कोई अंग बेकार हो जाता है तो उसको विभिन्न अंगों के महत्व के अनुसार जीवन भर के लिये पर्याप्त रुपया मिल जाता है।

आश्रितों की सहायता (Dependents Benefit)

योजना के अन्तरगत कार्य करते समय किसी श्रमिक की दुर्घटना से मृत्यु होने पर उसके आश्रितों को नकद सहायता देने की भी व्यवस्था की है। अधिनियम के अनुसार श्रमिक की मृत्यु के पश्चात उसकी स्त्री को, यदि वह पुनर्विवाह नहीं करती तो जीवन भर मृतक के वेतन का $\frac{३}{५}$ भाग मिलता रहेगा व पुत्र को १५ वर्ष की आयु तक उसके वेतन का $\frac{२}{५}$ भाग मिलेगा और $\frac{२}{५}$ भाग प्रत्येक अविवाहित पुत्री के विवाह तक मिलता रहेगा।

योजना की समीक्षा—

यद्यपि श्रमिक राजकीय बीमा योजना गत वर्षों से अच्छा कार्य कर रही है

और दिन प्रति दिन इसका विस्तार बढ़ता ही जा रहा है और श्रमिकों की भी अनेक समस्यायें हल हो रही हैं, परन्तु फिर भी यह योजना दोष रहित नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें कई कमियां रह गई हैं, जिनके कारण योजना की प्रगति में बाधायें पड़ती है। प्रथम तो यह कि योजना के अन्तर्गत केवल श्रमिक को ही बीमारी इत्यादि के लाभ मिल सकते हैं और उसके परिवार के अन्य लोगों के बीमार होने पर तो उस बेचारे को बाजारू वैद्य और डाक्टरों के पास दौड़ना पड़ता है। इस प्रकार इस दिशा में उसकी कोई वास्तविक लाभ इस योजना से नहीं होता। इसके अतिरिक्त दवा आदि की भी व्यवस्था अच्छी नहीं कही जाती और कहीं-कहीं तो श्रमिकों द्वारा लाभ की खातिर घूसखोरी आदि घटनायें हुईं कही जाती है। श्रमिकों को वर्ष में केवल ८ सप्ताह की ही सवैतनिक छुट्टी मिल सकती है जो भारत की दशा देखते हुये पर्याप्त नहीं कही जा सकती। इस योजना में श्री अदारकर द्वारा सुझाये गये सभी लोगों को सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः इसके अन्तर्गत बेकारी के लिये सहायता की भी व्यवस्था होनी चाहिये, अर्थात श्रमिकों की नौकरी छूटने पर उनको कुछ आर्थिक सहायता देनी चाहिये।

श्रमिकों के घरों की दशा (Industrial Housing)

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का एक प्रमुख कारण उनके घरों की अत्यन्त शोचनीय दशा का होना है लगभग सभी औद्योगिक नगरो में मजदूरों को बहुत ही गन्दे व घनी आबादी वाले क्षेत्रों में रहना पड़ता है। बम्बई की चाल (Chawls) कलकत्ते की 'बस्तियाँ' और कानपुर के अहाते जहाँ पर अधिकांश श्रमिक रहते हैं, गन्दगी और दुर्व्यवस्था के लिये बहुत प्रसिद्ध है। ऐसे घरों में हमारे श्रमिकों को नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। बम्बई में लगभग ७०% मजदूर परिवार एक कमरे में रहते है। बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त औद्योगिक परिषद ने मजदूरों के घरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "इनके घरों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। अधिकांश घर बहुत छोटे और प्रकाश रहित हैं और एक कमरे में औसतन ८-१० व्यक्ति रहते हैं। मूत्रालय व शौचालय का प्रबन्ध भी बहुत खराब है और बहुत से मकान के बीच एक ही शौचालय है जिससे बहुत गन्दगी रहती है।" यही दशा कानपुर के अहातों की है। इनमें भी श्रमिकों को जीते-जागते नर्क भोगना पड़ता है। एक-एक कमरे में १० व्यक्ति रहते हैं—कमरों की छतें इतनी नीची हैं कि ठीक से खड़ा भी नहीं हुआ जा सकता। धूप और प्रकाश तो शायद कभी भी नही पहुंचते। घनी दोपहरी में भी बत्ती जलानी पड़ती है। पूरे अहाते में सभी श्रमिकों के प्रयोग के लिये एक ही शौचालय होता है। घरों के चारों ओर गन्दे पानी की नालियाँ भरी रहती हैं। पीने के पानी का एक ही पम्प लगा होता है। इसी तरह अहमदाबाद में श्रमिकों के घरों की और भी बुरी दशा है। रायल कमीशन (Royal Commission on Lābour) ने सन १६३१ में ही सुझाव दिया था कि बम्बई की चालों की मरम्मत होना असम्भव है इसीलिये इनको नष्ट कर देना चाहिये।" इसी प्रकार कानपुर में कुछ वर्ष पूर्व जब प्रधानमन्त्री श्री नेहरू श्रमिक अहातों को देखने पधारे तो वह गन्दगी के कारण अहाते के अन्दर जा

भी न सके और रोष में आकर कहा कि, "ऐसे नारकीय और गन्दे घर स्वतन्त्र भारत के माथे पर कलंक का टीका लगाते हैं। इन अहातों को तुरन्त ही जला देना चाहिये।"

घरों की कमी व गन्दगी के दुष्परिणाम—ऐसी गन्दी परिस्थितियों में रहने से न केवल श्रमिकों का स्वास्थ्य खराब होता है, बल्कि उनमें अनेकों बुरी लतें जैसे वेश्या-वृत्ति, शराबखोरी, जुआ खेलना आदि पड़ जाती हैं जिससे बीमारी, आचारहीनता, व्यभिचार और अपराध में वृद्धि हो जाती है। अधिकांश श्रमिक ऋण-ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी गन्दी बस्तियों में शिशु-मृत्यु बहुत होती है तथा मृत्यु दर भी अधिक होती है। अपूर्ण और गन्दे घर औद्योगिक अशान्ति का भी एक कारण होते हैं। इन सब चीजों का श्रमिकों की कार्यकुशलता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इन्हीं सब दुष्परिणामों के कारण श्रम जाँच समिति (Labour Investigation Committee) ने यह सुझाव दिया था कि श्रमिकों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता की भाँति सरकार को श्रमिकों के घरों का भी प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेना चाहिये।

अच्छे श्रमिक-घर बनाने के प्रयास—श्रमिकों के आवास का सर्वप्रथम प्रबन्ध बम्बई में किया गया था। सन् १८९६ की भारी प्लेग के कारण अनेकों समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। अतः सन् १८९८ में बम्बई में Improvement Trust की स्थापना हुई जिसका मुख्य कार्य गरीब श्रमिकों के लिये अच्छे और स्वच्छ घरों का निर्माण व घनी आबादी के स्थानों में सफाई कराना था। परन्तु एक तो धन की कमी के कारण और दूसरे आपसी मतभेद और असहयोग के कारण इस दिशा में अधिक कार्य न हो सका। तत्पश्चात सन् १९२० तक नगरपालिका (Municipality) ने भी अपने कर्मचारियों के लिये २९०० घर बनाये और २२०० घरों के बनाने की स्वीकृति दी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बम्बई सरकार ने घरों की समस्या हल करने के लिये एक योजना बनाई जिसके लिये ९ करोड़ रुपये के विकास ऋण और बम्बई आने वाली रुई पर १ रुपया प्रति गाँठ नगर कर (Town duty) लगाकर आवश्यक धन एकत्र किया और अनेक 'चालें' (Chawls) बनाई। परन्तु बहुत दिनों तक वोर्ली की चालें व अन्य चालें, यातायात के साधनों के अभाव, बाजार की सुविधा का अभाव, अधिक किराया, सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध न होना आदि कारणों से खाली पड़ी रहीं। मई, १९४७ में सरकार ने वोर्ली में एक नई भवन निर्माण योजना शुरू की, जिसके अन्तर्गत काम करने वाले १ व्यक्ति व परिवार सहित रहने वाले श्रमिकों के लिये घर बनाये गये हैं। भविष्य में बम्बई में एक कमरे वाले मकान नहीं रहने देने की योजना है। स्वतन्त्रता के पूर्व तक बम्बई सरकार के अलावा अन्य किसी प्रान्तीय सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था।

कुछ चतुर और दूरदर्शी मिल मालिकों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद, मद्रास, जमशेदपुर आदि स्थानों में पूँजी-पतियों ने अपने कर्मचारियों के लिये मिलों के पास ही घरों का निर्माण किया है। इससे पूँजीपतियों व श्रमिकों, दोनों ही को लाभ हुआ है। परन्तु इस कार्य में भी अनेक कठिनाइयों के कारण अधिक प्रगति नहीं हो सकी है और इधर कुछ शिथिलता

भी आ गई है। यह कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) उचित दर पर मिल के समीप स्थान का अभाव।

(२) भवन निर्माण सामिग्री के ऊंचे मूल्य व अभाव।

(३) श्रम की ऊँची दर व अभाव।

(४) मकान मिलने पर श्रमिकों द्वारा उसी मिल में कार्य करने की गारंटी का अभाव।

(५) श्रमिकों की इन मकानों में रहने की अनिच्छा।

(६) श्रमिकों की स्वतन्त्रता की समाप्ति और हड़ताल के समय उनके निकाले जाने का भय।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में श्रमिकों के घरों के संबंध में सरकार द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। सन् १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने दस वर्ष के अन्दर १० लाख घर निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु धन की कमी के कारण इस निश्चय के स्थान पर अप्रैल, १९५० में एक औद्योगिक घर योजना (Industrial Housing Scheme) बनाई गई, जिसके अन्तर्गत राज्य सरकारों को गृह निर्माण के लिये ऋण देना घोषित किया गया। इस योजना के अनुसार सन् १९५१-५२ में बम्बई को ४४ लाख रुपया, हैदरावाद को २० लाख, मैसूर को २० लाख, बिहार को ३० लाख, आसाम, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, त्रिवाकुर, कोचीन प्रत्येक को १० लाख रुपया, मद्रास को ९ लाख और पंजाब को ५ लाख रुपये का ऋण दिया गया था। इसके पश्चात राज्य सरकारों, मिल-मालिकों तथा श्रमिकों से सलाह लेने के बाद, भारत सरकार ने सितम्बर १९५२ में एक नई "आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह योजना" (Subsidised Industrial Housing Scheme) को घोषित किया। इसके अन्तर्गत प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को गृह-निर्माण की कुल लागत का ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में तथा शेष ५० प्रतिशत ऋण के रूप में देगी जो २५ वर्ष में लौटाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त गृह-निर्माण की स्वीकृत योजनाओं के लिये मिल-मालिकों को लागत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता और ३७½ प्रतिशत ऋण के रूप में देना होगा। इसी प्रकार श्रमिकों को रजिस्टर्ड संघों को कुल लागत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता तथा ५० प्रतिशत ऋण के रूप में देने की व्यवस्था है।

इस योजना के अन्तर्गत जनवरी सन् १९५६ तक उत्तरप्रदेश में ९००० के ऊपर, बंबई में ७,००० से ऊपर, हैदराबाद में ३८०४, मध्यभारत में २८१८, मैसूर में २८३८, बिहार में १६१३, पंजाब में ९३४, सौराष्ट्र में ८४२, पश्चिमी बंगाल में ८०७, मध्यप्रदेश में ८६४, उड़ीसा में ६२४, मद्रास में ५४७, राजस्थान में ३८८, भूपाल में २६८, आन्ध्र में २०४, दिल्ली में १००, और त्रिवांकुर कोचीन में ५० घरों का निर्माण हो चुका है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में श्रमिकों के गृह-निर्माण कार्य के लिये ४८·६९ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया था, जिसमें से ३८·५ रुपया केन्द्रिय सरकार, व १०·१९ करोड़ रुपया राज्य सरकारों को व्यय करना था। इस कार्य-क्रम को सफल बनाने के

लिये केन्द्रिय व प्रादेशिक गृह-निर्माण बोर्डों की नियुक्ति की गई है। लगभग सभी राज्यों में गृह-निर्माण कार्य आगे बढ़ रहा है और कई राज्यों में इससे सम्बंधित आवश्यक विधान पास हो चुके हैं। छोटे औद्योगिक नगरों में श्रमिकों के लिये २०० वर्ग-फ़ीट भूमि में २२०० रुपये की लागत के एक मंजिले घरों का निर्माण किया जा रहा है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में गृह-निर्माण कार्य के लिये १२० करोड़ रुपये का व्यय निर्धारित किया गया है, जिसमें ४५ करोड़ रुपया आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह-योजना के लिये, ४० करोड़ रुपया कम आय वाले व्यक्तियों के लिये, २० करोड़ रुपया अहातों को नष्ट करने के लिये और मेहतरों के घर बनाने के लिये, ३ करोड़ रुपया मध्यमश्रेणी के लोगों के लिये, २ करोड़ रुपया बाग़ान कर्मचारियों के लिये तथा १० करोड़ रुपया ग्रामीण क्षेत्रों के लिये निर्धारित किया गया है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत उत्तरप्रदेश सरकार गृह-निर्माण योजना में लगभग ४८३·५५ लाख रुपया व्यय करेगी। यह पूंजी भूमि प्राप्त, व इसके विकास कार्यों पर व्यय के अतिरिक्त ५६७५ घरों के बनाने के लिये पर्याप्त होगी। उत्तरप्रदेश की सरकार ने औद्योगिक गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत उत्तरप्रदेश के १५ औद्योगिक नगरों में ५६१ ४५ लाख रुपये की लागत के १७५५० घर जिनमें कि १५०० घर सरकारी प्रिंटिङ्ग प्रेस के इलाहाबाद और लखनऊ के कर्मचारियों के घर भी सम्मलित हैं, बनाने का प्रस्ताव किया है। इस प्रकार यह अनुमान है कि उत्तरप्रदेश में १९६०-६१ के अंत तक वर्तमान श्रमिक संख्या के लगभग २० प्रतिशत श्रमिकों को रहने के लिये घरों की व्यवस्था हो जायगी।

श्रमिक-संघ आन्दोलन (Trade-Union Movement)—

औद्योगिक विकास के कारण पूंजीपति और श्रमिक वर्गों में मन मोटाव हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि पूंजीपति निजी स्वार्थ के लिये अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहता है और श्रमिकों को कम-से-कम देकर उनका शोषण करने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर मज़दूर अपनी आर्थिक, सामाजिक व औद्योगिक परिस्थितियों के कारण शोषित होने को वाध्य हो जाता है। मज़दूरों की इसी विवशता और पंगुता के कारण उनमें विरोधी भावना उत्पन्न होती है और फलतः श्रमिक संघों का निर्माण होता है। भारत का श्रमिक संघ आन्दोलन भी ऐसी ही परिस्थितियों की देन हैं। इस प्रकार साधारणतया श्रमिक संघ, श्रमिकों का वह एच्छिक संगठन है जो श्रमिकों के वेतन में वृद्धि कराने व उनकी अन्य दशाओं को सुधारने के लिये प्रयत्न करता है।

श्रमिक संघों के मुख्य कार्य (Functions of Trade unions)—

श्रमिक संघ श्रमिकों की विभिन्न समस्याओं का हल करने का प्रयत्न करते हैं। मिल मालिकों के श्रमिकों के प्रति कर्तव्यों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। श्रमिकों के वेतन की देख-रेख करना, वेतन की कटौती को रोकना, श्रमिकों के वेतन में वृद्धि कराना, काम के घंटों में कमी कराना तथा लाभ में श्रमिकों का हिस्सा दिलाना और मिलों के अन्दर श्रमिकों के हितों की रक्षा करना आदि संघों के मुख्य कार्य हैं। इसके अतिरिक्त

मिलों के बाहर के श्रम हितकार, कार्यों की व्यवस्था कराने की ओर भी संघ ध्यान देते हैं। प्रायः बहुत से संघ श्रमिकों की बीमारी में, वे रोज़गारी में और हड़ताल के दिनों में आर्थिक सहायता करते हैं। श्रमिकों के बालकों के लिये पाठशाला, पुस्तकालय, खेल-कूद आदि का प्रबंध भी करते हैं। कुछ संघों ने इधर हाल ही में श्रमिकों के लिये गृह-निर्माण की व्यवस्था की है।

भारतीय श्रमिक संघों का इतिहास—

यद्यपि श्रम संगठनों का विकास १९वीं शताब्दी के अंत से ही प्रारम्भ हो गया था। परंतु प्रथम महायुद्ध के अंत तक भारत का श्रमिक वर्ग लगभग असंगठित अवस्था ही में रहा। फिर भी सन् १८७५ ई० में श्री सोराब जी शापुर जी बंगाली ने श्रमिकों की दुर्दशाओं की ओर भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया। तत्पश्चात भारत के प्रथम मज़दूर नेता श्री नारायण मेघा जी लोखंडे ने श्रमिक वर्ग को संगठित करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। फलतः सन् १८९० में श्री लोखंडे के नेतृत्व में बम्बई मिल मज़दूर संघ (Bombay Mill Hand Association) की स्थापना हुई और प्रथम मज़दूर समाचार-पत्र 'दीन-बंधु' का प्रकाशन शुरू हुआ। परंतु श्री बंगाली और लोखंडे का उद्देश्य श्रमिकों को संघर्षात्मक कार्यों के लिये संगठित करना नहीं था। सन् १८९१ के फैक्टरी अधिनियम के साथ भारतीय श्रम संघ आन्दोलन के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त हो गया और आगामी पन्द्रह वर्ष तक श्रमिक संघों को शक्तिशाली बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसी बीच दोनों मज़दूर नेताओं श्री बंगाली और लोखंडे की मृत्यु से श्रमिक वर्ग में बड़ी शिथिलता आगई तथा देश में विभिन्न बीमारियों, अकाल तथा आर्थिक मन्दी के कारण श्रमिक वर्ग निरुत्साह हो गया। सन् १८९७ में रेलवे कर्मचारी संघ का स्थपना हुई। परन्तु इसमें सभी विदेशी सदस्यों के होने के कारण इस संघ का भारतीय श्रमिक संघ के इतिहास में कोई स्थान नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, सन् १९०५ में भारतीय श्रमिक वर्ग में फिर जागृति हुई और विभिन्न आर्थिक कारणों के फल स्वरूप १९०७–१९०९ में प्रथम बार खूब हड़तालें हुई। कलकत्ते में प्रेस कर्मचारियों ने प्रिन्टरस यूनियन और बम्बई में डाक विभाग के कर्मचारियों ने पोस्टल यूनियन की स्थापना की। तत्पश्चात १९१० में बंम्बई में "कामगर हितवर्धक सभा" की स्थापना हुई, जिसने श्रमिकों की अनेक समस्यायें हल करने की कोशिश की। इसी समय बंगाल में 'मोहम्मडन एसोशिएसन" और "इण्डियन लेवर यूनियन" नामक संघों की स्थापना की। सन् १९११ के फैक्टरी अधिनियम के पास होने के पश्चात् प्रथम महायुद्ध के अंत में ही श्रमिक संघ आदोलन ने ज़ोर पकड़ा क्योंकि युद्ध-काल में उन्हें अपनी शक्ति और सामर्थ्य का आभास मिल चुका था।

सन्१९१८ में श्री बी. पी. वाडिया के नेतृत्व में मद्रास में श्रम संघों का संगठन किया गया, जिन्हें शुरू में तो कुछ सफ़लता मिली, परन्तु १९२१ की हड़ताल के विषय में मद्रास हाईकोर्ट के द्वारा हड़ताल को अवैध और ग़ैर कानूनी घोषित किये जाने से संघ आन्दोलन को गहरी ठेस लगी। लेकिन राज्य की इस दमन नीति से श्रम संघ आन्दोलन का अंत न हो सका और यह बम्बई में भी प्रारम्भ हुआ। सन् १९२० में

स्वर्गीय बापू के नेतृत्व में अहमदाबाद सूती मिल मज़दूर की स्थापना हुई जो अब तक बड़ी सफ़लता से कार्य कर रही है। परंतु अब तक के सभी संघ अस्थायी थे और उद्देश्य पूरा होते ही समाप्त होते जाते थे और देश में कोई भी एसी संस्था नहीं थी जो अपने को पूरे भारतीय श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधि कह सकतीं। फलतः १९२० में अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी के नेताओं के प्रयत्नों से 'अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस (All India Trade Union Congress) की स्थापना हुई जिसने भारत के श्रमिक वर्ग को सर्व प्रथम संगठित रूप प्रदान किया। सन् १९२५ में रेलवे कर्मचारियों के सभी संघों ने मिलकर एक (Railway Men Federation) स्थापित किया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद भारत के श्रमिक संघ आन्दोलन की नींव मज़बूत होती गई। सन् १९२६ के श्रम संघ अधिनियम के बनने से इसको और भी बल मिला। भारत में यह अधिनियम पहला श्रम संघ अधिनियम था जो १५ जून, १९२७ को लागू किया गया। इसके अन्तर्गत भारतीय श्रम संघों की कानूनी स्थिति की स्पष्ट व्याख्या की गई। श्रम संघ को रजिस्ट्रार के द्वारा अपना रजिस्ट्रेशन कराने का हक मिल गया। रजिस्टर्ड सँघों को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित करना होता है। इनको सदस्यों की सूची रखनी पड़ती हैं और अपने धन कोष की जाँच करनी पड़ती है। यह धन सदस्यों के हित ही में कुछ निश्चित मदों पर व्यय किया जा सकता है। इन संघों में पदाधिकारियों की संख्या कम-से-कम आधी उसी उद्योग के मज़दूरों की होनी चाहिये। किसी भी मज़दूर संघ को अपने उद्देशों की पूर्ति के लिये किये गये किसी भी काम के लिये कानूनन अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। श्रमिकों के राजनीतिक व सामाजिक हितों की पूर्ति के लिये एक अलग कोष खोला जा सकता है, किन्तु इसमें चन्दा देना या न देना सदस्यों की इच्छा पर है। यद्यपि इस अधिनियम से श्रम संघ आन्दोलन को काफ़ी बल मिला। परन्तु इसके अन्तर्गत मिल मालिकों और पूंजीपतियों की दमन नीति रोकने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। प्रायः संघ के सदस्यों को नौकरी नहीं मिलती अथवा नौकरी मिलने के पूर्व उनको संघ से स्तीफ़ा देने के लिये मजबूर होना पड़ता है। हड़ताल में भाग लेने पर मज़दूरों को नौकरी से अलग कर देना अथवा उनके वेतन को रोक लेना मालिकों के लिये एक मामूली सी बात थी। लेकिन विदेशी सरकार ने इस अधिनियम की इन बुराइयों को दूर करने के लिये कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने श्रमिक संघ आन्दोलन को अधिक शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से सन् १९४७ में उक्त अधिनियम में अनेक संशोधन करके बड़ी भारी कमी को दूर कर दिया।

१९४७ का श्रम संघ (संशोधित) अधिनियम—इस अधिनियम के अनुसार मिल मालिकों और उद्योग पतियों की श्रमिकों के प्रतिनिधि संघों को मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया है। अब वेतन सम्बन्धी या अन्य झगड़ों में उनको संघों के प्रतिनिधियों से बातचीत करना आवश्यक हो गया है और मिल मालिक संघों के सदस्यों के विरुद्ध किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त संघों को मान्यता न देने के कारण पैदा होने वाले झगड़ों को तय करने के लिये श्रम अदालतों (Labour Court) की व्यवस्था कर दी गई है। इस प्रकार स्वतन्त्रता के

पश्चात् भारतीय संघ आन्दोलन को बहुत अधिक बल मिला है और यह आशा की जाती है कि भविष्य में श्रमिक संघ अपने को अधिक शक्तिशाली बनाकर भारतीय श्रमिकों की समस्याओं को हल करने में सफल हो सकेंगे।

१९२६ के अधिनियम के बाद भारतीय श्रम संघ आन्दोलन में कम्युनिस्टों का प्रवेश होने लगा और उन्होंने ट्रेड युनियन कांग्रेस पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया। १९२७ में कम्युनिस्टों ने बम्बई में ५४ हजार सदस्यों की एक 'गिरनी कामगर यूनियन' बनाई इसी बीच 'मेरठ षडयंत्र' के मुकदमे से कम्युनिस्टों को और भी बल मिला और आखिर में सन् १९२९ के नागपुर अधिवेशन में जो पंडित जवाहरलाल की अध्यक्षता में हुआ था, कम्यूनिस्टों का जोर स्पष्ट हो गया और इसी वर्ष 'श्रम संघ कांग्रेस' के कार्य कर्ताओं में भयंकर फूट पड़ गई और श्रमिक संघ आन्दोलन ३ दलों में—साम्यवादी दल, उदार दल तथा अन्य दल—विभक्त हो गया। नरम दल ने श्री एन० एम० जोशी की अध्यक्षता में एक 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की और सन् १९३१ में गरम दल के साम्यवादियों ने रानाडे और देश पांडे के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की। इस फूट ने भारतीय श्रम संघ आन्दोलन को बहुत हानि की और फलतः कुछ दिनों के बाद समझौते की बातचीत होने लगी। सन् १९३४ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और लाल ट्रेड युनियन कांग्रेस में समझौता हो गया और इसके बाद श्री एन० एम० जोशी से समझौते की बातचीत शुरू हुई और अंत में सन् १९३८ में नागपुर में होने वाले संयुक्त अधिवेशन में भारतीय श्रम संघ आन्दोलन का एकीकरण हुआ।

परन्तु सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ने से सन् १९४० के बम्बई अधिवेशन में ट्रेड युनियन कांग्रेस में फिर फूट पड़ने लगी। श्री एम० एन० राय और जमुनादास मेहता के नेतृत्व में एक 'इण्डियन फेडरेशन आफ लेबर' की स्थापना हुई। इधर १९४२ में कांग्रेसी नेताओं के गिरफ्तार होने के बाद ट्रेड युनियन कांग्रेस पर साम्यवादियों का आधिपत्य हो गया। यद्यपि सन् १९४८-४९ में बहुत से संघ साम्यवादी ट्रेड युनियन कांग्रेस से अलग हो गये फिर भी इस संस्था पर आज तक साम्यवादियों का अधिकार है।

इधर स्वतन्त्रता के पश्चात् स्वर्गीय सरदार बल्लभभाई पटेल तथा अन्य नेताओं के प्रयत्नों से कांग्रेस के सिद्धान्तों पर अहमदाबाद में भारतीय, अखिल राष्ट्रीय, श्रम संघ कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) की स्थापना हुई जो आज भारतीय श्रमिकों की सबसे बड़ी संस्था कही जा सकती है। समाजवादियों ने सन् १९४९ में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में 'हिन्द मजदूर पंचायत' नाम का एक शक्तिशाली संगठन स्थापित किया।

सन् १९२६ के श्रम संघ अधिनियम के पास होने के बाद श्रम संघों ने काफी प्रगति की। सन् १९२७-२८ में २९ रजिस्टर्ड संघ थे जिनकी सदस्यता १ लाख से अधिक थी। १९३९-४० में संघों की संख्या ६६७ और सदस्यता ५·१ लाख हो गई थी। स्वतन्त्रता के पश्चात इनमें और भी अधिक वृद्धि हुई और सन् १९४८-४९ में

३१५० संघ हो गये जिनकी सदस्यता १९०६ लाख थी। सन् १९५०-५१ में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I. N. T. U. C.) में १०४३ संघ, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A. I. T. U. C.) में ७२२, हिन्द मजदूर सभा (H. M. S.) और युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U. T. U. C.) में ३०६ संघ सम्मिलित थे। इन समस्त संघों की सदस्य संख्या लगभग ३३ करोड़ थी। गत ५ वर्षों में भी भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन ने उल्लेखनीय प्रगति की है और संघ तथा उनके सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई है। मार्च १९५४ के आंकड़ों के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों ने श्रमिक संघों की संख्या का विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया गया है।[1]

राज्य का नाम Name of State	संघ Unions	फैडरेशन Federations	योग Total
बम्बई	८०७	५	८१२
मद्रास	५६६	३	५६९
उत्तर प्रदेश	६३५	२	६३७
त्रिवांकुर-कोचिन	६४३	२	६४५
बिहार	४३५	६	४४१
हैदराबाद	३११	२	३१३
मध्यप्रदेश	१४३	२	१४५
आसाम	११७	१	११८
मध्यभारत	६२	२	६४
भोपाल	२१	×	२१
पेपसू	१०	—	१०
विन्ध्य प्रदेश	१६	—	१६
कुर्ग	४	—	४

(उक्त तालिका में पं० बंगाल, पूर्वी पंजाब, दिल्ली, सौराष्ट्र और राजस्थान राज्यों के आंकड़े नही दिये गये क्योंकि ये प्राप्त न हो सके थे।)

भारतीय श्रम संघ आन्दोलन की कठिनाइयाँ :—

(१) प्रत्येक श्रम संघ की सफलता के लिये श्रमिकों को स्थायी और संगठित होना अति आवश्यक है क्योंकि स्थायी श्रमिक ही इन संगठनों को अधिक समय और शक्ति दे सकते है। परन्तु भारतीय श्रमिकों की मुख्य विशेषता प्रवासी होना है। अधिकांश श्रमिक इधर-उधर बिखरे हुए है और बार-बार गांव से शहर और शहर से गांव आने-जानेवाले हैं, अतः वे संघ-आन्दोलन में अधिक कार्य नहीं कर पाते।

(२) बम्बई, कलकत्ता और कानपुर जैसे औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों में बहुत विभिन्नता पाई जाती है क्योंकि वे दूर-दूर से आकर औद्योगिक केन्द्रों में एकत्रित होते हैं। वे भिन्न-भिन्न भाषायें बोलते हैं, उनके भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज होते हैं और भिन्न-

1. Annual Review of Activities 1955 Part. 1 and 11 P. 66.

भिन्न रहने-सहने का ढंग होता है। इसलिए वे एक-दूसरे के प्रति आकर्षित नहीं होते और उनमें आपस में भेद-भाव, संदेह और ईर्ष्या को प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में श्रम संघों का सुचारु रूप से कार्य करना असम्भव हो जाता है।

(३) शिक्षित और विचारवान सदस्य ही श्रमिक संघों को शक्ति और स्थायित्व प्रदान करते हैं क्योंकि ऐसे ही लोग संगठित शक्ति के महत्व और लाभ को समझ सकते हैं। परंतु अभाग्यवश भारतीय श्रमिकों की अधिकांश संख्या घोर निरक्षर, अज्ञानी और अंधविश्वासी है, जिससे वे संगटनों के महत्व को नहीं समझते और मिल-मालिकों द्वारा सरलता से बहका लिये जाते हैं।

(४) प्रत्येक संगठन के लिये उचित और ईमानदार नेतृत्व की आवश्यकता होती है, परन्तु भारतीय श्रमिकों के निरक्षर और अन्धविश्वासी होने के कारण आन्दोलन को सही नेतृत्व नहीं प्राप्त हो सका है और इसीलिये प्रारम्भ से ही राजनैतिक नेताओं और पार्टियों अथवा बाहरी व्यक्तियों के हाथ में रहा है। इन लोगों को श्रमिक समस्याओ का तनिक भी ज्ञान नही होता और इसीलिये ये उनके प्रति सदा उदासीन रहते हैं। ऐसा नेता बजाय श्रमिकों के हितों का ध्यान रखने के अपने दलविशेष के स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं और राजनैतिक दलों के आधार पर निजी स्वार्थ के लिये इन निरक्षर और अज्ञानी श्रमिकों का दुरुपयोग करते हैं। चुनाव में इनकी ओट लेना ही इनका मुख्य उद्देश्य रहा है। इस प्रकार इन बाहरी लोगों के कारण श्रमिक संघों मे निरन्तर फूट ईर्ष्या और प्रतिद्वन्दिता की भावना ही बनी रहती है और इस प्रकार श्रमिक संघ को बहुत हानि पहुंचती है।

(५) बहुत से श्रमिक, संघों का नियमित चन्दा देने में असमर्थ हैं क्योंकि उनके वेतन इतने कम होते हैं कि वे अपना व अपने परिवार का गुज़ारा भी मुश्किल से कर पाते हैं। फिर संघों के चन्दे देने के लिये पैसा कहां से लायें, इसके अतिरिक्त संघों में आन्तरिक दलबन्दी नेताओं की स्वार्थवृत्ति आदि के कारण प्रबंध और अपव्यय दोनों ही बातें पैदा हो जाती है विशेषकर छोटे-छोटे और अन्य रजिस्टर्ड संघों में आय-व्यय का कोई हिसाब नहीं रखा जाता और जहां रखा भी जाता है वहां उसकी जांच-पडताल का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता। इसका फल यह होता है कि कुप्रबन्ध और गमन आदि खूब होती है। हाल ही में की गई जाँच के द्वारा ज्ञात हुआ है कि अधिकांश संघ सदस्यों की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, मनोरंजन आदि कार्यों पर अपनी आय का ३% से अधिक व्यय नहीं करते तथा ३३% से अधिक संघों के दफ्तर और मुकदमेबाजी ही में व्यय कर देते हैं। ऐसी परिस्थितियों में श्रमिकों में संघों के प्रति रुचि नहीं रहती।

(६) स्वतन्त्रता के पूर्व तक मिल मालिकों की दमन नीति के कारण भी श्रमिक संघ आन्दोलन अधिक प्रगति नहीं कर पाया था। मालिक मिल मालिक सदस्यों के प्रति बहुत अन्यायपूर्ण व्यवहार करते थे और तरह तरह-तरह की धमकियों और अत्याचारों द्वारा ऐसा आतंकपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर देते थे जिससे श्रमिक इन संघों के सदस्य बनने से डरते रहते थे इसीलिये आजतक श्रमिकों की बहुत बड़ी संख्या श्रमिक

आन्दोलन से अलग रही है।

(७) भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन की असफलता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि इनमें जनतंत्रीय आदर्श का पूर्णतया अभाव रहा है।

श्रम संघ आन्दोलन का भविष्य (Future of the Labour Union Movement)

स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्रीय सरकार ने भारतीय श्रम संघ आन्दोलन को अधिक शक्तिशाली बनाने में और इसकी अनेक बुराइयों को दूर करने में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। सन् १९४७ के संशोधित श्रम संघ अधिनियम के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्थायें कर दी गई हैं जिससे आन्दोलन को काफी बल मिला है। परन्तु आन्दोलन की सफलता आज भी मजदूर नेताओं के हाथ में है। जब तक ये नेता और श्रमिक संघ मिल मालिकों और पूजीपतियों के विरुद्ध नारे न लगाकर श्रमिकों की समस्याओं के प्रति अधिक रुचि और सहानुभूति नहीं दिखाते तब तक संघों की सफलता असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही। परन्तु आज युग बदल रहा है और श्रमिक वर्ग के अन्दर अपना उत्थान करने के लिये आन्तरिक जागृति पैदा हो रही है और राष्ट्रीय सरकार भी श्रमिक संघों को अधिक शक्तिशाली बनाने में और उनको सुचारु रूप से संचालित करने में पर्याप्त सहायता दे रही है। इसलिये श्रमिक संघ आन्दोलन का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होता है और ऐसी आशा होती है कि ये संघ शीघ्र ही भारतीय श्रमिक वर्ग का राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक उत्थान करने में अवश्य सफल होंगे।

खेतिहर श्रमिक

भारत की जनसंख्या का एक वर्ग ऐसा है जो सबसे अधिक उपेक्षित, पीड़ित और शोषित है और जिसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दीन हीन तथा जीवन निर्वाह के लिये दयनीय है। यह वर्ग है खेतिहर मजदूरों का। इस वर्ग के लोगों के पास सिवाय अपने शारीरिक श्रम के और कोई अन्य साधन नहीं है। एक परिवार के सभी सदस्य प्रायः मजदूरी करके भी जीवन निर्वाह योग्य आय प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय सरकार ने भूमि एवं उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में क्रान्तिकारी सुधार और परिवर्तन किये हैं। जागीरदारी, जमींदारी तथा ऐसी ही अन्य प्रथाओं को समाप्त करके किसान को भूपति बना दिया है तथा तकावी अनुदान आदि के रूप में इनके लिये सरकारी सहायता की व्यवस्था भी कर दी है। इसी प्रकार औद्योगिक श्रमिकों का वेतन बढ़ाया गया, महंगाई भत्ता दिया गया, बोनस आदि अन्य सुविधायें दी गईं, सस्ते गृहों की व्यवस्था हो रही है और आज तो बहुत से श्रमिक नेता श्रमिकों को व्यवस्था में साझीदार बनाकर, उनको लाभ में से भी हिस्सा देने की मांग कर रहे हैं। परन्तु खेतिहर मजदूर की दशा में स्वतन्त्रता के पश्चात भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सरकार ने इनके सुधार के लिये कुछ नहीं किया। प्रथम पंच वर्षीय योजना में उनके लिये न्यूनतम मजदूरी का अधिनियम लागू करने की व्यवस्था की गई थी परन्तु यह योजना भी असफल रही क्योंकि योजना बनाने के पूर्व आयोग के सामने इन मजदूरों के विषय में कोई विशेष आंकड़े नहीं थे।

फलस्वरूप सरकार ने सबसे पहिला कार्य इस वर्ग के लिये जो किया वह यह कि सन १९५१–५२ में उनकी स्थिति की जांच करने के लिये एक उपसमिति नियुक्त की, जिसकी रिपोर्ट नवम्बर १९५५ में प्रकाशित हुई है। विलम्ब का कारण समिति के कार्य की व्यापकता और कठिनाई थे। समिति के संगृहीत आंकड़े पुराने हो जाने के भय से श्रम मंत्रालय ने इस सम्बन्ध में नई जांच कराने की हाल ही में व्यवस्था की है जिसके आधार पर द्वितीय पंच वर्षीय योजना में खेतिहर मजदूरों के लिये भी कुछ योजना रहेगी।

उपसमिति की रिपोर्ट

इस समिति की रिपोर्ट के अनुसार भारतीय ग्रामों में रहनेवाले कुल परिवार ५ करोड़ ८० लाख हैं, जिनका लगभग $\frac{1}{3}$ भाग अर्थात १ करोड़ ७६ लाख परिवार खेतिहर मजदूरों के हैं। ये मजदूर कुल जनसंख्या के २२% हैं। इ सका अर्थ यह है कि भारत में लगभग ८–९ करोड़ मजदूरों के लिये भूमि पर खेती करने के सिवाय दूसरा कोई धंधा नहीं है और वह भूमि भी इतनी कम है कि वे उस पर कार्य करके अपने परिवार के पालन-पोषण के लिये पर्याप्त धन नहीं प्राप्त कर सकते। भूमि की मात्रा का औसत भी केवल ७$\frac{3}{4}$ एकड़ है। यह भी पश्चिमी और पूर्वी भारत में यह औसत ४$\frac{1}{2}$ एकड़, त्रावणकोन कोचीन में केवल २·४ एकड़ ही है। इतनी कम भूमि पर भी इन लोगों को वर्ष में केवल १८९ दिन ही खेत पर कार्य मिलता है। कुछ दिन और इधर-उधर का कार्य मिल जाने पर भी ८२ दिन तो बिलकुल बेकार ही रहते हैं। स्त्रियों को तो और भी अधिक दिन खाली रहना पड़ता है क्योंकि उनको औसतन केवल १३४ दिन ही कार्य मिलता है। इसी प्रकार वेतन की दरों में भी बहुत भिन्नता है। पुरुषों का औसत वेतन १७·८ आने, स्त्रियों का १०·८ आने और बच्चों का ११·१ आने है। एक परिवार की प्रतिवर्ष औसतन आय ४४१) है।

प्रति व्यक्ति के आधार पर यह आय केवल १०५ रु० है जब कि समस्त भारत में प्रति व्यक्ति औसतन आय २९४ रु० है। इसके विपरीत प्रति परिवार का वार्षिक व्यय ४५५ रु० है। अर्थात प्रत्येक परिवार को १४ रु० का कर्ज प्रति वर्ष लेना पड़ता है, जो प्रायः साहूकार, मालिक किसान अथवा जान-पहिचान के लोगों से लिया जाता है। इस कर्जे पर उनको भारी सूद भी देनी होती है। इस प्रकार सन् १९५१-५२ में इन परिवारों पर लगभग ८० करोड़ रु० का कर्ज था और यह कम होने के बजाय १४ रु० प्रति परिवार प्रति वर्ष बढ़ता ही जा रहा है। अतः आजकल तो निश्चय ही १९५१-५२ से यह कर्ज दुगना हो गया होगा। यह परिवार अपनी सीमित आय से अपने भोजन की आवश्यकता को भी कठिनाई से पूर्ति करते हैं तथा भोजन में भी अनाज का अंश ही अधिक रहता है। समिति के अनुसार यह वर्ग अपनी आय का ८५·३% भोजन पर और इसमें से भी ७९·२% अनाज पर व्यय करता है। उक्त समिति की रिपोर्ट का नंगा चित्र निम्न लिखित तालिका में दिया गया है जिससे देश में फैली हुई गरीबी और बेकारी का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। भारत

के खेतिहर मजदूरों की दयनीय आर्थिक दशा का निम्नलिखित तालिका से पर्याप्त ज्ञान हो जाता है।[1]

राज्य	प्रति व्यक्ति औसत आय रु०	प्रति व्यक्ति औसत व्यय रु०	बेकारी के दिन	औसत कर्ज प्रतिशत परिवार (आनों में)
बिहार	११६	१२८	८४	४१·८
उड़ीसा	७७	७७	४३	१६·६
प० बंगाल	१५६	१६३	८५	३१·८
आसाम	१६२	१५६	६१	३३·२
मद्रास	३६५	३७६	११६	
मैसूर	३६६	४२६	६५	×
त्रिवांकुर कोचीन	५४१	११३	१०८	×
बम्बई	×	८७	१६२	१०·६
सौराष्ट्र	×	१३१	१६६	११·६
कच्छ	×	१६६	१६३	×

खेतिहर मजदूरों की दशा सुधारने के लिये सुझाव—

केन्द्रीय सरकार के श्रम मंत्रालय ने यह सुझाव दिया है कि न्यूनतम मजदूरी के अधिनियम पर कुछ कठोरता से अमल किया जाना चाहिये। किंतु आज देश में समस्या न्यूनतम वेतन की नहीं अपितु बेकारी और अर्धबेकारी की है। अतः इसके लिये पूरक धंधों विशेषतः कुटीर-उद्योगों की व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे मजदूर अपने गांव में ही खाली दिनों में काम में लग सकें। इन उद्योगों को बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से रक्षा करने के हेतु इनके क्षेत्र निश्चित कर देने चाहिये तथा खेतिहर मजदूरों से अधिक-से-अधिक काम लेने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इस सब के लिये सहकारी समितियों को स्थापित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आचार्य विनोबा भावे का भूदान यज्ञ भी जिसने भूमिहीन वर्गों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है और उसमें मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया है, कुछ हद तक इस समस्या को हल करेगा। यह सही है कि इस यज्ञ द्वारा १,७५,००० भूमिहीन परिवारों के लिये ५ करोड़ एकड़ भूमि का संग्रह कोई भारी राहत नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक परिवार को औसतन २½-३ एकड़ से अधिक भूमि नही मिल सकेगी। फिर भी उस अत्यन्त दयनीय भूमिहीन वर्ग की ओर सब का ध्यान अवश्य ही आकर्षित होगा और फिर उनकी दशा सुधारने के लिये तुरन्त ही सरकार को कुछ-न-कुछ सक्रिय कार्य करना ही होगा।

---

१ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ६ नवम्बर १९५५ पृ० सं० १५

अध्याय २३

भारतीय यातायात

(INDIAN TRANSPORT)

भूमिका

साधारणतः यातायात व संचार वह रीति है जिसमें विभिन्न यन्त्रों व संगठन के द्वारा व्यक्ति, वस्तु तथा सूचनाएं आदि विभिन्न स्थानों को दूरी पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं अर्थात एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जाते है।[1] यातायात का मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक—में विशेष महत्व है। प्रत्येक देश के आर्थिक विकास में कृषि एवं उद्योगों के अतिरिक्त यातायात के साधनों का भी प्रमुख स्थान है क्योंकि कृषि और उद्योगों का विकास बिना यातायात के साधनों के विकास के नितान्त असम्भव ही सा होता है। अतः यातायात के विषय में यह सत्य ही कहा है कि "यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय-आकार के शरीर एवं अस्थियाँ है तो संचार उसके स्नायु है।" प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार "हमारे आज के युग का प्रमुख आर्थिक तथ्य उत्पादक उद्योगों के स्थान पर यातायात उद्योग का विकास करना है।" किपलिंग महाशय के अनुसार तो किसी देश की सभ्यता का स्तर ही वहाँ के यातायात के साधनों द्वारा जाना जा सकता है। उन्होंने तो कहा कि "यातायात ही सभ्यता है।"

भारत जैसे विशाल आकृति के देश में तो यातायात का और भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि भारतीय कृषि और उद्योगों की प्रगति पूर्णतः यातायात के विकास पर ही निर्भर रही है। विशेषतः नियोजनकाल में जब कि देश में चहुँ ओर विकास कार्य चल रहे है, यातायात का विकास और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि यदि इनका विकास न किया गया तो सम्भवतः भारतीय जनता प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत की हुई प्रगति के लाभों से वंचित रह जायेगी। आम जनता नो कृषि और उद्योगों के विकास से तभी लाभ उठा सकती है जब कि गांवों में उत्पन्न किये गये कच्चे माल व अनाज बड़े औद्योगिक केन्द्रों तक पहुँचाये जा सकें तथा उद्योगों द्वारा उत्पादित उपभोग की सामग्री उपभोक्ताओं तक ले जाई जा सकें। ऐसा करने के लिये यातायात का विकास करना परम आवश्यक है। फिर आर्थिक व सामाजिक महत्व के अतिरिक्त विकसित यातायात के साधन हरएक देश में प्रभाव-

---

1 Transportation System is the sum of all technical instruments and organisation designed to enable persons,commodities, and news to master space." (Kurt Weidenfeld: Encyclopedia of the Social services. vol. xii. P. 80.)

शाली और शक्तिशाली प्रशासन एवं राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिये भी अत्यावश्यक है। यातायात का इतना महत्व होने के कारण, भारत की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में, यहां की वर्तमान यातायात प्रणाली का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

यातायात के साधन (Means of Transport)

प्रत्येक वस्तु का यातायात मार्ग व वाहक (Vehicle) के ऊपर निर्भर करता है। मार्ग के चुनाव से वाहक का रूप भी सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरणतया किसी घने जंगल में अथवा पहाड़ी प्रदेश में स्वयं मनुष्य या कोई जानवर ही वाहक का कार्य कर सकते हैं तथा जल मार्ग द्वारा नाव अथवा जहाज आदि ही वाहक हो सकते हैं। अतः यातायात के साधनों को मार्ग के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्राकृतिक मार्ग वाले साधन जैसे समुद्र, नदी व वायु तथा (२) कृत्रिम मार्ग वाले साधन जैसे रेलें और नहरें। सड़क यातायात सम्भवतः इन दोनों के मध्य में रहेगा क्योंकि सड़कें यद्यपि कृत्रिम रूप से व्यक्तियों द्वारा बनाई जाती हैं किन्तु साधारणतया वे सार्वजनिक सम्पत्ति होती हैं और सभी प्रकार के यातायात के लिये खुली रहती हैं। ऐसी अवस्था में हम यातायात के साधनों को निम्न प्रकार से विभाजित करते हैं—(१) भूमि यातायात (२) जल यातायात (३) वायु यातायात। भूमि यातायात को अन्य दो भागों में विभाजित किया किया जा सकता है—(१) रेल यातायात व (२) सड़क यातायात। इस प्रकार हम भारत के प्रमुख यातायात के साधनों (१) सड़कें, (२) रेलें, (३) जलमार्ग, (४) वायुमार्ग का विस्तृत विवरण नीचे देते हैं।

रेलें (Railways)

वर्तमान यातायात के साधनों में रेलों का प्रमुख स्थान है। अन्य यातायात साधनों की अपेक्षा रेलों को अनेकों आर्थिक सुविधायें प्राप्त हैं। भारी और बड़ी मात्रा के बोझे को जैसे उद्योगों के कच्चे माल आदि को लम्बी दूरी तै करने के लिए रेलें बहुत उपयुक्त सिद्ध होती है। रेलगाड़ियां साधारणतः ५०-६० मील प्रति घंटा की गति से चल सकती हैं क्योंकि रेल की पटरियों पर इन्हीं का एकाधिकार होता है और कोई अन्य साधन इनका प्रयोग नहीं कर सकता। जब कि सड़कों पर जो सबके प्रयोग के लिए खुली होती हैं, सड़क यातायात के साधनों की गति ३०-३५ मील प्रति घंटा तक ही सीमित रहती है। रेलों की माल ढोने की क्षमता भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। इनमें क्रमागत वृद्धि का नियम (Law of Increasing Returns) लागू होता है, और जैसे २ ट्रैफिक बढ़ता है वैसे ही वैसे रेल यातायात सस्ता होता है अतः अन्य यातायात के साधनों की अपेक्षा रेल सस्ती भी पड़ती है।

भारतीय यातायात प्रणाली में भी रेलों का ही प्रमुख स्थान है क्योंकि भारत में भी विभिन्न स्थान अधिक दूरी पर है और अनाज, कच्चे माल, कोयला, खनिजपदार्थ व तैयार माल बड़ी मात्रा में देश के एक भाग से दूसरे भाग को भेजा जाता है जिसका लगभग ८०% भाग रेलों द्वारा ही ले जाया जाता है। वैसे भी रेल उद्योग भारत का सबसे बड़ा संगठित उद्योग है क्योंकि सभी संगठित उद्योगों में लगी हुई पूंजी की दोगुनी

से भी अधिक पूंजी रेलों में लगी हुई है अर्थात भारत के समस्त बड़े उद्योगों में लगभग ४०४ करोड़ रुपए की पूंजी लगे होने का अनुमान है जबकि अकेले रेल उद्योग में लगभग ६०० करोड़ रुपए की पूंजी लगी है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी उद्योगों में लगभग २४ लाख व्यक्ति कार्य करते हैं जब कि अकेली रेलों में ६०,००,००० व्यक्ति कार्य करते हैं। अतः भारतीय रेलें सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग व्यवसाय है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व भारत में रेलों की लम्बाई लगभग ३४००० मील थी जिसमें से ४६% बड़ी लाइन (Broad Gauge) अर्थात १५६६४ मील बड़ी लाइन, १५०२८ मील छोटी लाइन (Metre Gauge) तथा ३३५६ मील संकरी लाइन (Narrow Gauge) की रेलें थीं। किन्तु रेलों के मील सम्बन्धी आंकड़ों से ही केवल देश में रेलों की पर्याप्तता का उचित ज्ञान नहीं हो पाता है बल्कि उनको देश की जनसंख्या व क्षेत्रफल की सापेक्ष दृष्टि से आंकना चाहिये। भारतीय रेलों की तुलनात्मक गतिविधि निम्नलिखित तालिका में दी गयी है।

देश	प्रति १०० वर्ग मील क्षेत्र में रेलों की मील संख्या	प्रति १ लाख व्यक्तियों के पीछे रेलों की मील संख्या
अमेरिका	७·५	१६७
ग्रेट ब्रिटेन	२३·०	४३
कनाडा	१·२	४११
अर्जेंटाइना	२·१	१७५
फ्रांस	१६·०	६६
जर्मनी	२०·०	५६
रूस	०·५५	२६
चीन	०·३	१·३
भारत	२·८	६·४

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय रेलों की मील संख्या संसार के औद्योगिक देशों जैसे इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि की तुलना में बहुत ही कम है।

रेलों से लाभ

वास्तव में अंग्रेजों ने रेलों की स्थापना केवल शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने, अपनी विदेशी वस्तुओं के बेचने तथा निर्यात के लिए कच्चा माल जुटाने के लिए ही की थी। परन्तु समय के साथ-साथ देश में रेलों का भी विस्तार हुआ और वस्तुतः भारत में रेल निर्माण ने ही यहाँ की अर्थव्यवस्था को वर्तमान रूप और आकार प्रदान किया है। रेलों से प्रायः आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक लाभ प्राप्त होते हैं।

आर्थिक लाभ

कृषिः—सन् १८५३ से पूर्व भारतीय किसान खेती अपने को जीवित रखने व स्थानीय आवश्यकता पूरी करने के लिए ही करता था। परन्तु रेल निर्माण ने तो कृषि के मौलिक स्वरूप को ही बदल दिया है और कृषि का व्यापारीकरण कर दिया है। रेलों द्वारा गांव मण्डियां तथा बन्दरगाह स्थित नगरों के संबन्धित होने से किसान के लिये यह

सम्भव हो गया है कि वह न केवल अपने स्वयं के उपभोग के लिए उत्पादन करे बल्कि बाजार के लिये भी करे। आज भारतीय किसान गन्ना, कपास, तम्बाकू, फल या अन्य व्यापारिक फसलें बड़े चाव से पैदा कर सकते हैं और अपनी आय बढ़ा सकते है। रेलों के द्वारा ही यह उत्पादित फसलें सारे देश व संसार में पहुँचाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त खेती के लिए उत्तम बीज, खाद, उन्नत प्रकार के औजार, पशु आदि भी दूर से रेलों के द्वारा ही किसानों को उपलब्ध किये जाते हैं।

दुर्भिक्ष:—दुर्भिक्षों के विषय में तो पहले कहा जा चुका है कि भारत में सदियों से इनके द्वारा भीषण हानि होती रही है। पहले रेलों के अभाव में दुर्भिक्ष पीड़ित क्षेत्रों में देश के अन्य भागों से सरलता एवं शीघ्रता से नाज आदि की सहायता नहीं पहुँचाई जा सकती थी और फलतः दुर्भिक्षों के कारण बहुत अधिक हानि होती थी। परन्तु आज अकालों की भीषणता बहुत कम हो गयी है क्योंकि अकालपीड़ित क्षेत्रों में तुरन्त ही रेलों द्वारा अन्य प्रदेशों से व विदेशों से नाज मंगाकर सहायता प्रदान कर दी जाती है।

उद्योग:—कृषि की भाँति उद्योगों का विकास भी बहुत कुछ रेलों के द्वारा ही हुआ है। रेलों के द्वारा ही दूर-दूर से मिलों की मशीनें कच्चे माल, कोयला व मजदूर लाये जाते हैं और तैयार माल उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जाता है। इन्हीं के कारण देश में विभिन्न स्थानों पर कपड़े, पटसन, लोहे, चीनी आदि के बड़े उद्योग स्थापित हो गये हैं। इसके अतिरिक्त रेलों ने श्रमिकों की गतिशीलता में बहुत वृद्धि कर दी है। आज श्रमिक वर्ग रोजगार की तलाश में एक स्थान पर सरलता से जा सकते है।

व्यापार:—रेलों के विकास से आन्तरिक व वाह्य दोनों ही प्रकार के व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है। देश के अन्दर तो सभी जगह से कच्चे माल औद्योगिक केन्द्रों पर रेलों द्वारा लाये जाते है तथा तैयार माल उपभोक्ताओं तक पहुँचाये जाते हैं इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार भी बहुत अधिक बढ़ गया है।

भारतीय सरकार को भी रेलों से प्रतिवर्ष काफी आय हो जाती है।

सामाजिक लाभ: – रेलों द्वारा बाहर से अन्य प्रकार के सामान मंगा कर अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। फलस्वरूप लोगों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा होता है। इसके अतिरिक्त रेलों के कारण छुआछूत की भावना को समाप्त करने में, जाति बन्धन की कठोरता एवं संयुक्त परिवार प्रणाली को भंग करने में बहुत सहायता मिली है। रेलों के कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों को मिलाकर और इस प्रकार लोगों में पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा होने से राष्ट्रीय एकता की भावना दृढ़ हो गई है।

राजनैतिक लाभ—भारत में एकता की भावना की जाग्रति तथा इस विशाल देश का केन्द्रीय शासन भी रेलों द्वारा ही सम्भव हो सका है। देश की सुरक्षा में भी रेलों का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इनके द्वारा सेना तथा अन्य आवश्यक सामग्री को शीघ्र ही युद्ध भूमि पर भेजा जा सकता है। आन्तरिक अशान्ति के समय में भी रेलों के द्वारा शीघ्र ही पुलिस अधिकारियों व सेना आदि को भेजकर

स्थिति को काबू में लाया जा सकता है।

रेलों का महत्व तो नियोजन काल में और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि रेलों की अच्छी सुव्यवस्था के बिना आर्थिक योजना तो कभी सफल हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि योजना आयोग ने कृषि और उद्योग के विकास के साथ-साथ रेलों के विकास पर भी काफी जोर दिया है।

रेलों से हानियां—

(१) रेल-निर्माण से भारतीय गृह उद्योगों का, जिन पर कि भारतीय अर्थ व्यवस्था निर्भर थी, अन्त होगया क्योंकि भारतीय बाजार विदेशी व मशीन निर्मित वस्तुओं से भरपूर होगये। हमारे वे कुटीर उद्योग जो किसी समय संसार भर में प्रसिद्ध थे, बड़े-बड़े उद्योगों के सामने न ठहर सके और शनैः शनैः समाप्त होगये।

(२) कुटीर उद्योगों के विनाश के फलस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का दवाब बढ़ता चला गया क्योंकि जो लोग कुटीर धन्धों से अपना गुजारा करते थे, वे अब फिर खेती करने लगे। यह कृषि उद्योग के हित में नहीं था और फलतः भूमि का छोटे भागों में वितरण होता चला गया है, प्रति एकड़ उत्पत्ति कम होगई, कृषक की कार्य क्षमता कम हो गई और देश में बेरोजगारी बढ़ गई।

(३) रेलों के द्वारा ही भारतवासियों का पूरी तरह से आर्थिक शोषण हो सका था। एक ओर तो कच्चे माल के निर्यात का प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर विदेशों का माल भारत के कोने-कोने में पहुँचा दिया गया, जो देश के हित में घातक सिद्ध हुआ।

(४) भारतीय रेलों के निर्माण में विदेशी पूंजी ही लगी थी इसलिये विदेशियों ने ही इनके सारे लाभ प्राप्त किये और विदेशी पूंजी की जितनी भी बुराइयां हो सकती थीं वे सभी रेलों में विद्यमान थीं।

(५) रेलों ने निस्सन्देह ही जाति-पांति के बन्धन ढीले किये, संयुक्त परिवार प्रणाली को भंग करने में सहायक हुई किन्तु साथ ही साथ भारत की प्राचीन पंचायत प्रथा को भी समाप्त कर दिया जिसके कारण लोगों के आपसी झगड़े बढ़ गये और मुकद्दमेबाजी का बहुत प्रचार होगया।

परन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि उक्त बुराइयाँ रेलों के निर्माण व विकास की नहीं हैं बल्कि उनकी कार्य प्रणाली की है। इनसे बड़ी सरलता से बचा जा सकता था यदि रेल अधिकारियों ने उचित नीति तथा दूरदर्शिता से काम लिया होता। क्योंकि स्वतन्त्रता के पश्चात प्रायः सभी बुराइयां दूर की जा रही हैं। अतः रेलों के लाभ तो निस्सन्देह ही बड़े उत्तम हैं। इनके द्वारा वास्तव में देश के आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति हुई है। भविष्य में भी देश का आर्थिक विकास बिना रेलों की उचित व्यवस्था के असम्भव है।

रेलों का विकास—

भारतीय रेलों का निर्माण कार्य वस्तुतः लार्ड डलहौजी के शासन काल में प्रारम्भ हुआ था, जिसने रेलों के लाभ को राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से

आंका था। सर्वप्रथम रेल निर्माण का कार्य दो निजी कम्पनियों 'ईस्ट इंडिया' और 'ग्रेट इन्डियन पैनिशशुला' ने निम्न शर्तों पर आरम्भ किया था जैसे (१) निजी कम्पनियों को उनकी लगी हुई पूंजी पर सरकार द्वारा ४½ से ५% सूद की दर की न्यूनतम गारंटी दिया जाना। (२) भारत सरकार के द्वारा बिना मूल्य के भूमि प्रदान करना। (३) कम्पनियां अधिक लाभ का आधारित हिस्सा सरकार को दे देती थीं। (४)निरीक्षण का अधिकार सरकार को था। (५) सरकार का यह अधिकार था कि यदि वह चाहे तो २५ से ५० वर्ष के पश्चात रेलों को खरीद सकती थी। उक्त गारन्टी के कारण निजी कम्पनियों ने बिना किसी बात का ध्यान किये हुए मनमाना अपव्यय किया फलस्वरूप रेलों को निश्चित व्याज चुकाने योग्य भी आय प्राप्त न हो सकी और उनका घाटा भारत सरकार को पूरा करना पड़ा जिसका सारा बोझा भारतीय कर-दाताओं पर पड़ा।

सन १८६९ में उक्त आर्थिक हानियों के कारण सरकार ने रेल निर्माण तथा व्यवस्था का कार्य स्वयं अपने हाथों में ले लिया और केवल १० वर्ष में ही कम्पनी से ½ लागत पर ही सगभग २००० मील नई रेलें बनाईं और सस्ते प्रकार के मीटर नाप (Metre Gauge) (छोटी लाइन) का प्रचलन आरम्भ हुआ। सरकार ने रेल निर्माण के लिये २० लाख पौंड का वार्षिक ऋण लेने का निश्चय किया। परन्तु सरकार की पूंजी अपर्याप्त होने के कारण, रेल निर्माण का कार्य पुनः सन १८७९ में कम्पनियों को ठेके पर दे दिया गया। यह काल 'नई गारन्टी प्रणाली' का है जो सन १९०० तक चला। किन्तु इस बार की शर्तें सरकार के अधिक अनुकूल थीं जो निम्नलिखित थीं।

(१) कम्पनियों की पूंजी चुकने के पश्चात रेलों पर भारतीय सचिव का अधिकार हो जायगा।

(२) प्रथम २५ वर्ष पश्चात फिर प्रति १० वर्ष बाद इन ठेकों पर विचार किया जायेगा।

(३) सरकार की ओर से ३½% सूद की गारन्टी दी जायेगी।

(४) कम्पनियों को अपने अतिरिक्त लाभ का ⅔ भाग सरकार को देना होगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही रेलों का विस्तार बड़ी तेज गति से हुआ। सन १९०० के पश्चात से रेलों को मुनाफा होना भी शुरू होगया और भारतीय जनता रेलों के पक्ष में होने लगी। सन १९०५ से पूर्व सरकार रेलों का प्रबन्ध निर्माण कार्य विभाग (P. W. D.) की रेलवे शाखा द्वारा करती थी। किन्तु इन्यकेय समिति के सुझाव पर सन १९०८ में एक रेलवे परिषद (Railway Board) की स्थापना की गई जिसमें एक अध्यक्ष और दो सदस्य थे और इस परिषद को उद्योग तथा वाणिज्य विभाग के अन्तर्गत कर दिया गया १९०० से १९१४ तक लगभग १०००० मील रेलें बनाई गईं। सन १९१४ में भारतीय रेलों की कुल लम्बाई लगभग ३५,२८५ मील थी और इनमें लगभग ५१९ करोड़ रुपये की पूंजी लग चुकी थी।

प्रथम युद्ध काल में (१९१४–१९१८) रेलों को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। रेलों को पूरी तरह से युद्ध कार्यों में लगा दिया गया। अतः इस काल में

रेलों का तनिक भी विकास न हो सका।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात भारतीय जनता की रेलों के विरुद्ध शिकायतों को बढ़ता हुआ देखकर भारत सचिव ने रेल सम्बन्धी विषयों की जांच करने के लिये नवम्बर सन १९२० में सर विलियम आकवर्थ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें की थीं :—

(१) निजी कम्पनियों के ठेके अपनी अवधि पर ही समाप्त हो जाने चाहिये।

(२) रेलों का प्रबन्ध सरकार द्वारा होना चाहिये।

(३) रेलवे परिषद में परिवर्तन होने चाहिये।

(४) रेलों की धन व्यवस्था (Railway Finance) को सामान्य धन व्यवस्था (General Finance) से पृथक कर देना चाहिये।

(५) सरकार को तुरन्त ही रेल किराया सम्बन्धी ट्रिब्यूनल (Railway Rates Tribunal) स्थापित करना चाहिये।

भारत सरकार ने केवल पांचवें सुझाव को छोड़कर अन्य सब सुझाव स्वीकार कर लिये और फलस्वरूप रेलवे धन व्यवस्था को सामान्य धन व्यवस्था से पृथक कर दिया गया, कम्पनियों के ठेके समाप्त होने पर फिर नहीं दिये गये और रेलों का प्रबन्ध स्वयं सरकार करने लगी। सन १९२० से १९३० तक लगभग ४९८९ मील रेलें और बनाई गईं अर्थात ४९९ मील प्रति वर्ष वृद्धि हुई। रेलों की कुल लम्बाई ४१,७२४ मील हो गई थी। १ जनवरी सन १९२५ को ई० आई० आर और १ जुलाई सन १९२५ जी० आई० पी० रेलवे का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथों में ले लिया तथा सन २६ में दिल्ली, अम्बाला, कालका रेलवे को भी खरीद लिया।

किन्तु १९३० और बाद की विश्वव्यापी मन्दी का रेलों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। रेलों की आय बहुत घट गई और उन्हें अपना खर्चा चलाने के लिये भी विभिन्न कोषों से ऋण लेना पड़ा।

द्वितीय युद्ध का प्रभाव :—

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया जिसका कि भारतीय रेलों पर बुरा असर पड़ा और उनके समक्ष नयी २ कठिनाइयां उपस्थित हो गयीं। रक्षा संबन्धी आवश्यकता पूरी करने के लिये बहुत-सी रेलों को उखाड़कर रणक्षेत्र पर भेज दिया गया। छोटी लाइन की रेलों के लगभग ८% इंजन, १४% डिब्बे, ४० लाख स्लीपर तथा ४००० मील रेल की पटरी मध्यपूर्वी देशों को भेज दिये गये। इधर देश के अन्दर माल गाड़ियों व यात्रियों के यातायात में बहुत वृद्धि हुई जिसके कारण कि रेलें, देश की मांग को पूरा न कर सकीं और अनेकों प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो गईं और रेलों में अत्यधिक भीड़ होने लगी, मालगाड़ी के डिब्बों की कमी होने से माल स्टेशन के गोदामो पर महीनों पड़ा रहने लगा। किन्तु कुछ भी हो इस अवधि में रेलों की धन संबन्धी स्थिति तो बहुत कुछ सुधर गयी। उनकी आय में इतनी वृद्धि हुई कि उन्होंने अपने पुराने ऋण चुका दिये तथा सरकारी बजट को भी काफी योग दिया।

विभाजन के बाद :—

इसी बीच सन् १९४७ में भारत का विभाजन हुआ जिसने रेलों की मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया। देश के विभाजन के साथ २ रेलों का विभाजन भी हुआ। उत्तर पश्चिमी और बंगाल-आसाम रैलवे का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया। जोधपुर-हैदराबाद रेलवे का कुछ हिस्सा भी पाकिस्तान को मिल गया। इस प्रकार लगभग ६९५७ मील लम्बी रेलें पाकिस्तान को मिलीं और शेष ३४०८६ मील रेलें भारत में रहीं। परिभ्रमण पूँजी (Rolling Stock) व वर्कशाप का भी विभाजन हुआ और फलस्वरूप मुगलपुरा और किन्चनपाड़ा जैसे रेलवे वर्कशाप (कारखाने) पाकिस्तान में चले गये। करांची बन्दरगाह के पाकिस्तान में जाने से बम्बई का बोझ बढ़ गया और फलस्वरूप दिल्ली-बम्बई लाइन पर काफ़ी यातायात बढ़ गया। रेलों के अधिकांश कुशल कारीगर मुसलमान थे। अतः उन्होंने पाकिस्तान जाने का निर्णय किया जिससे भारतीय रेलों की कार्यक्षमता भी बहुत कम हो गयी। विभाजन का रेलवे-धन-व्यवस्था पर तुरन्त प्रभाव यह पड़ा कि रेलों की आय कम हो गयी और व्यय बढ़ गये। विभाजन के बाद प्रथम ७½ माह में अर्थात १५ अगस्त सन १९४७ से ३१ मार्च सन १९४८ तक रेलों को २·७४ करोड़ रुपये का घाटा हुआ था जिसे रेलवे के सुरक्षित कोष से पूरा किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कठिनाइयां जैसे भ्रष्टाचार बिना टिकट यात्रा, मजदूरों की माँगें, यातायात की घोर स्थिति आदि भी उपस्थित हो गयीं जिनको भारत सरकार ने बड़ी सावधानी से हल किया है।

रेलों का पुनर्निवास :—

मन्दीकाल की आर्थिक हानि तथापि द्वितीय महायुद्ध के कारण भारतीय रेलों की दशा बिगड़ गई थी। रेलवे की परिभ्रमण पूंजी का न तो पुनर्स्थापन ही किया जा सका और न नवीनकरण ही। फलतः वर्तमान परिभ्रमण पूंजी देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर सकती थी। सन १९५१ में कुल ८३३७ इंजन थे जिसमें १८% को मरम्मत की, और १६४० के बदलने की तुरन्त आवश्यकता थी। इसी प्रकार २५००० मालगाड़ी के डिब्बों व ५१२० सवारी गाड़ी के डिब्बों की मरम्मत होनी थी। इसी कारण से भारत सरकार ने रेलों के पुनर्निर्वास की ४ वर्ष की एक योजना बनाई जो १९५१ से प्रारम्भ हुई। सन् १९४९-५० से ही रेलों की स्थिति सुधारने के लिये भारत सरकार ने काफ़ी रुपया व्यय करना शुरू कर दिया था तथा दिसम्बर १९५१ तक इस ओर जो प्रगति हुई वह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

वर्ष	व्यय (करोड़ रु०)	नयी परिभ्रमण पूंजी की संख्या		
		इंजन	सवारी गड़ी के डिब्बे	मालगाड़ी के डिब्बे
१९४९-५०	३१	४१२	६१९	१४४४
१९५०-५१	३२	२९३	८९६	३३३९
१९५१-५२	५३	८१*	६३६*	२१८३*

(* दिसम्बर सन १९५१ तक के आंकड़े हैं)

यह अनुमान लगाया गया था कि १६५२-५३ से १६५४-५५ तक भारतीय रेलों द्वारा लगभग ७५० इंजन, ३४५० सवारी व २०,५०० मालगाड़ी के डिब्बे खरीदे जायेंगे जिनमें से ५१० इंजन, २८५० सवारी व १६,५०० मालगाड़ी के डिब्बे भारत ही में बनेंगे। इस योजना के लिये अपार धन की आवश्यकता थी। सन १६४६ में भारत ने ६५० इंजन खरीदने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ३४० लाख डालर्स ऋण १५ वर्ष के लिये लिया जिस पर ३% सूद व १% कमीशन देना था। भारत सरकार की रेलवे पुर्नस्थापन नीति के निम्नलिखित मुख्य अंग हैं—१. चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी की स्थापना, २. रेलों का वर्गीकरण व ३. प्रथम पंच-वर्षीय योजना।

चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी की नींव सन १६४८ में ही रख दी गयी थी पर इस कारखाने का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के द्वारा २६ जनवरी सन १६५१ को हुआ था। सन १६४६ में इंगलैंड की लोकोमोटिव फैक्टरी के साथ चितरंजन में इंजन बनाने का पंचवर्षीय समझौता हुआ था। भारत सरकार ने भी तुरन्त ही ४० इंजन प्रति वर्ष खरीदने का वादा कर दिया था। चितरंजन कारखाने का सन १६५६ तक १२० इंजन तथा ५० बायलर प्रतिवर्ष बनाने का लक्ष्य था। ऐसी आशा है कि सन १६५६ तक पूरे इंजन बनाने के पुर्जों का भी निर्माण होने लगेगा। आज रेलवे इंजन के लगभग ७० % पुर्जे इसी कारखाने में तैयार होते हैं।

भारत सरकार ने टाटा लोकोमोटिव व इंजीनियरिंग कम्पनी को भी २ करोड़ रु० की सहायता प्रदान की, जिसमें कि सवारी व मालगाड़ी के डिब्बे बनाने का कार्य चल रहा है। जनवरी सन् १६५३ तक इस कारखाने में लगभग ३५ गाड़ियों का निर्माण हुआ था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट लिमिटेड, बंगलौर जो सरकारी कारखाना है, में भी १८० लोहे की गाड़ियाँ बनाने का कार्य भी शुरू कर दिया गया था। सन १६५२ में पैराम्बुर में एक और अन्य कारखाने की स्थापना हुई और अब यह भी कार्य करने लगा है। इस प्रकार से आजकल भारत के सभी कारखाने १२०० सवारी व ८६०० मालगाड़ी के डिब्बे प्रतिवर्ष बनाने में लगे हुए हैं और अनुमान है कि सन १६५७ तक भारतीय रेलों का पूर्णरूप से पुर्नानिवास हो जायेगा।

रेलों का वर्गीकरण (Regrouping of Railways)

भारतीय रेलों का विकास पिछले १०० वर्षों में बिना किसी योजना के हुआ जिसका फल यह हुआ कि विभिन्न रेल व्यवस्थाओं की नीति, कार्यक्षमता व जनसेवा के स्तर में बहुत अन्तर हो गया। विभाजन से बंगाल-आसाम रेलवे का विच्छेद हुआ और ईस्ट पंजाब रेलवे का बहुत छोटा भाग भारत में रह गया। सन १६४८-४६ में देशी राज्यों के विलय के कारण उनकी रेलें, जो ७५६० मील लम्बी थीं, भारतीय रेलों में मिल गयीं। इन रेलों का विस्तार ५ से १३६६ मील तक था। अतः रेलों के संचालन को सुदृढ़ स्तर पर लाने के लिये उनका पुनर्संङ्गठन आवश्यक समझा गया। इस समस्या की जांच करने व सुझाव देने के लिये रेलवे परिषद ने एक समिति नियुक्त की जिसने सन १६५० में भारतीय रेलों के पुनर्संङ्गठन की सिफारिश की। जून १६५०

में रेलों के पुनः वर्गीकरण की एक योजना तैयार की गई और जनता की राय लेने के लिये मजदूर, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में खूब प्रचार किया। सभी क्षेत्रों में इस योजना का स्वागत किया गया। योजना के अन्तर्गत भारत की ३४००० मील रेलों को ६ वर्गों में बांटा गया था। कुछ प्रमुख संशोधनों के पश्चात यह योजना लागू कर दी गई। और रेलों के ६ वर्ग कर दिये गये—(१) पूर्वी रेलवे, (२) पश्चिमी रेलवे, (३) उत्तरी रेलवे, (४) दक्षिणी रेलवे, (५) सैंट्रल रेलवे तथा (६) पूर्वोत्तरीय रेलवे, इनमें से सर्वप्रथम दक्षिणी रेलवे का १४ अप्रैल १९५१ को उद्घाटन हुआ, पश्चिमी तथा सैन्ट्रल रेलवे को ५ नवम्बर १९५१ से शुरू किया गया और पूर्वी, पूर्वोत्तरीय तथा उत्तरी रेलवे का १४ नवम्बर १९५२ में उद्घाटन हुआ था। इन ६ रेलवेज़ की रचना इस प्रकार हुई थी—

(१) **पूर्वी रेलवे**—इस वर्ग में पूर्वी बंगाल नागपुर रेलवे और ई. आई. आर. के लखनऊ, मुरादाबाद और इलाहाबाद डिवीज़नों को छोड़कर, सम्मिलित कर लिया गया। कलकत्ते में पूर्वी रेलवे का मुख्य दफ्तर है।

(२) **पश्चिमी रेलवे**—इसमें बी. बी. एण्ड सी. आई. आर. (देहली-फजीलिका और कानपुर-अछनेरा भाग को छोड़कर) सौराष्ट्र, जैपुर तथा राजस्थान रेलवे को सम्मिलित कर दिया और इसका मुख्य दफ्तर बम्बई में स्थापित किया गया।

(३) **उत्तरी रेलवे**—इसके अन्तर्गत ई. पी. रेलवे, जोधपुर राज्य रेलवे, बीकानेर राज्य रेलवे, ई. आई. आर. के लखनऊ, मुरादाबाद, व इलाहाबाद डिवीज़न तथा बी बी. एण्ड सी. आई. आर. के कानपुर अछनेरा व देहली फजीलिका क्षेत्र सम्मिलित हैं तथा मुख्य दफ्तर दिल्ली में है।

(४) **दक्षिणी रेलवे**—इसमें एस. आई. आर., एम. एण्ड एस. एम. आर. और मैसूर राज्य रेलवे शामिल है और मद्रास में मुख्य दफ्तर है।

(५) **सैन्ट्रल रेलवे**—इस क्षेत्र में जी. आई. पी, निजाम राज्य रेलवे, सिन्दिया राज्य रेलवे, धौलपुर राज्य रेलवे सम्मिलित हैं और बम्बई में मुख्य दफ्तर है।

(६) **पूर्वोत्तरीय रेलवे**—इस क्षेत्र में पूरी छोटी लाइन की रेलें हैं और इसका मुख्य दफ्तर गोरखपुर में है। इसमें ओ. टी. आर, आसाम रेलवे, बी. बी. एण्ड सी. आई. आर. का फतेहगढ़ जिला सम्मिलित किये गये है। इन छः रेलों के विभिन्न प्रकार की लाइनों की मील संख्या निम्न तालिका में दी गई है।

रेलवे	बड़ी लाइन Broad Gauge	छोटी लाइन Metre Gauge	संकीर्ण लाइन NarrowGauge	योग Total
उत्तरी	३८५२	१९९९	१२८	५९८०
पूर्वोत्तरीय	——	४६९२	९१	४७८३
पूर्वी	४७१९	——	९२५	५६४४
पश्चिमी	१२६६	३३६५	७९२	५४२३
सैंट्रल	४०९१	७४४	५६४	५३९९
दक्षिणी	१७५५	४१४२	१०२	५९९९

यद्यपि कुंजरू समिति ने, जिसमें बड़े-बड़े तजुर्बेकार रेलवे अफ़सर, मजदूरवर्ग, व्यापार व उद्योग वर्ग के प्रतिनिधि भी थे, अपनी रिपोर्ट में जो १६ मार्च १६५० को प्रकाशित हुई थी, रेलों की पुनः वर्गीकरण की योजना को कम-से-कम ५ वर्ष के लिये स्थगित करने की बहुत जोरदार सिफारिश की थी और योजना के विरोध में बहुत-सी दलीलें भी दी थीं, किन्तु रेलवे परिषद व सरकार यह कुछ न सुनकर उक्त योजना को निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर लागू कर दिया—

(१) रेलों का संगठन इस प्रकार होना चाहिये, जिससे प्रत्येक इकाई आर्थिक दृष्टि से विकसित क्षेत्र की, जहां से रेलों को पर्याप्त यातायात की सामग्री प्राप्त होती है, यातायात की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

(२) प्रत्येक क्षेत्र इतना बड़ा होना चाहिये, जिसमें उच्च कोटि के मुख्य दफ्तरों का संगठन हो सके, जिससे रेलों को प्रशासन व कार्यात्मक दृष्टि से कुशलतापूर्वक चलाया जा सके तथा जिसमें कारखाने सम्बन्धी पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध की जा सकें और आंकड़ों सम्बन्धी शिक्षण और अनुसन्धान की संस्थाएं हों।

(३) पुनर्संङ्गठन इस प्रकार का होना चाहिये, जिससे रेलों की वर्तमान कार्य-प्रणाली में न्यूनतम भी बाधा न पहुँचे और ऐसे ढंग से किया जाना चाहिये जिससे कि रेलों की कार्यक्षमता अस्थायी कमी तक न आ सके।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रेलों के पुनर्संङ्गठन से अनेकों लाभ प्राप्त हुए हैं—जैसे वर्गीकरण के द्वारा सीधी गाड़ियों का चलना सरल हो गया है, रेल प्रशासन की कुशलता बढ़ गई है तथा धन व्यवस्था, किराया भाडा, माल की खरीद, मजदूरी का स्तर आदि महत्वपूर्ण बातों में समान नीति अपनाई जाने लगी है। इसके अतिरिक्त रेलवे की परिभ्रमण पूंजी का श्रेष्ठतर उपयोग हो रहा है। परन्तु यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह विदित होता है कि गत चार वर्षों में केवल पुनर्संङ्गठन के कारण कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। वास्तव में रेलों के नये क्षेत्र भी इतने बड़े हैं कि उनकी अच्छी तरह देखभाल करना कठिन है। अन्य बड़े-बड़े संगठनों की भाँति रेल के नये मंडल भी अत्यधिक केन्द्रीयकरण, अनिश्चित टालमटोल और निष्क्रियता के शिकार हो गये हैं। इन क्षेत्रों की व्यवस्था करने में तथा अनुशासन बनाये रखने में अनेक कठिनाइयाँ होती है। अतः सभी ओर से रेलों के संगठन में परिवर्तन की मांग होने लगी। रेलवे भ्रष्टाचार जांच समिति ने भी बड़े जोरदार शब्दों में रेलवे क्षेत्रों के संगठन पर पुनः विचार करने की सिफारिश की है और सुझाव दिया है कि भारतीय रेलों को १० डिवीज़नों में बांट देना चाहिये।

फलस्वरूप जून सन् १६५५ में रेल मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री के द्वारा की गई घोषणा के अनुसार भारतीय रेलों को ६ क्षेत्रीय रेलों के बजाय ७ क्षेत्रीय रेलों में बांट दिया गया है। केवल पूर्वी रेलवे क्षेत्र को दो भागों में : १—पूर्वी रेलवे व २—दक्षिण पूर्वी रेलवे में विभाजित कर दिया है और अन्य रेल क्षेत्रों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। नई व्यवस्था के अनुसार पूर्वी रेलवे में २३२१ मील लम्बी रेलें हैं जो पश्चिमी बंगाल, बिहार और उत्तरप्रदेश राज्यों के ८०००० वर्ग मील क्षेत्र

में कार्य करेंगी। प्रशासन की दृष्टि से डिवीजन रीति अपनाई गई है और पूर्वी रेलवे को ५ डिवीजनों में (दीनापुर, धनवाद, आसनसोल, हावड़ा और स्यालदा) में विभाजित कर दिया गया है।

दक्षिण पूर्वी रेलवे में ३९९९ मील लम्बी रेलवे लाइन हैं जो पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा व मध्यप्रदेश की राजधानियों को मिलाती हैं तथा बिहार, आन्ध्र व विन्ध्य-प्रदेश में भी कार्य करती हैं। इसी रेलवे द्वारा विशाखापटनम को कलकत्ते से मिलाया गया है। यह रेलवे १८५००० वर्ग मील के क्षेत्र में कार्य करती है और इसका मुख्य कार्यालय कलकत्ते में है। प्रशासन कार्य जिला रीति के आधार पर होता है।

रेलों की वित्तीय व्यवस्था (Railway Finances)

सन् १९२४ से पूर्व रेलों की वित्तीय व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य अर्थ व्यवस्था का एक अंश मात्र थी और रेलों द्वारा कमाये गये सारे लाभ सामान्य राजस्व को प्राप्त हो जाते थे। इसका फल यह होता था कि रेलों का विकास, उनकी वर्तमान स्थिति में सुधार आदि होना तो दूर रहा उनके आवश्यक खर्चे भी पूरे न हो पाते थे। अत: जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि सन् १९२० की आकवर्थ समिति ने अन्य सिफारिशों के साथ-साथ यह भी सिफारिश की थी कि रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से सर्वथा पृथक कर देना चाहिये। इस सुझाव को सरकार ने स्वीकार कर लिया और रेलों की आय-व्यय को सामान्य बजट से अलग करने के लिये सन् १९२४ में रेलवे वित्त पृथक्कीकरण समझौता (Railway Finance Seperation Convention) हुआ जिसके अनुसार यह तय हुआ कि रेलों में लगी हुई पूंजी के बदले रेलें प्रति वर्ष सामान्य बजट को कुछ आय देती रहेंगी। लगी हुई पूंजी पर सूद देने के अलावा आम बजट को निश्चित रकम देने के बाद बचे हुए लाभ में से १% आय राजस्व को दे दें। इसके बाद भी यदि रेलवे को लाभ ३ करोड़ रुपये अधिक बचा रहे तो उसका $\frac{1}{3}$ भाग राजस्व को दे देंगी। यदि किसी वर्ष रेलें इस निश्चित रकम को न दे सकें तो यह कर्जे के रूप में एकत्र होती रहेगी और भविष्य के लाभ में से सर्व प्रथम इसको अदा किया जायेगा। साथ में यह भी तय किया गया कि समझौते के अनुसार नये प्रबन्ध को पहिले तीन वर्ष तक परीक्षण किया जायेगा और समय-समय पर आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन होते रहेंगे।

सन् १९४९ में पुन: इस समझौते (Convention) की व्यापक रूप से परीक्षा की गई और एक संशोधित समझौता (Revised Convention) किया गया जिसकी मुख्य बातें यह थीं : (१) रेलवे वित्त व्यवस्था सामान्य बजट से पृथक ही रहे किन्तु इन दोनों के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जाये कि सामान्य करदाता ही रेलों के एकमात्र साझीदार बन सकें। ऐसा करने के लिये रेल उद्योग में लगी हुई पूंजी पर प्रति वर्ष उनको ४% मुनाफा (Dividend) दे दिया जाय।

(२) रेलवे मूल्य ह्रास निधि (Railway Depreciation Fund) में प्रति वर्ष न्यूनतम १५ करोड़ रुपये अंशदान दिया जाय।

(३) यात्रियों की सुख सुविधा, श्रम कल्याण और अलाभ की परिकल्पनाओं

के लिये एक रेलवे विकास निधि (Railway Betterment Fund) की स्थापना की जाये।

इस नये समझौते के अनुसार भारतीय रेलें अपने पुर्नस्थापन के कार्य के लिये सुरक्षा निधि (Railway Reserve Fund) को बढ़ाने में समर्थ हो सकी थीं। सन् १९५०-५१ से १९५४-५५ तक कुल लगी पूंजी पर ब्याज देने के अतिरिक्त रेलों ने आम राजस्व को ७ करोड़ रुपया प्रति वर्ष दिया है।

सन् १९४९ का समझौता ४ साल के लिये था, अतः संसद की एक समिति ने सन् १९५४ में उस पर पुनः विचार किया और निम्नलिखित संशोधन किये :—

(१) मुनाफे (Dividend) की दर पहिले के समान ही पांच वर्ष तक रहे, पर गणना के विचार से कुछ साधारण समयोजन किया जाये।

(२) नई बनी हुई लाइनों पर मुनाफे की दर नीची रहे, प्रथम पाँच वर्ष तक इन पर लगी पुंजी पर कोई मुनाफा न लिया जाय, छठे वर्ष से यह मुनाफा पिछले मुनाफे सहित वसूल किया जाय।

(३) रेलवे मूल्य ह्रास निधि में प्रति वर्ष ३० करोड रु० के स्थान पर ३५ करोड़ रुपये अंशदान किया जाय।

(४) रेलवे विकास निधि का क्षेत्र विस्तृत कर देना चाहिये और परिवहन का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की सुख सुविधा की व्यवस्था इसी निधि से की जाय। मालगोदामों, प्रतीक्षालयों आदि की सुविधा भी इसी के अन्तर्गत होगी।

भारतीय रेलों ने पिछले ३० वर्षों में आर्थिक दृष्टि से अच्छे और बुरे दिन दोनों ही देखे हैं। रेलों की क्षमता बढ़ाने में अनेकों प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हुईं। फिर द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश शासकों को रुपये की आवश्यकता थी। अतः १९४३ के समझौते द्वारा सरकार को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह रेलवे के उपार्जन को जिस प्रकार चाहे व्यय करे। इस अधिकार का पूरा लाभ उठाया और सरकार ने १५० करोड़ रुपया युद्ध प्रयत्न में लगा दिये। इसके अतिरिक्त रेलवे मूल्य ह्रास निधि, सुरक्षा निधि, विकास निधि आदि में जमा धन केवल कागजी जमा है। रेलें अपनी आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग नहीं कर सकतीं। अतः रेलों ने ऐसी परिस्थितियों में जो कुछ भी प्रगति की है वही उल्लेखनीय है।

भारतीय रेलवे की आय-व्यय का विवरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

रेलवें बजट

(करोड़ रुपयों में)

विभिन्न मदें	१९५३–५४ (वास्तविक)	१९५४–५५ (पुनर्विक्षित अनुमान)	१९५४–५५ (बजट अनुमान)	१९५५–५६ (बजट अनुमान)
यातायात की आय	२७४·२९	२७३·२५	२८२·८०	२९२·५०
कुल कार्य व्यय	२३१·७५	२२४·५३	२३२·९५	२४१·८०
विशुद्ध विविध व्यय	५·६२	८·०८	८·३२	७·४९
विशुद्ध रेलवे राजस्व	३६·९२	४०·६४	४१·५३	४३·२१
सामान्य राजस्व को अंशदान	३४·३८	३५·५०	३४·९६	३६·०७
विशुद्ध बचत	२·५६	५·१४	६·५७	७·१४

उक्त आँकड़ों से विदित होता है कि १९५५–५६ में मूल्य ह्रास निधि में ३५ करोड़ रु० और सामान्य राजस्व को ३६·०७ करोड़ रु० देने के बाद भी रेलवे को ७·१४ करोड़ रु० बच रहेगा। यह लाभ पिछले दोनों वर्षों से अधिक होगा। परन्तु यह बचत कोई अधिक नहीं है क्योंकि १९५२–५३ में १३ करोड़ रु० और १९५१-५२ में २८ करोड़ रु० की बचत हुई थी। गत वर्षों में आय-व्यय दोनों में ही वृद्धि हुई है। परन्तु रेलवे में लगी पूंजी और विशुद्ध राजस्व के बीच का अनुमान भी यह चेतावनी दे रहा है कि रेलवे को सावधानी वर्तनी चाहिये और अपने व्यय कम करने चाहिये। योजना आयोग के अनुसार भी रेलवे की कुल आय में ८% वृद्धि हुई है जब कि व्यय में १०%की, इसीलिये कार्य क्षमता और सेवा का उचित ध्यान रखे हुए रेलवे को अपना संचालन व्यय कम करना चाहिये।

परन्तु इस सम्बन्ध में तो हमारी रेलों ने अन्य वेयक्तिक उद्योगों की भाँति ही लाभ की नीति अपनाई है। मूल्य ह्रास निधि और सामान्य राजस्व की अधिक रकम देकर बचत कम दिखाई है और इस प्रकार किराया बढ़ाने का मार्ग खुला रखा है। वास्तव में रेलों को बचत लगभग २५ करोड़ रु० होगी जब कि यह केवल ७·१४ करोड़ रु० ही दिखाई गई है क्योंकि मूल्य ह्रास निधि में ३५ करोड़ रुपये दिये गये हैं जब कि वस्तुतः मूल्य ह्रास १६ या १७ करोड़ से अधिक न होगा। इसके अतिरिक्त सामान्य राजस्व को ४% दर से मनाफा दिया गया है, जब कि व्यवसायिक दर ३½% है। इस प्रकार लगभग ७ करोड़ रु० अधिक दिया गया है।

रेलों की दरें (Railway Rates)

स्वतन्त्रता से पूर्व रेलों की दर-नीति राष्ट्रीय हित का कोई ध्यान न करके, केवल व्यापारिक दृष्टिकोण पर आधारित थीं। इसका देश के औद्योगिक विकास के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा तथा विदेशी सामान का आयात और स्वदेशी कच्चे माल का निर्यात तीव्र गति से बढ़ता रहा। इसके अतिरिक्त माल के हरेक श्रेणी के लिये अधिकतम भाड़ा सारे फासले के लिये समान था अर्थात भाड़ा फ्लैट दर (Flat Rate) की नीति पर आधारित था। फलतः भारत जैसे गरीब और दूर फासलों वाले देश में समान दर पर दूर ले

जाने वाले माल पर बहुत अधिक किराया पड़ता था। इस प्रकार के भाड़े से देश के औद्योगिक व आन्तरिक व्यापार के विकास में बहुत बाधा पड़ी।

अतः भारतीय रेलवे सम्मेलन सभा (Indian Railway Coinference Association) ने दर नीति को सरल बनाने के लिये काफी जांच की। सन १९४७ में रेलवे परिषद को युद्धोत्तर दर नीति पर सलाह देने के लिये दर अफसरो (Rates Officer) सहित एक सलाहकार समिति नियुक्त की गई, जिसने १९४८ के मध्य में रेलवे दर का एक नया वर्गीकरण किया जो देश में मन्त्रिमंडल की स्वीकृति के पश्चात १ अक्टूबर से लागू कर दिया गया। नये वर्गीकरण द्वारा रेलों के बढ़ते हुए व्यय को देखते हुए रेल भाड़े में सामान्य वृद्धि कर दी गई। इस नये वर्गीकरण में रेल दरों को तीन श्रेणियों मे विभाजित कर दिया गया है।

(१) प्रामाणिक दुरबीनी श्रेणी दर (Standard Telescopic Class Rate) सभी वस्तुओं को पहले की भाँति १५ श्रेणियो में विभक्त किया है और प्रत्येक श्रेणी से यह दर ली जाती है।

(२) प्रामाणिक दुरबीनी डिब्बे भाड़ा दर (Standard Telescopic wagon Load Scale Rates)—पूरा डिब्बा भरकर माल भेजने पर कुछ कम दर पर भाड़ा लिया जाता है परन्तु यह भाडा कुछ चुनी हुई वस्तुओं के लिये ही लागू होता है।

(३) स्टेशन से स्टेशन दर (Station to Station Rate)—यह विशेष दर दो स्टेशनों के बीच की समस्त दूरी के लिये लिया जाता है। यह दर श्रेणी दर (Class Rate) से कम होती है। यह दर केवल किसी विशेष प्रकार के सामान की आवश्यकता के अनुसार ली जाती है परन्तु इसके लिये रेलवे परिषद की पूर्व आज्ञा लेनी पडती है।

इसके अतिरिक्त ७५ मील से कम फासले मे ६ पाई प्रति मील की दर से कम दूरी का खर्च (Short Distance Charge) और लिया जाता है। सामान हमेशा सबसे कम दूरी वाले मार्ग से ले जाया जाता है।

यात्रियों के भाड़े की दरो पर भी फिर से विचार किया गया क्योकि इनके विषय मे सदा यह शिकायत रहती थी कि रेलवे प्रशासन हमेशा प्रथम और द्वितीय श्रेणी के यात्रियों की सुख सुविधा का ही ध्यान रखता है जब कि रेलो की अधिकांश आय तृतीय श्रेणी के यात्रियों से आती है। अत. १ जनवरी सन् १९४९ से यात्रियो का ४ श्रेणी के वर्गीकरण को ३ श्रेणी में कर दिया गया और मध्यम श्रेणी समाप्त कर दी और प्रथम श्रेणी का भाड़ा इस आशा से कम कर २४ पाई प्रति मील कर दिया गया कि द्वितीय श्रेणी के अधिकांश यात्री प्रथम श्रेणी मे यात्रा करना शुरू कर देगे। परन्तु ऐसा न हुआ और १ दिसम्बर १९४९ से प्रथम और द्वितीय के बीच एक श्रेणी द्वितीय स्पेशल और बना दी गई जिसका भाड़ा १४ पाई प्रति मील नियत किया गया। किन्तु इस नये वर्गीकरण से भी कोई लाभ न हुआ और अन्त में १ जुलाई १९५० से फिर वही चार श्रेणी का वर्गीकरण लागू किया गया और एयर कन्डीशन्ड डिब्बों का ६ पाई प्रति मील सरचार्ज भी समाप्त करके ३० पाई प्रति मील

भाड़ा कर दिया गया। १ अप्रेल १९५१ को फिर से दरों को रेलवे पुनर्संस्थापन व विकास कार्यों को चालू रखने के लिये कुछ बढ़ा दिया गया और एयर कन्डीशन्ड ३० पाई प्रति मील, प्रथम श्रेणी २७ पाई, द्वितीय श्रेणी १६ पाई, मध्यम श्रेणी मेल या एक्सप्रेस १०½ पाई, साधारण ९ पाई तथा तृतीय श्रेणी मेल या एक्सप्रेस ६ पाई, साधारण ५ पाई प्रति मील कर दिया गया। तत्पश्चात् १ अक्टूबर सन् १९५४ से कुछ गाड़ियों को छोड़कर अन्य सबसे प्रथम श्रेणी को समाप्त कर दिया गया है। १ अप्रेल १९५५ से यात्रियों के किरायों में और वृद्धि कर दी गई है। यद्यपि हम ऊपर देख चुके हैं कि आज रेलवे की आर्थिक स्थिति अच्छी है फिर भी रेलवे मंत्रालय ने किराया बढ़ाना उचित समझा है। दुरवीनी दर (Telescopic Rate) को पुनः फिर से लागू किया गया है और इस प्रकार दूरगामी यात्रियों को भारी रियायत दी गई है। आज कल की रेलों की यात्रियो की दर नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

यात्री भाडे की प्रति मील पाईयों मे दर

श्रेणी	१ अप्रेल १९५५ से पूर्व की दर	मील	वर्तमान दुरवीनी दर
एयर कन्डीशन्ड (Air Conditioned)	३०	१—३००	३४
		३०० व ऊपर	३२
द्वितीय श्रेणी (II Class)	१६	१—१५०	१८
		१५१—३००	१६
		३०१ व ऊपर	१५
मध्यम (Inter Class) मेल व ऐक्सप्रेस	१०½	१—१५०	११ मेल व एक्सप्रेस
			९½ साधारण
		१५१—३००	१०½ मेल व एक्सप्रेस
साधारण	९		९ साधारण
तृतीय (III Class)		३०१ व ऊपर	९½ मेल व एक्सप्रेस
			८½ साधारण
मेल व एक्सप्रेस	६	१—१५०	६½ मेल व एक्सप्रेस
			५½ साधारण
		१५१—३००	६ मेल व एक्सप्रेस
साधारण	५		५ साधारण
		३०० — व ऊपर	५ मेल व एक्सप्रेस
			४½ साधारण

इस प्रकार भाड़े की वृद्धि का देश भर में विरोध किया गया। फलत. रेलवे मंत्री ने निम्नलिखित तीन रियायतें दी है:—

(१) तृतीय श्रेणी के साधारण व्यक्तियों पर पहले ५० मील पर कोई वृद्धि न होगी।

(२) २० मन से कम भार पर १२.५ प्रतिशत प्रकार न लगाकर ६·२५% प्रकार (Short Distance Charge) लगेगा।

(३) न्यूनतम भाड़ा १ रु० २ आ० न होकर १ रुपया ही रहेगा।

इस परिवर्तन से ऐसा कहा गया कि ५० मील तक भाड़े के न बढ़ने से लगभग ६५ करोड़ व्यक्तियों को लाभ होगा क्योंकि रेल यात्रियों का लगभग ८०% भाग ५० मील से कम ही सफ़र करता है। किन्तु इन लोगों से अधिक भाड़ा न मिलने से रेलवे को लगभग १ करोड़ रु० की हानि होगी। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से मेल व एक्सप्रेस गाड़ियों में भीड़ भी कम होगी। इस प्रकार अब ५० मील से १०५ मील की यात्रा करने वाले व्यक्तियों को पहले से १ आना, ११० मील से १६० मील की यात्रा वालों को २ आना तथा १६० से ३०० मील तक के यात्रियों को ३ आना अधिक देना पड़ता है।

अब इस परिवर्तन से ६०० मील से ऊपर की यात्रा पर १५% भाड़ा घटा दिया गया है। हर ३०० मील की यात्रा करने वालों पर १२% भाड़ा बढ़ गया है। २५० मील तक की यात्रा करने वालों को भी पहले से अधिक किराया देना पड़ता है। इस प्रकार रेलवे मंत्रालय ने ६०% यात्रियों पर चोर दरवाजे (Back Door) से भाड़ा बढ़ा लिया है। इसके अलावा दूरबीनी दर (Telescopic Rate) का पुनः सूत्रपात किया गया है। इससे बड़े व्यवसायियों तथा व्यापारियों को तो निस्संदेह बहुत लाभ होगा परन्तु छोटे उत्पादकों को तो बहुत हानि होगी क्योंकि उनका बाज़ार तो सीमित ही है और उनकी अधिकांश वस्तुएं थोड़ी ही दूर तक जाती हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रगति—

योजना के अन्तर्गत रेलों के विकास के लिये ४०० करोड़ रुपया व्यय करना निश्चित किया गया था। परन्तु अनुमान है कि सन् १९५५–५६ के अन्त तक विभिन्न कार्यों में ४१८ करोड़ रुपया व्यय होगा। जिसमें से २६६ करोड़ रु० तो स्वयं रेलें देंगी तथा १५२ करोड़ रु० सामान्य राजस्व से प्राप्त होगा। रेलवे रालिंगस्टाक (ऐंजिन, माल व सवारी के डिब्बे) की ख़रीद के लिये २०७·९६ करोड़ रु० तय किया था। किन्तु अब इनमें २५० करोड़ रु० व्यय होगा। योजना के अन्तर्गत २०६२ ऐंजिन के लिये आर्डर दे दिया गया है, जिनमें से १३३५ बिदेशों से मंगाये जायेंगे और ७२७ भारत में ही बनाये जायेंगे। ऐसा अनुमान है, कि १९५५–५६ के अन्त में लगभग ३३००० माल के डिब्बे आयेंगे जिनमें से १२००० भारतीय होंगे और तभी तक इन्टीग्रेल कोच फैक्टरी भी उत्पादन शुरू कर देगी। किन्तु तब तक के लिये ५७८६ सवारी गाड़ी के डिब्बों का आर्डर दे दिया है। जिनमें से ७८९ विदेशोंसे आवेंगे और ४९९७ भारतीय होंगे। इसी कालमें पुरानी बन्द लाइनों को पुनः चालू किया गया और लगभग ३३५ मील नवीन लाइनों का निर्माण हो चुका है जैसे चम्पा-कार्बो कोयला क्षेत्र, गांधी धाम-दीसा, कस्तग्राम-परिहारपुर, चन्डीगढ़ रेल लिन्क, क्विलन-एरनाकुलम, गोंप-कटकोला, खण्डवा-हिंगोली, पठानकोट माधोपुर आदि। इसके अलावा फतेहपुर-चूरू, इन्दौर-उज्जैन, बराबिल-जोड़ा, तथा रानीबाग–भलाडी लाइनों को बनाने का आदेश भी दे दिया गया है। ग्रामीण छोटे स्टेशनों के निर्माण, अतिरिक्त लाइनो की व्यवस्था व इंजीनियरिंग कार्यों पर प्रथम तीन वर्षों में निर्धारित ४३·४१ करोड़ रु० का ५०% व्यय हो चुका था। इसी

काल में लगभग ७½ करोड़ रु० यात्रियों के सुख सुविधा के कार्यों जैसे प्लेटफार्म बनाना व बढ़ाना, गाड़ियों में सुधार, तृतीय श्रेणी की गाड़ियों एवं प्लेटफार्मों पर पंखा व बिजली का प्रबन्ध, प्रतीक्षालयों में पानी की सुविधा आदि की व्यवस्था में व्यय किये गये। श्रम कल्याण व रेलवे कर्मचारियों की अन्य सुविधाओं के हेतु भी अच्छा कार्य हुआ है। तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के जूनियर कर्मचारियों के लिये लगभग २२७८० नये क्वार्टरों का निर्माण हो चुका है। रेलों में भीड़ कम करने व बिना टिकट की यात्रा पर नियंत्रण करने के लिये २ अक्टूबर, १९५५ से प्रयोगात्मक रूप में दिल्ली-हावड़ा लाइन पर एक कोरिडर (Corrider) जनता गाड़ी चलायी गयी है जिसमें सोने व खाने पीने की सुविधा की व्यवस्था भी है। बहुत स्टेशनों के माल-गृहों में रात्रि के समय भी कार्य होना शुरू हो गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के संबन्ध में रेलवे मंत्री का यह अनुमान है कि १९६०–६१ तक भारत में ३४५०० से ३७५०० मील रेलें हो जायंगी अर्थात् ९% वृद्धि करने का लक्ष्य रखा जायेगा। लगभग ३००० मील से अधिक नई लाइनों का निर्माण होगा और १००० मील लाइनें दोहरी की जायंगी। इसके पश्चात रेलवे की कार्य-क्षमता में भी लगभग ५०% वृद्धि करने का लक्ष्य रहेगा। आसाम को देश के शेष भाग से बारह महीनों मिलाये रखने के लिये एक और दूसरी लाइन बनाने का भी विचार हो रहा है। रेलवे तथा जहाज़ यातायात के बीच एक सूत्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया जायेगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के संशोधित प्रारूप में यातायात और संचार के विकास पर ९०० करोड़ रु० की पूंजी, अर्थात् कुल व्यय का १८·८% भाग, व्यय करने की व्यवस्था की गयी है।

अध्याय २४

भारतीय यातायात (क्रमशः)

सड़क यातायात

आधुनिक युग में सड़कों का बड़ा भारी आर्थिक एवं सामाजिक महत्व है। संसार में सभ्यता के साथ-साथ सड़कों की मात्रा व किस्मों का भी विकास होता रहा है। सड़कों को किसी राष्ट्र की आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति का माप यन्त्र समझा जाता है। रस्किन ने ठीक ही कहा है कि "राष्ट्र की सारी सामाजिक व आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में ही निहित है"। आर्थिक क्षेत्र में भी सड़कों का भारी महत्व है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में तो सड़कों का और भी अधिक महत्व है। सड़कों के अभाव में कृषक को मजबूरन अपना माल गांवों में ही कम मूल्य पर बेचना पड़ता है। न तो वह अपना माल नगरों तक पहुंचा पाता है और न ही अपने उपयोग की वस्तुओं को नगरों से ला ही सकता है। देश की सुरक्षा के लिए भी सड़कें बहुत आवश्यक हैं। सन १९४७ में विभाजन के बाद की समस्याओं को हल करने में सड़क व सड़क यातायात ने बहुत कार्य किया था। जम्मू-पठानकोट सड़क के निर्माण हो जाने से भारत सरकार ने कुशलतापूर्वक काश्मीरियों की पाकिस्तानी आक्रमण से रक्षा की थी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास में, विकेन्द्रीकरण की योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने में, भारतीय रेलों को पर्याप्त यातायात की सामिग्री देकर उनको आर्थिक बचत करने में, नाशवान कृषि जन्य पदार्थों को बाजार तक पहुंचने तथा कृषकों के बच्चों को शिक्षित बनाने में सड़कों ने बहुत ही महत्वपूर्ण योग दिया है।

परन्तु इतना अधिक महत्व होने पर भारतीय सड़कों की वर्तमान मात्रा व अवस्था सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में, बर्मा को छोड़कर, लगभग १,७६,००० मील सड़कें थीं। जिनमें से ४७००० मील पक्की तथा १,२९,००० मील कच्ची थीं। इसी समय इंगलैंड में भी उतनी ही सड़कें थी जबकि वहाँ का क्षेत्रफल ब्रिटिश भारत का $\frac{१}{६०}$ था और अमेरिका में भारत से १२ गुनी अधिक सड़कें थीं। १९०० से १९४५ तक कुल ६०,५३५ मील नई सड़कों का निर्माण हुआ था जबकि इतनी सड़कें अमरीका में $१\frac{१}{२}$ वर्ष में ही बन गईं थीं। विभाजन के पश्चात भारत में केवल २,३९,००० मील सड़के रह गईं और ५७००० मील पाकिस्तान में चली गईं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वित होने से एक वर्ष पूर्व अर्थात सन् १९५० में भारत की सड़कें इस प्रकार थीं ;

राज्य	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें	कुल योग
	मील सं.	मील सं.	मील सं.
भाग 'अ' राज्य	६८,५६७	१२२,८६४	१६१,४६१
भाग 'ब' राज्य	२४,००४	१७,८३५	४१,८३६
भाग 'स' राज्य	२,८०१	५,१३१	८,१३२
भाग 'ड' राज्य	८१	...	८१
कुल योग	६५,४५३	१४६,०६०	२४१,५१३

अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय सड़कों की अवस्था नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

देश	कुल सड़कें	प्रतिवर्ग मील में सड़कें	प्रति १ लाख व्यक्ति सड़कें (मील संख्या)
	मील सं.	मील सं.	
अमरीका	३०,०६,०००	१.०२	२,४६६
इंगलैंड	१,७६,२६०	२·०२	३६२
फ्रांस	४,०५,०२८	१·८४	६३४
भारत	२,३६,०८१	०·२१	६७

उक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि भारतीय सड़कें अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में बहुत कम हैं। अधिकांश पक्की सड़कें रेलवे लाइनों के समानान्तर ही हैं या लगभग १० मील की दूरी तक हैं जिनसे केवल यातायात का द्विगुणीकरण हुआ है और बहुत दिनों से रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा की समस्या सामने आती रही है।

सड़कों का विकास:—भारत का प्राचीन इतिहास व मौहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से इस बात का पता चलता है कि ३५०० और २५०० बी. सी. में भी देश में बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में भी मौर्य काल के राज-मार्गों का उल्लेख दिया है। हिन्दू तथा मुगल बादशाहों ने भी देश की सड़कों का निर्माण बड़े उल्लास से कराया था। ब्रिटिश काल में भी सड़कों का कुछ विकास हुआ। परन्तु वास्तव में प्रथम महायुद्ध के बाद तक सड़कों के विकास की ओर न तो केन्द्रीय सरकार ने और न प्रान्तीय सरकारों ने कोई विशेष ध्यान दिया था। किन्तु १६२० के पश्चात मोटर गाड़ियों की सख्या में वृद्धि होने से सरकार का ध्यान सड़क निर्माण की ओर आकर्षित हुआ। फलतः भारत सरकार ने डा० जयकर की अध्यक्षता में, नवम्बर सन् १६२७ में एक 'भारतीय सड़क विकास समिति' सड़कों के विकास व उनकी वित्तीय व्यवस्था की जांच करने के हेतु नियुक्त की। समिति ने १६२८ में अपनी रिपोर्ट में कहा कि सड़कों का विकास आर्थिक व सामाजिक प्रगति और रेलों के हित के अत्यन्त आवश्यक है। समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने 'केन्द्रीय सड़क विकास कोष' १६२६ में स्थापित किया जिसमें पेट्रोल पर आयात व उत्पादन कर से प्राप्त आय जमा की जाती थी। इसमें से १५% तो सुरक्षित कोष में जमा करा दिया जाता था और शेष प्रान्तीय सरकारों को सड़क निर्माण के हेतु पेट्रोल के उपभोग की मात्रा पर दे दिया जाता था। इस कोष में लगभग १½ करोड़

रु० प्रति वर्ष जमा होता था और मार्च १९४७ तक २७·०३ करोड़ रु० जमा हो चुका था।

सड़क कांग्रेस (Road Congress):—

सन् १९३४ में सरकार ने 'भारतीय सड़क कांग्रेस' नामक एक अर्द्ध सरकारी संस्था व्यवसायिक ज्ञान व अनुभव संग्रह करने के लिए स्थापित की। सड़को का प्रबन्ध करने वाले सब इंजीनियर इस कांग्रेस के सदस्य बन सकते थे। १९३४ में केवल ७४ सदस्यों से यह संस्था शुरू हुई थी। आज लगभग १२५० इंजीनियर कांग्रेस के सदस्य है। सड़क निर्माण कार्य में इस संस्था ने अच्छा योग दिया है। इसकी अनेक उप-समितियां है, जो पुलों के विस्तृत विवरणों, मार्ग निरीक्षण और मिट्टी विषयक अनुसन्धान आदि प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सड़कों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। सेना के आवागमन तथा उसके लिए आवश्यक सामान अथवा युद्ध सामिग्री भेजने के लिए मोटरो की बहुत बड़ी संख्या में प्रयोग करना पड़ा। अतः सरकार का ध्यान केवल पुरानी सड़कों की मरम्मत की ओर ही नहीं गया बल्कि बहुत सी नई सड़कें भी बनवायीं।

नागपुर योजना—ऐसी परिस्थितियो में सड़को के भावी विकास की समस्या पर विचार करने के लिए सन् १९४३ में राजकीय मुख्य इंजीनियरो का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में सड़कों के विकास की एक १०वर्षीय योजना बनाई गई जो 'नागपुर योजना' के नाम से प्रचलित है। योजना के अन्तर्गत सडको का इस प्रकार से वर्गीकरण कर दिया गया। (१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways), (२) प्रान्तीय राजमार्ग (Provincial Or State Highways) (३) बड़ी जिला सड़कें (Major District Roads), (४) छोटी जिला सड़कें (Minor District Roads) और (५) ग्रामीण सड़कें (Village Roads)

राष्ट्रीय राजमार्ग वर्तमान मुख्य (Trunk) सड़कों का ही अनुकरण करेंगे और वह प्रान्तीय राजधानियों, बन्दरगाहों तथा बड़े नगरों को परस्पर मिलायेंगी। विभाजन से पूर्व यह सड़कें १८००० मील थी किन्तु बाद में १३,४०० मील रह गई। इन सड़कों का निर्माण, मरम्मत आदि की व्यवस्था व देख-रेख केन्द्रीय सरकार करती है।

प्रान्तीय राजमार्ग प्रदेश के अन्तर्गत व्यवसाय और उद्योग के मुख्य मार्ग है और मुख्य स्थानों व महत्वपूर्ण नगरों को राष्ट्रीय राजमार्ग से मिलाते है। इन मार्गो के निर्माण की देखरेख, मरम्मत आदि की जिम्मेदारी राज्य सरकार की है।

जिले की सड़कें उत्पादन क्षेत्रों तथा बाजारों को एक दूसरे से, तथा राजमार्गों व रेलों से मिलाती है। यह सड़कें जिला परिषद (District Board) के आधीन होती है।

ग्राम सड़कें गावों को एक दूसरे से तथा जिलों की सड़कों व राजमार्गों से मिलाती है। इनके बनाने, मरम्मत करने व देखरेख की जिम्मेदारी ग्रामीणो की ही सामूहिक रूप में होती है।

उक्त योजना के अन्तर्गत ६५,६०० मील पक्की सड़कें और ९५,५०० मील

कच्ची सड़कें जो कि आगामी २० वर्षों की यातायात सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंगी, निर्माण करने का लक्ष्य रखा गया था। योजना का यह उद्देश्य था कि कोई भी विकसित कृषि क्षेत्र मुख्य सड़क से ५ मील और साधारण ग्रामीण क्षेत्र से २० मील से अधिक फासले पर नहीं रहेंगे। मूल्यों के वर्तमान स्तर को ध्यान में रखते हुए इस योजना का कुल व्यय ७४४ करोड़ रु० कूता गया था जिसमें से १३३ करोड़ रु० राष्ट्रीय राजमार्गों और शेष ६११ करोड़ रु० अन्य सड़कों के लिये निर्धारित किया गया था।

भारत सरकार ने योजना के कुछ सुझावों को कार्यान्वित करना स्वीकार किया और राष्ट्रीय राजमार्गों की समस्त जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। इसके अतिरिक्त राज्यों ने अपने-अपने प्रदेशों की प्रान्तीय, जिला व ग्राम सड़कों के विकास के लिये पंचवर्षीय योजनाएं बनाईं जो सन् १९४७ से आरम्भ होने को थी। परन्तु इस ओर वास्तविक प्रगति कुछ सन्तोषजनक नहीं रही क्योंकि ३१ मार्च १९५० तक के तीन वर्षों में राष्ट्रीय राजमार्गों के अतिरिक्त अन्य सड़कों पर कुल २७·११ करोड़ रुपया व्यय हुआ जब कि नागपुर योजना में इनके लिये ६११ करोड़ रुपया निर्धारित हुआ था। इस प्रकार सड़क विकास योजना के कार्यों में, इन तीन वर्षों में ५% से भी कम प्रगति हुई। इस मन्द गति के निम्नलिखित कारण कहे जा सकते हैं :—

(१) सरकार की मुद्राप्रसार विरोधी नीति (Anti Inflationary policy)।

(२) देश का विभाजन और इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई अनेक सामाजिक व आर्थिक समस्याएँ।

(३) सड़कों के लिये भूमि प्राप्त होने में विलम्ब।

(४) सड़क निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामिग्री की कमी।

(५) तत्सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी का अपर्याप्त होना।

(६) सड़कों के विकास के प्रति अनेक राज्य सरकारों की उदासीनता।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों का विकास—

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १०,००० मील लम्बी पक्की सड़कों और २०,००० मील कच्ची सड़कों के बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। राष्ट्रीय राजमार्गों पर कुल ५४ करोड़ रु० व्यय होना था किन्तु प्रथम योजना में केवल २७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई जिसमें से प्रथम चार वर्षों में लगभग १८ करोड़ रु० व्यय हो चुका है। योजना के अन्तर्गत १६०० मील टूटी कड़ियों में से ९२५ मील को बनाने का लक्ष्य था, जिनमें से प्रथम तीन वर्षों में ३०० मील की कड़ियां बन चुकी थीं। १९५४-५५ के प्रारम्भ में ५३० मील कड़ियों पर और कार्य हो रहा था। इसके अतिरिक्त योजना काल में ३००० मील लम्बी सड़कों को सुधारना था, जिसमें से १९५३-५४ तक २१०० मील सुधारी जा चुकी थीं और ५४-५५ में १४२५ मील सड़कों पर कार्य शुरू कर दिया गया था। इसी प्रकार ६८ पुलों में से ४० पुल १९५५-५६ तक पूरे करने थे जिनमें से १९५३-५४ तक २० पुलों को बनाया जा चुका था और ५३ नये पुलों पर कार्य शुरू कर दिया गया था।

राज्य सड़कों पर योजना के प्रथम तीन वर्षों में ४७ करोड़ रु० व्यय हो चुका

ा। विभिन्न राज्यों का संयुक्त लक्ष्य उनकी सरकारों द्वारा प्रयोग के रूप में निश्चित
ये गये कार्य-क्रम पर आधारित है। इन कार्य-क्रमों को बनाने में राज्य सरकारों
ारा केन्द्रीय सड़क परिषद से सलाह लेना आवश्यक है। अनुमान है कि योजना काल
भाग 'क' राज्यों में पक्की सड़कें १०,००७ से १२,४५३ मील और भाग 'ख' राज्यों
७,५८८ से ८,१२९ मील हो जायेंगी तथा इन सभी राज्यों की कच्ची सड़कों में
मी कर दी जायेगी। 'ग' भाग के राज्यों में दोहरे उद्देश्य से योजनाओं पर कार्य हो
हा है—(१) कार्य-क्रमों के द्वारा वर्तमान सड़कों का सुधार हो सके और (२) नई
ड़कों का निर्माण करके उनकी शृंखला अगम्य क्षेत्रों से जोड़ी जा सके।

ग्राम सड़कों के विकास का जहां तक प्रश्न है, वे सामूहिक विकास योजना के
रीक्षण में बनाई जा रही हैं और आशा है कि योजना के अन्त तक १६·१७ हजार
ील कच्ची सड़कें बन जायेंगी। ग्राम सड़कों के निर्माण में गांव वालों का विशेष रूप
सहयोग प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार यह अनुमान है कि योजना काल की
माप्ति तक भारत में १,०७,००० मील पक्की और १,६७,००० मील कच्ची सड़कें
ो जायेंगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

सड़क विकास के जो कार्य-क्रम प्रथम योजना काल के अन्त तक अपूर्ण रह
ायेंगे, उन्हें द्वितीय योजना में पूरा किया जावेगा। द्वितीय योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय
ाजमार्गों में लगभग ४०% वृद्धि व राज्यमार्गों में ७५% वृद्धि करने का प्रस्ताव है
र्थात राष्ट्रीय मार्ग १२५०० मील से १७५०० मील हो जायेंगे और राज्यमार्ग
०,००० मील से ३५,००० मील हो जायेंगे। इस प्रकार द्वितीय योजना में सड़कों
ा विकास पहिले की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में
ड़कों के विकास पर लगभग २४६ करोड़ रु० व्यय करने का प्रस्ताव रखा गया है
ब कि प्रथम योजना में केवल १३० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था थी।

ड़क यातायात के आर्थिक लाभ

यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा सड़क यातायात के कुछ विशेष लाभ
ोते हैं। सड़कों से सबसे अधिक सामाजिक लाभ होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बिना
ूल्य के इनका प्रयोग कर सकता है जब कि अन्य यातायात की सेवाओं को प्राप्त करने
लिये मूल्य देना होता है। सड़कों को विभिन्न प्रकार के चालकों द्वारा प्रयोग किया जा
कता है। इन पर मनुष्य, पशु, घोड़ा गाड़ी, बैलगाड़ी, और मोटर गाड़ियां आदि सभी
ल सकती हैं जब कि रेल मार्गों पर केवल रेलगाड़ी, नदी और समुद्र में नाव व जहाज
ौर वायु में हवाई जहाज ही चल सकते हैं। सबसे प्रमुख लाभ तो सड़क यातायात की
स्थूलता (Flexibility) हैं; सड़क पर चलने वाले वाहन रेलों या अन्य यातायात के
ाधनों की भांति किसी एक निश्चित मार्ग से ही बंधे नहीं रहते बल्कि जिस क्षेत्र व
ार्ग पर अधिक यातायात की सामग्री मिले, वहीं पर चल सकते हैं। अस्थूलता के
ारण ही अन्य यात्रियों व व्यवसाइयों को अन्य सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं। सड़क
ातायात ही एक ऐसा साधन है जिसमें बिना अधिक मूल्य व लागत के प्रत्येक दरवाजे

पर सेवाएं (Door to Door Service) उपलब्ध की जा सकती हैं। अस्थूलता के कारण ही ऐसे मार्गों पर जहां कि यातायात सामग्री अधिक मात्रा में नहीं मिल पाती, यातायात की सुविधा की व्यवस्था की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सड़क यातायात में अपेक्षाकृत बहुत कम पूंजी की लागत होती है, क्योंकि सड़क निर्माण पर कुछ व्यय करना नहीं पड़ता तथा मोटर, गाड़ी आदि रेल, जहाज आदि से सस्ती होती है और इनकी कार्यवाहक पूंजी (Operational Cost) भी कम होती है। कम दूरी के स्थानों में सड़क यातायात के द्वारा समय की बहुत बचत हो जाती है।

सड़क यातायात को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : ग्रामीण यातायात व शहरी यातायात। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी प्राचीन ढंग की बैलगाड़ियां ही बहुत महत्वपूर्ण यातायात की साधन हैं। इतनी प्राचीन वाहन होने, तथा ग्रामीण क्षेत्रों के भी मोटरों के चलने पर भी देश की लगभग ७०% सामग्री बैलगाड़ियों के द्वारा ही ढोई जाती है। देश में अब भी लगभग ९० लाख बैलगाड़ियां हैं। भारत में प्रति ४० व्यक्तियों के पीछे एक बैलगाड़ी है जब कि प्रति १४००० व्यक्तियों के पीछे एक मोटर है। बैलगाड़ियों की यातायात सम्बन्धी क्षमता के विषय में यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में ९० लाख बैलगाड़ियां लगभग १०००० लाख टन माल प्रतिवर्ष ढोती हैं। लगभग ३०० करोड़ रु० की पूंजी तथा १ करोड़ मनुष्य व २ करोड़ पशु बैलगाड़ी यातायात में लगे हुए हैं। अतः कुछ विशेष आर्थिक महत्व व लाभों के कारण बैलगाड़ी भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात का महत्वपूर्ण साधन बनी हुई हैं और भविष्य में भी रहेंगी। इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि इनके लोहा चढ़े हुए पहिये सड़कों को बड़ी हानि पहुंचाते हैं। परन्तु इस दोष के कारण बैलगाड़ियों का अस्तित्व तो समाप्त नहीं किया जा सकता। अभी भविष्य में कम-से-कम ३० वर्ष तक तो इनके महत्व को कम नहीं किया जा सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बजाय बैलगाड़ियों को समाप्त करने के, जो कि असम्भव है, इनके रूप व निर्माण में विशेष सुधार किये जाँय जिससे इनका मुख्य दोष दूर किया जा सके। हाल ही में लोहे के पहियों के स्थान में रबड़ के पहियों (Pneumatic tyres) का प्रयोग किया गया है जो बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुआ है। इससे बैलगाड़ियों की क्षमता में वृद्धि समय व धन की बचत तथा सड़कों की रक्षा सम्भव हो सकेगी।

मोटर यातायात

शहरी यातायात के विभिन्न प्रकार के वाहन हैं—जैसे ट्राम, गाड़ी, मोटर बस, टैक्सी, मोटर रिक्शा, साइकिल रिक्शा, साईकिल, घोड़ा गाड़ी आदि। परन्तु मोटर गाड़ियां ही सड़क यातायात की सर्वोत्तम साधन हैं। मोटर यातायात का विकास भारत में पिछले तीस वर्षों में ही हुआ है। इससे पूर्व केवल बहुत अमीर व्यक्तियों के पास ही इनी-गिनी मोटरें थीं। सन १९१३ तक भारत में केवल ४००० गाड़ियां थीं। प्रथम विश्वयुद्ध में सुरक्षा के हेतु बहुत बड़ी संख्या में मोटर गाड़ियों का आयात किया गया था युद्ध समाप्ति पर यह गाड़ियां जनता को बेच दी गईं। अतः मोटर यातायात का वास्तविक विकास सन १९२० से प्रारम्भ हुआ। उस समय भारतीय सड़कों की बड़ी दुर्दशा थी और

इनको सुधारने की हर ओर से मांग हुई। भारत सरकार ने १९२७ में एक जयकर समिति नियुक्त की। इसी के सुझाव पर भारत में सर्वप्रथम मोटर गाड़ियों पर कर लगना प्रारम्भ हुआ।

तत्पश्चात १९३० के पश्चात मोटरों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। विशेषतः सामान ढोने के क्षेत्र में ट्रकों ने बहुत प्रगति की और रेलों से स्पर्धा करने लगीं, जिससे रेलों को प्रतिवर्ष लगभग २ करोड़ रु० की हानि होने लगी। सड़क यातायात के इस असंगठित और अपर्याप्त विकास ने भारत को "असमृद्ध रेलें तथा अपर्याप्त सड़कों का निकृष्ट रूप प्रदान किया" ऐसी परिस्थिति में सरकारी हस्तक्षेप बहुत आवश्यक होगया और फलतः मोटर यातायात को नियन्त्रित एवं सूत्रबद्ध करने के लिए मोटर गाड़ी अधिनियम, १९३९ में (Motor Vehicles Act, 1939) पास किया गया जिसके अनुसार मोटरों के चलाने को नियन्त्रित करने के लिये प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय यातायात अधिकारी को नियुक्त किया गया। स्वीकृत पत्र, सवारियों की निश्चित संख्या तथा निश्चित बोझा आदि की व्यवस्था कर दी गई।

द्वितीय युद्धकाल में मोटर मालिकों को पैट्रोल व फुटकर सामान की कमी के कारण अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। मोटर ट्रकों पर सुरक्षा के लिये सरकार द्वारा कब्जा कर लिया गया। लेकिन युद्ध के पश्चात् मोटरों की संख्या बहुत बढ़ गई है। भारत में सन् १९३९ में कुल १,४४,००० मोटर गाड़ियां थीं, जो मार्च १९४२ में २,७७,७३३ हो गईं, जिनमें २४,७३८ मोटर साइकिले, १,३३,६६८ मोटरकार, १२,३१६ टैक्सी, ३३,६८९ मोटर बसें, ६५,४४२ ट्रकें और ७,८८० विविध प्रकार की गाड़ियां थीं।[१]

परन्तु आज भी भारत के आकार और जनसंख्या को देखते हुए मोटर गाड़ियों की संख्या बहुत कम है। भारतीय सड़क एवं यातायात विकास संघ के अनुसार भारत में प्रति १ लाख व्यक्तियों के पीछे कुल ९३ मोटर गाड़ियां हैं जबकि अमरीका में २५८०१ हैं अर्थात् प्रति ४ व्यक्तियों पीछे १ मोटरगाड़ी। भारत व अन्य विकसित देशों की मोटरों की संख्या नीचे की तालिका में दी गयी है :—

देश	मोटर गाड़ियों की संख्या (टैक्सी, ट्रक, बस आदि)	जनसंख्या प्रति मोटर गाड़ी
यू० के०	३,३२१,४०१	१५
रूस	१,८००,०००	१०७०
यू० एस० ए०	५१,९४८,८०६	३·९
आस्ट्रेलिया	१,५२८,५७७	५·४
कनाडा	२,८२२,५५०	४·९
जापान	४१२,१११	२०३
चीन	५३,०००	४७४५
पाकिस्तान	३८,६५५	१९५८
भारत	३०४,६५५	११८८

[१] Indian & Pakistan Year Book, 1950

रेल-सड़क स्पर्धा व सामंजस्य (Rail-Road Competetion and Coordination):—

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि बड़े फ़ासले के और भारी यातायात के मामलों में सड़क यातायात रेलों से किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं कर सकता। केवल हलकी व महंगी वस्तुओं तथा कम दूरी के यातायात में ही इस प्रतिस्पर्धा का होना सम्भव हो सकता है।

भारत की अधिकांश पक्की सड़कों का निर्माण रेलों के समानान्तर ही हुआ था। १६२० के पश्चात से ही वैयक्तिक मोटरों और रेलों के बीच स्पर्धा आरम्भ हो गई जिसके फलस्वरूप मोटर के किराये में भारी कमी हुई और रेल यातायात ने मोटर के द्वारा यात्रा आरम्भ कर दी जिससे रेलों की आय घटने लगी।

सन् १६२६ ई० की महामन्दी के कारण रेलों की क्षमता बेकार रहने लगी, क्योंकि उनको पर्याप्त यातायात की सामग्री नहीं मिल पाती थी। उधर मोटर यातायात काफ़ी सस्ता हो गया, क्योंकि एक तो मोटरों का मूल्य गिरा और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय पैट्रोल कम्पनियों में घोर प्रतियोगिता के कारण पैट्रोल का मूल्य भी बहुत कम हो गया था। अतः रेल-सड़क प्रतियोगिता इस समय में और भी अधिक हो गई, जिससे रेलों को भारी आर्थिक हानि होने लगी और अनुमानतः २ करोड़ रु० प्रति वर्ष का घाटा होने लगा।

रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा की इस बढ़ती हुई समस्या पर अच्छी तरह से विचार करने के लिये, सरकार ने १६३२ में एक मिचेल-कर्कनेस समिति (Mitchell-Kirkness Committee) की नियुक्ति की जिसने सन् १६३३ में अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष पेश की। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि मोटर यातायात का विकास एवं कार्य पर अधिकतम नियंत्रण रखा जाय तथा यातायात सम्बन्धी एक केन्द्रीय यातायात मण्डल की स्थापना करनी चाहिये। समिति के सुझावों के अनुसार सन् १६३५ में मंत्रियों की अध्यक्षता में प्रत्येक प्रान्त में यातायात-परामर्शदातृ समितियां (Transport Advisory Committee) स्थापित की गयीं। इसके अतिरिक्त एक संवाहन विभाग (Communication Department) भी रेलों, सड़कों, जल तथा वायु मार्गों तथा डाक व तार की व्यवस्था का निरीक्षण करने के लिये स्थापित किया गया। सन् १६३६ में बेजउड-समिति (Wedgewood Committee) ने भी रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा की आर्थिक समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया और यह सुझाव दिया मोटर यातायात पर नियंत्रण रखने के लिये मोटर-चालकों व मालिकों को अनुमति पत्र (License) दिया जाने चाहिये तथा रेलों को भी स्वयं अपनी मोटरें चलानी चाहिये।

रेल और सड़क यातायात में सामंजस्य करने के लिये सन् १६३६ में मोटर गाड़ी अधिनियम (Motor Vehicles Act) पास किया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य मोटर यातायात पर पूर्णतया नियंत्रण रखना था। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय यातायात अधिकारियों की नियुक्ति हुई, जिनका कार्य लाइसेन्स वाली सड़कों पर चलने वाली मोटरों पर नियंत्रण रखना था और यह निरीक्षण करना था कि अधिनियम की

सभी बातें, अर्थात मोटरकी रफ्तार, सवारी संख्या, माल का लदान, मोटर के काम करने के घंटे आदि का ठीक से पालन किया जाता है या नहीं। उक्त नियमों का उल्लंघन करने वालों का चालान करके मुकद्दमा चलाया जाता था। सन् १९४६ से इसी अधिनियम के अन्तर्गत अनिवार्य बीमा कराने की योजना भी लागू कर दी गयी है।

किन्तु रेल-सड़क सामंजस्य की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण व ठोस कदम, भारत सरकार द्वारा स्वीकृत १९४८ का सड़क यातायात निगम अधिनियम (Road Transport Corporation Act) है, जिसे १९५० में संशोधित किया गया था। इस अधिनियम के अनुसार राज्य सरकारों को सड़क यातायात पर एक निगम द्वारा संचालित और नियन्त्रित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस समय देश के बहुत से प्रदेशों में मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है क्योंकि रेलों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए मोटर यातायात का शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रीयकरण करना अति आवश्यक समझा गया। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण हो जाने से रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा का तो लगभग अन्त ही हो चुका है और सफल सामंजस्य के अनेक मार्ग खुल गये हैं।

रेल-सड़क सामंजस्य की समस्या केवल एक ऐतिहासिक घटना मात्र ही रह गई है, किन्तु फिर भी सामंजस्य की बात रेलों की नीति पर कभी-कभी गलत प्रभाव डालती है जब कि परिस्थितियां काफी बदल चुकी हैं और भविष्य में सामंजस्य के स्थान पर यातायात नियोजन में अन्य समस्याओं का सामना करना है। रेल सड़क प्रतिस्पर्धा एक विशेष परिस्थिति में बढ़ी थी क्योंकि अधिकांश पक्की सड़कें रेलों के समानान्त रही थीं। परन्तु अब तो भविष्य में इस उद्देश्य से सड़कों का निर्माण होगा, जिससे वे पर्याप्त मात्रा में रेलों को यातायात सामग्री प्रदान कर सकें। अत. मोटरगाड़ियां अन्य क्षेत्रों में चलेंगी जिससे रेलों से स्पर्धा की कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। इसके अतिरिक्त अब पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि और औद्योगिक विकास के कारण ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो गई है, कि रेलों को अपनी स्वेच्छा से कुछ यातायात की सामग्री समानान्तर सड़कों के लिए छोड़नी पड़ेगी, क्योंकि रेलों की क्षमता में उसी अनुपात में वृद्धि न हो सकेगी जिससे कि देश का विकास हो रहा है। अतः अब रेलों को अन्य यातायात के साधनों की विकास योजनाओं का विरोध नहीं करना चाहिये। यदि फिर भी कहीं-कहीं कुछ स्पर्धा रह जाये तो यह रेलों की कार्यकुशलता के लिए अत्यन्त आवश्यक व सहायक सिद्ध होगी। अतः इस सारी समस्या पर दूसरे ही दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Road Transport)

मोटर यातायात के दिनोंदिन विकसित होने से और इसके विशेष आर्थिक लाभों जैसे अस्थूलता आदि के कारण अधिकांश यातायात सामग्री रेलों को छोड़कर मोटर यातायात की ओर खिचने लगीं जिससे एक तो रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा बढ़ी और रेलों को बहुत आर्थिक हानि हुई और स्वयं मोटर मालिकों में भारी प्रतियोगिता होने लगी। अतः मोटर यातायात की दशा भी खराब हो रही थी। अतः रेलों की आर्थिक हानि से

रक्षा करने व मोटर यातायात को नष्ट होने से बचाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप बहुत आवश्यक हो गया और सड़क यातायात का राष्ट्रीकरण एक बहुत ही विवादपूर्ण समस्या बन गई।

पक्षीय विवाद—सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण होने से यातायात सेवाओं की क्षमता व कुशलता में वृद्धि होने के साथ-साथ उनके मूल्य में भी कमी हो सकेगी। किराये भाड़े स्थाई हो सकेंगे और यात्रियो की अधिकतम सुविधाओं की व्यवस्था हो सकेगी। मोटर बसें आयोजित समयानुसार चलेंगी, भीड़ कम होगी और अन्य सुविधायें जो वैयक्तिक यातायात नहीं दे पाता, प्रदान की जा सकेंगी। इसके अतिरिक्त ऐसे अलाभकारी क्षेत्रों में भी यातायात की व्यवस्था की जा सकेगी जिनमें कि अबतक यातायात की सामग्री की कमी के कारण कोई भी व्यक्ति यातायात की व्यवस्था नहीं करना चाहता। सड़क निर्माण कर्त्ता तथा सड़क प्रयोग कर्त्ता में कोई भेद न रहेगा। अन्त में राष्ट्रीयकरण के पश्चात यातायात विभाग के कर्मचारियों के साथ उचित व्यवहार होगा। उन्हे उचित वेतन, आराम, छुट्टी निश्चित मयतक कार्य करना आदि अनेक सुविधायें प्रदान की जा सकेंगी।

विपक्षीय विवाद

वैयक्तिक मोटर मालिकों ने राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया। उन्होंने कहा कि हम लोगों ने एक ऐसे नवीन उद्योग में अपनी पूंजी को लगाया जिसमें बड़ा भारी खतरा था। जब तक मोटर यातायात में हानि होती रही तब तक किसी ने भी राष्ट्रीयकरण की बात न सोची और अब जब कि थोड़ा-बहुत आर्थिक लाभ होने लगा है, कुछ लोग और स्वयं सरकार राष्ट्रीयकरण का नारा लगाने लगे है। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीयकरण की दिशा में सरकार का कोई भी कदम भारतीय संविधान का उल्लंघन करेगा और घोर अनैतिकता का उत्कृष्ट उदाहरण होगा। सरकारी यातायात में कोई स्पर्धा न होने के कारण यात्रियों की सुविधा व कुशलता का कोई ध्यान नहीं रखा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी हानि यह होगी कि मोटर यातायात की अस्थूलता का लाभ समाप्त हो जायेगा। सरकार को मोटर मालिकों को बहुत बड़ी मात्रा में मुआवजा देना पड़ेगा जो सरकार की वर्तमान आर्थिक स्थिति में बहुत कठिन होगा। सरकारी यातायात के किराये भाड़े अधिक होंगे जिनका यात्रियों एवं व्यवसायियों पर अधिक भार पड़ेगा। फिर राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि मोटर यातायात को नियंत्रित रखने के लिये मोटर गाड़ी अधिनियम की विभिन्न धारायें ही पर्याप्त है। अन्त में राष्ट्रीयकरण के पश्चात यह सम्भव है कि किसी भी समय और किसी भी बात पर केन्द्रीय व राज्य सरकारों में जो क्रमशः रेल और सड़क यातायात का संचालन करती हैं, भारी मतभेद हो जाय। अतः राष्ट्रीयकरण से रेल-सड़क सामंजस्य कोई निश्चित रूप से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की आयकर की आय में भारी कमी हो जायेगी और यह भी सम्भव है कि राज्य सरकारें पैट्रोल व गाड़ियों पर आयात कर और टायर, फुटकर पुर्जों आदि पर आवकारी कर को कम-से-कम करने की माँग करें जिससे केन्द्रीय सरकार की आय और भी

कम हो जायेगी।

इतना विरोध होते हुए भी भारत सरकार ने राष्ट्रीयकरण की नीति को ही अपनाने का निश्चय किया और अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए सन् १९४८ में एक सड़क यातायात निगम अधिनियम (Road Transport Corporation Act) पास किया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को सड़क यातायात को नियंत्रित रखने और उसका स्वयं संचालन करने का अधिकार प्राप्त हो गया। किन्तु इस विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार की सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की कोई पूर्व निश्चित योजना नहीं थी, बल्कि परिस्थितिवश सरकार को ऐसी नीति अपनाने के लिये मजबूर होना पड़ा था। रेलवे बोर्ड की सलाह से सरकार ने सन् १९४५ में यह सुझाव दिया था कि यातायात सम्बन्धी वर्तमान स्पर्धा व आर्थिक हानि की समस्या को हल करने के लिये एक त्रिदलीय कम्पनी स्थापित करनी चाहिये जिसमें रेलवेज, प्रान्तीय सरकारें और वैयक्तिक मोटर चालक हिस्सेदार होंगे। यह कम्पनी प्रत्येक प्रान्त में रेलों के सहयोग से सड़क यातायात का संचालन करती जिससे रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा समाप्त होती और जनता को कम मूल्य पर यातायात की उत्तम सुविधा प्राप्त होती। परन्तु अभाग्यवश वैयक्तिक मोटर चालकों ने इस कम्पनी में भाग लेना स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनको भय था कि उनका पक्ष हमेशा कमजोर रहेगा और सरकार अपनी मनमानी करेगी। अतः ऐसी परिस्थिति में रेल-सड़क सामंजस्य के लिये और अपने बढ़ते हुए व्यय को पूरा करने के लिये आय बढ़ाने के लिये सरकार को सिवाय सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के कोई दूसरा उपाय न सूझा।

इस समय भारत के अधिकांश राज्यों जैसे—आसाम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्य भारत, पंजाब, दिल्ली, बम्बई, राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर, त्रिवांकुर कोचीन आदि में सरकार द्वारा मोटर यातायात का संचालन किया जाता है। किन्तु सभी राज्यों में मोटर यातायात की प्रबन्ध व्यवस्था समान नहीं है। उड़ीसा व मध्य प्रदेश में संयुक्त पूंजी-वाली कम्पनियां मोटर यातायात का प्रबन्ध करती हैं। दिल्ली व बम्बई में सरकारी विधान के आधार पर निर्मित संस्थाओं द्वारा मोटर यातायात का संचालन होता है। मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा पंजाब में राज्य सरकारों व रेलों ने भी इस कार्य में सक्रिय भाग लिया है। कुछ राज्यों में सरकार के यातायात विभाग के द्वारा ही मोटर यातायात का संचालन होता है। बिहार, हैदराबाद और मैसूर में सन् १९५० के संशोधित सड़क यातायात निगम अधिनियम के अनुसार वैधानिक निगमों का निर्माण किया गया है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप भारत के निभिन्न राज्यों में अनेक कारणों से, (मुख्यतः आर्थिक कठिनाइयों के कारण) समान प्रगति भी नहीं हुई है। उत्तर प्रदेश में सरकारी यातायात की मील संख्या (लम्बाई) सन् १९४७ से १९५२ तक कुल ४६६० मील ही रही जब कि बम्बई में यह दो वर्ष में ही (१९४८ और १९५० के बीच) २४० मील से बढ़कर १५०३६ मील हो गई। उत्तर प्रदेश सरकार

ने आर्थिक कठिनाइयों के कारण मोटर यातायात के विषय में अधिक प्रगतिशील नीति अपनाई है। १६५१ से १६५६ तक उत्तर प्रदेश सरकार ने बसों की संख्या १३०० से १८०० तक करने का निश्चय किया है जिनमें २५० माल ढोने वाली ट्रकें भी होंगी। राज्य सरकार ने सड़क यातायात का अधिक राष्ट्रीयकरण करने के पूर्व केन्द्रीय व क्षेत्रीय निर्माणशालाओं (work shops) और तत्सम्बन्धी आवश्यक सामग्री के भंडारों की सुव्यवस्था करने का निश्चय कर लिया है।

राष्ट्रीयकरण की समस्या के अनेक पहलू है जैसे राष्ट्रीयकरण किस भांति से आगे किया जाय, सरकारी यातायात की क्षमता और कुशलता कैसी है और राज्य-सरकारों को किस हद तक सडक यातायात का स्वयं संचालन करना अनिवार्य है—परन्तु अभी तक राष्ट्रीयकरण की भविष्य की नीति बनाने में सभी पहलुओं पर विचार न करके किसी एक पहलू पर ही विचार किया गया है। अतः सन् १६५४ में योजना आयोग ने केन्द्रीय यातायात मन्त्रालय की सलाह से, सड़क यातायात के विकास के लिये निम्नलिखित सिद्धान्त राज्य सरकारों के पास स्वीकृत के लिये भेजे थे।

माल यातायात

(१) सड़क माल यातायात के राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव पर सन् १६६१ तक अर्थात द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक कोई विचार न किया जायेगा।

(२) मोटर गाड़ी अधिनियम १६३६ के अनुसार वैयक्तिक मोटर स्वामियों को कम-से-कम ३ वर्ष तक के आज्ञा पत्र बडी संख्या में जारी करने चाहिये।

(३) कुछ स्वामियों को विशेष रूप से उत्साहित करने के लिये अधिकतम ५ वर्ष के लिये आज्ञा पत्र (Permits) देने चाहिये।

यात्री यातायात

(१) जो राज्य सरकारें सड़क यात्री यातायात का राष्ट्रीयकरण करना चाहती है उन्हें सन् १६६०-६१ तक छोटी-छोटी योजनायें बनाकर योजना आयोग के पास भेजनी चाहिये जिन पर कि जभी विचार होगा जबकि राज्य सरकारें निम्न (२) और (३) सिद्धान्तों को स्वीकार करेंगी।

(२) ऐसे क्षेत्रों में जो राष्ट्रीयकरण योजना के अन्तर्गत नही आते, वैयक्तिक मोटर चालकों को मोटर गाड़ी अधिनियम के अनुसार कम-से-कम ३ वर्ष की अवधि के आज्ञापत्र देने होंगे।

(३) राष्ट्रीयकरण योजना वाले क्षेत्रों में भी अधिनियम के अनुसार अधिक-तम अवधि के आज्ञा पत्र प्रदान किये जायेंगे, यातायात की सुविधाओं के विकास के लिये।

(४) जिन क्षेत्रों में राज्य सरकारें संचालन करना चाहती है, वहां सर्वप्रथम त्रिदलीय संस्था (Tripartite Organisation) जिसमें राज्य सरकार, रेलवेज और वैयक्तिक मोटर चालक हिस्सेदार हों, बनाने की चेष्टा करनी चाहिये।

(५) उन क्षेत्रों में जो पूर्णतया राष्ट्रीयकरण योजना से बाहर होंगे, सरकार को मोटर चालकों को बड़ी-बड़ी संस्था बनाने में विशेष रूप से उत्साहित करना चाहिये।

योजना आयोग के उक्त सिद्धान्त देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था में बहुत उचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि सड़क यातायात का पूर्ण राष्ट्रीयकरण, तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि सार्वजनिक क्षेत्र में निर्माण शालाओं व भंडारों के अतिरिक्त ३०० करोड़ रु० की पूंजी (१०० करोड़ रु० यात्री यातायात के लिये और २०० करोड़ रु० यात्री माल यातायात के लिये) का व्यय निर्धारित नहीं कर दिया जाता। अत: राज्य सरकारों को देश के आर्थिक विकास को और सड़क यातायात के विकास के महत्व को ध्यान में रखते हुए उक्त सिद्धान्तों का पालन करना ही बहुत उपयोगी होगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में मोटर यातायात

योजना आयोग ने राज्य सरकार की अन्य विकास योजनाओं की अपेक्षा मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण को विशेष महत्व नहीं दिया और राज्यों की सहायतार्थ सड़क यातायात के लिये सरकारी क्षेत्र में केवल १२ करोड़ रु० की व्यवस्था की। इस पूंजी को २००० मोटर गाड़ियों को खरीदने, और बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली में गाड़ियों की मरम्मत के लिये नवीनतम निर्माणशालाएँ स्थापित करने में व्यय करना था। योजना के प्रथम तीन वर्षों में राज्य सरकारों ने अपनी सड़क यातायात की योजनाओं पर ५·४२ करोड़ रु० व्यय किया था। यातायात सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करने के लिये एक अन्तर्विभागीय-अध्ययन मंडल (Inter Departmetnal Study Group) की स्थापना हुई है। अब द्वितीय योजना में सड़क यातायात पर १७ करोड़ रु० व्यय करना निर्धारित किया गया है।

अध्याय २५

भारतीय यातायात क्रमशः INDIAN TRANSPORT (CONTD)

जल यातायात Water Transport

आर्थिक महत्व

जल यातायात का प्रमुख लक्षण व गुण यह है, कि यह अन्य साधनों जैसे रेल, सड़क व वायु यातायात, की अपेक्षा बहुत सस्ता है। रेल और सड़क यातायात में मार्ग निर्माण में बहुत बड़ी पूंजी लगानी पड़ती है, परन्तु जल-यातायात का मार्ग तो स्वयं प्रकृति द्वारा बना होता है और इसके रखने व निर्माण करने में कुछ व्यय नहीं करना पड़ता। हां प्रारम्भ में नहरों के निर्माण में तथा नदियों को यातायात के योग्य बनाने में काफी व्यय हो सकता है, किन्तु फिर भी यह रेल मार्ग से बहुत कम होता है। जल-मार्ग प्राकृतिक होने के अतिरिक्त, पानी का प्रतिरोध (Resistance) इतना कम होता है जिससे नौका या जहाज चलाने में ईंधन की लागत भी कम होती है अतः जल यातायात और भी सस्ता हो जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में केवल १०० करोड़ रु० की लागत से एक अच्छे और कुशल आन्तरिक नौचालन के साधन का विकास किया जा सकता है।

किन्तु जल-यातायात का सबसे बड़ा दोष इसकी कम गति है। आज के युग में जब कि तीव्र गति के साधनों की बहुत आवश्यकता है, जल-यातायात ठीक साधन सिद्ध नहीं होता। अतः इस साधन को वही यातायात-सामग्री (Traffic) प्रयोग करती है जिसके ले जाने में अधिक समय लगने से कोई हानि नहीं होती। इसके अतिरिक्त कुछ देशों में नदियां ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती हैं और नौचालन असम्भव हो जाता है। ठंडे देशों में पानी जम जाने से भी नौचालन सम्भव नहीं होता।

भारतीय जल-यातायात को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आन्तरिक जल-यातायात और (२) तटीय व सामुद्रिक यातायात।

आन्तरिक जल-यातायात (Inland Water Transport)

रेलों के निर्माण से पूर्व भारत में यात्रा तथा यातायात के लिये जल मार्गों का ही प्रयोग किया जाता था, इसीलिये देश के अधिकांश बड़े और व्यापारिक नगर उनके किनारे पर ही बसे हैं। आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व तक गंगा में कानपुर तक और १०० वर्ष पूर्व तक यमुना में आगरे तक नौचालन होता था। ब्रह्मपुत्र तथा अन्य नदियों का भी इसी प्रकार उपयोग किया जाता था। परन्तु रेलों के निर्माण के पश्चात धीरे-धीरे आन्तरिक जल-यातायात का पतन होता चला गया, क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने अपनी सारी शक्ति और साधन रेलों के विकास ही में लगा दिये थे। नदी और नहरें प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत थीं. अतः इनके विकास के लिये कोई सामान्य नीति न

बन सकी। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने भी यही बताया कि भारत सरकार ने देश के जल मार्गों के विकास की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि वह तो रेलों के आर्थिक लाभ प्राप्त करने और उनके विकास में लगी थी।

सन १८७२ में ही आन्तरिक जल-मार्गों के महान समर्थक सर आर्थर काटन (Sir Arthur Cotton) ने यह सुझाव दिया था कि भारत में रेलों की अपेक्षा जल-मार्ग अधिक महत्वपूर्ण हैं तथा रेलों के दोष बताते हुए कहा था कि वे भारत की आर्थिक परिस्थितियों में पूर्णतया असफल रही हैं और बड़े कड़े शब्दों में यह सिफारिश की कि भविष्य में जल-मार्गों का ही विकास किया जाय क्योंकि इनमें रेलों से ८ गुनी कम लागत लगेगी। प्रत्यक्ष है कि भारतीय ब्रिटिश सरकार ने उक्त सुझाव पर कोई अमल नहीं किया और जल-मार्गों का पतन निस्संकोच होने दिया।

इतना होते हुए भी कुछ जल-मार्ग देश में आज भी यातायात के अच्छे साधन हैं। उदाहरण के लिये मद्रास राज्य में गोदावरी नहर योजना, किस्तना नहर, बंकिंघम लहर, कुरनूल-कुडप्पा नहर, पश्चिमी तट की नहरें आदि अच्छे-अच्छे जलमार्ग हैं। उड़ीसा में भी लगभग २५० मील लम्बे जलमार्गों में यातायात होता है। पश्चिमी बंगाल में जल-मार्ग द्वारा यातायात बहुत महत्वपूर्ण है। वास्तव में आज भारतीय यातायात में जब आन्तरिक जल-यातायात का बहुत ही निम्न स्थान है और रेलों द्वारा ढोये हुए माल का केवल १% ही इसके द्वारा ढोया जाता है। परन्तु इसके विकास का बहुत ही विशाल क्षेत्र है। आजकल भारत और पाकिस्तान में लगभग २५००० मील लम्बे जलमार्ग हैं जिसमें १०००० मील नदियां हैं और १५००० मील नहरें हैं। ६००० मील नदियों की कम-से-कम गहराई ३ फीट तक है और इनमें से लगभग ५००० मील लम्बी नदियां केवल बंगाल और आसाम में ही हैं। सन १९५० के अन्त में ५७२४ मील लम्बी ऐसी नहरें थीं, जिनमें कि स्टीमर और बड़ी-बड़ी नावें चल सकती थीं।

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत सरकार का ध्यान जल-मार्गों की ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि उस समय यातायात के साधनों का अभाव था तथा रेलों और मोटर यातायात पर बहुत भारी बोझ आ पड़ा था। युद्ध समाप्त होने पर भी सरकार का ध्यान बराबर इस ओर लगा रहा। भारतीय संविधान के अन्तर्गत आन्तरिक नदियां और जल-मार्गों का यातायात केन्द्रीय सरकार का विषय बन गया है। अतः भारत सरकार ने केन्द्रीय जल विद्युत्, सिंचाई व नौतरण आयोग (Central Waterways, Irrigation, Navigation Commission) पर देश के आन्तरिक जल-यातायात को नियोजित ढंग पर विकसित करने का उत्तरदायित्व सौंप दिया है। यह आयोग आन्तरिक जलमार्गों के विकास के उद्देश्य से वर्तमान जलमार्गों को सुधारने, नये जलमार्गों के निर्माण करने, तथा इनकी व्यवस्था को सुधारने में प्रयत्नशील है। साथ ही यह आयोग इन प्राकृतिक जलमार्गों के सुधारने के लिये विभिन्न राज्यों के प्रयत्नों में समन्वय करने का कार्य भी कर रहा है। आयोग आन्तरिक जल-यातायात की समस्या को दो दृष्टि-कोणों से हल करने की चेष्टा कर रहा है। एक तो जल-मार्ग बनाने, उनमें सुधार

करने तथा उनको जल-यातायात के योग्य बनाने की समस्या और दूसरे देशी नौका और जहाजों तथा जल-यातायात साधनों का आर्थिक संगठन इस प्रकार से करना, कि उन पर व्यापारियों का विश्वास बना रहे और यातायात-सामग्री मिलती रहे। इसके अतिरिक्त जल-यातायात की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के लिये पूना में एक नदी अनुसंधानशाला भी स्थापित की गई है।

औटो पौपर के सुझाव

भारत सरकार ने 'इकाफे' (E. C. A. E. A.) श्री औटो पौपर (Mr. Otto Popper) नामक विशेषज्ञ को आन्तरिक जल-यातायात की समस्या की जांच करने और इसके विकास के लिये सुझाव देने के लिये आमंत्रित किया। उन्होंने अपनी विज्ञप्ति में यह सुझाव रखा कि देशी नाव मालिकों की सहकारी संस्थाएं बनानी चाहियें जिससे व्यापारी वर्ग का उनपर विश्वास बना रहे और अधिक-से-अधिक यातायात-सामग्री प्राप्त हो सके। गंगा नदी के ऊपरी क्षेत्र में नावों पर माल लादने और उतारने के लिये क्रेन आदि यंत्रों का प्रयोग करना चाहिये तथा नदी की धारा के बदलने को रोकने के लिये नदी के किनारों पर झाड़ियां लगानी चाहियें। श्री पौपर ने यह अनुमान लगाया कि भारत में एक सुव्यवस्थित जल-यातायात की संस्था सिर्फ २ पैसा प्रति टन मील की भाड़े की दर से कुशलतापूर्वक कार्य कर सकती है, जब कि रेलों की वर्तमान भाड़ा दर २ आना प्रति टन मील है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

योजना आयोग ने प्रथम योजना में आन्तरिक जल-मार्गो के विकास के लिये १६ लाख रु० निर्धारित किया था। इस दिशा में गंगा ब्रह्मपुत्र जल-यातायात मंडल (Ganga Brahmputra Water Transport Board) जो सन १९५२ में नियुक्त हुआ था और दक्षिणी भारत जल-यातायात मंडल (South India Water Transport Board) नामक संस्थाएं अच्छा कार्य कर रही है। १६ लाख रु० में से १० लाख रु० गंगा ब्रह्मपुत्र जल-यातायात मंडल को और ६ लाख रु० दक्षिणी भारत जल-यातायात मंडल को देना स्वीकार किया गया था। १० लाख में से ४ लाख रु० का अनुदान तो केन्द्रीय सरकार द्वारा गंगा ब्रह्मपुत्र मंडल को सन १९५२-५३ और १९५३-५४ में दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक जल-यातायात के विकास की समस्या पर गंभीरतापूर्वक और विस्तार से विचार करने का कार्य अन्तर्विभागीय अध्ययन समुदाय को सौंप दिया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी नदी यातायात के विकास की विशेष योजनाओं का प्रस्ताव है। मद्रास तथा आन्ध्र के बीच की बकिंघम नहर को चौड़ा तथा गहरा किया जायेगा जिससे कि उसमें मोटर नौकाएं चल सकें। आसाम की योजना तथा गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-यातायात बोर्ड के लिये भी धन की व्यवस्था की जायेगी।

समुद्री यातायात (Oceanic Transport)

यद्यपि आधुनिक भारतीय समुद्री यातायात अपनी आरम्भिक अवस्था ही में है, परन्तु हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि भूतकाल में भारतीय जहाज-

रानी काफी प्रगतिशील थी और इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि भारत का मध्यपूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों से घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था और वस्त्र, मसाले तथा अन्य सामानों से भरी हुई नावें मलाया, इन्डोनेशिया, जावा इत्यादि को जाया करती थीं। मुस्लिम काल में भी भारतीय जहाजरानी बहुत विख्यात थी। परन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने के पश्चात भारतीय जहाजरानी का शनैः-शनैः पतन होता चला गया।

भारत में रेलों के निर्माण होने के पश्चात बहुत दिनों तक केवल रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा ही नहीं रही, वरन् रेल और समुद्री यातायात के बीच भी प्रतिस्पर्धा बनी रही थी। बहुत दिनों तक समुद्री यातायात के क्षेत्र में भारतीयों ने न तो स्वयं ही कोई ठोस कदम उठाया और न सरकार ने ही किसी प्रकार का प्रोत्साहन दिया। बल्कि जब कभी भी भारतीय कम्पनियों ने समुद्र में जलयान चलाने का प्रयत्न भी किया तो उन्हें विदेशी कम्पनियों की कडी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा जो इनके लिये घातक सिद्ध होता था। विदेशी कम्पनियां दो तरीके से घातक प्रतिस्पर्धा करती थीं—एक तो भाड़ा युद्ध (Rate Wars) अर्थात अपने भाड़े में बहुत कमी कर देना जिससे कोई प्रतिद्वन्दी टिक ही न सके। उदाहरणार्थ जब टाटा कम्पनी ने चीन से सूत व्यापार करने के लिये जहाजरानी कम्पनी चलाने का निश्चय किया तो पी० एण्ड ओ० कम्पनी (P. & O. Co) ने अपना भाड़ा १६ रु० प्रति टन मील से घटाकर १½ रु० प्रति टन मील कर दिया। ऐसी दशा में टाटा कम्पनी न टिक सकी और उसने कार्य समाप्त कर दिया। विदेशी कम्पनियों ने पुनः अपना भाड़ा १½ रु० से १७ रु० कर दिया। दूसरा तरीका स्पर्धा का था। विलम्बित कटौती प्रथा (Deferred Rebate System) जिसके अनुसार विदेशी कम्पनियां कुछ समय पश्चात भारतीय व्यापारियों को पिछले दिये हुए किराये में से कुछ कटौती इस शर्त पर देती थीं कि भविष्य में भी वे अपना माल इन्ही कम्पनियों द्वारा ही भेजेंगे। इस प्रकार से ब्रिटिश कम्पनियों ने भारत के तटीय व समुद्रीय व्यापार पर एक प्रकार से एकाधिकार प्राप्त कर लिया था और अधिक भाड़ा लेकर अनुचित लाभ उठाती थीं। महात्मा गांधी के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जहाजरानी के साथ सदा सौतेली मां का सा व्यवहार किया और विदेशी कम्पनियों के हित के लिये भारतीय जहाजरानी को कभी नहीं पनपने दिया।

ऐसी परिस्थितियों में, प्रथम युद्ध के पश्चात भारतीयों में कुछ जागृति हुई और भारतीय तटीय व्यापार के लिये मांग होने लगी अतः भारत सरकार ने सन् १९२३ में श्री० पी० एस० शिवस्वामी ऐयर के सुझाव पर एक 'मर्केन्टाइल मैराइन कमैटी' नामक समिति की नियुक्ति की जिसने मार्च, १९२४ की विज्ञप्ति में निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशें की थीं।

(१) लाइसेन्स प्रथा के द्वारा भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजरानी को ही सौंप देना चाहिये।

(२) देश के जहाज निर्माण उद्योग को आर्थिक सहायता देकर उसे पुनः जागृत करना चाहिये।

(३) भारतीयों को विदेशी कम्पनियों द्वारा नियुक्त करना चाहिये।

(४) भारतीय नवयुवकों को जहाजी शिक्षा देने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

किन्तु सरकार ने उक्त सिफारिशों की ओर कोई ध्यान न दिया और केवल भारतीयों को जहाजी शिक्षा देने का सुझाव स्वीकार कर लिया। फलतः सन् १९२७ में 'डफरिन' नामक शिक्षक जहाज का निर्माण किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भारत के पास केवल १,२५,००० जी० आर० टी० (Gross Registered Tonnage) के जहाज थे, जो संसार भर के जहाजों का ०·२४ प्रतिशत भाग है जब कि इंगलैंड में २५·९ प्रतिशत, अमरीका में १७·२९ प्रतिशत और जापान में ८·१ प्रतिशत जहाज हैं। इसके अतिरिक्त भारत का अपने तटीय व्यापार में केवल २५ प्रतिशत और समुद्री व्यापार में कुल १·प्रतिशत भाग था। ऐसी परिस्थितियों में भी भारत की सिंधिया जहाज कम्पनी बड़े प्रशंसनीय ढंग से अपने आपको जमाये रही और तटीय व्यापार तथा निकटवर्ती देशों से समुद्री व्यापार में भी भाग लेती रही—यह अति प्रशंसनीय है।

द्वितीय महायुद्ध काल में सरकार ने प्रथम बार खाद्यान्न के आयात और देश की सुरक्षा के लिये भारतीय जहाजों की कमी का अनुभव हुआ। युद्ध के पश्चात भारतीय स्वतंत्रता के बाद यहां की जहाजरानी के इतिहास का भी नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। जहाजरानी की गम्भीर समस्या पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर की अध्यक्षता में एक 'युद्धोत्तर पुर्ननिर्माण नीति उपसमिति' (Post-War Reconstruction Policy's Sub-Committee) नियुक्ति की जिसने सन् १९४७ में अपनी विज्ञप्ति प्रकाशित की। समिति ने अब तक की सरकारी नीति की कड़े शब्दों में आलोचना की और सरकार द्वारा जहाजरानी के विकास के लिये एक नई नीति बनाने की जोरदार सिफारिश की। समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थीं :—

(१) उन सभी जहाजी कम्पनियों में, जो भारतीय जल-यातायात के अनुरूप ही व्यवहार करना चाहती हैं, उनके हिस्सों व डिबेन्चरों का कम-से-कम ७५ प्रतिशत भाग भारतीयो के होने चाहिये तथा उनके सभी डाइरेक्टर्स और मैनेजिंग एजेन्टस भारतीय होने चाहिये।

(२) भारतीय तटीय व्यापार का १०० प्रतिशत, बर्मा, लंका तथा पड़ौसी देशों से होने वाले व्यापार का ७५ प्रतिशत, सामुद्रिक व्यापार का ५० प्रतिशत तथा धुरी राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले व्यापार का ३० प्रतिशत भाग ५-७ वर्ष के अन्दर भारतीय जहाजरानी के लिये सुरक्षित रहना चाहिये।

(३) भारतीय जहाजरानी को १ करोड़ टन सामान व ३० लाख यात्रियों को प्रति वर्ष ले जाने के लिये, छोटे जहाजों को छोड़कर, लगभग २० लाख टन वजन का जहाजी बेड़ा निर्माण करने की आवश्यकता होगी।

(४) भारतीय जहाजरानी का आरम्भिक काल होने के कारण, टनेज को सीमित करने या पूंजी विनियोग पर प्रतिबन्ध लगाने की तो कोई आवश्यकता नहीं

है, परन्तु एकाधिकार द्वारा शोषण (Monopolistic Exploitation) को रोकना चाहिए।

(५) बन्दरगाहों का प्रबन्ध यातायात विभाग से हटाकर, वाणिज्य विभाग के अधीन कर देना चाहिये।

(६) भारतीय जहाजरानी को प्राप्त नये व्यवसाइयों का विभिन्न कम्पनियों में समान वितरण करना चाहिये।

उक्त सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये समिति ने निम्नलिखित तरीके बताये थे :—

(१) भारत सरकार को किसी न्यायमूर्ति की अध्यक्षता में एक जहाजरानी बोर्ड (Shipping Board) नियुक्त करना चाहिये जिसमें सरकार, जहाजरानी व व्यापारियों के प्रतिनिधि सदस्य होगे। यह मण्डल जहाजरानी को दी जाने वाली सहायता के विषय में सरकार को सलाह देगी।

(२) २० लाख टन वजन का जहाजरानी का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश कम्पनियों से जहाजों की खरीद के लिये बातचीत करनी चाहिये। भारतीय जहाजरानी के लिये अमरीका से भी जहाज खरीदने चाहिये तथा देशी जहाज निर्माण उद्योग को उत्साहित करना चाहिये।

भारत की राष्ट्रीय सरकार ने उक्त सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा जहाजरानी के सम्बन्ध में इन्ही को अपना आधार बनाया है। सन् १९४७ में सरकार ने तीन जहाजरानी निगम (Shipping Corporations) जिनमें प्रत्येक के पास १० करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी हो और जो तीन निम्नलिखित विभिन्न जलमार्गों पर व्यापार करें, स्थापित करने का प्रस्ताव रखा।

(१) भारत-फारस की खाड़ी, भारत-लालसागर और मिश्री बन्दरगाह, भारत-चीन-जापान और भारत-आस्ट्रेलिया।

(२) भारत-अमरीका, भारत-मलाया द्वीप।

(३) भारत-पूर्वी एवं दक्षिणी अफ्रीका और भारत-यू० के०।

परन्तु वित्तीय कठिनाई के कारण भारत सरकार अब तक केवल एक पूर्वी निगम (Eastern Corporation) ही स्थापित कर सकी है। यह निगम १० करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी के साथ मार्च १९५० में स्थापित किया गया था जो भारत-सुदूर पूर्व, भारत-आस्ट्रेलिया और भारत-मध्यपूर्व जलमार्गों पर कार्य करता है। सिंधिया कम्पनी को इस निगम का मैनेजिंग एजेन्ट बनाया गया है।

इसके अतिरिक्त, १९४९ में तटीय जल-मार्गों में आवागमन के लिये जहाजों की उन्नति के सम्बन्ध में विचार करने के लिये एक जहाजी समिति (Sailing Vessels Committee) नियुक्त की गई थी। सरकार ने तटीय जहाजरानी पर नियन्त्रण औ लाइसेन्स जारी करने की प्रथा चालू कर दी थी।

भारतीय जहाजरानी के विकसित होने पर कुशल कारीगरों और इंजीनियरों की अधिक आवश्यकता होगी। इसीको ध्यान में रखते हुए सरकार ने बम्बई में सन्

१९४८ में अफसरों और चालकों की शिक्षा के लिये एक नाटीकल कालेज (Nautical College) स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में भी ७½ लाख रु० व्यय करके एक जहाजी इंजीनियरिंग कालेज (Marine Engineering College) की स्थापना की गई है।

सन् १९४७ से अब तक जहाजरानी ने काफी प्रगति की है। सन् १९४७ से ही भारतीय कम्पनियों ने विदेशों से समुद्री व्यापार में भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। सिन्धिया कम्पनी तथा इंडिया स्टीम कम्पनी दोनों ही भारत-अमरीका, भारत इंगलैंड व अन्य योरुपीय देशों के जल मार्गों पर जहाज चलाती हैं। १९४८ में सिन्धिया कम्पनी ने २ करोड़ रु० लगाकर भारत-इंगलैंड जलमार्ग पर यात्रियों को ले जाना भी आरम्भ कर दिया है। अप्रैल १९५० से यह दोनों कम्पनियां अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी सम्मेलन (International shipping conference) की पूर्ण सदस्य बन गई हैं। भारत अब "अर्न्तसरकारी जल यातायात सलाहकार संगठन" (Inter Governmental maritime consultative Organisation) जो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O) की एक विशेषीकृत संस्था है, का भी सदस्य है।

अगस्त, सन् १९५० में भारत सरकार ने तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिये सुरक्षित करने की नीति घोषित की और इस दिशा में सबसे पहिला कदम यह उठाया कि जनवरी, १९५१ में अंग्रेजी प्रभुत्व के जहाजी सम्मेलन के स्थान पर एक नई भारतीय तटीय सम्मेलन (Indian Coastal conference) की स्थापना की और आज सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों द्वारा ही किया जाता है।

जहाजरानी के विकास के लिये जहाज निर्माण के कारखाने का होना आवश्यक है। परन्तु भारत में जहाज बनाने का केवल एक ही कारखाना हिन्दुस्तान शिपयार्ड विशाखापट्टम में है, जो सन् १९४१ में स्थापित किया गया था और जिसमें सरकार और सिंधिया कम्पनी क्रमशः २:१ के अनुपात में संयुक्त स्वामी हैं। इस कारखाने में ८००० से १०००० टन तक के जहाज बन सकते हैं। सन् १९५१-५२ तक इसमें सिंधिया कम्पनी के लिये ८००० डैडवेट टन के ८ जहाजों का निर्माण हुआ था और १९४६-५२ तक सरकार के आदेशानुसार ४ जहाज और निर्मित किये गये थे। इस कारखाने का विकास करने की अति आवश्यकता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय जहाजरानी पुनर्निर्माण-नीति उपसमिति द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाई है। यद्यपि १,२५,००० टन से बढ़कर जहाजरानी का टनेज लगभग ४½ लाख टन हो गया है फिर भी यह २० लाख टन से बहुत कम है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार का कुल ५% भाग भारतीय जहाजों द्वारा किया जाता है जब कि उपसमिति ने यह लक्ष्य बनाया था कि इस व्यापार का ५०% भाग भारतीय जहाजों द्वारा किया जाना चाहिये। इस प्रकार अभी भारतीय जहाजरानी के विकास के लिये बहुत कुछ करना शेष है।

प्रथम योजना में जहाजरानी की प्रगति

योजना आयोग ने भारतीय जहाजों की संख्या व टनेज बढ़ाने पर तथा बन्दर-

गाहों पर सुविधायें इत्यादि बढ़ाने पर बहुत जोर दिया था। प्रारम्भ में भारतीय जहाजरानी का टनेज बढ़ाने के लिये १९.४५ करोड़ रु० निर्धारित किये गये थे जिसमें से १५.०१ करोड़ रु० जहाजी कम्पनियों को ऋण रूप में दिये जाने थे और ४.४४ करोड़ रु० का अनुदान पूर्वी निगम को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिया जाता था। बाद में धन की मात्रा बढ़कर २३.१६ करोड़ रु० कर दी गई थी। किन्तु योजना के प्रथम तीन वर्षों में केवल ६.५४ करोड़ रु० व्यय हुआ था। सन् १९५४-५५ में ५.३८ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान लगाया गया है।

योजना के कार्यान्वित होने से पूर्व भारत में ३९०७०७ जी० आर० टी० के जहाज थे, जिसमें से २१७२०२ टन के तटीय यातायात में और १७३५०५ समुद्री यातायात में थे। योजना में सन् १९५५-५६ के अन्त तक ६१००५३ टन के जहाज प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया इस प्रकार पांच वर्षों में २१९,३४६ टन अतिरिक्त टनेज की वृद्धि करनी थी। यह आशा की गई थी कि योजनाकाल में विशाखापट्टम के कारखाने से १६५००० जी० आर० टी० के जहाज प्राप्त हो जायेंगे इनमें से ६०००० जी० आर० टी० के जहाजों से पुराने घिसे-पिटे जहाज बदले जायेंगे और शेष तटीय व्यापार में लगाये जायेंगे। इसी प्रकार समुद्री यातायात में ७०००० जी० आर० टी० और पूर्वी निगम में ४०००० जी० आर० टी० की वृद्धि करने का लक्ष्य था।

योजना के कार्यान्वित होने के पश्चात प्रथम तीन वर्षों में ही तटीय व्यापार पर १०१,९४८ जी० आर० टी० की अतिरिक्त वृद्धि हुई है। परन्तु विदेशी समुद्री व्यापार पर बडी धीमी गति से प्रगति हुई है। प्रथम दो वर्षों में तो कम्पनियों द्वारा कोई नये जहाज खरीदे ही नहीं गये, किन्तु तीसरे वर्ष में १४००० टनों की अतिरिक्त वृद्धि हुई और हाल ही में जहाज कम्पनियों ने जहाज खरीदने के समझौते पूरे कर लिये हैं और आशा है कि ५५-५६ के अन्त तक अपने ७०००० जी० आर० टी० के निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगी। पूर्वी निगम में भी २१६०० जी० आर० टी० की अतिरिक्त वृद्धि हो चुकी है और शेष दो वर्षों में १८४००० जी० आर० टी० और बढ़ाने हैं। इसी प्रकार बन्दरगाहों के विकास कार्यक्रमों की प्रगति भी बहुत मन्द गति से हुई है। ४३.३५ करोड़ रु० के निर्धारित व्यय में से प्रथम तीन वर्षों में केवल ९.६७ करोड़ रु० ही व्यय किया गया है क्योंकि एक तो बन्दरगाहों की विकास योजनाएं देर से बन कर तैयार हुई थीं और दूसरे अधिकांश रुपया मशीनों व पुर्जो पर व्यय होना है जिनके लिये विदेशों में आर्डर दे दिय गये हैं और उनके यहां आने में कुछ समय अवश्य लगेगा।

योजना के अन्तर्गत लगभग १०० प्रकाश स्तम्भों (Light House) में सुधार और विकास करने की व्यवस्था की गई थी और इसके लिये ४ करोड़ रु० निर्धारित किया था। किन्तु इस दिशा में भी कम गति से प्रगति हुई और यह अनुमान लगाया जाता है कि योजना के अन्त तक केवल आधा कार्य ही सम्पन्न हो सकेगा। सन् १९५३-५४ के अन्त तक केवल २१ प्रकाश स्तम्भों पर कार्य समाप्त हो चुका था और इस वर्ष इन कार्यों पर १२ लाख रु० व्यय किया गया था। इसके अतिरिक्त जहाज़-

रानी की शिक्षा सम्बन्धी कार्यों पर भी ११० लाख रु० के निर्धारित व्यय में से प्रथम तीन वर्षों में ४०·६६ लाख रु० व्यय हो चुका है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी जहाजों का टनेज बढ़ाने का प्रस्ताव है, और १९६०-६१ के अन्त तक इसमें १४६ प्रतिशत अर्थात ५,२५,००० जा० आर० टी० से १,५००,००० जी० आर० टी० तक वृद्धि करने का लक्ष्य बनाये जाने की सम्भावना है।

आरम्भ में यातायात मन्त्रालय ने जहाजरानी के विकास के लिये तथा बन्दरगाहों की सुवाधाओं में वृद्धि करने के लिये १३३ करोड़ रु० की मांग की थी। परन्तु द्वितीय योजना के प्रारुप में इन मदों पर लगभग ९३ करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में व्यय करने की व्यवस्था की है। बन्दरगाहों के विकास पर आगामी पांच वर्षों में लगभग ४५ करोड़ रु० खर्च होंगे, जिसमें से ४० करोड़ रु० कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन तथा कांडला बन्दरगाहों पर व्यय होंगे। इन योजनाओं में बन्दरगाहों में बड़े-बड़े जहाजों को खड़ा करने के स्थान में वृद्धि, मशीनों द्वारा जहाजों से माल तथा यात्रियों को उतारने-चढ़ाने की व्यवस्था तथा श्रम-कल्याण आदि की योजनाएं सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई, देवगढ़, वेनगुर्ला आदि बन्दरगाहों के प्रकाशगृहों (Light Houses) की शक्ति ८०,००० कि० वा० से २५००००० तक बढ़ा दी जायेगी तथा हुगली नदी योजना को भी कार्यान्वित किया जायेगा।

हवाई यातायात Air Transport

आर्थिक महत्व

आधुनिक युग में देश के आर्थिक, औद्योगिक व अन्य कार्यों का मूल आधार 'गति' (Speed) है तथा यातायात के मूल आधार वे साधन हैं जो यात्रियों व सामान का तीव्र गति से यातायात कर सकें। हवाई यातायात की प्रमुख विशेषता व गुण इसकी 'गति' ही है। साधारण हवाई जहाज़ भी १५०-२०० मील प्रति घंटा की गति से उड़ता है। आजकल बी० ओ० ए० सी के जैटप्लेन 'कोमेट' जो ५५० मील प्रति घंटा की गति से उड़ता है भारत-यू० के मार्ग पर बम्बई से लन्दन केवल ११ घंटे में ही जा सकता है। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण हवाई यातायात में अन्य यातायात साधनों की भांति कोई बाधा नहीं पड़ सकती और बड़ी-बड़ी यात्राएँ भी बिना किसी रुकावट के सम्पन्न की जा सकती हैं। हवाई यातायात का कार्यवाहक मूल्य कम होता है क्योंकि वायुमार्ग को प्राकृतिक देन ही होती है। परन्तु बेतार के तार की सुविधा और भूमि सुविधा (Wireless Facilities and Ground Facilities) पर बहुत धन व्यय करना होता है, फिर भी यह रेल मार्गों के व्यय से कम ही रहता है। इसके अतिरिक्त हवाई जहाजों को कृषि की रक्षा में टिड्डी दलों से लड़ने व कृषि के शत्रु कीटाणुओं को मारने के लिये पाउडर आदि बखेरने में भी काम में लाया जा सकता है। संकट काल में, बाढ़ अथवा भूकंम्प के समय यातायात का महत्व और भी अधिक हो जाता है। अगस्त-अक्टूबर १९५५ को भीषण बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों में हवाई

यातायात में अद्वितीय सेवा की है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और देश विभाजन के पश्चात भारतीय हवाई यातायात कम्पनियों ने यात्रियों तथा सामान को ढोने में, जांच पड़ताल करने में और शरणार्थियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में प्रशंसनीय कार्य किया था।

उक्त अच्छाइयों के साथ-ही-साथ हवाई यातायात के कुछ दोष भी हैं। सबसे प्रमुख दोष तो इसके ऊंचे किराये भाड़े हैं। हवाई जहाज द्वारा केवल बहुत धनी लोग या बहुत कीमती वस्तुएँ ही यात्रा कर सकते हैं, क्योंकि भारत में हवाई यात्रा का भाड़ा रेल के फर्स्ट क्लास से भी कई गुना अधिक है। फिर हवाई यातायात को मौसम के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि मौसम खराब होने पर हवाई जहाजों की उड़ान को स्थगित कर देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दुर्घटना का भय बना रहता है और हवाई दुर्घटनायें अन्य दुर्घटनाओं से अधिक भयंकर व घातक होती हैं। किन्तु यह दोष इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि जिनकी वजह से हवाई यातायात का विकास ही न हो, क्योंकि इनमें से प्रत्येक दोष का निवारण किया जा सकता है।

भारत जैसे विशाल देश में हवाई यातायात का बहुत महत्व है। भारत की स्थिति अन्तर्देशीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के वायु यातायात के लिये बहुत ही अनुकूल है। एक तो भारत में मुख्य केन्द्रों के बीच फासले बहुत अधिक हैं और दूसरे यहाँ का मौसम उड़ान के लिये वर्ष भर ही सुरक्षित व आपद-मुक्त रहती है। भौगोलिक दृष्टि से भी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात के लिये भारत की स्थिति अद्वितीय है क्योंकि पूर्व और पश्चिम में जाने वाले अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग भारत में होकर ही जाते हैं। अतः देश में हवाई यातामात के विकास का विशाल क्षेत्र बाकी है।

हवाई यातायात का विकास

यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा भारतीय हवाई यातायात बहुत देर से प्रचलित हुआ। यों तो सन् १९११ में ही बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड द्वारा प्रयोगात्मक रूप में बम्बई से करांची तक हवाई यात्रा प्रारम्भ होगई थी किन्तु सरकारी आर्थिक सहायता के अभाव में यह बन्द कर देनी पड़ी। प्रथम विश्वयुद्ध के समय में सरकारी प्रोत्साहन के कारण हवाई यातायात ने कुछ प्रगति की। परन्तु इसमें वास्तविक प्रगति तो द्वितीय विश्वयुद्ध-काल व बाद ही में हुई है।

सन १९२७ में भारत सरकार ने एक नागरिक उड़ान विभाग (Civil Aviation Department) खोला और १९२८ में दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और करांची में 'फ्लाइंग क्लब' खोले गये। सन १९२९ में इम्पीरियल एयरवेज़ सर्विस को दिल्ली तक प्रसार करने का प्रबन्ध किया गया तथा विमान चालकों और टेकनीशियनों के शिक्षण की व्यवस्था की गई। इसी समय से हवाई यातायात का प्रचलन आरम्भ हुआ था। सन १९३२ में टाटा एयरवेज़ लिमिटेड ने पहले तो इलाहाबाद, कलकत्ता और कोलम्बो के बीच हवाई यातायात प्रारम्भ किया और बाद में कराची और मद्रास तक बढ़ा दिया। १९३३ में इंडियन नेशनल एयरवेज़ (Indian National Airways) ने भी देश के कुछ मार्गों पर कार्य करना शुरू कर दिया। १९३७ में एयर सर्विसेज़ आफ

इंडिया (Air Services of India) नामक कम्पनी स्थापित की गई, जिसको बाद में सिंधिया कम्पनी ने खरीद लिया। १९३८ में एम्पायर एयरमेल योजना चालू की गई। द्वितीय महायुद्ध काल में हवाई यातायात का बहुत विकास हुआ।

युद्ध के पश्चात पुनः नागरिक उड़ान को शुरू किया गया और हवाई यातायात कम्पनियों को युद्धकालीन माल की बिक्री के बहुत से डकोटा जहाज़, फुटकर पुर्जे, हवाई अड्डे व अन्य सुविधायें प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गईं। भारत सरकार ने भी युद्धोत्तरीय काल में हवाई यातायात को विकसित करने के लिये एक निश्चित हवाई उड़ान नीति निर्धारित की जिसकी मुख्य विशेषताएं यह थीं—

(१) हवाई यातायात को चलाने और विकसित करने का कार्य गैर सरकारी कम्पनियों पर छोड़ दिया गया।

(२) निश्चित रूप से कार्य करने वाली हवाई कम्पनियों को हवाई यातायात लाइसेन्स बोर्ड (Air Transport Lincense Board) से लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होगा।

(३) लगभग ४ कम्पनियां देश की प्रमुख हवाई यातायात सर्विसेज को संचालित करेंगी।

(४) विशेष परिस्थितियों में सरकार भी इन कम्पनियों को आर्थिक सहायता दे सकती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात, विभाजन के फलस्वरूप हवाई यातायात ने १९४७ में पाकिस्तान से और सन १९४९ में पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियों की रक्षा करने व उनको भारत लाने में तथा १९५० में काश्मीर में बहुत भारी कार्य किया था। युद्ध-काल में कम्पनियों के भारी लाभों के कारण भारतीय पूंजीपतियों को यह विश्वास हो गया कि हवाई यातायात का उद्योग बहुत लाभप्रद है, अतः बहुत सी नई कम्पनियों का निर्माण हुआ और सन १९४९ के अन्त तक ११ कम्पनियां A. T. L. B. से लाइसेन्स प्राप्त कर चुकी थीं। सन १९४८ में अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात में भी भारत ने भाग लेना शुरू कर दिया। टाटा कम्पनी और भारत सरकार ने संयुक्त रूप में Air India International Ltd. नामक कम्पनी स्थापित की जो अब बम्बई, लन्दन तथा दिल्ली से विभिन्न यूरोपीय देशों के लिये हवाई जहाज़ चलाती है। जनवरी, सन १९४९ से रात्रि हवाई डाक सर्विस (Night Air Mal Services) भी प्रारम्भ कर दी गई।

परन्तु अभी तक हवाई यातायात में जो प्रगति हुई, वह बड़ी अनियन्त्रित व बिना किसी योजना के हुई। लाइसेन्सिंग बोर्ड ने विभिन्न कम्पनियों को बिना किसी सिद्धान्त के लाइसेन्स दे दिये थे फलतः यातायात सामग्री को देखते हुए हवाई कम्पनियों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो गई और कुछ को तो पर्याप्त कार्य भी नहीं मिल पाता था। अस्थायी कम्पनियां जो कि (Director General of civil Aviation) की आज्ञा से हवाई यातायात का कार्य करती थीं, स्थायी कम्पनियों से कड़ी प्रतिस्पर्धा करने लगीं। इसके अतिरिक्त यद्यपि हवाई यातायात सामग्री दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी फिर भी हवाई कम्पनियों के कार्य संचालन का व्यय तीव्र गति से बढ़ता जा

रहा था और कम्पनियों के द्वारा ऋण व अनुदान के रूप में सरकारी सहायता की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती रही। सरकार द्वारा पर्याप्त आर्थिक सहायता देने के बाद भी इन कम्पनियों की दशा में कोई सुधार न हो सका और उनके स्वावलम्बी बनने के कोई लक्षण नजर नहीं आते थे। उनके संचालन में कुशलता का अभाव था और कार्य-संचालन की लागत को कम करने के लिये कोई सामंजस्य नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कम्पनियां बिना सरकारी आर्थिक सहायता के अपने लिये आवश्यक सामान भी खरीदने की स्थिति में नही थीं। ऐसी परिस्थितियों में सरकार इन कम्पनियों का स्वयं संचालन करने का विचार करने लगी। सन् १९५० में भारत सरकार ने हवाई यातायात की समस्याओं की जांच करने व इसके विकास के लिये सुझाव देने के लिये न्याय-मूर्त्ति राज्याध्यक्ष की अध्यक्षता में एक हवाई यातायात जांच समिति (Air Transport Enquiry Committe) नियुक्त की।

राजाध्यक्ष समिति के सुझाव

हवाई यातायात के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् की विभिन्न कठिनाइयों और समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए, समिति ने कम से-कम आगामी ५ वर्षों के लिये हवाई-यातायात के राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। समिति ने कम्पनियों के पुनर्संङ्गठन व इनके वर्तमान दोषों व अभावों के निराकरण के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये।

(१) कुछ कम्पनियों को नये लाइसेन्स न दिये जायं और दूसरी कम्पनियों को इस प्रकार संगठित किया जाय, कि क्षेत्रीय आधार पर केवल ४ कम्पनियाँ ही बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और हैदराबाद में कार्य कर सकें।

(२) कम्पनियों के मार्गों का इस प्रकार से पुनर्विभाजन करना चाहिये जिससे एक ही मार्ग पर कई कम्पनियां कार्य न कर सकें।

(३) कम्पनी को अचल पूंजी पर १०% लाभ होने के सिद्धान्त के आधार पर भाड़े में संशोधन होना चाहिये।

(४) पुराने व घिसे-पिटे हवाई जहाजों को हटाकर इनकी संख्या में कमी करनी चाहिये और अनावश्यक कर्मचारियों को अलग कर देना चाहिये।

(५) सरकार को आर्थिक सहायता के रूप में कम्पनियों के पैट्रोल के व्यय पर छूट जारी रखनी चाहिये।

(६) विदेशी कम्पनियों को केवल एक ही एजेन्सी के नियंत्रण व निर्देशन में कर देना चाहिये।

अस्थायी रूप से हवाई जहाज चलाने वाली कम्पनियो के लिये सिविल एविएशन के डाइरेक्टर जनरल द्वारा कुछ नियम बना देने चाहिये और उनको स्थायी कम्पनियों के मार्गों पर जहाज चलाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये।

यद्यपि भारत सरकार ने समिति के उक्त सुझावों में से अधिकांश को स्वीकार कर लिया था परन्तु उनको कार्यान्वित न किया जा सका।

हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण—

यद्यपि हवाई यातायात के राष्ट्रीयकरण का जांच समिति ने कड़ा विरोध किया था, फिर भी सरकार ने हवाई कम्पनियों की बिगड़ती हुई दशा को देखकर, जो काफी क्षति उठा रही थीं और समिति की आशानुकूल अपनी स्वेच्छा से एकीकरण करने के पक्ष में नहीं थी, उनका राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय कर लिया। किन्तु सदा की भांति इस बार भी इसके पक्ष व विरोध में बहुत से तर्क दिये गये जो इस प्रकार थे।

पक्षीय तर्क—

(१) राष्ट्रीयकरण से हवाई यातायात के कार्य संचालन-व्यय में कमी होगी और कुशलता में भी वृद्धि होगी तथा प्रत्येक हवाई जहाज का अधिकतम उपयोग हो सकेगा तथा कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा से होने वाली हानियों का अन्त हो जायेगा।

(२) नागरिक हवाई यातायात का अच्छा संगठन किया जा सकेगा जिससे युद्ध बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि जैसे संकट काल में विमानों, विमान चालकों तथा टैकनीशियनों आदि के अभाव का सामना न करना पड़ेगा।

(३) सरकार जन-हित का ध्यान रखते हुए एक ही नीति द्वारा हवाई यातायान का संचालन कर सकेगी तथा बिना लाभ के ध्येय के सस्ती व कुशल हवाई सेवायें प्रदान कर सकेगी।

(४) एक प्रबन्ध होने के कारण बड़े-बड़े अधिकारियों व अफसरों की तनखाहों की बचत होगी और पुनरावृत्ति और बेकार की बरबादी रुक जायेगी।

(५) जन-हित को ध्यान में रखते हुए केवल सरकार ही अलाभकारी विकास योजनाओं को कार्यान्वित कर सकती है।

(६) इसके अतिरिक्त सरकार पहिले से ही हवाई अड्डों के निर्माण, मेटियरोलाजिकल विभागों की स्थापना, विमान चालकों (Pilots) के प्रशिक्षण आदि के प्रबन्ध में तथा कम्पनियों को आर्थिक सहायता के रूप में बहुत-सा धन व्यय कर रही थी, जब भी हवाई यातायात की दशा में कोई सुधार नहीं हो रहा था। अतएव हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण बहुत उचित है।

विपक्षीय तर्क—

(१) वैयक्तिक कम्पनियों के समर्थकों ने विरोध में यह शंका की, कि राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप 'लाल फीते की प्रथा' (Red tapism) का प्रचलन होगा और एक निश्चित तरीके के संचालन से हवाई यातायात की कुशलता में कमी होगी और अन्त में सरकारी हवाई यातायात उद्योग असफल हो जावेगा।

(२) यह कहना सर्वथा निरर्थक है कि सरकारी संचालन से कुशलता बढ़ेगी, व्यय कम होगा, हवाई जहाजों का अधिकतम उपयोग होगा आदि, क्योंकि अन्य सरकारी कार्यों में ऐसा नहीं होता। श्री सी० डी० देशमुख और राजगोपालाचार्य जैसे नेताओं को भी सरकारी संचालन की सफलता पर संदेह था।

(३) हवाई कम्पनियों की वर्तमान आर्थिक दुर्दशा के लिये स्वयं सरकार ही

जिम्मेदार है क्योंकि एक तो बिना रोक-टोक व पर्याप्त निरीक्षण के ही नई कम्पनियों को लाइसेन्स दे दिये गये थे, जिससे प्रतिस्पर्धा बढ़ी और बहुत हानि हुई। दूसरे सरकार ने हवाई यातायात में प्रयोग होने वाली पेट्रोल पर १ रु० प्रति गैलन का कर लगा दिया था, जो बहुत अधिक था।

(४) नागरिक हवाई यातायात को संसार के सभी देशों में सरकारी आर्थिक सहायता दी जाती है, यह कोई भारत में सरकार की विशेष कृपा नहीं है। हाल ही में ब्राजील के हवाई यातायात की भी भारत जैसी आर्थिक दशा थी, परन्तु वहाँ बिना राष्ट्रीयकरण किये ही, सरकारी ऋण व अनुदान द्वारा दशा को सुधार दिया गया। इंगलैंड में भी सरकारी हवाई निगमों को बहुत हानि हुई और साधारण करदाताओं को लाखों पौंड इस क्षति को पूरा करने के लिये देने पड़े जब कि वैयक्तिक हवाई कम्पनियों ने काफी प्रगति की थी। अतः भारत सरकार को अन्य देशों के अनुभवों से शिक्षा लेनी चाहिये।

(५) राष्ट्रीयकरण से हवाई यातायात सर्विस के कर्मचारियों की बड़े पैमाने पर छटनी होगी और उन्हें बेरोजगारी का सामना करना पड़ेगा। शेष कर्मचारियों से भी पूरा सहयोग न मिल सकेगा।

(६) सरकार के ऊपर इतने अधिक अन्य दायित्व रहते हैं कि सम्भवतः वह हवाई यातायात के उचित विकास के लिये पर्याप्त धन न जुटा सकेगी।

जनवरी, सन् १९५२ में हवाई यातायात के संचालकों तथा नागरिक उड़ान विभाग के सम्मेलन ने शीघ्र ही कुछ पुराने वायुयानों के स्थान पर नये वायुयान लाने की सिफारिश की, जिससे राष्ट्रीयकरण का प्रश्न और भी आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त योजना आयोग ने भी इस प्रश्न पर विचार किया और कम्पनियों द्वारा आर्थिक सहायता की मागों तथा लगभग ४० लाख रु० प्रति वर्ष की परोक्ष सहायता को देखते हुए यही सुझाव दिया कि हवाई यातायात का शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिये।

उक्त सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय संचार-मन्त्री श्री जगजीवनराम ने २१ मार्च, सन् १९५३ को हवाई यातायात निगम बिल (Air Transport Corporation Bill) संसद के समक्ष रखा, जो दोनों सदनों द्वारा पास कर दिया गया। फलतः हवाई यातायात निगम अधिनियम (Air Transport Corporation Act) को १ अगस्त, सन १९५३ से देश में लागू कर दिया गया और कम्पनियों को अपने हाथ में लेकर दो निगमों की स्थापना कर दी गई।

अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित दोनों निगमों की स्थापना १५ जून, १९५३ को ही हो गई थी। इन्होंने १ अगस्त, १९५३ को हवाई कम्पनियों की समस्त पूंजी और जिम्मेदारियों (Assets and Liabilities) को हस्तगत कर दिया। निगमों की प्रथम उड़ान का उद्घाटन प्रधान मन्त्री श्री नेहरू द्वारा किया गया था। अतः आज हवाई यातायात का संचालन सरकार द्वारा दो निगमों—भारतीय हवाई मार्ग निगम (Indian Air Lines Corporation) और हवाई भारत अन्तर्राष्ट्रीय निगम (Air

India International) द्वारा किया जाता है।

Indian Air Lines Corporation भारतीय हवाई मार्ग निगम में आठ हवाई कम्पनियों को सम्मिलित कर लिया गया जैसे The Airways India Ltd., Bharat Airways Ltd., Himalayan Aviation, Kalinga Airlines Ltd., Indian National Airways, Deccan Airways, Air India Ltd., और Air Services of India Ltd. यह निगम श्री बी० सी० मुकर्जी की अध्यक्षता में भारत में अन्तर्देशीय हवाई यातायात का प्रबन्ध करता है। इसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्वाचित ६ सदस्य और हैं। हवाई यातायात को ७ भागों में विभक्त कर दिया है और ७ रेजीडेन्ट प्रतिनिधि अपनी-अपनी लाइन के उत्तरदायी हैं। इनमें से तीन के प्रधान कार्यालय कलकत्ता में हैं और शेष चार दिल्ली, बम्बई, मद्रास और हैदराबाद में हैं। निगम ने दो क्षेत्रीय प्रतिनिधि (Regional Representative) को विभिन्न मार्गों के यातायात के निरीक्षण के लिये नियुक्त किया है।

दूसरा निगम Air India International श्री जे० आर० डी० टाटा की अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय मार्गों पर अधिक दूरी के विदेशी हवाई यातायात का संचालन करता है। लगभग संसार के सभी बड़े देशों से यह निगम सम्बन्धित है। इसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्वाचित ७ अन्य सदस्य हैं।

हवाई यातायात अधिनियम में निजी कम्पनियों को क्षतिपूर्ति के लिये मुआविजा देने की व्यवस्था भी थी। सरकार ने यह निश्चय किया कि कम्पनियों को कुल ४·८ करोड़ रु० का मुआविजा दिया जायेगा, जिसमें से १०% अर्थात ४८ लाख रु० नकद दिया जायेगा और शेष को ३½% ब्याज पर ऋण-पत्रों के रूप में दिया जायेगा जिनका भुगतान समान मूल्य पर पांच वर्ष बाद होगा। कम्पनियों द्वारा लगाई गई मूल पूंजी में आयकर के नियमानुसार मूल्य-ह्रास (Depreciation) निकालकर शेष रकम के आधार पर ही मुआवजे को निश्चित किया गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में हवाई यातायात की प्रगति

योजना आयोग ने हवाई यातायात की विकास योजना को दो भागों में विभक्त कर दिया था—पहिले भाग में दो वर्षों की योजना (१९५१-५२ और १९५२-५३) और दूसरे भाग में शेष तीन वर्षों की १९५५-५६ तक की योजना। प्रथम दो वर्षों के लिये १·८५ करोड़ रु० प्रति वर्ष व्यय करने की व्यवस्था थी इसमें से १·५ करोड़ रु० प्रति वर्ष चालू व्यय के लिये और शेष आवश्यक सामग्री के खरीदने के लिये निर्धारित हुआ था। शेष तीन वर्षों के लिये ९·६७ करोड़ रु० निर्धारित हुआ था, जिसमें से ७०% चालू व्यय तथा शेष आवश्यक सामग्री के लिये रखा गया था।

योजना में नये निगम स्थापित करने, कम्पनियों को मुआवजा देने व १३ नये हवाई जहाज खरीदने के लिये ९·५ करोड़ रु० निर्धारित किया गया था जिसमें से १९५३-५४ तक ३·०५ करोड़ रु० व्यय किया जा चुका था। Air India International निगम ने पिछले वर्षों में संतोषजनक प्रगति की है और विश्व में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है। India Airlines निगम में विभिन्न कम्पनियों के सम्मिलित

करने के कारण अच्छी प्रगति नहीं हो सकी।

नये हवाई अड्डों के निर्माण व पुरानों में सुधार करने के लिये योजना में १०·०७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी जिनमें से ३·८४ करोड़ रु० प्रथम तीन वर्षों में व्यय किया गया था। मंगलौर में नये हवाई अड्डे का निर्माण हो चुका तथा कैलाशहर, बालोनिया, कमालपुर, खोअई, शैला, लिलबारी, सदिया और पासीगाट में नई एयरस्ट्रिप्स (Air Strips) बन चुकी हैं। इसके अतिरिक्त शान्ताक्रुज, डमडम, पालम, गौहाटी, अगरतला, लखनऊ, नागपुर, अमृतसर, भावनगर और पटना आदि हवाई अड्डों को विस्तृत रूप से सुधारा जा चुका है तथा कुछ अड्डों पर (Terminal buildings) बन चुकी है और बेतार-के-तार की मशीनें (Wireless Transmitting machines) स्थापित की जा चुकी हैं। आगामी पांच वर्षों में हवाई यातायात के विकास पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी लगभग ४३ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। हमारा यह अनुमान है कि यदि हवाई यातायात में इसी प्रकार विकास कार्य होते रहे, तो सन् १९६०-६१ के अन्त तक भारतीय हवाई निगम भी विदेशी यातायात कम्पनियों से मुकाबला कर सकेगा।

अध्याय २६

आर्थिक नियोजन

(ECONOMIC PLANNING)

प्राक्कथन—संसार में बहुत दिनों तक लगभग सभी देशों में तटस्थता की नीति (Laissez Fair Policy) का बोलवाला रहा और यही विश्वास किया जाता था, कि निज स्वार्थ के लिए ही कार्य करने से अधिकतम वैयक्तिक लाभ प्राप्त हो सकता है। सरकारी हस्तक्षेप को बुरा समझा जाता था। किन्तु समय-परिवर्तन से तटस्थता का तो अन्त-सा ही हो चुका है और राज्य का हस्तक्षेप जीवन के प्रत्येक पहलू में आवश्यक-सा हो गया है।

गत पचास वर्षों में संसार को दो महायुद्धों का सामना करना पड़ा जिन्होंने मानवता तथा सभ्यता की जड़ों तक को झकझोर दिया। आर्थिक व्यवस्था पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गई। प्रतिद्वन्द्विता, हिंसा आदि की भावनायें जागृत होने लगी थीं और मनुष्य का जीवन बड़ा संकटमय बन गया था। अतः योजना की आवश्यकता महसूस हुई। और आज की परिस्थितियों में तो योजना होने या न होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, बल्कि आजकल तो राष्ट्रीय संरक्षण में राष्ट्रोन्नति के लिए योजना निर्माण करना अति आवश्यक हो चला है।

भारत में भी अनेकों आर्थिक कठिनाइयों ने घर कर लिया था। यहाँ की जनसंख्या में लगभग १$\frac{1}{2}$% प्रति वर्ष वृद्धि होती है, अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर हैं और ग्रामों में रहते हैं, जीवनस्तर अत्यधिक नीचा है, लोगों की बहुत बड़ी संख्या कष्टकर दीनता में जीवन बिताती है। प्रो० के० टी० शाह, डा० वी० के० आर० वी० राव आदि विचारकों ने समय-समय पर भारत की निर्धनता का अनुमान लगाया है। यहाँ पर उत्पादन की अपूर्णता, व्यवस्थित आर्थिक जीवन की अस्थिरता तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता आदि मुख्य आर्थिक लक्षण हैं, जिनके कारण देश में अनेकानेक आर्थिक समस्यायें उत्पन्न होती रहतीं हैं। यद्यपि भारत में अनेकों साधन हैं किन्तु उनका पूर्णतया उपयोग नहीं हुआ है। इसीलिए अभीतक यह देश उद्योगों में पिछड़ा रहा है। भारत के पास न तो पर्याप्त पूंजी ही है और न मशीनें तथा कुशल श्रमिक ही हैं। ऐसी परिस्थितियों में भारत में उपलब्ध साधनों को पूर्णतया उपयोग करने के लिए एक आर्थिक योजना की अत्यन्त आवश्यकता थी।

आर्थिक नियोजन का अर्थ यह है कि देश में प्राप्त मानवी व भौतिक साधनों को एकत्रित करके उनका उपयोग नियमबद्ध रूप में प्रगतिशील दृष्टिकोण से किया जाय, जिससे देश के उत्पादन में वृद्धि हो, राष्ट्रीय आय बढ़े, बे-रोज़गारी समाप्त हो और समाज

का अधिकतम कल्याण हो। वस्तुतः आर्थिक नियोजन के स्वीकृत उद्देश्य देश में अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोज़गार, आर्थिक समानता व सामाजिक न्याय की प्राप्ति आदि हैं। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि देश में उपलब्ध साधनों का सावधानी से निरीक्षण किया जाय और राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय में निर्धारित वृद्धि करने के लिए इन साधनों की उपयोग की गतिविधि को भी नियोजित किया जाय।

भारत में गत २० वर्षों में अनेकों आर्थिक योजनाओं का निर्माण किया गया जैसे बम्बई योजना (Bombay Plan), जनता की योजना (People's Plan), गांधीवादी योजना (Gandhian Plan), राष्ट्रीय योजना निर्माण समिति की योजना (National Planning Committee's Plan), सरकारी योजना (Government Plan), बिरला योजना (Birla Plan) आदि जिनका विवरण अब आवश्यक नहीं है, क्योंकि योजना आयोग द्वारा निर्मित प्रथम पंचवर्षीय योजना देश में कार्यान्वित हो रही है और लगभग समाप्ति पर है। आज योजना आयोग द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६–५७ से १९६०–६१) का निर्माण करने में संलग्न है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

भारत सरकार ने मार्च, सन् १९५० में प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना आयोग को नियुक्त किया जिसने अपनी अन्तिम रिपोर्ट भारतीय संसद् के समक्ष प्रथम पंचवर्षीय योजना के रूप में ८ दिसम्बर, सन् १९५२ को रक्खी जो स्वीकार कर ली गई थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना सन् १९५१–५२ मे लागू की गई थी, जो १९५५–५६ में पूर्ण हो जायेगी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, अधिक सम्पन्न तथा बहुविध जीवन के अवसर प्रदान करना, और प्रति व्यक्ति की आय को दुगनी करना था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए योजना आयोग ने इन पाँच वर्षों मे आर्थिक विकास के हेतु सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा २०६९ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की थी जो निम्नलिखित सार्वजनिक क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों पर व्यय करनी थी :—

व्यय का प्रतिरूप (Pattern of Outlay)

(१९५१–५६)

मद		करोड़ रु०	कुल व्यय का %
१. कृषि व सामुदायिक विकास	...	३६१	१७.५
२. सिंचाई और बिजली	...	५६१	२७.१
३. यातायात और संचार	...	४९७	२४.०
४. उद्योग	...	१७३	८.४
५. समाजसेवा कार्य	...	३४०	१६.४
६. पुनर्निवास	...	८५	४.१
७. विविध	...	५२	२.५
	योग ...	२,०६९	१००.०

इस विकास योजना को कार्यान्वित करने में कृषि व सामुदायिक विकास एवं सिंचाई व शक्ति के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी। इन सब पर ९२२ करोड़ रु० अथवा कुल व्यय का ४४.६% व्यय होना था।

योजना में भारतीय आर्थिक व्यवस्था को सरकारी तथा निजी उद्योग क्षेत्र (Public and Private Sector) में विभाजित कर दिया गया है। सरकारी क्षेत्र में वे उद्योग सम्मिलित हैं जिनकी स्वामी स्वयं सरकार है, जिनपर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण है या राज्य सरकार व इनके अधीन अधिकारियों का नियंत्रण है। निजी उद्योग क्षेत्र (Private Sector) में वे उद्योग, वाणिज्य व व्यापार हैं जिनके स्वामी उद्योगपति हैं और जो स्वयं इनका संचालन करते हैं और इन पर नियंत्रण रखते हैं। परन्तु पंच-वर्षीय अवधि में औद्योगिक विस्तार का भार निजी साहस (Private Enterprise) के साधनों व उपक्रम (Initiative) पर निर्भर रक्खा गया है। औद्योगिक विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४२ उद्योगों के लक्ष्य निर्धारित किये गए थे और यह अनुमान लगाया गया था कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कुल २३३ करोड़ रु० व्यय करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कारखानों के आधुनिकीकरण और मशीनों के बदलने में १५० करोड़ रु० और व्यय होने का अनुमान लगाया गया था। इसमें चालू पूँजी की रकम भी जोड़ देने से केवल उद्योगों की वित्तीय आवश्यकता ७०० करोड़ रु० थी। इसी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति का भार निजी साहस पर डाला गया था क्योंकि सरकारी क्षेत्र के साधन इतने समिति थे कि वे इस आवश्यकता को पूरा न कर पाते। किन्तु कुछ दिशाओं में सरकारी क्षेत्र के साधन तथा विदेशी पूँजी (Foreign Investments) को भी विकास कार्य में लगाने की व्यवस्था थी।

व्यय का वितरण—कुल निर्धारित व्यय (२०६९ करोड़ रु०) का मुख्य मदों पर व्यय करने के लिए केन्द्र और राज्यों में निम्नलिखित रूप में वितरण किया गया था :—

करोड़ रु०

मद	केन्द्र	'क' भाग राज्य	'ख' भाग राज्य	'ग' भाग राज्य
१. कृषि व सामुदायिक विकास	१८६.३	१२७.३	३७.६	८.७
२. सिंचाई व शक्ति	२६५.९	२०६.१	८१.५	३.५
३. यातायात व संचार	४०९.५	५६.६	१७.४	८.८
४. उद्योग	१४६.७	१७.९	७.१	०.५
५. समाजसेवा व पुनर्विकास	१९१.४	१९२.३	२८.०	१०.४
६. विविध	४०.७	१०.०	०.७	—
योग	१२४०.५	६१०.१	१७२.३	३१.९

इसके अतिरिक्त १३.३ करोड़ रु० जम्मू काश्मीर सरकार के द्वारा व्यय करने की व्यवस्था थी।

वित्तीय आधार (Financial Basis)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए धन की व्यवस्था करना एक भारी समस्या थी। इसके लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वर्तमान आय में से बचत, भारतीय रेलों की आय से बचत, सार्वजिनक ऋण, जनता की बचत तथा विदेशी पूंजी पर निर्भर करना था। इसकी पूर्ति के लिए भारत के पौंड पावने (Sterling Balances), विदेशी सहायता तथा ऋण पर भी विचार किया गया। इन समस्त साधनों को उपयोग करने के पश्चात् भी कुछ कमी रह गई जिसके लिए यह निश्चय किया गया कि इसे अतिरिक्त कर लगाकर अथवा स्वदेशी बाज़ार से अधिक ऋण लेकर पूरा किया जायगा और यदि फिर भी कुछ कमी रहेगी तो उतना ही व्यय कम कर दिया जायेगा।

योजना के वित्तीय साधन[1]

साधन	मूल वर्ष १९५०–५१			योजना काल १९५१–५६		
	केन्द्रीय सरकार*	राज्य सरकार**	कुल	केन्द्रीय सरकार	राज्य सरकार	कुल
अ. सरकारी बचत						
१. वर्तमान राजस्व से	७१	५१	१२२	१६०	४०८	५६८
२. रेलों से	२३	—	२३	१७०	—	१७०
ब. निजी बचत						
१. जनता से ऋण	—११	८	—३	३६	७९	११५
२. थोड़ी बचत इत्यादि	४२	—	४२	२७०	—	२७०
३. जमा धन कोष आदि	—	३८	३८	९०	४५	१३५
कुल	१२५	९७	२२२	७२६	५३२	१,२५८
स. विदेशी सहायता व ऋण	—	—	—	—	—	१५६
उ. घाटे के बजट द्वारा (Deficit Financing)		—	—	—	—	२९०
ई. शेष कमी	—	—	—	—	—	३६५
योजना की कुल लागत	—	—	—	—	—	२,०६९

*केन्द्रीय सरकार में भाग 'ग' राज्य भी सम्मिलित है।

**भाग 'क' और 'ख' राज्य तथा काश्मीर सरकार

योजना की प्रगति

योजना आयोग के द्वारा प्रकाशित पंचवर्षीय योजना की प्रगति रिपोर्ट के अनुसार योजना के प्रथम ३ वर्षों की प्रगति संतोषजनक रही थी जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

---

१. पी० सी० जैन—'भारतीय अर्थशास्त्र की समस्यायें' पृ० सं० ५०१

प्रथम पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य तथा उनकी प्राप्ति[1]

	१९५०–५१ बुनियादी वर्ष	१९५५–५६ तक की वृद्धि का लक्ष्य	१९५३–५४ तक की प्रगति
१. कृषि उत्पत्ति			
अनाज (१० लाख टन)	५४.०	७.६	११.४
कपास (लाख गांठें)	२९.७	१२.६	९.६
पटसन (लाख गांठें)	३२.८	२०.९	—१.५
गुड़ (लाख टन)	५६.२	७.०	—१०.०
२. विद्युत शक्ति (लाख कि० वा०)	२.३	१.२	०.५
३. सिंचाई (लाख एकड)	५०.०	१९.७	७.५
४. औद्योगिक उत्पादन			
(२) इस्पात (लाख टन)	९.८	६.७	१.०
(२) सीमेंट (लाख टन)	२६.९	२१.१	१३.४
(३) अमोनियम सल्फेट (००० टन)	४६	४०४	२६१
(४) इंजन (संख्या)	७	१४३	७९
(५) पटसन की वस्तुएँ (००० टन)	७९२	३०८	—२८
(६) मिल का कपड़ा (१० लाख गज)	३७१८	९८२	११८८
(७) साइकिलें (०००)	१०१	४२९	१८८
५. राष्ट्रीय सड़कें (००० मील)	११.९	०.६	०.३
६. शिक्षा व स्वास्थ्य			
(अ) प्राइमरी स्कूल (०००)	१७३	३८	१६
(ब) जूनियर बेसिक स्कूल (०००)	१०६.५	१०.७	४.८
(स) अस्पताल (००० शैया)	३५.०	९.५	२.२

प्रथम योजना में भारत के आर्थिक विकास के जो मुख्य लक्ष्य रखे गए थे वे लगभग पूरे हो चुके हैं। सबसे अधिक प्रगति कृषि में हुई है। सन् १९५३–५४ में खाद्य का जितना उत्पादन हुआ वह योजना के पूर्व के उत्पादन से १ करोड़ १० लाख टन अधिक था। कपास की गाँठों में भी २० लाख से अधिक की वृद्धि हुई। सिंचाई के क्षेत्र में ७० लाख एकड़ की वृद्धि हुई और बिजली में १२ लाख किलोवाट की। सन् १९५० में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक १०५ था, जो सन् १९५४ में १४६ हो गया और सन् ५५ की फरवरी में १५८ हो गया था। कपड़ा, सीमेंट और शक्कर के उत्पादन में विशेष वृद्धि हुई। यातायात की व्यवस्था का भी काफी विकास हो चुका है यद्यपि अब भी

1. Five Year Plan Progress Report for 1953-54 P. 2.

कुछ कठिनाइयाँ विद्यमान है। अप्रैल-सितम्बर सन् १९५४ की अवधि में प्रति दिन १९,५०० माल के डिब्बे लदने का औसत था जबकि सन् '५३ की इसी अवधि में १९,३३१ डिब्बे का औसत था। इसी काल में ७४ मील की नई पटरी बिछाई गई और २५० मील की उखाड़ी पटरी को पुनः बिछाया गया। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी संतोषजनक प्रगति हुई है।

योजना पर व्यय—योजना के प्रथम तीन वर्षों में (मार्च १९५४ के अन्त तक) विभिन्न योजनाओं में लगभग ८८५ करोड़ रु० व्यय किया गया था जिसमें से ४४५ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा ४४० करोड़ रु० राज्य सरकारों द्वारा हुआ था। सरकार द्वारा व्यय में प्रतिवर्ष वृद्धि ही होती है क्योंकि सन् १९५१–५२ में २५९.५ करोड़ रु० व्यय हुआ था जबकि सन् १९५२–५३ और १९५३–५४ में क्रमशः २६९.७ और ३५५.६ करोड़ रु० व्यय किया गया था। सन् १९५४–५५ में ५७२ करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान लगाया गया है। योजना के अन्तिम वर्ष में (१९५५–५६) यदि सरकारी बचत में वृद्धि न हुई अथवा विदेशी सहायता अधिक मात्रा मे न मिली तो ऐसा अनुमान है कि योजना के निर्धारित व्यय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लगभग ३०० करोड़ रु० घाटे के बजट द्वारा प्राप्त करना होगा।

उक्त व्यय के वितरण का ब्यौरा निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट रूप से दिया गया है।[1]

	व्यय करोड़ रु० में				
मद	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४ संशोधित	१९५४-५५ अनुनामित	१९५१-५६ योजनाकाल का व्यय
कृषि व सामुदायिक विकास	२८.९	२९.६	४९.१	६९.१	३७३.७
सिंचाई व शक्ति	८१.७	९७.८	१२०.६	१६७.५	६१६.८
यातायात व संचार	६७.७	६२.१	९४.३	९०.०	५३५.९
उद्योग	१२.३	१०.१	११.८	२६.०	१७८.१
समाजसेवा	६३.५	६३.८	७१.३	९७.०	४२९.४
विविध	५.४	६.३	८.५	१५.५	५५.०

विदेशी सहायता—योजना की कुल लागत २०६९ करोड़ रु० में से यह अनुमान लगाया गया था कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें लगभग १,२५८ करोड़ व्यय करेंगी तथा २९० करोड़ रु० घाटे के बजट द्वारा प्राप्त हो जायेगा। शेष ५२१ करोड़ रु० विदेशी सहायता, अधिक ऋण या अधिक घाटे के बजट द्वारा पूरे किये जायेंगे। किन्तु बाद में कुछ संशोधन हुए और यह रकम ५२१ से ७०१ करोड़ रु० हो गई। अप्रैल सन् १९५१

1. Five Year Plan Progress Report for 1953-54 P. 11-12.

से जून १९५४ तक विदेशी सहायता एवं योजना से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण की मात्रा लगभग २३४ करोड़ रु० थी जिसे सरकार व्यय कर सकती थी। इस राशि में से सन् १९५१–५४ तक केवल १३२ करोड़ रु० व्यय किया गया है। सन १९५४–५५ के बजट में ४८ करोड़ रु० की विदेशी सहायता की व्यवस्था की गई थी। भारत सरकार को विभिन्न संस्थाओं एवं विदेशों से मिलने वाली सहायता का विवरण इस प्रकार है।

विदेशी सहायता[1]

करोड़ रु०

साधन	अधिकृत	व्यय की मात्रा			
		'५१-५४ (कुल)	'५१-५२	'५२-५३	'५३-५४
१. ऋण (Loans)					
अमेरिकन सरकार (गेहूँ ऋण)	९०.४	९०.२	५८.०	३२.२	—
अन्तर्राष्ट्रीय बैंक :—					
योजना से पूर्व स्वीकृत ऋण की अप्राप्त राशि	७.१	५.५	१.१	३.०	१.५
इस्पात योजना ऋण (दिसम्बर १९५२)	१५.०	—	—	—	—
दामोदर घाटी योजना ऋण जनवरी, १९५३	५.०	—	—	—	—
२. सहायता (अनुदान) (Grants)					
अमेरिकन सरकार (शैल्पिक सहकारी सहायता)	८१.६	२१.१	—	५.०	१६.१
कोलम्बो योजना के अन्तर्गत अनुदान					
कनाडा से	२६.४	९.२	४.२	२.६	१.९
आस्ट्रेलिया से	५.७	४.१	३.७	—	०.४
न्यूजीलैण्ड से	०.३	०.३	०.३	—	—
फोर्ड फाउण्डेशन	२.४	१.५	०.३	१.०	०.२
नार्वे सरकार (भारत-नार्वे योजना)	०.३	—	—	—	—
कुल ऋण व सहायता	२३४.२	१३१.९	६८.२	४३.७	२०.१

1. Five Year Plan Progress Report for 1953-54 P. 25-26.

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan)

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना मार्च १९५६ में समाप्त होने को थी। इसका मुख्य उद्देश्य देश की सर्वाङ्गीण आर्थिक उन्नति करना था। किन्तु भारत जैसे पिछड़े हुए देश का केवल एक पंचवर्षीय योजना से ही विकास होना तो असम्भव सा ही है। अतः यहाँ पर योजनाक्रम तो बहुत दिनों तक बिना किसी अड़चन के चालू रखना आवश्यक है। इसीलिए भारत सरकार, राज्य सरकारें, विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं आदि ने मिलकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण का कार्य आरम्भ किया, परन्तु इसके लिए देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं पर पूर्ण विचार करना आवश्यक था। पिछले कुछ दिनों से कृषि उत्पादन के मूल्यों का तेज़ी से गिरना, बेरोज़गारी की समस्या का खास तौर से विकराल रूप धारण करना, जनसंख्या का ४०.५ लाख प्रतिवर्ष की दर से बढ़ना, इसके साथ १०.८ लाख मजदूरों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि और इन बेकार तथा अर्ध-बेकार मनुष्यों को रोज़गार देना, भारतीय जनता का जीवन स्तर अत्यन्त निम्नश्रेणी का होना, आदि गम्भीर समस्याओं पर अच्छी तरह विचार करके ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया जाना था।

उक्त सभी समस्याओं को ध्यान मे रखकर यह योजना बनाई गई है। भारतीय अर्थशास्त्रियों के दल (Panel of Economists) ने, कांग्रेस महासमिति की योजना समिति, योजना आयोग तथा अन्य संस्थाओं ने प्रोफेसर पी० सी० महलोनोबीस (जो भारतीय अंक संस्था कलकत्ता तथा राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) के निर्देशक हैं) द्वारा निर्माणित 'योजना के ढाँचे' (Plan Frame) का ही समर्थन किया और इसी के आधार पर योजना आयोग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना का संशोधित प्रारूप १५ मई, १९५६ को भारतीय संसद के समक्ष प्रस्तुत किया था। इस योजना में जो लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं, उनमें राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि, लगभग १ करोड़ लोगों को रोज़गार देना, भारी उद्योगों का विकास करना, सम्पत्ति व आय में विषमता दूर करके देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना आदि प्रमुख है। योजना अवधि में सरकारी व निजी क्षेत्रों में ७,२०० करोड़ रुपए व्यय करने का प्रस्ताव है जबकि प्रथम योजना में ३,१०० करोड़ रुपया व्यय हुआ था। ७,२०० करोड़ रु० मे से सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र में होने वाले विकास कार्यों पर ४,८०० करोड़ रु० तथा निजी क्षत्र में २,४०० करोड़ रु० व्यय होंगे। प्रथम योजना में देश का विकास करने के लिए जो प्रयत्न किये गए वही इस योजना में भी चालू रहेंगे। इस योजना में औद्योगीकरण, भारी उद्योग और परिवहन आदि सहायक व्यवस्थाओं पर निश्चित रूप से अधिक बल दिया जायेगा।

वस्तुतः योजना के प्रारूप और संसद में प्रस्तुत रूप मे कोई विशेष अन्तर नही है। केवल साधारण परिवर्तन किये गए है और कुछ लक्ष्यों को थोड़ा-बहुत घटाया-बढ़ाया गया है जैसे, अतिरिक्त कर द्वारा ४५० करोड़ रु० की जगह ८०० करोड़ रु० प्राप्त करने का निश्चय किया गया है; यातायात तथा उत्पादन के लक्ष्य कुछ ऊँचे कर दिये गए हैं; कृषि उत्पादन की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया जायेगा; राष्ट्रीय विकास खण्डों

तथा सामुदायिक विकास योजना से उत्पादन वृद्धि के अधिक प्रयत्न करने की आशा की गई है; निजी क्षेत्र के विकास के लिए २,३०० करोड रु० की जगह २,४०० करोड़ रु० का व्यय निर्धारित किया गया है; आदि।

द्वितीय योजना के तीन मुख्य उद्देश्य हैं :—

(१) पाँच वर्ष की अवधि में राष्ट्रीय आय में लगभग २५ प्रतिशत की वृद्धि करना।

(२) इस अवधि में जनसंख्या बढ़ने के कारण रोज़गार चाहने वालों की जिस अनुपात में वृद्धि हो उसी अनुपात में नये काम दिलाने की व्यवस्था करना;

(३) देश के उद्योगों का तेजी से विकास करना जिससे अगली योजनाओं में तीव्र गति से प्रगति करने के लिए आवश्यक आधार तैयार हो जाये;

इन प्रमुख उद्देश्यों के अतिरिक्त द्वितीय योजना के कुछ उद्देश्य निम्नलिखित भी हैं :—

(४) योजना का ध्येय देश के सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय बढ़ाकर समाजवादी ढंग के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना है ;

(५) योजना का प्रत्येक कार्य जनतंत्रीय ढंग से करना है। अतः योजनाओं के निर्माण करने में, उनको कार्यान्वित करने आदि मे जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना है और प्रत्येक दिशा में जनता को स्वयं कार्य करने का प्रोत्साहन देना है ;

(६) बड़े उद्योगों के साथ-साथ घरेलू और छोटे धन्धों का विकास भी करना है जिससे लोगों को प्रतिदिन उपभोग की सामग्री अधिक मात्रा में प्राप्त हो सके तथा बहुत-से बेकार लोग रोज़गार में लग सकें;

(७) देहातों में कृषि उत्पादन में वृद्धि करना तथा भूमि सुधारों को तीव्र गति मे लागू करके भूमि का समान वितरण करना जिससे कृषकों को अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिले और उनकी क्रयशक्ति बढ़े;

(८) देश की गरीब जनता के लिए अच्छे, साफ़-सुथरे घरों, अधिक स्वास्थ्य सेवाओं तथा उचित शिक्षा की अधिकाधिक सुविधाओं की व्यवस्था करना ।

सार्वजनिक क्षेत्र में निर्धारित व्यय

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि काल में सार्वजनिक क्षेत्र (Public

Sector) में विकास कार्यों पर केन्द्रीय और राज्य सरकारें कुल ४,८०० करोड़ रु० विभिन्न मदों पर निम्नलिखित रूप मे व्यय करेंगी :—

मद	प्रथम योजना (करोड़ रु. में)	प्रतिशत	द्वितीय योजना	प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५.१	५६८	११.८
(क) कृषि	२४१	१०.२	३४१	७.१
(ख) राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक योजनाएँ	९०	३.८	२००	४.१
(ग) अन्य कार्य (ग्राम पंचायत व स्थानीय विकास)	३६	१.१	२७	०.६
२. सिंचाई एवं विद्युत	६६१	२८.१	९१३	१९.०
सिंचाई	३८४	१६.३	३८१	७.९
विद्युत	२६०	११.१	४२७	८.९
बाढ़ नियंत्रण, अन्य योजनाएँ, जाँच पड़ताल आदि	१७	०.७	१०५	२.२
३. उद्योग और खानें	१७९	७.६	८९०	१८.५
बड़े और मझले उद्योग	१४८	६.३	६१७	१२.९
खनिज विकास	१	—	७३	१.५
ग्राम तथा छोटे उद्योग	३०	१.३	२००	४.१
४. परिवहन एवं संचार	५५७	२३.६	१,३८५	२८.९
रेलवे	२६८	११.४	९००	१८.८
सड़कें	१३०	५.५	२४६	५.९
सड़क परिवहन	१२	०.५	१७	०.४
बन्दरगाहें	३४	१.५	४५	०.९
जहाजरानी	२६	१.१	४८	१.०
अन्तर्देशीय जल परिवहन	—	—	३	०.१
नागरिक वायु परिवहन	२४	१.०	४३	०.९
अन्य परिवहन	३	०.१	७	०.१
डाक तथा तार	५०	२.२	६३	१.३
अन्य संचार	५	०.२	४	०.१
प्रसारण	५	०.२	९	०.२
५. समाज सेवायें	५५३	२२.६	९४५	१९.७
शिक्षा	१६४	७.०	३०७	६.४
स्वास्थ्य	१४०	५.९	२७४	५.७
आवास	४९	२.१	१२०	२.५

पिछड़ी जातियाँ	३२	१.३	९१	१.९
समाज कल्याण	५	०.२	२९	०.६
श्रम व श्रम कल्याण	७	०.३	२९	०.६
पुनःसंस्थापन	७	०.३	२९	०.६
शिक्षितों की बेकारी-संबंधी योजनाएँ	—	—	५	०.१
६. विविध	६९	३.०	९९	२.१
योग	२,५५६	१००.०	४,८००	१००.०

(उक्त व्यय की रकम में स्थानीय विकास कार्यों के लिए लोगों द्वारा धन और सामग्री के रूप में दी जाने वाली सहायता सम्मिलित नहीं है।)

द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रु० का व्यय निर्धारित किया गया है, जिसमें से २,५५९ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा २,२४१ करोड़ रु० राज्य सरकारें व्यय करेंगी। केन्द्र और 'क', 'ख' और 'ग' भाग के राज्यों की सरकारों द्वारा जिन मुख्य मदों पर व्यय किया जायेगा, वह इस प्रकार है :—

(करोड़ रु० में)

मद	केन्द्र	राज्य			कुल
		'क' भाग	'ख' भाग	'ग' भाग	
१. कृषि और सामुदायिक विकास	६५	३५९	११२	३१	५६८
२. सिंचाई व बिजली	१०५	५६७	२१७	२४	९१३
३. उद्योग और खानें	७४७	९९	३७	७	८९०
४. परिवहन और संचार	१,२०३	१२०	४१	२१	१,३८५
५. सामाजिक सेवाएँ	३९६	३९६	११७	३९	९४५
६. विविध	४३	४२	११	३	९९
योग	२,५५९	१,५८०	५३५	१२५	४,८००

द्वितीय योजना में पूंजी का आयोजन

सार्वजनिक क्षेत्र के कुल ४,८०० के व्यय मे से लगभग ३,८०० करोड़ रु० स्थायी उपयोग के कार्यों पर व्यय किया जायेगा और १,००० करोड़ रु० तात्कालिक विकास कार्यों पर। प्रमुख मदों पर दोनों प्रकार के व्यय का ब्यौरा नीचे तालिका में दिया गया है :—

(करोड़ रु० में)

	स्थायी उपयोग	तात्कालिक उपयोग	कुल
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३३८	२३०	५६८
(क) कृषि	१८१	१६०	३४१

(ख) राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास	१५७	७०	२२७
२. सिंचाई और बिजली	८६३	५०	९१३
३. उद्योग और खानें	७९०	१००	८९०
४. परिवहन और संचार	१,३३५	५०	१,३८५
५. सामाजिक सेवायें	४५५	४९०	९४५
६. विविध	१९	८०	९९
कुल	३,८००	१,०००	४,८००

निजी क्षेत्र (Private Sector)

समाजवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था में निजी क्षेत्र को पूर्णतया समाप्त तो नहीं किया जा सकता खास तौर से कृषि, छोटे उद्योग एवं छोटे व्यापार आदि के क्षेत्रों में। इसके विपरीत स्व० गांधी जी के अनुसार सार्वजनिक व निजी क्षेत्र में सम्पर्क बढाना ही होगा। आज के युग मे उद्योगपति व व्यापारियों का मुख्य ध्येय निजी लाभ और अधिकतम साधनों पर निजी अधिकार दोनों के स्थान पर समाज सेवा होना चाहिए। अतः सरकारी उद्योगों में ४,८०० करोड़ रु० लगाने का जो कार्यक्रम है, उसके साथ-साथ निजी क्षेत्र में पूँजी नियोजन के कार्यक्रम का भी ध्यान रखा गया है, क्योंकि द्वितीय योजना में विकास और उत्पादन के जो लक्ष्य हैं, वह सार्वजनिक और निजी दोनों ही क्षेत्रों के पूंजी नियोजन से ही पूरे हो सकेंगे। गत पाँच वर्षों के पूंजी नियोजन के रुख को देखकर ही द्वितीय योजना मे निजी क्षेत्र में लगभग २,४०० करोड़ रु० की पूंजी विभिन्न मदों पर व्यय की जायेगी जिसका ब्यौरा इस प्रकार है :—

निजी क्षेत्र में निर्धारित व्यय

मद	(करोड़ रु० में)
१. सगठित उद्योग और खानें	५७५
२. बगीचे, बिजली कम्पनियाँ और रेलवे को छोडकर अन्य परिवहन	१२५
३. निर्माण	१,०००
४. कृषि और छोटे तथा ग्राम-उद्योग	३००
५. स्टाक	४००
कुल ...	२,४००

ऐसा अनुमान है कि प्रथम योजना काल में सब क्षेत्रों में लगभग ३,१०० करोड़ रु० की पूंजी लगायी गयी थी, जिसमे से निजी क्षेत्र में आधी से कुछ अधिक पूंजी लगी होगी। द्वितीय योजना में लगभग ७२०० करोड़ रु० की पूंजी का व्यय होगा जिसमें सरकार की ओर से पहिले से अधिक पूंजी लगाई जायेगी। प्रथम योजना में सरकारी और निजी पूंजी का अनुपात ५० : ५० का था परन्तु द्वितीय योजना में यह अनुपात

अनुपात ६१ : ३९ का होगा। सरकार पहिले से २½ गुनी पूँजी लगायेगी और निजी व्यापारी तथा उद्योगपति पहिले से ५०% अधिक पूँजी लगायेंगे।

योजना में मूल उद्योग (Basic Industries)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की यह एक मुख्य विशेषता है कि इसमें औद्योगिक विकास पर अधिक बल दिया है और योजना काल में इस दिशा में लगभग १,४६५ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की है। योजनाकाल में १०–१० लाख टन इस्पात की उत्पादनशक्ति के तीन कारखाने खोले जायेंगे। खाद बनाने के तीन कारखाने और खोले जायेंगे तथा सिंदरी कारखाने का विस्तार किया जायेगा। खाद का उत्पादन बढ़ाने के लिए लगभग १०० करोड़ रु० व्यय होगा। सीमेंट का उत्पादन वर्तमान ४३ लाख टन से बढ़ाकर १ करोड़ ३० लाख टन तक पहुँचा दिया जायेगा। कोयले का उत्पादन ३ करोड़ ८० लाख टन से बढ़कर ६ करोड़ टन हो जायेगा। रेल के इन्जनों का उत्पादन जो आजकल केवल १७५ इंजन प्रतिवर्ष है, बढ़ाकर ४०० इंजन तक कर दिया जायेगा।

कृषि उत्पादन

प्रारम्भ में, द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के उत्पादन में १८ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है, परन्तु भविष्य में इसे और अधिक बढ़ाने की कोशिश की जायेगी। खाद्यान्न की उपज में १५% वृद्धि की जायेगी अर्थात् वर्तमान उपज ६ करोड़ ५० लाख टन से बढ़ाकर ७ करोड़ ५० लाख टन कर दी जायेगी। कृषि वस्तुओं की उपज बढ़ाने के लिए २ करोड़ १० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई की जायेगी। इसमें से १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई बड़ी और मंझोली सिंचाई योजनाओं से और ९० लाख एकड़ की सिंचाई छोटी सिंचाई योजनाओं से की जायेगी। बिजली का उत्पादन भी सम्भवत: ३४ लाख किलोवाट से बढ़कर ६० लाख किलोवाट हो जायेगा।

समाज सेवाएं (Social Services)

प्रथम योजना की भाँति द्वितीय योजनाकाल में भी समाज सेवाओं के विकास के कार्य चालू रहेंगे। योजना के अन्त तक अर्थात् १९६०–६१ तक ६ से ११ वर्ष तक की आयु के ६३% बच्चों और ११ से १४ वर्ष तक की आयु के २२.५% बच्चों के लिए शिक्षा की सुविधायें दी जाने लगेंगी। चिकित्सा सुविधाएँ बढ़ाने के लिए डाक्टरों और नर्सों आदि की संख्या में वृद्धि की जायेगी। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना काल में सरकारों द्वारा लगभग १३ लाख रिहायशी घरों का निर्माण किया जायेगा।

राष्ट्रीय आय (National Income)

यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् १९५२–५३ के मूल्यों के आधार पर सन् १९५५–५६ में राष्ट्रीय आय लगभग १०,८०० करोड़ रु० होगी और १९६०–६१ में अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त तक यह आय बढ़कर लगभग १३,४८० करोड़ रु० हो जायेगी, अर्थात् करीब २५% वृद्धि हो जायेगी। प्रथम योजना काल में प्रति व्यक्ति आय २५४ रु० से बढ़कर २८१ रु० हुई थी अर्थात् ११ प्रतिशत वृद्धि हुई। परन्तु

द्वितीय योजना के अन्त तक १९५५–५६ म २८१ रु० से बढ़कर १९६०–६१ में ३३० रु० प्रति व्यक्ति आय होगी अर्थात् लगभग १८% वृद्धि होगी। परन्तु राष्ट्रीय आय में ६,२०० करोड़ रु० के नियोजन से २५% वृद्धि तभी होगी जबकि योजना में सामंजस्य रखा जाय, अपव्यय को रोका जाय तथा उत्पादन के सुधरे तरीके अपनाने एवं विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के लिए लोगों की सहायता और सहयोग प्राप्त करने के लिए उचित संगठित कार्य किया जाये।

रोजगार (Employment)

यद्यपि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में नए विकास कार्यों के कारण बहुत-से बेकारों को काम मिला, किन्तु फिर भी बेकारी की समस्या बजाय सुलझने के और दिनोंदिन गम्भीर व जटिल ही होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि रोज़गार की अपेक्षा मज़दूरों की संख्या मे अधिक वृद्धि हुई। भारतीय जनसंख्या में ४५ लाख प्रति वर्ष की वृद्धि होने का अनुमान है अर्थात् कार्य करने योग्य मज़दूरों में लगभग २० लाख की प्रतिवर्ष वृद्धि होगी। इस प्रकार द्वितीय योजना काल के आगामी पाँच वर्षों में मज़दूरों की संख्या में १०० लाख की वृद्धि होने की आशा है जिसमें ३८ लाख की शहरों में और ६२ लाख की गाँवों में होगी। इसके अतिरिक्त २५ लाख व्यक्ति शहरों मे और २८ लाख गाँवों में पहिले से ही बेकार है। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में १५३ लाख व्यक्तियों के लिए नए रोज़गार की व्यवस्था करनी पडेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकारी व निजी क्षेत्रों में ७,२०० करोड़ रु० की पूँजी के विनियोग के फलस्वरूप नए रोज़गारों में जो वृद्धि होगी उसका विवरण निम्न-लिखित तालिका में दिया गया है।

द्वितीय योजनाकाल में रोज़गार में वृद्धि

	संख्या (लाखों में)
१. निर्माण	२१.५०
२. सिंचाई तथा शक्ति	०.५१
३. रेल	२.४५
४. अन्य परिवहन तथा संचार	१.८०
५. उद्योग तथा खनिज	८.००
६. कुटीर एवं छोटे उद्योग	४.५०
७. फ़ौरेस्ट्री, फिशरीज़, रा० वि० सेवा तथा सहायक योजनाएँ	४.१५
८. शिक्षा	२.६०
९. स्वास्थ्य	१.१६
१०. अन्य समाज सेवा	१.४२
११. सरकारी नौकरी	४.३४
१२. 'अन्य' व्यापार तथा वाणिज्य	२७.०३
कुल	८०.०००

इस प्रकार उक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि योजना काल में रोज़गार की व्यवस्था केवल ८० लाख व्यक्तियों के लिए ही हो सकेगी। परन्तु काम की तलाश में नए व्यक्तियों की ही संख्या १०० लाख होगी। लेकिन सिंचाई योजनाओं के विस्तार होने से लगभग १६ लाख व्यक्तियों को कृषि में ही रोज़गार मिलने की आशा है और कुछ रोजगार छोटे व ग्रामोद्योगों में मिलेगा। इस प्रकार आगामी पाँच वर्षों में यह तो आशा की जा सकती है कि योजनाकाल में काम की तलाश में सभी नए व्यक्तियों (१०० लाख) को काम मिल जायेगा। परन्तु फिर भी बेकारी की समस्या का पूर्ण हल नही हो सकेगा। ऐसे सभी व्यक्तियों को, जो पहिले से ही बेकार है, नए रोज़गार की कोई व्यवस्था नहीं सकेगी।

योजना का अर्थ प्रबन्ध

वित्तीय साधन (Financial Resources)

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा कुल ४,८०० करोड रु० व्यय करने का निश्चय किया गया है। इसका प्रबन्ध सरकार जिन ज़रियों (Sources) से करेगी उनका विवरण नीचे तालिका में दिया गया है--

वित्तीय व्यवस्था	(करोड़ रु० में)
१. चालू आय से प्राप्य अतिरिक्त राशि (Surplus from the Current Revenue)	१,२००
(क) वर्तमान कर की दर से (At Existing rates of taxation)	३५०
(ख) अतिरिक्त कर से (Additional taxation)	८५०
२. लोक-ऋण (Public Debt)	१,२००
(क) बाजार ऋण (Market Loans)	७००
(ख) अल्प बचत (Small savings)	५००
३. बजट के अन्य स्रोत (Other Budgetery Sources)	४००
(क) रेल विभाग का अंशदान	१५०
(ख) भविष्य निधि तथा अन्य निक्षिप्त मद (Provident fund of Deposited Heads)	२५०
४. विदेशी सहायता (Foreign Aid)	८००
५. घाटे का अर्थप्रबन्ध (Deficit Finance)	१,२००
योग	४,८००

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि आगामी पाँच वर्षों में प्रचलित करों में वृद्धि होगी और नये कर लगेंगे। वर्तमान करों की दर से सरकार को राष्ट्रीय आय का केवल ७% से कुछ ही अधिक राजस्व के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु यह अनुपात ऐसे देश में जहाँ आर्थिक आयोजन चल रहा हो और जहाँ सरकारी क्षेत्र में बहुत-से विकास कार्य होने वाले हों, कोई अधिक नहीं है। यद्यपि योजना आयोग ने यह अनुपात बढ़ा कर ११%

कर देने का सुझाव दिया था, परन्तु योजनाकाल में ८५० करोड़ रु० के अतिरिक्त कर लगाये जाने से वर्तमान अनुपात में केवल थोड़ी-सी ही वृद्धि होगी। यह अतिरिक्त कर आर्थिक असमानता में कमी लाने में भी सहायक होगा। रेल विभाग से भी १५० करोड रु० प्राप्त होंगे, जिसमें से कुछ भाग तो रेल की बढ़ती हुई आय से प्राप्त होगा तथा कुछ भाग दर और भाड़े (Fares and Freights) में समायोजन करने से प्राप्त होगा। इसके अलावा २५० करोड़ रु० भविष्य निधि और अन्य ऋण की मदों से प्राप्त होने की आशा है क्योंकि गत वर्षों में इन मदों में काफ़ी प्रगति हुई है। बाज़ार ऋण तथा अल्प बचत की मदों से प्राप्ति में जैसी वृद्धि गत वर्षों में होती रही है उसके आधार पर आगामी पाँच वर्षों में इन मदों से १२०० करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा उचित ही जान पड़ती है।

गत वर्षों में विदेशी विनियोग (निजी) में वृद्धि के आधार पर विदेशी पूँजी (निजी) के रूप में लगभग १०० करोड़ रु० प्राप्त हो गया तथा करीब २०० करोड़ रु० 'पौण्ड-पावना' (Sterling Balances) से प्राप्त होगा। विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) में निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होने से लगभग ११०० करोड़ रु० की कमी होगी। जिसमें ३०० करोड रु० तक की पूर्ति विदेशी पूँजी (निजी) के विनियोग तथा पौण्ड पावने से होगी। शेष ८०० करोड़ रु० की सहायता अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं विदेशी सरकारों से प्राप्त होगी। किन्तु उक्त स्रोतों से कुल ३,६०० करोड़ रु० की पूँजी ही जुट सकेगी और १,२०० करोड़ रु० की कमी रह जाती है जिसको 'घाटे की अर्थव्यवस्था' (Deficit financing) द्वारा पूरा किया जायेगा। यह व्यवस्था एक सीमा तक तो बहुत उपयुक्त है परन्तु सीमा के पार करते ही मुद्रास्फीति (Inflation) की समस्या उठ खड़ी होती है। यदि पर्याप्त सावधानी बरतने पर भी मुद्रास्फीति की समस्या आ ही जाती है, तो इसे रोकने के लिए सरकारी नियंत्रण (Control) लगाया जाना आवश्यक हो जायेगा। अतः ऐसी परिस्थिति में जनता को, योजना की सफलता के लिए, ऐसे नियंत्रणों को सहर्ष स्वीकार कर लेना होगा।

द्वितीय योजना-काल में प्रतिवर्ष की आवश्यकताओं की समीक्षा होगी और परिवर्तनशील परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए वार्षिक आयोजन की प्रक्रिया का पालन किया जायेगा तथा प्रतिवर्ष आवश्यकतानुसार समायोजन किया जायेगा।

प्रथम और द्वितीय योजना में अन्तर

उक्त विवरण और आँकड़ों के अध्ययन से दोनों योजनाओं में विभिन्न मदों की प्राथमिकताएँ (Priorities) स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय योजना में सरकारी क्षेत्र में उद्योगों एवं खानों पर कुल व्यय का १९% व्यय होगा जबकि प्रथम योजना में इस मद पर केवल ८% व्यय करने की व्यवस्था थी। फिर इस मद में जो रकम व्यय करने को रखी गयी थी उसका ५०% से भी कम व्यय हुआ। इस प्रकार दोनों योजनाओं के अन्तर्गत इस मद में की व्यवस्थाओं में जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वास्तव में उससे कहीं

अधिक अन्तर है। द्वितीय योजना मे उद्योग एवं खानों पर ८९० करोड़ रु० व्यय होगा जिसमे से ६९० करोड़ बड़े उद्योगों व खानों पर और २०० करोड़ रु० कुटीर एवं ग्रामोद्योगों पर व्यय होगा। इसी प्रकार परिवहन और संचार में द्वितीय योजना में २९% व्यय होगा जबकि प्रथम योजना में २३.६% ही हुआ था।

सरकारी क्षेत्र में कुल व्यय का १९% सिंचाई और बिजली योजनाओं पर और १२% कृषि एवं सामुदायिक विकास पर व्यय होगा। इस तरह इन दोनों मदों पर १,४८१ करोड़ रु० व्यय होगा। यह सही है कि द्वितीय योजना में कृषि की अपेक्षा उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया है, परन्तु न केवल इसी योजनाकाल में बल्कि उसके बाद भी वर्षों तक खाद्यान्न व कच्चे माल का उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। द्वितीय योजना मे सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण के लिए ४८६ करोड़ रु० की व्यवस्था है। इसमें से २०९ करोड़ उन योजनाओं पर व्यय होगा जो प्रथम योजना के अन्तर्गत शुरू की गई थीं और अभी तक पूरी नही हो सकीं और शेष २७८ करोड़ रु० नई योजनाओं पर व्यय होगा। बिजली, जो खेती और उद्योग दोनों के लिए ही बहुत आवश्यक है, पर ४२७ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था है, जिसमें से १६० करोड़ रु० प्रथम योजना-काल में शुरू हुई योजनाओं के लिए है और २६७ करोड़ रु० नई योजनाओं के लिए। आगामी १५ वर्षों में सरकारी साधनों से सींची जाने वाली भूमि में दुगुनी और बिजली के उत्पादन में ६ गुनी वृद्धि करने का व्यापक कार्यक्रम बनाया गया है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत की गयी वृद्धि भी इसी का ही एक अंग है।

इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं पर भी द्वितीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा कही अधिक व्यय होगा। शिक्षा के लिए ३०७ करोड़ रु० की व्यवस्था है, जो गत योजना की व्यवस्था के दुगुने कुछ ही कम है। स्वास्थ्य में भी ऐसा ही है।

आयोजन की सफलता के लिए जन-सहयोग

आर्थिक नियोजन की सफलता का एकमात्र साधन जन-सहयोग है। भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्य को कार्यान्वित करने में अनकों कठिनाइयां आई और उनको यथाशक्ति दूर करने के प्रयत्न भी किये गए परन्तु फिर भी सरकारी कर्मचारी देश में जनसम्पर्क बढ़ाने तथा जनता में स्वयं कार्य करने की लालसा जागृत करने में अधिक सफल नहीं रहे।

वास्तव में लोकतंत्रीय देश में आर्थिक नियोजन की सफलता की एकमात्र कुञ्जी यह होती है कि देश में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जाएँ जिनमें विभिन्न राजनैतिक दलों के लोग अपने मतभेदों को भूलकर एकसाथ मिलकर कार्य करने को प्रोत्साहित हो सकें। अतः द्वितीय योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने में सरकारी अधिकारियों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो कार्यक्रम बनाये जावें उनमें लोगों को व्यक्तिगत रूप में तथा अराजनीतिक संगठनों (Non-Political Organisation) द्वारा अपने क्षेत्रों के विकास मे भाग लेने का अवसर मिल सके। देश की विभिन्न समाज सेवा संस्थाओं द्वारा जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करना होगा। इसके अतिरिक्त

सरकार व अन्य सामाजिक संस्थाओं को श्रम दान के अर्थ का प्रचार करना होगा। इस दिशा में "भारत सेवक समाज" व "भारत युवक समाज" जैसी संस्थाएँ उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। इस प्रकार से न केवल जन सहयोग ही प्राप्त होगा बल्कि लोगों में अपनी जिम्मेदारी समझने की उत्सुकता पैदा होगी जिससे देश में समाजवादी समाज की स्थापना, जो कि द्वितीय योजना का एक प्रमुख ध्येय है, सरलता से हो सकेगी।

परिशिष्ट (Appendix) १

प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक प्रगति*

उद्योग का नाम	यूनिट	उत्पादन शक्ति		वास्तविक उत्पादन		
		१९५०–५१	१९५५–५६ (लक्ष्य)	१९५०–५१	१९५४–५५	१९५५–५६ (लक्ष्य)
१	२	३		५	६	
१. लोहा व इस्पात	'००० टन	१,०१५	—	९७६	१,२४०	१,६५० (५७–५८)
२. अल्मूनियम	टन	४,०००	२०,०००	३,६७७	५,४७६	१२,०००
३. सीमेंट	'००० टन	३,२८०	५,३०६	२,६९२	४,४१४	४,८००
४. कागज़ व गत्ता	'००० टन	१३७	२११	११४	१६९	२००
५. रेलवे रालिंग स्टाक						
(अ) इंजन	संख्या	—	१७०	—	१४५	४३८
(ब) सवारी गाड़ी के डिब्बे	संख्या	८५०	—	४७९	९१९	४,३८०
(स) माल गाड़ी के डिब्बे	संख्या	६,०००	—	१,०९५	१०,६८९	३०,०००
६. डीज़िल इंजन	संख्या	६,३२०	७,७२५	५,५४०	९,२७४	१०,०००
	संख्या	३	२०,०००	१६,५१९	१६,०३४	३०,०००

८. साइकिलें	संख्या '०००	१२०	५३०	१०१	४०३	५३०
९. बिजली की मोटरें	'००० हा.पा.	१४९	३००	९९	२०१	३२०
१०. भारी रासायन						
(अ) गंधकका तेजाब	'००० टन	१५०	२२१	९९	१५७	२००
(ब) सोडा एश	'००० टन	५४	७६	४५	५२	७८
(स) कास्टिक सोडा	'००० टन	१९	३७	११	३२	३३
११. खाद						
(अ) अमोनियम सल्फेट	'००० टन	७१	४८१	४६	३६५	४५०
(ब) सुपरफासफेट	'००० टन	१२३	२०९	५७	१०१	१८०
१२. सूती वस्त्र						
(अ) सूत	१० ला०पौ०	१,६८९	१,७२२	१,१७९	१,५७७	१,६४०
(ब) मिल-वस्त्र	१० ला० गज	४,७४४	४,७२९	३,७१८	५,०४६	४,७००
१३. चीनी	००० टन	१,५४०	१,५५०	१,१२०	१,५८०	१,५५०
१४. जूट की वस्तुएँ	'०० टन	१,२००	१,२००	८९२	१८६	१,२००

* The Journal of Industry & Trade (Special Industries Supplement) pp. 24.

परिशिष्ट (Appendix) २

द्वितीय योजना के प्रारूप के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास के विभिन्न कार्यों में किस प्रकार और किन-किन कार्यों को प्राथमिकता दी गई है। आगामी पाँच वर्षों में सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में विकास के और उत्पादन वृद्धि के जो लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं उनका विवरण नीचे की तालिका में दिया गया है :—

(रु० में दी गई संख्याएँ पदार्थों के मूल्य प्रकट करती हैं)

मद	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९५५-५६-से '६०-६१ में % वृद्धि
कृषि (Agriculture)				
१. अनाज (लाख टन)	५४०	६५०	७५०	१५
२. कपास (लाख गाँठें)	२९	४२	५५	३१
३ गुड़ (लाख टन)	५६	५८	७१	२२
४ तिलहन (लाख टन)	५१	५५	७०	२७
५. पटसन (लाख गाठें)	३३	४०	५०	२५
६. चाय (लाख पौंड)	६,१३०	६,४४०	७,०००	९
७. राष्ट्रीय विस्तार खंड (संख्या)	—	५००	३,८००	६६०
८. सामुदायिक विकास खंड (संख्या)	—	६२२	१,१२०	८०
९. रा० वि० और सा० वि० कार्यों से कितने लोगों को लाभ हुआ (संख्या लाख)	—	८००	३,२५०	३०६
१०. ग्राम पंचायतें (हज़ार)	८३	११८	२००	७०
सिंचाई और बिजली (Irrigation & Power)				
१. सिंचाई का क्षेत्र (लाख एकड़)	५००	६७०	८८०	३१
२. बिजली (कुलक्षमता लाख कि.वा.)	२३	३४	६८	१००
खनिज पदार्थ				
१. कच्चा लोहा (लाख टन)	३०	४३	१२५	१९१
२. कोयला (लाख टन)	३२३	३६८	६००	६३
बड़े उद्योग (Large Scale Industries)				
१. इस्पात (लाख टन)	११	१३	४३	२३१
२. ढलाई का लोहा (लाख टन)	—	३.८	७.५	१००
३. अलमूनियम (हज़ार टन)	३.७	७.५	२५.०	२३३

४. इस्पात (कास्टिंग) (हज़ार टन)	—	—	१५	—
५. निर्माण के काम आनेवाला इस्पात का सामान (हज़ार टन)	—	१८०	५००	१७८
६ मशीन टूल (ग्रेडिड) (मूल्य लाख रु०)	३१.८	७५	३००	३००
७. सीमेंट बनाने की मशीनें (मूल्य लाख रु० में)	—	५६	२००	२५७
८. चीनी बनाने की मशीनें (मू० लाख रु०)	—	२८	२५०	७७९
९. कपड़ा व पटसन बुनने की मशीनें	—	४१२	१,९५०	३७३
१०. कागज़ बनाने की मशीनें (मू० लाख रु०)	—	—	४००	—
११. बिजली से चलनेवाले पम्प (हज़ार)	३४	४०	८६	११५
१२. डीजल इंजन (हज़ार हार्स पावर)	—	१००	२०५	१०५
१३. मोटर गाड़ियाँ (संख्या)	१६,५००	२५,०००	५७,०००	१२८
१४. रेलवे इंजन (संख्या)	३	१७५	४००	१२९
१५. ट्रैक्टर (संख्या)	—	—	१६००	—
१६. सीमेंट (लाख टन)	२७	४३	१३०	२०२
१७. खाद रासायनिक (क) नाइट्रोजनयुक्त (हज़ार टन)	४६	३८०	१,४५०	२८२
(ख) सुपर फास्फेट (हज़ार टन)	५५	१२०	७२०	५००
१८. गंधक तेज़ाब (हज़ार टन)	९९	१७०	४७०	१७६
१९. सोडा ऐश (हज़ार टन)	४५	८०	२३०	१९८
२०. कास्टिक सोडा (हज़ार टन)	११	३६	१५०	३६७
११. पैट्रोल (लाख टन)	—	३६	४३	१९
२२. बिजली के ट्रांसफार्मर (हज़ार के०व०ए०)	१७९	५४०	१,३६०	१५१
२३. बिजली की मोटर (हज़ार हार्सपावर)	९९	२४०	६००	१५०
२४. सूती वस्त्र (लाख गज़)	४६,१८०	६८,५००	८५,०००	२४

२५. चीनी (लाख टन)	११	१७	२३	३५
२६. कागज़ व गत्ता (हज़ार टन)	११४	२००	३५०	७५
२७. साईकिल (हजार)	१०१	५५०	१,०००	८३
२८. सिलाई की मशीनें (हज़ार)	३३	११०	२२०	१००
२९. बिजली के पंखे (हज़ार)	१९४	२७५	६००	११८

परिवाहन और संचार (Transport and Communications)

(क) रेलवे				
१. सवारी गाड़ी कितने मील चली (लाख मील)	९५०	१,०८०	१,२४०	१५
२. माल की ढुलाई (लाख टन)	—	१,२००	१,६२०	३५
(ख) सड़के				
१. राष्ट्रीय सड़के (हज़ार मील)	१२.३	१२.९	१३.८	७
२. पक्की सड़कें (हज़ार मील)	९७	१०७	१२५	१७
(ग) जहाज़रानी				
१. तटवर्ती क्षेत्रों के लिए जहाज (लाख जी० आर० टी)	२.२	३.२	४.३	३४
२. विदेश जानेवाले जहाज़ (लाख जी० आर ०टी०)	१.७	२.८	४.७	६८
(घ) बन्दरगाह (क्षमता लाख टन)	२००	२५०	३२५	३०
(ङ) डाक व तार विभाग				
१. डाकखाने (हजार)	३६	५५	७५	३६
२. तारघर (,,)	३.६	४.९	६.३	२८
३. टेलीफोन (,,)	१६८	२७०	४५०	६७

शिक्षा (Education)

१. प्रारम्भिक बुनियादी स्कूल (लाख)	२.२३	२.९३	३.५	१९
२. अध्यापकों को शिक्षण देनेवाली संस्थाएँ (संख्या)	८३५	१,१३६	१,४१२	२४

स्वास्थ्य (Health)

१. अस्पताल (हज़ार)	८.६	१०.०	१२.६	२६
२. अस्पताल में विस्तरों की संख्या (हज़ार)	११३	१२५	१५५	२४
३. डाक्टरों की संख्या (हज़ार)	५९	७०	८५	१८

परिशिष्ट ३

राज्यों द्वारा द्वितीय योजना में व्यय

राज्यों द्वारा द्वितीय योजना मे व्यय

(करोड़ रु० में)

राज्य	प्रथम योजना	द्वितीय योजना (लक्ष्य)
आन्ध्र	७५.९	११९.०
आसाम	२८.१	५७.९
बिहार	१०४.८	११४.२
बम्बई	१८१.३	२६६.२
मध्यप्रदेश	५७.५	१२३.७
मद्रास	९७.०	१७३.१
उडीसा	८५.२	१००.०
पंजाब	११४.०	१२५.३
उत्तरप्रदेश	१६५.९	२५३.१
पश्चिमी बंगाल	१५१.९	१५३.७
'क' भाग के राज्यों का योग	१०६१.२	१५६७.२
हैदरावाद	५७.०	१००.२
मध्यभारत	३६.१	६७.३
मैसूर	५३.२	८०.६
पैप्सू	३०.२	३६.३
राजस्थान	६२.८	९७.४
सौराष्ट्र	२९.८	४७.७
त्रिवांकुर-कोचीन	३५.४	७२.०
जम्मू व काश्मीर	१३.२	३३.०
'ख' भाग के राज्यों का योग	३२६.७	५३५.४
अजमेर	३.६	७.९
भोपाल	९.३	१४.३
कुर्ग	२.०	३.८
दिल्ली	१०.५	१७.०
हिमाचल प्रदेश	७.५	१४.७
कच्छ	४.२	७.९
मणिपुर	२.२	६.२
त्रिपुरा	३.०	८.५
विंध्यप्रदेश	९.३	२४.९
'ग' भाग के राज्यों का योग	५२.२	१०५.२

अंडमान और निकोबार द्वीप	१.५	१.९
उत्तर-पूर्वी सीमा अभिकरण (N.E.F.)	४.४	९.५
पांडिचेरी	०.८	४.८
योग	६.७	२०.२
दामोदर घाटी निगम में केन्द्र का हिस्सा	—	१२.२
रा० वि० और सामु० यो० के लिए दी जानेवाली अतिरिक्त रकम	—	०.७
कुल योग	१४५६.८	२२४०.९